व्याख्यान-सार संग्रह पुस्तकमाला का ८ वां पुष्प ।

श्रीमज्जैनाचार्य—

पूज्य श्री जवाहिरलालजी महाराज

के

व्याख्यानों में से

ब्रह्मचर्य-व्रत ।

सम्पादक —

शंकरप्रसाद दीक्षित ।

प्रकाशक—

श्री साधुमार्गी-जैन पूज्य श्री हुक्मीचन्दजी महाराज
के सम्प्रदाय का हितेच्छु श्रावक-मण्डल
रतलाम (मालवा)

वीर संवत् २४५९ | अर्द्धमूल्य =) | विक्रम संवत् १९९०

प्रकाशक—
श्री साधुमार्गी-जैन पूज्य श्री हुक्मीचन्दजी महाराज
की सम्प्रदाय का हितेच्छु श्रावक-मण्डल
रतलाम (मालवा)

प्रथमावृत्ति २०००

मुद्रक—
जीतमल लूणिया,
सस्ता-साहित्य-प्रेस, अजमेर

॥ ॐ ॥

मीनासर निवासी

श्रीमान् सेठ

हजारीमलजी बहादुरमलजी बाँठिया

की

ओर से

अर्द्ध मूल्य में

भेंट ।

दो शब्द !
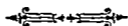
शासन देव की किंचित् कृपादृष्टि के प्रताप से, मण्डल अपने ध्येय की ओर गति करता हुआ व्याख्यानसारसंग्रह पुस्तक माला का यह आठवाँ पुष्प पाठकों की सेवा में रखने को समर्थ हो सका है। इससे पूर्व प्रकाशित सात पुस्तकों का जनता ने खूब स्वागत किया। कई पुस्तकों के तो थोड़े ही समय में दो-दो-तीन तीन संस्करण निकालने पड़े। जनता की इस गुणग्राहकता से मण्डल को बहुत प्रोत्साहन मिला और परिणाम-स्वरूप मण्डल यह आठवाँ पुष्प जनता की सेवा में रख सका।

पुस्तक का विषय तो पुस्तक के नाम से ही प्रकट है। रही विषय प्रतिपादन की बात। इसका निर्णय तो पाठक ही कर सकते हैं, और पाठकों की ओर से सूचना आने पर ही हम यह जान सकते हैं, कि संग्राहक संपादक आदि कार्यकर्त्ताओं को अपने कार्य में कहाँ तक सफलता मिली है।

अन्त में, हम इस बात को स्पष्ट कर देना उचित समझते हैं, कि पूज्यश्री के व्याख्यान साधु-भाषा में और शास्त्र-सम्मत ही होते हैं, लेकिन कार्यकर्त्ताओं की असावधानी से त्रुटि रहना

सम्भव है। अत पाठक महाशय किसी त्रुटि के दिखाई देने पर हमें सूचित करने की कृपा कर। हम ऐसे सज्जनों का आभार मानेंगे और आगामी संस्करण में त्रुटि न रहने देने का प्रयत्न करेंगे। किमधिकम्

रतलाम
वैशाखीपूर्णिमा
सं० १९९०

बालचन्द श्रीश्रीमाल,
सेक्रेटरी
वरदमान पीतालिया,
प्रेसीडेण्ट

अध्याय सूची

ब्रह्मचर्य-व्रत ।
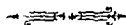
विषय प्रवेश ।

'ब्रह्मचर्य' एक ही शब्द नहीं है, किन्तु 'ब्रह्म' शब्द में 'चर्य, कृत्य प्रत्ययान्त से बना हुआ संस्कृत शब्द है। ब्रह्म + चर्य = ब्रह्मचर्य।

ब्रह्मचर्य शब्द की प्रवृत्ति का निमित्त

'ब्रह्म' शब्द के वैसे तो कई अर्थ होते हैं, परन्तु यहाँ यह शब्द, वीर्य, विद्या और आत्मा के अर्थ में है। 'चर्य' का अर्थ, रक्षण अध्ययन तथा चिन्तन है। इस प्रकार ब्रह्मचर्य का अर्थ वीर्यरक्षा, विद्याध्ययन और आत्मचिन्तन है। 'ब्रह्म' का अर्थ उत्तम काम या कुशलानुष्ठान भी होता है, इसलिये ब्रह्मचर्य का अर्थ उत्तम काम या

कुशलानुष्ठान का आचरण भी है। ब्रह्मचर्य शब्द के इन अर्थों पर दृष्टिपात करने से, हम, इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि, जिस आचरण द्वारा आत्मचिन्तन हो, आत्मा अपनेआप को पहचान सके और अपने लिये वास्तविक सुख को प्राप्त कर सके, उस आचरण का नाम 'ब्रह्मचर्य' है। इस अर्थ में, ब्रह्मचर्य शब्द के ऊपर कहे हुये सब अर्थ भी आजाते हैं।

ब्रह्मचर्य की परिभाषा

आत्मचिन्तन के लिये, इन्द्रिय और मन पर विजय पाना आवश्यक है। प्राकृतिक नियमों के अनुसार, इन्द्रियाँ मन के, मन बुद्धि के और बुद्धि आत्मा के अधीन रहकर आत्मा की सहायिका होनी चाहिये। ऐसा होने पर ही आत्मा, अपने आपको जान सकता है। इन्द्रिय, मन और बुद्धि का कर्तव्य, आत्मा को बलवान तथा पुष्ट बनाना है। बलवान आत्मा ही अपना स्वरूप जान सकता है, विचाराध्ययन में समर्थ हो सकता है, और उत्तम काम तथा कुशलानुष्ठान कर सकता है। इसलिये इन्द्रिय, मन और बुद्धि का काम आत्मा को बलवान बनाना, आत्मा के हित को दृष्टि में रखना, आत्मा का अहित करनेवाले कामों से दूर रखना है। इन्द्रिय और मन का, अपने इस कर्तव्य पर स्थिर रहने का नाम ही 'ब्रह्मचर्य' है।

आत्मा का हित, अपना स्वरूप जानने में है। आत्मा, अपना स्वरूप तभी जान सकता है, जब उसके सहायक एवं सेवक इन्द्रिय तथा मन, उसके आज्ञावर्ती और शुभचिन्तक हों। विपरीतावस्था में, आत्मा का अहित स्वाभाविक ही है। आत्मा के सहायक तथा सेवक यही इन्द्रियाँ और मन हैं, जो सुख की

अभिलाषा से दुर्विषयों की ओर न दौड़ें। इन्द्रियों का, सुख की अभिलाषा से दुर्विषयों की ओर दौड़ना, तथा मन का इन्द्रियानुगामी होना, आत्मा के लिए अहित-कारक है। आत्मा का हित तभी है, जब न तो इन्द्रियें दुर्विषयो की ओर दौड़ें, न इन्द्रियों के साथ ही साथ मन भी आत्मा का अशुभ-चिन्तक बने। इन्द्रिय और मन का दुर्विषयों की ओर न दौड़ना, दुर्विषयों की चाह न करना और सुख की लालसा से उन्हें न भोगना, इसी का नाम 'ब्रह्मचर्य' है।

इन्द्रियें पाँच हैं, कान, आँख, नाक, जीभ और त्वचा। इन पाँचों इन्द्रियों के पाँच विषय हैं, शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्श। अर्थात् सुनना देखना सूँघना स्वाद लेना और छूना। यद्यपि ये इन्द्रियें हैं सुनने, देखने, सूँघने, स्वाद लेने और स्पर्श करने के लिए ही—इसी कारण इनका नाम भी ज्ञानेन्द्रिय है—लेकिन ये ज्ञानेन्द्रिय तभी होती हैं और तभी आत्मा का हित भी कर सकती हैं, जब दुर्विषयों में लिप्त न हो, उनके भोग में सुख न मानें, और अपनेआप को दुर्विषय-भोग के लिए न समझें। इसी प्रकार मन भी आत्मा का हित करनेवाला तभी है, जब वह अपने पद से भ्रष्ट होकर, इन्द्रियों का अनुगामी न बन जावे और न इन्द्रियों को ही दुर्विषयों की ओर जाने दे। मन का काम इन्द्रियों को सुख देना नहीं, किन्तु आत्मा को सुख देना है और इन्द्रियों को भी उन्हीं कामों में लगाना है, जिनसे आत्मा सुखी हो। इन्द्रियों और मन का, इस कर्त्तव्य को समझ कर इस पर स्थिर रहना इसी का नाम 'ब्रह्मचर्य' है।

गाँधी जी ने, 'ब्रह्मचर्य' के अर्थ में लिखा है—"ब्रह्मचर्य का

अर्थ, सभी इन्द्रियों और सम्पूर्ण विकारों पर पूर्ण अधिकार। सभी इन्द्रियों को तन, मन और वचन से, सब समय और सब क्षेत्रों में संयम करने को ब्रह्मचर्य कहते हैं।"

गाँधी जी कृत ब्रह्मचर्य की परिभाषा

यद्यपि सब इन्द्रियों और मन का दुर्विषयों की ओर न दौड़ने का नाम ब्रह्मचर्य है, लेकिन व्यवहार में, ब्रह्मचर्य का अर्थ, केवल 'वीर्यरक्षा' ही लिया जाता है। इस व्यवहारिक अर्थ अर्थात् पूर्ण रूपेण वीर्यरक्षा—से भी इन्द्रियों और मन का दुर्विषयों की ओर न दौड़ना ही मतलब निकलेगा। पूर्णतया वीर्यरक्षा तभी हो सकती है, जब सभी इन्द्रियें और मन दुर्विषयों की ओर न दौड़ें। यदि एक भी इन्द्रिय दुर्विषय की ओर दौड़ती है—उसे चाहती है और उस में सुख मानती है—तो सम्पूर्णतया वीर्यरक्षा, कदापि नहीं हो सकती। इसलिये, पूर्णरीति से वीर्यरक्षा का अर्थ भी वही है, जो ऊपर कहा गया है। अर्थात् सर्व प्रकार के असंयम परित्याग रूप-इन्द्रियों और मन का संयम।

ब्रह्मचर्य की व्यवहारिक परिभाषा।

ब्रह्मचर्य, मन, वचन, और शरीर से होता है, इसलिए ब्रह्मचर्य के तीन भेद हो जाते हैं। अर्थात मानसिक-ब्रह्मचर्य, वाचिक-ब्रह्मचर्य और शारीरिक-ब्रह्मचर्य। मन, वचन, और काय इन तीनों द्वारा पालन किया गया ब्रह्मचर्य ही पूर्ण ब्रह्मचर्य है। अर्थात न मन में ही अब्रह्मचर्य की भावना हो, न वचन द्वारा ही अब्रह्मचर्य प्रकट हो और न शरीर द्वारा ही अब्रह्मचर्य की क्रिया की गई हो, इसका नाम पूर्ण ब्रह्मचर्य है। याज्ञवल्क्य स्मृति में कहा है—

ब्रह्मचर्य के तीन भेद और उनका सम्बन्ध

कायेन मनसा वाचा सर्वावस्था सु सर्वदा ।
सर्वत्र मैथुनत्यागो ब्रह्मचर्यं प्रचक्षते ॥

'शरीर, मन और वचन से, सब अवस्थाओं में, सर्वदा और सर्वत्र मैथुन त्याग को ब्रह्मचर्य कहा है ।'

मैथुन में, मैथुनाङ्ग भी शामिल हैं, जिनका वर्णन 'ब्रह्मचर्य की रक्षा के उपाय' प्रकरण मे किया गया है ।

कायिक ब्रह्मचर्य उसे कहते हैं, जिसके सद्भाव में, शरीर-द्वारा अब्रह्मचर्य की कोई क्रिया न की गई हो । यानी, शरीर से, अब्रह्मचर्य में प्रवृत्ति न हुई हो । मानसिक-ब्रह्मचर्य उसे कहते हैं, जिसके सद्भाव में दुर्विषयों का चिन्तन न किया जावे, अर्थात् मन में अब्रह्मचर्य की भावना भी न हो । वाचिक-ब्रह्मचर्य उसे कहते हैं, जिसके सद्भाव में, अब्रह्मचर्य-सम्बन्धी वचन न कहा जावे । इन तीनों प्रकार के ब्रह्मचर्य के सद्भाव को—यानी इन्द्रियों और मन का दुर्विषयों की ओर न दौड़ने को—पूर्ण-ब्रह्मचर्य कहते हैं ।

कायिक, मानसिक और वाचिक ब्रह्मचर्य का, परस्पर कर्त्ता, क्रिया, और कर्म का-सा सम्बन्ध है । पूर्ण ब्रह्मचर्य, वहीं हो सकता है, जहाँ उक्त प्रकार के तीनों ब्रह्मचर्य का सद्भाव हो । एक के अभाव में, दूसरे और तीसरे का—एक दम से नहीं तो शनै-शनै—अभाव होना, स्वाभाविक है ।

साराश यह कि, इन्द्रियों का दुर्विषयों से निवृत्त होने, मन का दुर्विषयों की भावना न करने, दुर्विषयों से उदासीन रहने, मैथुनाङ्गों सहित सब प्रकार के मैथुन त्यागने और पूर्ण रीति से,—

वीर्य रक्षा करने एवं कायिक, वाचिक और मानसिक शक्ति को, आत्मचिन्तन, आत्महित-साधन, तथा आत्मविद्याध्ययन में लगा देने का ही नाम 'ब्रह्मचर्य' है।

लाभ और माहात्म्य

तवे सुया उत्तम बमचेर ।

सुगडायग सूत्र ।

'ब्रह्मचर्य ही उत्तम तप है ।'

ब्रह्मचर्य से क्या लाभ होता है, और ब्रह्मचर्य का कैसा माहात्म्य है,यह संक्षिप्त में नीचे बताया जाता है ।

आत्मा का ध्येय, संसार के जन्म-मरण से छूटकर, मोक्ष प्राप्त करना है । आत्मा, इस ध्येय को तभी प्राप्त कर सकता है, जब उसे शरीर की सहायता हो—अर्थात शरीर स्वस्थ हो । बिना शरीर के, धर्म नहीं हो सकता और बिना धर्म के, आत्मा अपने उक्त ध्येय तक नहीं पहुँच सकता । काव्य ग्रन्थों में कहा है—

शरीर और धर्म का सम्बन्ध ।

शरीरमाद्यं खलु धर्म साधनम् ।

कुमारसम्भव ।

'शरीर ही, सब धर्मों का प्रथम और उत्तम साधन है ।'

धर्मार्थ काम मोक्षाणामारोग्यं मूल मुत्तमम् ।

'धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का, आरोग्य ही मूल साधन है ।'

ब्रह्मचर्य्य से शारीरिक व्यवस्था।

आत्मा को, अपने ध्येय तक पहुँचने के लिए शरीर की आवश्यकता है, और वह भी आरोग्यता के साथ। अस्वस्थ शरीर, धर्म-साधन में असमर्थ रहता है। ब्रह्मचर्य से इस अंग की पूर्त्ति होती है, अर्थात्, शरीर स्वस्थ रहता है, कोई रोग, पास भी नहीं फट-कने पाता।

वैद्यक ग्रन्थों में ब्रह्मचर्य से शारीरिक लाभ बताने के लिए कहा है—

मृत्यु व्याधि जरा नाशि पीयूष परमौषधम्।
ब्रह्मचर्य महायत्नं सत्यमेव वदाम्यहम्॥

'मैं सत्य कहता हूँ, कि मृत्यु, व्याधि और बुढ़ापे का नाश करने वाली अमृत के समान औषध, ब्रह्मचर्य ही है। ब्रह्मचर्य, मृत्यु, रोग और बुढ़ापे का नाश करनेवाला महान् यत्न है।'

ब्रह्मचर्य से धर्म-रक्षा।

तात्पर्य यह, कि ब्रह्मचर्य से शरीर स्वस्थ रहता है, जिससे धर्म का पालन होता है। इतना ही नहीं, किन्तु ब्रह्मचर्य का पालन करना भी धर्म ही है, बल्कि धर्म का प्रधान अंग एवं धर्म का प्रधान रक्षक है। इसके लिए प्रश्न व्याकरण सूत्र में कहा है—

पउम सर तलाग पालि भूयं महासगड अरग तुंब भूयं महानगर पागार कपाड फलिह भूयं रज्जु पिणद्धो व्व इन्दकेऊ विसुद्धणेगगुण संपिणद्धं जम्मि य भग्गम्मि होइ सहसा सव्वं संभग्गमहियचुण्णियकुसल्लियं पलट्ट-

पडिय खडिय परिसडिय विणासिय विणयसील तव नियम गुण समूह ।

'ब्रह्मचर्य, धर्म रूप पद्मसरोवर का, पाल के समान रक्षक है। यह दया, क्षमा आदि गुणों का आधार भूत, एवं धर्म की शाखाओं का आधारस्तम्भ है। ब्रह्मचर्य, धर्म रूप महानगर का कोट है, और धर्म रूप महानगर का प्रधान रक्षक द्वार है। ब्रह्मचर्य के खण्डित होने पर, सभी प्रकार के धर्म, और पहाड़ से गिरे हुए कच्चे घड़े के समान चूर चूर हो जाते हैं।'

ब्रह्मचर्य, धर्म कैसा आवश्यक अग है, यह बताते हुए, और ब्रह्मचर्य की प्रशसा करते हुए, मुनि ने कहा है—

पच महव्वय सुव्वय मूल समण मणाइल साहु सुचिण्ण ।
वेर विरामण पज्जव साण सव्व समुद्द महोदहि तित्थ ॥ १ ॥
तित्थकरेहिं सुदेसिय मग्ग नगर तिरिच्छ विवज्जिय मग्ग ।
सव्व पवित्तसुनिम्मिय सार सिद्धि विमाण अवगुय दार ॥२॥
देव नरिंद नमसिय पूइय सव्व जगुत्तम मगल मग्ग ।
दुद्धरिस गुण नायक मेक्क मोक्ख पहस्स वडिं सग भूय ॥ ३ ॥

'ब्रह्मचर्य, पाँच महाव्रत का मूल है अत उत्तम व्रत है। अथवा—पच महाव्रत वाले साधुओं के उत्तम व्रतों का, ब्रह्मचर्य मूल है। ऐसे ही श्रावकों के सुव्रतों का भी ब्रह्मचर्य मूल है। ब्रह्मचर्य, दोष रहित है, साधुजनों से भली प्रकार पालन किया गया है, वैरानुबन्ध का अन्त करने वाला है और स्वयम्भूरमण महोदधि के समान दुस्तर ससार से तरने का उपाय है ॥१॥ ब्रह्मचर्य, तीर्थंकरों द्वारा सदुपदेशित है, उन्हीं के द्वारा इसके पालन का मार्ग बताया गया है, और इसके उपदेश द्वारा, नरक गति तथा तिर्यक गति का मार्ग रोक कर, सिद्ध गति

तथा विमानों के द्वार स्वर्ग का पवित्र मार्ग बताया गया है ॥२॥ यह ब्रह्मचर्य, देवेन्द्र और नरेन्द्रों से पूजित लोगों के लिए भी पूजनीय है; समस्त लोकों में सर्वोत्तम मंगल का मार्ग है; सब गुणों का अद्वितीय तथा सर्व श्रेष्ठ नायक है और मोक्ष मार्ग का भूषण रूप है ॥३॥'

मोक्ष के प्रधान साधन-तप-में भी, ब्रह्मचर्य को पहला स्थान है। जैन-शास्त्रों में ब्रह्मचर्य को सब से उत्तम तप माना गया है, इसका एक प्रमाण इस प्रकरण के प्रारम्भ में दिया ही जा चुका है। प्रश्नव्याकरण सूत्र में भी कहा है—

ब्रह्मचर्य ही तप है।

जंबू ! एत्तो य बंभचेरं उत्तम तव नियम णाण
दंसण चरित्त सम्मत्त विणय मूलं
जम नियम गुणप्पहाणजुत्तं हिमवन्त महंत
तेयमंतं पसत्थ गंभीर थिमिय मज्झं ।

'हे जम्बू ! यह ब्रह्मचर्य उत्तम तप नियम ज्ञान, दर्शन, चारित्र सम्यक्त्व और विनय का मूल है। जिस प्रकार सब पर्वतों में हिमालय महान् और तेजस्वी है उसी प्रकार सब तपस्याओं में ब्रह्मचर्य श्रेष्ठ है।'

अन्य ग्रन्थों में भी, ब्रह्मचर्य को उत्तम तप माना गया है। वेद भी, ब्रह्मचर्य को ही तप मानते हैं। जैसे—

तपो हि ब्रह्मचर्यम् ।

श्रुति ।

'ब्रह्मचर्य ही तप है।'

गीता में भी ब्रह्मचर्य को तप माना है। उसमें कहा है—

ब्रह्मचर्यमहिंसाच शारीर तप उच्यते ।

अध्याय १७

'ब्रह्मचर्य और अहिंसा, शरीर का उत्तम तप है।'

इस प्रकार अन्य ग्रन्थकारों ने भी, ब्रह्मचर्य को उत्तम तप माना है।

पारलौकिक-लाभ का ब्रह्मचर्य एक प्रधान साधन है।

ब्रह्मचर्य से पारलौकिक लाभ।

ब्रह्मचर्य से, आत्मा, परलोक सम्बन्धी सभी सुखों को प्राप्तकर सकता है। प्रश्न व्याकरण सूत्र में कहा है—

अज्जव साहुजणाचरिय मोक्खमग्ग
विसुद्ध सिद्धि गइ निलय सासयमव्वाबाहम पुणब्भव

'ब्रह्मचर्य, अन्तःकरण को पवित्र एवं स्थिर रखने वाला है, साधुजनों से सेवित है मोक्ष का मार्ग और सिद्ध गति का गृह है, शाश्वत है, बाधा रहित है, पुनर्जन्म को नष्ट करने के कारण अपुनर्भव है, प्रशस्त है, रागादि का अभाव करने से सौम्य है, सुख स्वरूप होने से शिव है, दुःख सुखादि द्वन्द्वों से रहित होने से अचल है, अक्षय तथा अक्षत है मुनियों द्वारा सुरक्षित एवं प्रचारित है, भव्य है, भव्यजनों द्वारा आचरित है, शङ्कारहित है निर्भयता का देनेवाला, विशुद्ध तथा कुसर्गों से दूर रखने वाला एवं खेद और अभिमान को नष्ट करने वाला है।'

प्रश्नव्याकरण सूत्र में आगे कहा है—

जम्मिय आराहियम्मि वय मिण सव्व सील
तवो य विणओ य सजमो य खत्ती गुत्ती
मुत्ती तहेव इहलोइय पारलाइय जसय कित्ती।

बल तथा साहस हो। ब्रह्मचर्य से शरीर स्वस्थ भी रहता है और शरीर में, बल तथा साहस भी रहता है।

विद्वानों का मत है, कि ब्रह्मचर्य के बिना, विद्या प्राप्त नहीं होती। विद्या प्राप्ति के लिए, ब्रह्मचर्य का होना आवश्यक है। अथर्ववेद में कहा है—

ब्रह्मचर्येण विद्या।

'ब्रह्मचर्य से विद्या प्राप्त होती है।'

विदुरनीति में कहा है—

विद्यार्थी ब्रह्मचारी स्यात्।

'यदि विद्या के इच्छुक हो तो ब्रह्मचारी बनो।'

तात्पर्य यह कि ब्रह्मचर्य, लौकिक और लोकोत्तर, दोनों ही गुणों का प्रधान साधन है। इसकी पूर्णरूपेण प्रशंसा करना, समुद्र को हाथों के सहारे तैरने का साहस करना है।

ब्रह्मचर्य पर अपवाद

कुछ लोगों का कथन है, कि पूर्ण ब्रह्मचारी को मोक्ष या स्वर्ग, प्राप्त नहीं होता। क्योंकि, पूर्ण ब्रह्मचारी के सन्तान नहीं रहते और—

अपुत्रस्य गतिर्नास्ति स्वर्गो नैव च नैव च।

स्मृति

'पुत्रहीन की गति नहीं होती और स्वर्ग तो कभी भी नहीं मिलता है।'

इस श्लोक में, पूर्ण ब्रह्मचारी को स्वर्ग-मोक्ष प्राप्ति से वंचित बताया जाता है, लेकिन इस श्लोक को खण्डन करनेवाला दूसरा यह प्रमाण भी है—

स्वर्गं गच्छन्ति ते सर्वे ये केचिद् ब्रह्मचारिणः।

स्मृति।

'जितने भी ब्रह्मचारी हैं, वे सभी स्वर्ग को जाते हैं।'

जैन-शास्त्रानुसार, स्वर्ग-प्राप्ति कोई बड़ी बात नहीं है। बड़ी बात तो मोक्ष प्राप्त करने में है। ब्रह्मचर्य से संसार की सभी ऋद्धि मिलजावे—स्वर्गका राज्य भी प्राप्त हो जावे—तब भी यदि इसके द्वारा मोक्ष प्राप्त न हो सकता होता, तो जैन-शास्त्र इसे धर्मका अंग न मानते। क्योंकि जैन-शास्त्र उसी वस्तु को उपयोगी और महत्व की मानते हैं, जिसके द्वारा मोक्ष प्राप्त हो। लेकिन उक्त प्रमाण जिन ग्रन्थों के हैं, वे ग्रन्थ स्वर्ग को ही अन्तिम ध्येय मानते हैं। फिर भी ऊपर दिये हुये श्लोकों में से, पहला श्लोक दूसरे श्लोक से अप्रामाणिक ठहरता है।

अब्रह्मचर्य से हानि।
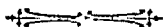
जहा य किंपाग फला मणोरमा,
रसेण वण्णेण य भुज्जमाणा।
ते खुड्डए जीविय पच्चमाणा,
एओवमा काम गुणा विवागे॥

उत्तराध्ययन सूत्र ३२ गा० २०

'जिस प्रकार, किंपाकफल रंग और रस से मनोरम और स्वादिष्ट होते हैं, परन्तु खाने पर मृत्यु का आलिंगन करना पड़ता है, इसी प्रकार काम भोग भोगने में तो अच्छे लगते हैं, परन्तु परिणाम बहुत दुःखदायी होता है। इसलिए काम भोग को त्यागो।'

इन्द्रियों का दुर्विषय-लोलुप न होना और वीर्य का पूर्णरूपेण सुरक्षित रहने का नाम ही ब्रह्मचर्य है। इसके विपरीत-अर्थात् इन्द्रियों का दुर्विषयलोलुप होना, दुर्विषय भोग में सुख मानना और वीर्य स्खलित करने का नाम अब्रह्मचर्य है। अब्रह्मचर्य का दूसरा नाम मैथुन भी है, लेकिन मैथुन में मैथुनाभास भी शामिल है। शास्त्रकारों ने, अब्रह्मचर्य का रूप बताने के लिए मैथुन की व्याख्या इस प्रकार की है —

स्मरणं कीर्त्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम् ।
संकल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिष्पत्तिरेव च ॥
एतन्मैथुनमष्टाङ्गं प्रवदन्ति मनीषिणः ।
विपरीतं ब्रह्मचर्यमेतदेवाष्टलक्षणम् ॥

दक्ष-संहिता ।

'स्मरण, कीर्तन, केलि, अवलोकन, गुप्त भाषण, संकल्प, अध्यवसाय और क्रिया निवृत्ति, ये मैथुन के आठ अङ्ग हैं । इन लक्षणों से परे रहने का नाम ब्रह्मचर्य है ।'

देखी या सुनी हुई स्त्रियों को याद करना, 'स्मरण' नामक मैथुन का पहला अंग है । स्त्रियों की प्रशंसा करना-उनके विषय में बातचीत करना—'कीर्त्तन' मैथुन का दूसरा अंग है । स्त्रियों के साथ किसी प्रकार के खेल खेलना 'केलि' मैथुन का तीसरा अंग है । काम-दृष्टि से किसी स्त्री को देखना 'प्रेक्षण' मैथुन का चौथा अंग है । स्त्रियों से छिप कर बातें करना 'गुह्य भाषण,' पाँचवा अंग है । स्त्री-सम्बन्धी भोग भोगने का विचार लाना 'संकल्प' मैथुन का छठा अंग है । स्त्री-प्राप्ति की चेष्टा करना, 'अध्यवसाय' नाम का सातवा और स्त्री-सम्भोग द्वारा वीर्य नष्ट करना, 'क्रियानिवृत्ति' मैथुन का आठवाँ अंग है ।

ब्रह्मचर्य के विरोधी अब्रह्मचर्य-मैथुन-के उक्त आठ अंगों में से जिस-जिस अंग की पूर्त्ति होती जाती है, ब्रह्मचर्य, उतने ही उतने अंश में नष्ट होता जाता है और मैथुन के आठों अंग की पूर्त्ति होने पर, ब्रह्मचर्य, पूर्ण रूपेण नष्ट हो जाता है । मैथुन और ब्रह्मचर्य, परस्पर विरोधी हैं, इसलिए जहाँ एक है, वहाँ दूसरा नहीं ठहर पाता ।

मैथुन और मैथुनाङ्ग-का नाम ही अब्रह्मचर्य है। वीर्य भी, मैथुन से ही नष्ट होता है। इन्द्रियों का दुर्विषय-लोलुप होना ही मैथुन है, और मैथुन ही इन्द्रियों की दुर्विषय-लोलुपता है।

आंशिक मैथुन-सेवन से हानि

मैथुन के किसी भी एक अंग के सेवन से अर्थात् आंशिक रूप से ब्रह्मचर्य खण्डित होने से मैथुन का सर्वाङ्ग से सेवन और ब्रह्मचर्य का नाश होना स्वाभाविक है। क्योंकि, मैथुन के किसी भी एक अंग के सेवन से एक न एक इन्द्रिय दुर्विषय-लोलुप बनेगी ही, और किसी भी एक इन्द्रिय के दुर्विषय-लोलुप बन जाने पर सभी इन्द्रियें दुर्विषय-लोलुप बन जाती हैं। उदाहरण के लिए, यदि कान स्त्री-शब्द में सुख मानते हैं, तो नाक, उनके शरीर की गंध में, जीभ उनसे सम्भाषण करने में, नेत्र उनका रूप देखने में और त्वचा, उनका स्पर्श करने में सुख मानेगी। क्योंकि—

> इन्द्रियाणां तु सर्वेषां यद्येकं क्षरतीन्द्रियम् ।
> तेनास्य क्षरति प्रज्ञा दृतेः पादादिवोदकम् ॥
>
> मनुस्मृति अ० २

'जिस प्रकार, मशक की मशक में एक भी छेद हो जाने पर फिर उस में जल नहीं ठहरता, उसी प्रकार, सब इन्द्रियों में से, एक भी इन्द्रिय के विषय-लोलुप बनने पर बुद्धि नष्ट हो जाती है।'

बुद्धि के नष्ट होने पर, इन्द्रिय-संयम कहाँ ? स्वभावतः भिन्न-भिन्न इन्द्रियाँ फिर तो दुर्विषयों की ही ओर दौड़ती हैं। बुद्धि के नष्ट हो जाने से, इन्द्रियें निरंकुश हो जाती हैं और फिर आत्मा को दिन-प्रतिदिन, पतन की ही ओर अग्रसर करती

हैं। नष्ट-बुद्धि, इन्द्रियो के वश होकर, यह सिद्धान्त मानने लगता है —

असत्यमप्रतिष्ठ ते जगदाहुरनीश्वरम् ।
अपरस्पर सभूत किमन्यत्काम हेतुकम् ॥

गी० अ० १६

'जगत्, असत्य, निराधार और अनीश्वर है । यह यों ही बना है। काम के सिवा इस ससार के बनने का दूसरा क्या हेतु हो सकता है ?'

इस सिद्धान्त को मान कर फिर—

ईहन्ते काम भोगार्थमन्यायेन नार्थ सचयान् ।

गीता अध्याय १६

'केवल काम भोग के लिए ही अन्याय से धन बटोरने लगते हैं।'

तात्पर्य यह, कि मैथुन के किसी एक भी अग के सेवन से अर्थात् एक भी इन्द्रिय की दुर्विषय-लोलुपता से ब्रह्मचर्य नष्ट हो जाता है, और अब्रह्मचर्य, पूर्णरूपेण अपना आधिपत्य जमा लेता है।

सक्षिप्त में, अब्रह्मचर्य से तात्पर्य है—दुर्विषय-भोग, मैथुन, या वीर्य का खण्डित करना। जैन-शास्त्रों ने ही नहीं, किन्तु

अब्रह्मचर्य की निन्दा और उससे हानि।

अन्य ग्रन्थकारों ने भी इस अब्रह्मचर्य-की लौकिक और लोकोत्तर-दोनों ही दृष्टि मे, बडी निन्दा की है । प्रश्नव्याकरणसूत्र मे अब्रह्मचर्य को चौथा अधर्म द्वार मानते हुए कहा है—

जबू ! अबभचउत्थ सदेव मणुया सुरस्स लोगस्स पत्थणिज्ज पंक पणग पास जाल भूयत्थी

'हे जम्बू ! चौथा अधर्मद्वार, अब्रह्मचर्य है। देव, असुर, मनुष्य, वनस्पति, आदि इस अब्रह्मचर्य रूपी कीचड़ की दलदल में फँसे हुए हैं। देव असुर, मनुष्यादि को यह जाल के समान फँसानेवाला है। पशुओं के लिए यह नपुंसकत्व का कारण है। तप, संयम और ब्रह्मचर्य के लिए विघ्न रूप है, अर्थात् इन्हें नाश करनेवाला है। विषय कषाय आदि प्रमादों का मूल है। इन्द्रियों के समीप जो कायर तथा कापुरुष हैं, उन लोगों द्वारा सेवित एवं सज्जनों द्वारा निन्दित-वर्ज्य है। तीनों लोक में प्रतिष्ठित एवं जरा मृत्यु, राग शोक की वृद्धि करने वाला है। वध, बन्धन, आघात तथा दर्शन-मोहनीय और चारित्र मोहनीय कर्म का हेतु है। प्राणियों को इसका परिचय दीर्घकाल से है, इसलिए इसका अन्त करना कठिन है।'

प्रश्नव्याकरण सूत्र में, आगे अब्रह्मचर्य के तीस नाम बताते हुए यह बताया गया है, कि बड़ी-बड़ी ऋद्धिवाले चक्रवर्ती तथा माण्डलिक राजाओं की भी इससे अतृप्ति रही है। इस की निन्दा करते हुए प्रश्नव्याकरणसूत्र में आगे कहा है—

मेहुणसन्न गिद्धाय मोह भरिया सत्थेहि हणंति एक मय
विसय विसे उदीरएहि अवरे पर दारेहि हिंसति ।

'मैथुन में गृद्ध अब्रह्मचर्य के अभाव से भरे हुये लोग, परस्पर एक दूसरे को घात करते हैं। विष देकर मार डालते हैं। यदि परस्त्री हुई तो उस स्त्री का पति व्यभिचारी की घात करता है। इस प्रकार अब्रह्मचर्य, मृत्यु का कारण है। अब्रह्मचर्य से धन और स्वजन का नाश होता है। पूर्ण चाहना में गृद्ध स्त्री-मोह से परिपूर्ण घोड़े, हाथी, बैल, भैंसे, मृग आदि पशु परस्पर लड़कर मर जाते हैं और अपनी सन्तान तक का घात कर डालते हैं। इसी प्रकार पक्षी और मनुष्य भी परस्पर युद्ध करते हैं। अब्रह्मचर्य के कारण मित्रों में भी [illegible] हो जाता है। अब्रह्मचर्य

से सिद्धान्त द्वारा प्ररूपित चारित्र रूपी मूलगुण का भेदन हो जाता है। श्रुतचारित्रधर्म में रत जीव भी स्त्री-संग से क्षणमात्र में भ्रष्ट बन जाते हैं। सम्यक्त्वी और सुव्रती भी स्त्री सग से अपयश तथा अकीर्ति को प्राप्त होते हैं। अब्रह्मचर्य से शरीर रोगी बना रहता है, और अन्त में शीघ्र ही मृत्यु के मुख में पड़ना पड़ता है। अब्रह्मचर्य से पर स्त्री गमन के कारण कितने ही जीव बधन में पड़ते हैं और मारे जाते हैं। अब्रह्मचर्य के मोह से पराभव को पाये हुये जीव इस प्रकार दुर्गति के अधिकारी बनते हैं।'

प्रश्नव्याकरणसूत्र में आगे यह भी बताया गया है, कि अब्रह्मचर्य के कारण स्त्रियों के लिए कैसे-कैसे महान् सग्राम हुए हैं। स्त्रियों के लिए होने वाले सग्रामों का वर्णन करने के पश्चात् प्रश्नव्याकरणसूत्र में लिखा है—

इहलोएतावनट्ठा परलोएयनट्ठा महया मोह तिमिसघयारे घोरे तस थावर सुहुम बादरेसुय पज्जत्तम पज्जत्तक साहारण सरीर पत्तेय

'इन्द्रियों का दुर्विषय भोग रूप मैथुन, इस लोक में बन्धनकर्त्ता और परलोक में अनिष्टकारी है। महामोह रूप अधकार का स्थान है। त्रस स्थावर, सूक्ष्म बादर पर्याप्त अपर्याप्त आदि पर्यायों से चतुर्गति रूप ससार में विशेष समय तक और बारम्बार परिभ्रमण करानेवाले मोहनीय कर्म का बद्धक है।'

एसोसो अबभस्स फल विवागो इह लोइयो पर लोइयो अप्प सुहो बहु दुक्खो महब्भयश्रो बहुरयप्प गाढो दारुणो कक्सो असाओ वास सहस्सहिं मुचतीनय अवेदयिता अत्थिहु मोक्खाति।

'इस प्रकार अब्रह्मचर्य का फल इस लोक तथा परलोक में अल्प सुख और महान् दुःख है। अब्रह्मचर्य महा भय का स्थान, कर्मरूपी रज से गाढ़ी तरह घिरा हुआ एवं दारुण कर्कश और बिना भोगे न छूटने वाले कर्मों को बाँधने वाला है।'

गीता में अब्रह्मचर्य की निम्न प्रकार से निन्दा की है—

कामएष क्रोध एष रजोगुण समुद्भव ।
महाशनो महा पाप्मा विद्धयेनमिह वैरिणम् ॥
धूमेनाव्रियते वह्निर्यथादर्शो मलेन च ।
यथोल्बेना वृता गर्भस्तथा तेनेदमावृतम् ॥
आवृत ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्य वैरिणा ।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च ॥
इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठान मुच्यते ।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम् ॥

अध्याय ३

'मनुष्य को पाप के रास्ते ले जानेवाले रजोगुण से उत्पन्न काम और क्रोध ही हैं। ये भुक्खमरे या पेटू महापापी और शत्रु हैं। जिस प्रकार 'आग' धुएँ से ढकी रहती है काँच मैल से धुंधला दिखता है और गर्भ का बालक झिल्ली से ढका रहता है, इसी प्रकार सारा संसार काम से ढका हुआ है। यानी जिसमें काम न हो—जो काम से परे हो—वह संसार से भी परे है। हे अर्जुन! कभी तृप्त न होने वाली यह काम रूपी आग आत्मा की सदा की वैरिन है। ज्ञानियों के ज्ञान को भी यह ढँक देती है। इस काम के ठहरने की जगह, इन्द्रिय मन और बुद्धि है। यह इन्हीं के सहारे ज्ञान को ढँक कर मनुष्य को मोहित करता है।'

त्रिविध नरकस्यद द्वार नाशनमात्मनः ।
काम क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रय त्यजेत् ॥

गीता अ० १६

'काम, क्रोध और लोभ ये नरक के द्वार और आत्मा का नाश करनेवाले हैं। इसलिए इन तीनों को त्याग देना चाहिए।'

इस प्रकार, अब्रह्मचर्य की, सब ने निन्दा की है। परलोक-सम्बन्धी जो हानियें इससे होती हैं, उनका वर्णन तो किया ही गया है, लेकिन इसलोक मे भी इससे अनेक हानियें हैं। इससे होनेवाली समस्त हानियों का वर्णन करना कठिन है।

अब्रह्मचर्य-मैथुन-से, हिंसा का महान्-पाप भी होता है। भगवती सूत्र में, गौतम स्वामी के प्रश्न करने पर, भगवान ने फर्माया है कि 'जिस प्रकार रुई से भरी हुई नली में, तप्त लोहे की सलाई डालने से रुई का नाश होता है, उसी प्रकार, कामाचार सेवन करनेवाला, स्त्री-योनि के जन्तुओं का नाश करता है। ये जन्तु पचेन्द्रिय हैं, और उनकी सख्या अधिक-से-अधिक नवलाख है। इन—नवलाख—जीवों के सिवा, समूर्छिम जीवो की तो गिन्ती ही नहीं है।' इस प्रकार एक बार के मैथुन से अनेक जीवों की हिंसा का पाप होता है।

अब्रह्मचर्य से हिंसा।

स्त्री-योनि मे जीव होते हैं इस बात को दूसरे लोग भी मानते हैं। वात्सायन कामसूत्र का टीकाकार और रतिरहस्य का कर्त्ता भी स्त्री-योनि में जीव होना स्वीकार करता है। जब स्त्री-योनि में जीव हैं, तो मैथुन से उनका नाश होना और हिंसा

का पाप लगना, स्वाभाविक है। इसलिए अहिंसाव्रत की रक्षा की दृष्टि से भी अब्रह्मचर्य त्याज्य है।

ब्रह्मचर्य-व्रत ।

विमरत बुधा योषित्सगात्सुखात क्षण भगुरात्
कुरुत करुणा मैत्री प्रज्ञा वधूजन सगमम् ।
न खलु नरके हाराकान्त घनस्तन मण्डल
शरण मथवा श्रोणी बिम्ब रणन्मणि मेखलम् ॥

भर्तृहरि

'हे बुद्धिमानो ! क्षणिक और नाशवान स्त्री सग के सुख को छोड़कर, मैत्री, करुणा, और प्रज्ञा (ज्ञान) रूपी स्त्री का साथ करो । नरक में, जब साड़ना होगी, तब स्त्रियों के हार भूषित स्तनमण्डल और घुँघरूदार करधनी से शोभित कमर सहायता न करगी ।'

ब्रह्मचर्य का अर्थ । अब्रह्मचर्य से निवर्त कर, ब्रह्मचर्य पालन करने की प्रतिज्ञा करने का नाम 'ब्रह्मचर्य व्रत' है । इस प्रकार की प्रतिज्ञा पालन करने वाले को, 'ब्रह्मचारी' कहते हैं ।

ब्रह्मचर्य को व्रत रूप क्यों स्वीकारना चाहिए ? कभी कोई कहे कि 'प्रतिज्ञा रूप व्रत स्वीकार किये बिना ही, यदि ब्रह्मचर्य का पालन किया जावे, तो क्या हर्ज है ? यदि कोई हानि नहीं है, तो फिर ब्रह्मचर्य पालन की प्रतिज्ञा करने-यानी व्रत धारण करने-की क्या आवश्यकता है ?' इसका उत्तर यह है, कि संकल्प-हीन कार्यों की पूर्ति में सन्देह रहता है ॥ सकल्प, यानी

व्रत या प्रतिज्ञा कर लेने पर, कार्य में होनेवाली बाधाओं को सहने की शक्ति होती है, मन में दृढता रहती है और 'प्रतिज्ञा-भ्रष्ट न हो जाऊँ।' इस बात का भय रहता है। इसके सिवा व्रत रूप धारण किये बिना ब्रह्मचर्य पालन में, परलोक सम्बन्धी जो लाभ होना चाहिए, वह लाभ भी नहीं होता। जैन-शास्त्रों में तो इस बात का प्रतिपादन है ही, लेकिन अन्य ग्रन्थों में भी यही बात कही गई है। जैसे—

सकल्पेन विना राजन् यत्किंचित् कुरुतेनर ।
फलस्याप्यल्पक तस्य धर्मस्यार्ध क्षय भवेत ॥

पद्म पुराण ।

'हे राजन्! सकल्प के बिना जो कुछ किया जाता है, उसका फल बहुत थोड़ा होता है और उस कार्य के धर्म का आधा भाग नष्ट हो जाता है।'

किसी भी शुभ कार्य को करने के लिए, संकल्प का होना आवश्यक है और परलोक के लिये हितकारी नियमों के पालन का सकल्प ही व्रत कहलाता है। यद्यपि, व्रत रूप धारण किये बिना भी, ब्रह्मचर्य का पालन करना बुरा नहीं है—अच्छा ही है—लेकिन, ब्रह्मचर्य-पालन से, पारलौकिक जो लाभ प्राप्त होना चाहिये, वह लाभ ब्रह्मचर्य को व्रत रूप स्वीकार किये बिना, पूर्णतया प्राप्त नहीं होता। इन सब बातों को दृष्टि में रखकर, ब्रह्मचर्य को, व्रत रूप स्वीकार करना उचित है। ब्रह्मचर्य को व्रत-रूप स्वीकार करने में, किसी प्रकार की हानि नहीं है, हाँ, लाभ अवश्य हैं, जो ऊपर बताये जा चुके हैं।

भगवान महावीर से पूर्व, ब्रह्मचर्य नाम का व्रत अलग न

था। उस समय अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह, ये चारही व्रत थे। चार व्रत होने पर भी ब्रह्मचर्य का पालन तो होता था, लेकिन ब्रह्मचर्य व्रत, अपरिग्रह व्रत में ही माना जाता था और परिग्रह के त्याग में, अब्रह्मचर्य का भी त्याग समझा जाता था। यद्यपि, अपरिग्रह-व्रत में ब्रह्मचर्य-व्रत का भी समावेश हो जाता है और परिग्रह के त्याग मे, अब्रह्मचर्य का भी त्याग हो जाता है, परन्तु भगवान महावीर ने, अपने समय के एव भविष्य के वक्र-जड मनुष्यों को दृष्टि में रखकर, ब्रह्मचर्य व्रत का, अलग ही उपदेश दिया। भगवान पार्श्वनाथ तक चार ही व्रत थे, और भगवान महावीर ने पाँच व्रत का उपदेश दिया, इस बात को लेकर-भगवान पार्श्वनाथ की परम्परा के-मुनि श्री केशीजी और भगवान महावीर के शिष्य-श्री गौतम स्वामी में, चर्चा भी हुई, जिसका विस्तृत वर्णन, श्री उत्तराध्ययन सूत्र के २३ वे अध्ययन मे है।

ब्रह्मचर्य व्रत, अपरिग्रह व्रत से अलग क्यों है ?

शास्त्रकारों ने, सुविधा की दृष्टि से, ब्रह्मचर्य-व्रत के दो भेद कर दिये हैं। एक सर्वविरति-ब्रह्मचर्य-व्रत और दूसरा देशविरति-ब्रह्मचर्य-व्रत। सर्वविरति-ब्रह्मचर्य-व्रत उसे कहते हैं, जिसमें, जीवन भर के लिये मैथुन से निवृत्ति होने, वीर्य अक्षत रखने और सभी प्रकार के काम भोग न भोगने की प्रतिज्ञा की जावे। इस व्रत को स्वीकार करनेवाला, 'सर्वविरति-ब्रह्मचारी, कहलाता है। ऐसा ब्रह्मचारी मन, वचन और काय से, वैक्रिय तथा औदारिक शरीर सम्बन्धी

ब्रह्मचर्य व्रत के दो भेद

काम-भोगों को, न भोगता है, न भोगवाता है, न भोगनेवाले को अच्छा ही समझता है। सर्वविरति-ब्रह्मचारी, ऐसे अठारह प्रकार के काम-भोगों को त्यागकर, ब्रह्मचर्य का पूर्ण रीति से पालन करने की प्रतिज्ञा करता है। सर्वविरति-ब्रह्मचर्य का, अन्य ग्रन्थकारों ने, नैष्ठिक-ब्रह्मचर्य नाम दिया है।

देशविरति-ब्रह्मचर्य-व्रत उसे कहते हैं, जिसमें स्व स्त्री की मर्यादा रखी जावे। इस स्थान पर, सर्वविरति-ब्रह्मचर्य-व्रत का ही वर्णन किया जाता है, देशविरति ब्रह्मचर्य-व्रत का वर्णन आगे किया गया है।

सर्वविरति-ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन कौन कर सकते हैं, इसके लिये एक आचार्य कहते हैं—

शक्यं ब्रह्म व्रतं घोरं शूरैश्च नतु कातरैः ।
करि पर्याण मुद्वोढुं करिभिर्नतु रासभैः ॥

'ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करना, शूरों के लिए ही शक्य है कायरों के लिए नहीं, जैसे कि हाथी का पलाण, हाथी ही उठा सकता है, गधा नहीं उठा सकता।'

सर्वविरति-ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन, संसार-त्यागी साधु ही कर सकते हैं, दूसरा नहीं कर सकता। संसार-व्यवहार में रहनेवाले सभी मनुष्य, एक दम से संसार-व्यवहार नहीं छोड़ सकते, इसलिये संसार-व्यवहार में रहने वालों के लिये, देशविरति ब्रह्मचर्य व्रत बतलाया गया है। इस प्रकार गृहत्यागियों के लिये सर्वविरति-ब्रह्मचर्य व्रत है और गृहस्थियों के लिए देशविरति ब्रह्मचर्य-व्रत।

सर्वविरति ब्रह्मचर्य व्रत का पालन कौन कर सकता है?

इन्द्रियें, पाप से नहीं हैं मिली, किन्तु पुण्य से मिली हैं। पुण्य से मिली हुई इन्द्रियों को, पुण्य की ओर लगाना उचित है, न कि पाप की ओर। जब इन पुण्य से मिली हुई इन्द्रियों द्वारा, धर्म का लाभ लिया जा सकता है, तब इनसे पाप क्यों किया जावे ? इन्द्रियों द्वारा, काम-भोग भोगना, पुण्य से प्राप्त इन्द्रियों को पाप में प्रवृत्त करना है। इन्द्रियों की सार्थकता तभी है, इनके मिलने का लाभ तभी है, जब इन्हें असयम में न लगाया जाकर, सयम में रखा जावे। इनके द्वारा दुर्विषय भोगना—इन्द्रियों का दुर्विषय मे लिप्त होना—उसी प्रकार नाशकारी है, जिस प्रकार, पतग के लिए दीपक की लौ से मोह करना नाशकारी है। पतग, केवल आँखों के विषय रूप-पर मोहित होने से नष्ट हो जाता है, तो जिनकी पाँचो इन्द्रियें दुर्विषय-लोलुप हों, वे नष्ट क्यों न होंगे ? इन्द्रियों को दुर्विषय भोग मे लगाने से—दुर्विषय-लोलुप बनाने से—नाश, अवश्यम्भावी है। इसलिये—काम, भोग के दुष्परिणामों से बचने के वास्ते—सर्वविरति ब्रह्मचर्य व्रत को स्वीकार करना—और पालन करना उचित है।

ब्रह्मचर्य व्रत स्वीकारने से लाभ

मोक्ष की आराधना के लिए, चारित्र धर्म के अन्तर्गत, भगवान ने जिन पाँच व्रतो को बताया है, उनमें से यह सर्व-विरति-ब्रह्मचर्य, चौथा व्रत है। मोक्ष-प्राप्ति के लिये, ब्रह्मचर्य व्रत को स्वीकार करना—और पालन करना—आवश्यक है। ब्रह्मचर्य-व्रत के बिना अन्य व्रत, मोक्ष के लिए, पूर्णरूपेण सार्थक नहीं होते, न ब्रह्मचर्य के अभाव मे अन्यव्रत, भली प्रकार आराधे ही जा सकते हैं। ब्रह्मचर्यव्रत, मोक्ष के लिए कैसा उप-

-योगी है, यह बताते हुए एक आचार्य कहते हैं—

एस धम्मे धुए नियए सासए जिए देसिए।
सिज्झा सिज्झन्ति भाएण सिज्झि संति तहापरे॥

'यह ब्रह्मचर्य धर्म ध्रुव, नियत, अविनाशी और जिनदेव का कहा हुआ है। इस ब्रह्मचर्य—धर्म से, सिद्ध हुए हैं और सिद्ध होंगे।'

ब्रह्मचर्य व्रत की प्रशंसा सर्वविरति ब्रह्मचर्य व्रत की प्रशंसा करते हुए, एक आचार्य कहते हैं—

व्रताना ब्रह्मचर्यं हि निर्दिष्ट गुरुक व्रतम्।
तज्जन्य पुण्य सम्भार संयोगाद् गुरुरुच्यते॥

'व्रतों में ब्रह्मचर्य ही बड़ा व्रत है, इसी व्रत के पुण्य संयोग से गुरु कहे जाते हैं।'

गीता में कहा है—

यदा संहरते चायं कर्मोऽङ्गानीव सर्वश।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥

अध्याय २ श्लो

'जिस प्रकार कछुआ, अपने सब अंगों को सिकोड लेता है, उसी प्रकार, विषयों की ओर से इन्द्रियों को सिकोड लेने वाला ही स्थिर बुद्धि है।'

महाभारत में कहा है—

सत्य रताना सतत दान्ताना मूर्ध्व रेत साम।
ब्रह्मचर्य दहेद्राजन्! सर्वे पापान्य पासितम्॥

शान्ति पर्व।

'हे राजन्! सत्य से प्रेम करनेवाले ब्रह्मचारी का ब्रह्मचर्य, समस्त पापों को नष्ट करने वाला है।'

ब्रह्मचर्य की प्रशसा में, विद्वान् लोग कहते हैं—

ब्रह्मचर्य प्रतिष्ठाया वीर्य लाभो भवत्यपि।
सुरत्व मानवोयाति चान्तेयाति परागतिम् ॥ १ ॥
ब्रह्मचर्य पालनीय देवानामपि दुर्लभम।
वीर्ये सुरक्षिते यान्ति सर्वे लोकार्थ सिद्धय ॥ २ ॥

सूक्ति

'ब्रह्मचय का पालन करने से, वीर्य का लाभ होता है, मनुष्य भी, देवता के समान दिव्य हो जाता है, और ब्रह्मचर्य की साधना पूरी होने पर परमगति भी मिलती है ॥ १ ॥ ब्रह्मचर्य, देवताओं के लिये भी दुर्लभ है, इसलिये इसका पालन करना उचित है, वीर्य को सुरक्षित रखने से, सब लोकों का अर्थ सिद्ध हो जाता है ॥ २ ॥'

इस प्रकार, सर्वविरति ब्रह्मचर्य की, सब शास्त्र और ग्रन्थों ने प्रशसा की है। यति-धर्म का पूर्णतया पालन तभी हो सकता है, जब, इस सर्वविरति ब्रह्मचर्य व्रत को स्वीकार करके, पूर्ण-रीति से पाला जावे। इस ब्रह्मचर्य व्रत के विना, अन्य व्रतों को स्वीकार करना, तथा उनका पालन करना भी, मोक्ष के लिये पर्याप्त नहीं है। अत मोक्षेच्छुकों को, अन्य व्रतों के साथ इस व्रत को स्वीकार करना और पालन करना, आवश्यक है।

व्रत-रक्षा के उपाय ।

जेण सुद्धचरिएण भवति सुबम्भणो, सुसमणो, सुसाहू, स इसी, स मुणी, स सजए, स एव भिक्खू जो सुद्धं चरति बम्भचेरं ।

प्रश्न व्याकरण सूत्र ।

'ब्रह्मचर्य के शुद्धाचरण से ही, उत्तम ब्राह्मण, उत्तम श्रमण, और उत्तम साधु होता है। शुद्ध ब्रह्मचर्य का पालने वाला ही; ऋषि, मुनि, सयमी और भिक्षु है।'

शास्त्रों में, ब्रह्मचर्य व्रत की रक्षा के, प्रधानत दो उपाय बताये गये हैं। एक क्रिया-मार्ग और दूसरा ज्ञान-मार्ग। क्रिया-मार्ग, ब्रह्मचर्य के विरोधी सस्कारों को रोकता है और इस प्रकार ब्रह्मचर्य व्रत की रक्षा करता है। लेकिन इस मार्ग से, अब्रह्मचर्य के सस्कार निर्मूल नहीं होते। ज्ञान-मार्ग, अब्रह्मचर्य के सस्कारों को, निर्मूल कर देता है। फिर ब्रह्मचारी को, ब्रह्मचर्य-पूर्ण जीवन स्वाभाविक एव सरल और अब्रह्मचर्य पूर्ण जीवन अस्वाभाविक एव कठिन प्रतीत होता है। ज्ञान मार्ग द्वारा

ब्रह्मचर्य व्रत की रक्षा के दो प्रधान उपाय।

प्राप्त रक्षण, स्वरूप चिन्तन या आत्मविवेक से उत्पन्न हुआ होता है, इसलिये एकान्तिक और आत्यन्तिक है; कभी नाश नहीं होता। लेकिन क्रिया-मार्ग द्वारा प्राप्त रक्षण, एकान्तिक या आत्यन्तिक नहीं है। क्रिया मे किंचित भी ढिलाई होने से, अब्रह्मचर्य के सूक्ष्म-संस्कारों का उग्ररूप होना सभव है। यद्यपि इन दोनो उपायों में से उत्तम उपाय, ज्ञान-मार्ग है, फिर भी जिस ब्रह्मचारी ने, ज्ञान मार्ग को पूरी तरह अपना लिया है, उसको क्रियामार्ग की उपेक्षा करना उचित नहीं है। क्योंकि, क्रिया-मार्ग को त्याग देने से, व्यवहार में भी धोखा हो सकता है, ब्रह्मचारी अब्रह्मचारी की पहचान भी नहीं रहती और क्रिया-शून्य ज्ञान, पूर्णतया लाभप्रद भी नहीं है।

क्रिया-मार्ग से ब्रह्मचर्य व्रत की रक्षा।

क्रिया-मार्ग में, बाह्य नियमों का समावेश है। क्रिया-मार्ग द्वारा, ब्रह्मचर्य व्रत की रक्षा के लिये, प्रश्नव्याकरण सूत्र मे, पाँच भावनाएँ बताई गई हैं, जो इसप्रकार हैं—

१—केवल स्त्रियों से सम्बन्ध रखनेवाली कथाओं को, स्त्रियों के सन्मुख या अन्यत्र न करे।

२—स्त्रियों की मनोहर इन्द्रियाँ न देखे।

३—स्त्रियों के रूप को न देखे।

४—काम भोग को बढाने वाली वस्तुओ को न देखे, न कहे, न स्मरण करे।

५—कामोत्तेजक पदार्थ न खावे-पीवे।

इसी प्रकार ब्रह्मचर्य व्रत की रक्षा के लिये, भगवान ने, उत्तराध्ययन सूत्र में दस समाधिस्थान बताये हैं, जो संक्षिप्त में इस प्रकार हैं—

१—वैक्रिय और औदारिक शरीर-धारिणी-स्त्री, पशु और नपुंसक के संसर्गवाले आसन और निवास स्थान आदि का उपयोग नहीं करना।

२—अकेली स्त्री से बात-चीत न करना, केवल अकेली स्त्री को कथा-वार्ता, व्याख्यान आदि न सुनाना, और स्त्री-कथा न करनी। यानी केवल स्त्री के रूप-वेश आदि का वर्णन न करना।

३—स्त्रियों के साथ एक आसन पर न बैठना और जिस आसन पर स्त्री बैठी हो, उस आसन पर, स्त्री के उठने से दो घड़ी पश्चात् तक न बैठना।

४—स्त्रियों की मनोहर आँख, नाक आदि का तथा दूसरे अंगोपांग का अवलोकन न करना, न उनका चिंतन करना।

५—स्त्रियों के रति-प्रसंग समय के शब्द, रतिकलह के शब्द, गीत की ध्वनि, हँसी की किलकिलाहट, क्रीड़ा के शब्द, और विरह-रुदन को पर्दे के पीछे से या दीवाल की आड़ से भी न सुनना।

६—पूर्व में अनुभव की हुई, आचरण की हुई या सुनी हुई रति-क्रीड़ा काम-क्रीड़ा आदि का स्मरण न करना।

७—पौष्टिक खाद्य एवं पेय पदार्थों का उपयोग न करना।

८—सादा भोजन आदि भी प्रमाण से अधिक न खाना-पीना।

९—शृङ्गार-स्नान, विलेपन, धूप, माला, विभूषण और केश-रचना आदि न करना।

१०—कामोत्तेजक शब्द, रूप, रस, गंध, और स्पर्श से बचना।

सर्वविरति ब्रह्मचारी को, ऊपर कही हुई भावनाओं एवं

समाधिस्थान के नियमों का पालन करना आवश्यक है। ऐसा न करने से, सर्वविरति ब्रह्मचर्य व्रत में अतिचार लगता है और अतिचार लगने से व्रत दूषित हो जाता है।

यहाँ प्रश्न होता है, कि आँखों के सामने आये हुए रूप को या कान में पड़े हुए शब्द को देखने-सुनने से, किस प्रकार बचा जा सकता है? क्या आँख-कान आदि को बन्द रखना चाहिए? इसका उत्तर यह है कि सामने आये हुए रूप को न देखना, या कान में पडे हुए शब्द को न सुनना, वास्तव में अशक्य है, परन्तु इसके लिये, आँख-कान, आदि बन्द रखने की जरूरत नहीं है। किन्तु ऐसे समय में, ब्रह्मचारी को, अपने में राग-द्वेष न होने देना चाहिये और वस्तुस्वरूप का चिन्तन करना चाहिए।

सर्वविरति ब्रह्मचर्य व्रत का, पूर्णतया पालन तभी माना जाता है, जब शरीर के साथ ही, मन और वचन पर भी संयम रखा जावे। केवल शरीर से ही अब्रह्मचर्य का सेवन न करना, सर्वविरति-ब्रह्मचर्य नहीं है, किन्तु मन वचन और काय इन, तीनों से अब्रह्मचर्य का सेवन, न करना चाहिए। बल्कि, शरीर की अपेक्षा मन पर अधिक संयम रखने की आवश्यकता है। क्योंकि—

मन संयम।

मन एव मनुष्याणां कारणं बंध मोक्षयो।

'मन ही मनुष्य के लिये पाप बंध या मोक्ष का कारण है।'

बन्धाय विषयासक्तं मुक्तये निर्विषयं मनः।

सूक्ति।

'विषयासक्त मन, पाप-बन्ध का कारण है और विशुद्ध मन, मोक्ष का कारण है।'

इन्द्रियें, दुर्विषयों में, मन को साथ लेकर ही प्रवृत्त होती हैं। यदि मन, इन्द्रियों का साथ न दे, तो इन्द्रियें—चाहने पर भी दुर्विषयों में प्रवृत्त नहीं हो सकतीं। कदाचित इन्द्रियों को दुर्विषयों में प्रवृत्त न होने दे, तब भी यदि मन से दुर्विषयों का चिन्तन करता है, तो वह अब्रह्मचर्य का पाप उसी प्रकार बाँधता है, जिस प्रकार, (शास्त्र की कथा के अनुसार) तंदुलमच्छ,—प्रकट में हिंसा न करके भी—हिंसा का पाप बाँधता है। गीता में कहा है—

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन् ।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ॥

अध्याय ३ रा

'कर्मेन्द्रियों को रोककर, मन से विषयों का चिन्तन करनेवाला मूढात्मा, मिथ्याचारी (पाखण्डी) कहलाता है।'

आत्मा के विनाश का कारण बताते हुए, गीता में कहा है—

ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूप जायते ।
सङ्गात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥
क्रोधाद्भवति संमोहः सम्मोहात्स्मृति विभ्रमः ।
स्मृति भ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥

अध्याय २ रा

'विषयों का ध्यान करते रहने पर, विषयों से स्नेह होजाता है और फिर, उनके पाने की इच्छा-काम—की उत्पत्ति होती है,इस काम से ही क्रोध उत्पन्न होता है। क्रोध से अज्ञान उत्पन्न होता है, अज्ञान से स्मृति नष्ट होती है, स्मृति नष्ट होने से, बुद्धि भ्रष्ट होती है और बुद्धि भ्रष्ट होने पर, सत्यानाश हो जाता है।'

इस प्रकार, आत्मा के पतन का कारण, मन में, विषयों का ध्यान करना—विषयों का चिन्तन करना—ही ठहरता है। इस-लिये ब्रह्मचारी को, मन पर संयम रखने की विशेष आवश्यकता है।

मनको किसी भी समय कार्य से खाली रखना, ब्रह्मचर्य-व्रत को जोखम में डालना है। मन को जब भी कोई कार्य न होगा, वह तभी बुरे विचार करने लगेगा। बुरे विचार ही, पाप का कारण है। संसार में कहावत है कि 'वश में किये हुए भूत, को जब कोई काम नहीं बताया जाता तब वह भूत, उस वश करनेवाले के रक्त-माँस को ही खा जाता है।' ठीक इसी प्रकार, जब मन को कोई काम नहीं रहता, तब वह हृदय के, सद्विचारों का—मनुष्य के गुणों का—भक्षण करने लगता है। इसलिये मन को प्रत्येक समय, किसी न किसी सद्कार्य में लगाये रखना उचित है।

ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिये, अधिक भोजन करना वर्ज्य है।

भोजन संयम।

जीवन के लिये जितना भोजन आवश्यक है उससे किंचित भी अधिक भोजन, ब्रह्मचारी को न करना चाहिये। अधिक भोजन से, इन्द्रियों में विकार उत्पन्न होता है, जो ब्रह्मचर्य का नाशक है।

ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिये, थोड़ा भोजन ही अच्छा है। विद्वानों का कथन है—

स्वल्पाहारः सुखावह ।

'थोड़ा भोजन, सुखप्रद है।'

इस कथन का उल्टा यह हुआ, कि अधिक भोजन दु:ख प्रद है। अधिक भोजन, केवल ब्रह्मचर्य के ही लिये नहीं, किन्तु प्रत्येक दृष्टि से हानिप्रद है। चाणक्य-नीति में कहा है—

अनारोग्यमनायुष्य, स्वर्ग्यं चाति भोजनम्।
अपुण्य लोकविद्विष्ट तस्मात्तत्परिवर्जयेत् ॥

'अति भोजन से अस्वस्थता बढ़ती है, आयुबल क्षीण होता है, अनेक रोग पैदा होते हैं, पाप कर्म में प्रवृत्ति होती है और लोगों में निंदा होती है इसलिये अधिक भोजन करना वर्जित है।'

ब्रह्मचर्य की रक्षा के उपाय बताते हुए, प्रश्नव्याकरण सूत्र में कहा है—

नो पाण भोयणस्स अइमायाए आहार इत्ता ।

'ब्रह्मचारी, प्रमाण से अधि[illegible]

ब्रह्मचारी को, अधिक [illegible]

इसी प्रकार यह [illegible] भी [illegible] कामो[illegible]
त्तेजक, शक्ति [illegible]
लिये हुए हो [illegible]
ही करता [illegible]
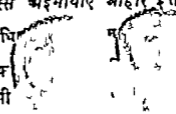
बताई गई हैं, उनमें से एक गुप्ति, सरस भोजन न करने की ही है और वह इस प्रकार है—

नो पणीय रस भोई।

'ब्रह्मचारी, रस प्रणीत भोजन न करे।'

पुस्तकों के अनुसार, बुद्ध ने, अपने शिष्यों से कहा था, कि 'एक बार हल्का आहार करनेवाला, महात्मा है, दो बार सम्हल कर-यानी थोड़ा-थोडा—आहार करनेवाला, बुद्धिमान् और भाग्यवान् है, और इससे अधिक खाने वाला, महामूर्ख, अभागा और पशु का भी पशु है।'

ब्रह्मचारी को, ऐसे पदार्थों का भी सेवन नहीं करना चाहिए, जो मादक हों। मादक-द्रव्यों से, बुद्धि नष्ट होती है और बुद्धि नष्ट होने पर, समस्त दुष्कर्मों का होना सम्भव है। चा, गाँजा, भंग, चर्स, अफीम, शराब तम्बाकू, बीड़ी, सिगरेट, चुरुट आदि नशा करनेवाले समस्त पदार्थों की गणना, मादक पदार्थों या मद में है। वैद्यक ग्रन्थों में कहा है—

बुद्धिं लुम्पति यद् द्रव्यं मदकारि तदुच्यते।

'जिन पदार्थों से बुद्धि नष्ट होती है, वे सब मादक पदार्थ हैं।'

इसलिये ब्रह्मचारी को, ऐसे पदार्थों के सेवन से भी बचते रहना चाहिए।

ब्रह्मचारी को, शृंगार करना मना है। शृंगार में, स्नान, दन्त-

अश्रृंगार धावन, तेल-फुलेल का लगाना, अच्छे कपड़े और आभूषणादि पहनना आदि कार्य हैं।

प्रश्नव्याकरण सूत्र में कहा है—

किते अराहाणग अदन्त धोवण सेय मल जल्ल धारण मूणव्वय केसलोएय खम दम अचेल गवखुप्पिवास

'ब्रह्मचारी, इन नियमों का पालन करे। स्नान और दन्तधावन न करे; यदि पसीना हो, तब भी मैल मिश्रित पसीने से युक्त शरीर रखे; मौन रहे, निरर्थक बात-चीत न करे, केशों का लुंचन करे, तथा और भी जो कष्ट हों, उन्हें क्षमा सहित सहन करे; आत्मा का दमन करे; अल्पवस्त्री रहे, क्षुधा तृषा सहन करे; लाघवता धारण करे, गर्मी-सर्दी सहन करे; भूमि अथवा काष्ठ शय्या पर शयन करे; भिक्षा के लिये गृहस्थों के घर में प्रवेश करने पर आहार प्राप्त हो या न हो, सम्मान हो अथवा अपमान हो, निन्दा हो या प्रशंसा हो, सभी अवस्थाओं में समभाव रखे, मच्छर, डाँस आदि द्वारा मिले हुए कष्टों को सहन करे; नियम सद्गुण और विनय का आचरण करे। ऐसा करने से, ब्रह्मचर्य स्थिर रहता है।'

इसप्रकार ब्रह्मचारी को–अन्य नियमों के साथ ही स्नान दन्तधावन आदि-शृंगार न करने का नियम भी बताया गया है। अन्य ग्रन्थकारों ने भी, ब्रह्मचारी के लिये ऐसे ही नियम बताये हैं। जैसे—

मल स्नान सुगन्धाद्यं स्नान दन्त विशोधनम्।
न कुर्याद् ब्रह्मचारी च तपस्वी विधवा तथा॥

विद्यासुदिता निबंधराण।

'मल से शुद्धि पाने के लिए, या सुगन्धित-द्रव्य का सेवन करके स्नान करना शृंगार-मंजन आदि करना, ब्रह्मचारी तपस्वी और विधवा को उचित नहीं है।'

वर्ज्जयेन्मधु मास गन्ध माल्यादि वास्वप्नाजनाभ्यजन यानोपानच्छत्र काम क्रोध लोभ मोह वाद्य वादन स्नान दन्त-धावन हर्ष नृत्य गीत परिवाद भयानि ।

गौतम स्मृति ।

'ब्रह्मचारी, मधु, माँस, गन्ध, फूलमाला, दिन में शयन, अञ्जन, उबटन, सवारी, जूता, छाता, काम, क्रोध, लोभ, मोह, बाजा बजाना, स्नान, दातुन, प्रसन्नता, नाच, गाना, निन्दा और भय को त्याग दे ।'

यही बात मनुस्मृति में भी कही गई है। उत्तराध्ययन सूत्र में, ब्रह्मचारी के लिए विशेष रूप से कहा गया है कि—

विभूस परिवज्जिहा सरीर परिमण्डन ।

बभचेर रउ भिक्खू सिंगारत्थ न धारए ।

उत्तराध्ययन सूत्र अध्याय० १६ वाँ

'ब्रह्मचर्य में रत साधु, शरीर मण्डन अर्थात् शरीर, नख, केश, आदि का संस्कार करना—और श्रृंगार वस्त्रादि से शरीर को शोभित करना सर्वथा प्रकार से त्यागे ।'

निवास । ब्रह्मचारी ऐसे स्थान का सेवन कदापि न करे—अर्थात् ऐसे स्थान पर न रहे-जहाँ स्त्रियों का निवास या आवागमन हो । प्रश्नव्याकरण सूत्र में, ब्रह्मचर्य की नौ गुप्तियों में से एक गुप्ति इसी विषय में है, जो इस प्रकार है—

नो इत्थी पसु पडग स सत्ताणि सिज्जा

सणाणी सेवित्ता भवइ ।

'जिस स्थान पर, स्त्री पशु, या नपुंसक रहते हों, उस स्थान पर ब्रह्मचारी निवास न करे।'

बिना काम एकान्त में निवास करना भी ब्रह्मचर्य के लिये घातक है। बिना काम एकान्त में रहने से, कुभावनाओं के जन्मने और ब्रह्मचर्य खण्डित होने का भय रहता है।

ब्रह्मचारी को, ऐसी पुस्तकें कदापि न पढनी चाहिएँ, जिनसे काम-विकार की जागृति हो, मन या इन्द्रियें दुर्विषयों की ओर दौड़ें, अथवा उनकी इच्छा करें। इस प्रकार का अध्ययन भी, ब्रह्मचर्य की प्रतिज्ञा से भ्रष्ट करने में समर्थ है। ब्रह्मचारी के लिये, विशेषत धर्म-ग्रन्थों का, ब्रह्मचारियों की कथाओं का और संसार की ओर से वैराग्य उत्पन्न करने वाली, संसार की नश्वरता बतलाने वाली, तथा ससार एव दुर्विषयों से घृणा उत्पन्न करने वाली-पुस्तकों का अध्ययन ही लाभ प्रद है। ऐसे अध्ययन से ब्रह्मचर्य की रक्षा में सहायता मिलती है।

अध्ययन।

ब्रह्मचारी, कामी या व्यभिचारी का संग कदापि न करे। ऐसे लोगों की सगति से, कभी न कभी ब्रह्मचर्य का नष्ट होना सम्भव है। सगति का प्रभाव पड़ता ही है। विद्वानों का कथन है—

संग।

कामिनां कामिनीनाञ्च सङ्गात्कामी भवेत्पुमान्।

सूक्ति।

'कामी पुरुष और भोगवती स्त्री के साथ रहनेवाला भी, कामी बन जाता है।'

इसलिये ब्रह्मचारी को ऐसी संगति से सदैव बचते रहना चाहिये, जिससे कामोत्पत्ति और ब्रह्मचर्य नष्ट होने का भय रहता है।

स्त्री-परिचय। ब्रह्मचारी को, स्त्रियों से परिचय न बढाना चाहिये। प्रश्न व्याकरणसूत्र में, ब्रह्मचर्य की नौ गुप्ति बताते हुए कहा है—

नो इत्थीणं सेवित्ता भवइ।

'ब्रह्मचारी, स्त्री सेवन न करे।'

नो इत्थीणं इन्द्रियाणि मणोहराइं रमाइं
आलोइत्ता निज्झाइत्ता भवइ।

'ब्रह्मचारी, स्त्रियों के मनोहर और रमणीय अंगों का अवलोकन न करे न प्रशंसा ही करे।'

स्त्रियों के देखने से भी, ब्रह्मचर्य के लिये बडे-बडे अनर्थ सम्भव हैं। शास्त्र में, यह बात नहीं मिलती कि मणिरथ पहले से ही दुराचारी था। मयणरेया पर भी उसकी कुदृष्टि-मयणरेया को देखने से पूर्व—न थी, किन्तु उसने जब से मयणरेया को देखा तभी से उसकी कुदृष्टि—मयणरेया पर—हुई। उस देखने मात्र से होने वाली कुदृष्टि का परिणाम यह हुआ, कि उसने, मयण-रेया के लिये, अपने छोटे भाई तक को मारडाला और अन्त में स्वयं को भी मरना पडा। इसलिये ब्रह्मचारी को, न तो स्त्रियों को देखना ही चाहिये, न उनसे परिचय ही बढाना चाहिये।

अन्य ग्रन्थकारों ने भी, ब्रह्मचारी को, स्त्रियों से परिचय बढाने से रोका है। जैसे—

अविद्वांसमलं लोके विद्वांसमपि वा पुनः ।
प्रमदाह्युत्पथं नेतुं कामक्रोधवशानुगम् ॥१॥

मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा न विविक्तासनो भवेत् ।
बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति ॥२॥

मनुस्मृति अ० २

मैं विद्वान् या जितेन्द्रिय हूँ, ऐसा समझकर, स्त्रियों के समीप न बैठना चाहिये; क्योंकि चाहे विद्वान् हो या मूर्ख, देह के धर्म से, काम क्रोध के वशीभूत शरीर को स्त्रियाँ कुमार्ग पर लेजाने में समर्थ हैं। इस लिये चाहे माता हो, बहन हो, या पुत्री हो, इनके साथ भी एकान्त स्थान में न बैठे, क्योंकि इन्द्रियों का बलवान् समूह शास्त्र की रीति से चलने वाले पुरुष को भी अपने पथ से विचलित कर देता है।'

ब्रह्मचारी को स्त्रियों से परिचय न करने का उपदेश देते हुए, शास्त्र में कहा है—

हत्थपाय पलिच्छिन्नं कण्णनास विगप्पिअं ।
अवि वास सयं नारिं बंभयारी विवज्जए ॥

दशवैकालिक सूत्र अ० १० वाँ

'जिसके हाथ पाँव टूट गये हों, नाक-कान भी कटे हुए हों और जो अवस्था में भी सौ वर्ष की हो, ऐसी स्त्री के साथ भी ब्रह्मचारी परिचय न करे, न उसके साथ एकान्त में रहे।'

ऐसी स्त्री भी, पुरुष के हृदय को और ऐसा पुरुष भी स्त्री के हृदय को, विचलित करने में समर्थ हो सकता है, अच्छी स्त्री और अच्छे पुरुष की तो बात ही दूसरी है। ब्रह्मचारी को,

स्त्रियों के परिचय से बचना ही श्रेयस्कर है। पूज्य श्रीउदयसागरजी महाराज भी कहा करते थे—

गढ के पासे डुगरी, कादियक गढ को भग।
साधू पासे स्त्री, यो ही वडो कुसग॥
यो ही बडो कुसंग भग तो शील में होसी।
बैठ नारि के पास मूल भी पूँजी सोसी॥
शीलादिक आचार के पालन से मन भागा।
नाथ कहे रे बालका ये जोग को रोग लागा॥

इसलिये ब्रह्मचारी को, स्त्री-परिचय मे बचना चाहिए।

मातृ पुत्री और भगिनी भाव।

सर्वविरति ब्रह्मचर्य-व्रत के आराधक को, स्त्रियों के प्रति मातृ, पुत्री और भगिनी भाव रखना, बहुत ही हित-कारी है। धर्म से किंचित् भी भय करने वाले के हृदय में, माँ, बहन और लड़की के लिए कोई विकार-भावना नहीं होती। हाँ, जिन्होंने मनुष्यता को ही तिलांजलि दे दी है, जिनमे से मनुष्यत्व ही निकल गया है, उनकी तो बात ही अलग है। ऐसे लोग माँ, बेटी और बहन ता क्या, पशुओं से भी दुष्कर्म करने से नहीं चूकते।

मातृ, पुत्री और भगिनी भाव, ब्रह्मचर्य की रक्षा का एक सर्वोत्कृष्ट साधन है। जो स्त्रियें आयु में बडी हैं, उनके प्रति मातृ-भाव, जो समान हैं, उनके प्रति भगिनी-भाव, और जो छोटी हैं, उनके प्रति पुत्री-भाव रखने से, हृदय में विकार उत्पन्न नहीं,

होता। मातृ-पुत्री और भगिनी भाव का क्या माहात्म्य है, इसके लिये एक दृष्टान्त दिया जाता है।

एक लखारा (लाख की चूड़ियें बनाकर बेचनेवाला) अपनी गधी पर, चूड़ियें लादे हुए चला जा रहा था। गधी धीरे चलती थी, इसलिये लखारा उसे हाँकते हुये कहता जाता था 'माँ! चल!' 'बहन चल!' बेटी! चल!' लखारे के इस कथन को सुनकर, मार्ग चलनेवाले लोग, उससे कहने लगे कि—तू कैसा मूर्ख है! गधी को भी माँ, बहन और बेटी कहता है? कहीं गधी भी माँ, बहन, या बेटी हो सकती है? लोगों की बात सुनकर, लखारा कहने लगा—भाई, यद्यपि गधी होने के कारण यह मेरी माँ, बहन या बेटी नहीं हो सकती, लेकिन स्त्रीजाति के प्रति माँ, बहन और बेटी की भावना को जन्म देनेवाली तो हो सकती है न? यदि मैं, इस गधी को मातृ, पुत्री और भगिनी भाव से न देखूँगा, तो स्त्रियों के प्रति ऐसी भावना कब रख सकूँगा? मैं, लखारा हूँ। स्त्रियों को चूड़ियाँ पहनाना मेरा काम है, इसलिये बड़े-बड़े घरों में मेरा प्रवेश है। नित्य ही, सुन्दर-सुन्दर स्त्रियों के कोमल कोमल हाथ, चूड़ियाँ पहनाने के लिये, मेरे हाथों में आया करते हैं। यदि मैं, उनके प्रति मातृ, पुत्री और भगिनी भाव न रखूँ—किसी प्रकार की कुभावना रखूँ—तो मैं, लोगों में से अपना विश्वास भी खो दूँ, तथा व्यवसाय से भी हाथ धो बैठूँ। मैं, इस गधी को भी, बहन, माँ और बेटी के समान मानता हूँ, तभी अन्य स्त्रियों को भी, बहन, माँ और बेटी के समान मान सकता हूँ। लखारे की बात सुनकर, सबको चुप हो जाना पड़ा।

तात्पर्य यह, कि सब स्त्रियों के प्रति मातृ, भागिनी और पुत्री भाव रखने से, स्त्रियों के प्रति, कुभावनायें उत्पन्न नहीं होतीं। इस प्रकार ब्रह्मचर्यव्रत की रक्षा होती है।

वीर्य एक ऐसी वस्तु है, जिसे, बिना उपाय के शरीर में रोक रखना—पचा जाना—बहुत कठिन कार्य है। ऐसा करने के लिये, उपायों की आवश्यकता है। इस प्रकार के उपायों मे से एक उपाय, उपवास या तपस्या है। जैनशास्त्रों में, तप का प्रतिपादन इसलिए भी विशेष रूप से किया गया है, कि उससे ब्रह्मचर्यव्रत सुरक्षित रहता है और ब्रह्मचर्य के बाधक दोष नष्ट हो जाते हैं। इस बात का समर्थन, अन्य ग्रन्थकार भी करते हैं। जैसे—

उपवास

आहारान् पचति शिखी दोषान् आहार वर्जितः।

आयुर्वेद।

'आहार को, अग्नि पचाती है और दोषों को, उपवास पचाते हैं।'

ध्यान।

ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए, ध्यान की भी आवश्यकता है। ब्रह्मचर्य की रक्षा का ध्यान भी एक प्रधान साधन है। ब्रह्मचर्य का वर्णन करते हुए, प्रश्नव्याकरण सूत्र में कहा है—

झाण वर कवाड सुकय मज्झप्प दिण्फालिह

'ध्यान ही, ब्रह्मचर्य व्रत की रक्षा करनेवाला कपाट है।'

मनुस्मृति में कहा है—

दह्यन्ते ध्यायमानानां धातूनां हि यथा मला।
तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषा प्राणस्य निग्रहात्॥

'जिस प्रकार, अग्नि में डालकर तपाने से, धातुओं का मल भस्म हो जाता है, उसी प्रकार, प्राणायाम करने से, इन्द्रियों के सब दोष भस्म हो जाते हैं।'

ब्रह्मचारी का जीवन, अनियमित न होना चाहिए। अनियमित जीवन, प्रत्येक दृष्टि से हानिप्रद है। ब्रह्मचारी का जीवन, नियमित हो। उसके प्रत्येक कार्य, नियमित रूप से ठीक समय पर हों। कोई समय, व्यर्थ या खाली न जावे, न कोई कार्य, असमय पर ही हो। अनियमितता से बचे रहने पर ही ब्रह्मचारी का ब्रह्मचर्य स्थिर रहता है।

नियमितता।

ब्रह्मचारी के लिये, सब से बड़ा नियम, ईश्वर-प्रार्थना है, नियमित रूप से प्रात साय ईश्वर की प्रार्थना, ब्रह्मचर्य की रक्षा का एक अच्छा साधन है। ईश्वर-प्रार्थनादि नियमों का पालन करने से, ब्रह्मचर्य के साथ ही, दूसरे कार्यों की सफलता में भी सहायता मिलती है।

ईश्वर प्रार्थना।

इन नियमों के सिवा, और भी बहुत से छोटे-छोटे नियम ऐसे हैं, जिनका पालन करने पर तो ब्रह्मचर्य की रक्षा होती है, और पालन न करने पर, ब्रह्मचर्य दूषित हो जाता है। जैसे कि ब्रह्मचारी को, ओढ़ना बिछौना नरम न रखना, कड़ा रखना, मुलायम या चटक-मटक के वस्त्र न पहनना, स्त्रियों के चित्र न देखना और न रखना आदि। इस प्रकार के समस्त नियमों का पालन करनेवाला ही, अपने व्रत को निर्दोष रूप में पाल सकता है।

स्त्रियें और ब्रह्मचर्य ।

किन्नाप्नोति रमा रूपा ब्रह्मचर्य तपस्विनी ।

'इस लक्ष्मी रूपा स्त्री के लिये, कुछ भी कठिन नहीं है, जो ब्रह्मचर्य-तप की तपस्विनी है ।'

जैनशास्त्रों में, ब्रह्मचर्य पालन के लिये स्त्रियों का स्थान ।

कुछ लोगों का कथन है, कि स्त्रियों को, ब्रह्मचर्य न पालना चाहिए, लेकिन जैनशास्त्र, इस कथन के समर्थक नहीं, अपितु विरोधी हैं । जैन-शास्त्रों में, ब्रह्मचर्य का जैसा उपदेश पुरुषों के लिये है, वैसा ही उपदेश, स्त्रियों के लिये भी है । जैन-शास्त्रों का यह उपदेश, आदर्श-रहित नहीं, किन्तु आदर्श-सहित है । आदिनाथ भगवान ऋषभदेव की, ब्राह्मी और सुन्दरी नाम्नी कन्याओं ने, कर्मभूमि के प्रारम्भिक युग मे ही ब्रह्मचारिणी रहकर, स्त्रियों के लिए, ब्रह्मचर्य पालन करने का आदर्श रख दिया था । उन्नीसवें तीर्थङ्कर भगवान मल्लिनाथ, स्त्री ही थे । स्त्री होते हुए भी, उन्होंने अखण्ड ब्रह्मचर्य का पालन किया था और तीर्थङ्कर-पद प्राप्त किया था । इसी प्रकार, राजमती, चन्दनबाला आदि सतियों ने भी, अखण्ड ब्रह्मचर्य का पालन किया है । साराश यह कि 'स्त्रियें, ब्रह्मचर्य न पालें, ब्रह्मचारिणी न हों' यह बात, जैन-शास्त्रों के

समीप निरर्थक है। जैन-शास्त्र, इस विषय में, स्त्री और पुरुष दोनों को समान अधिकारी बताते हैं, आयु, देश, काल आदि किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं लगाते। वे कहते हैं, कि चाहे स्त्री हो या पुरुष, ब्रह्मचर्य का पालन जो भी करे, इससे होनेवाले लाभ को वही प्राप्त कर सकता है।

पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियें, ब्रह्मचर्य का पालन भी, अधिक सुचारुरूप से कर सकती हैं। जैन शास्त्रों में, ऐसे कई उदाहरण मिलते हैं, जिन में, स्त्रियों ने, ब्रह्मचर्य से पतित होते हुए पुरुष को ब्रह्मचर्य पर स्थिर किया। जैसे कि—सती राजमती ने रथनेमि को और कोशा नाम्नी श्राविका ने, स्थूलभद्रजी के एक गुरुभाई को ब्रह्मचर्य से पतित होने से बचाया था।

स्त्रियों की ब्रह्मचर्य में दृढ़ता।

तात्पर्य यह कि ब्रह्मचर्य, पुरुषों ही के लिये नहीं है, किन्तु स्त्रियों के लिये भी है। स्त्रियाँ भी ब्रह्मचर्य का पालन कर सकती हैं।

सर्वविरति-ब्रह्मचर्य-व्रत की आराधना के लिये, स्त्रियों को भी उन नियमों का पालन करना आवश्यक है, जो पुरुषों के लिए बताये गये हैं। हाँ, यह अन्तर अवश्य होगा, कि जहाँ ब्रह्मचारी के लिए स्त्रियों का साथ और उनकी प्रशंसा आदि वर्ज्य है, वहाँ ब्रह्मचारिणी को, पुरुषों का साथ, उनकी कथा आदि वर्ज्य समझनी चाहिए और जहाँ ब्रह्मचारी को स्त्रियों से बचने का नियम बताया गया है, वहाँ ब्रह्मचारिणी को, पुरुषों से बचने का नियम समझना चाहिये। शेष सब नियम, स्त्रियों के लिये भी वैसे ही हैं, जैसे पुरुषों के लिये हैं और जो बताये जा चुके हैं।

विवाह ।

तृषा शुष्यत्यास्ये पिबति सलिल स्वादु सुरभि
क्षुधार्त सन् शालीन् कवलयति शाकादि वलितान् ।
प्रदीप्ते कामाग्नौ सुदृढ तर माश्लिष्यति वधू
प्रतीकारो व्याधे सुखमिति विपर्यस्यति जन ॥

भर्तृ० वैराग्यशतक ।

'जब मनुष्य का कण्ठ प्यास से सूखने लगता है तब वह, शीतल, सुगन्धित और निर्मल जल पीकर, तृषा के दु ख से मुक्त होता है जब भूख सताती है, तब शाकादि के साथ भोजन करके क्षुधा का कष्ट मिटाता है, जब कामाग्नि प्रचण्ड होती है, तब सुन्दर स्त्री को हृदय से लगाता है इस प्रकार, जल, भोजन और स्त्री, एक एक रोग की दवा है, लेकिन लोगों ने उल्टा ही मान रखा है । अर्थात् लोग, इन दवाओं में भी सुख मानते हैं ।'

मनुष्य-जन्म उत्तम क्यों है ?

मनुष्य-शरीर, सब शरीरों से उत्तम क्यों माना जाता है, इसके लिये कहा है—

'आहार निद्रा भय मैथुनच सामान्य मेतत् पशुभिर्नराणा ।
धर्मो हि तेषा मधिको विशेषो धर्मेणहीना पशुभि समाना ॥

'आहार, निद्रा, भय और मैथुन की दृष्टि से तो, मनुष्य और पशु समान ही हैं, लेकिन मनुष्य में, धर्म है, इसी से वह पशु की अपेक्षा बड़ा है अन्यथा धर्महीन मनुष्य, पशु के ही समान है।'

मनुष्य में धर्म है, इसीलिए वह सब प्राणियों में उत्तम माना जाता है, लेकिन आहारादि में ही धर्म नहीं है। यदि आहारादि में ही धर्म होता, तो उक्त श्लोक में धर्म को, आहारादि से भिन्न न बताया जाता। इस श्लोक में, धर्म को आहारादि से भिन्न बतलाया गया है, इसलिए यह देखना है कि धर्म क्या है, जिसके होने पर मनुष्य सब प्राणियों में उत्तम माना जाता है?

इस लोक और परलोक में जिसके द्वारा उन्नति हो, उसका नाम धर्म है। भगवान महावीर ने धर्म के-सूत्र धर्म और चारित्र धर्म ये-दो भेद बताये हैं। इनका विवेचन यहाँ आवश्यक नहीं है, यहाँ तो केवल यह बताना है, कि भगवान ने, चारित्र धर्म की आराधना के लिए जो पाँच व्रत बताये हैं, उनमें से, चौथा व्रत ब्रह्मचर्य है। अर्थात् ब्रह्मचर्य का पालन करना, धर्म है। इसका पालन करने पर ही, मनुष्य, सब प्राणियों में उत्तम हो सकता है। भोग भोगने अब्रह्मचर्य का सेवन करने—के कारण, मनुष्य, सब प्राणियों में उत्तम नहीं कहला सकता।

आत्मा, जब निगोद में पड़ा था, तब इसे यह भी मालूम नहीं था, कि मैं जीव हूँ। पुण्य के बढ़ने से यह आत्मा, निगोद से निकल कर, अनेक योनियों को भोगता हुआ-अनेक प्रकार के कष्ट सहता हुआ—इस मनुष्य-जन्म को प्राप्त कर सका है। आत्मा ने, पूर्व-भोगी हुई योनियों में, दुर्निवार भोग को ही इष्ट

मान रखा था, इसलिए इसने उन्हें खूब भोगा, लेकिन न तो इसे उन भोगों की ओर से तृप्ति ही हुई, न यह बार-बार के जन्म-मरण से ही मुक्त हुआ। उस समय तो इसको आज का-सा ज्ञान न था—इसकी बुद्धि, विकसित न थी, यह, धर्म को जानता ही न था—लेकिन यदि मनुष्य-जन्म पाकर भी, यह पशु-योनि में भोगे जानेवाले भोगों को ही भोगे, उन्हीं में सुख माने, जन्म-मरण से मुक्त होने का उपाय न करे, तो इसकी, अधिक भूल, अज्ञानता, या मूर्खता और क्या होगी? जो भोग, पशु-शरीर में भी भोगे जा सकते हैं, उनके भोगने में, इस मनुष्य-शरीर को नष्ट करना कौनसी बुद्धिमानी है? केवल चार आने में आसकनेवाली मिठाई के बदले में, चिन्तामणि ऐसा रत्न दे देने की मूर्खता के समान, क्षणिक, अस्थायी और हर प्रकार से हानि करनेवाले दुर्विषय-भोग में, उत्कृष्ट मनुष्य-जन्म खो देने की मूर्खता से अधिक मूर्खता और क्या होगी? मनुष्य-शरीर, दुर्विषय-भोग के लिए नहीं है, किन्तु उन्हें त्यागने के लिए है। मनुष्य-जन्म प्राप्त होने का, वास्तविक लाभ तभी है, जब, दुर्विषय-भोग त्याग कर ब्रह्मचर्य रूपी तप का अनुष्ठान किया जावे। भगवान ऋषभदेव ने, अपने पुत्रों को उपदेश देते हुए कहा था—

नाय देहो देह भाजांनृलोके,

कष्टान् कामानर्हते विड्भुजाये।

जो लोग ऐसा करने में असमर्थ हैं, और जिन्हें विवाह न करने पर, दुराचार में प्रवृत्ति होने का भय है, नीतिज्ञों के समीप, ऐसे लोगों का विवाह करना, दुराचार में प्रवृत्त होने की अपेक्षा बुरा नहीं, किन्तु अच्छा माना जाता है। हाँ, विवाह को माना जावे दवा के रूप में। पाश्चात्य विद्वान सन्त फ्रान्सिस कहता है कि 'कामवासना की दवा के रूप में विवाह बड़ी अच्छी वस्तु है लेकिन वह कड़ी है, इसलिये यदि उसका व्यवहार बहुत सम्हाल कर न किया जावे, तो खतरनाक भी है।' इस प्रकरण के प्रारम्भ में जो श्लोक दिया गया है, उसमें, भर्तृहरि ने भी यही बात कही है। इसप्रकार विवाह, काम-वासना रूपी रोग की दवा के सिवा और किसी सुख का साधन नहीं माना जा सकता, और दवा लेने की आवश्यकता, उन्हीं लोगों को होती है, जो, रोग को और किसी उपाय से नहीं मिटा सकते। अर्थात्, विवाह केवल वे ही लोग करते हैं, जो काम-वासना का, विवेक-द्वारा दमन करने में असमर्थ हैं।

विवाह सब के लिए आवश्यक नहीं है।

काम-वासना रूपी रोग को, विवेक रूपी औषधि से, दबाया जा सकता है। जिनमें इस औषधि का अभाव या इसकी कमी है, अथवा पूर्ण-विवेकी होने हुए भी पुण्य-फलों की निर्जरा करना जिनके लिये आवश्यक है और जो निकाचित लेप म पड़े हुए हैं; वे ही, विवाह करते हैं। अर्थात्, विवाह ऐसे लोगों के लिये है, जिनमें, विवेक साहस और आत्मबल की कमी है अथवा जिन्हें पुण्य-फल की निर्जरा करनी है। एक पाश्चात्य विद्वान् का कथन है, कि 'कामवासना कभी नष्ट नहीं होती, कि निसका, विवेक या नैतिक बल

से, पूर्णतया दमन न किया जा सके। विषयेच्छा भी, नींद और भूख के समान ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जिसकी तृप्ति अनिवार्य हो।' तात्पर्य यह, कि काम-वासना का दमन किया जा सकता है, इसलिए प्रत्येक के लिए विवाह करना आवश्यक नहीं है।

कभी कोई कहे कि 'प्रजोत्पत्ति की दृष्टि से, विवाह करना आवश्यक है, यदि सब लोग विवाह न करके ब्रह्मचारी होने लगें, तो फिर ससार का ही अन्त हो जावेगा।' ऐसे लोगों को यह उत्तर दिया जाता है, कि इस प्रकार की शका निर्मूल है। अनादि होने के कारण ससार का अन्त नहीं हो सकता, न सभी लोग, ब्रह्मचर्य का पालन ही कर सकते हैं। कभी थोडी देर के लिए ऐसा मान भी लिया जावे, तब भी प्रजोत्पत्ति और ससार की तुम्हें इतनी चिन्ता क्यों? यदि ब्रह्मचर्य का पालन करने से, ससार शून्य भी हो जावे, तो इसमें किसी की क्या हानि है? यदि प्रजोत्पत्ति न भी हुई, या ससार का अन्त भी हो गया, तब भी हर्ज क्या होगा? तुम्हें तो केवल यह देखना चाहिए, कि हमारा उद्धार, विवाह करने—प्रजा या मनुष्य-ससार बढ़ने से होता है, या ब्रह्मचर्य पालन करने से? इस विषय में, गाधी जी लिखते हैं—'आदर्श ब्रह्मचारी को, कामेच्छा या सन्तानेच्छा से कभी जूझना नहीं पड़ता, ऐसी इच्छा उसे होती ही नहीं।' महाभारत के अनुसार, भीष्मपितामह ने भी यही कहा था, कि 'ब्रह्मचारी को ससार या सन्तान की इच्छा नहीं होती, न इनकी उत्पत्ति या वृद्धि के लिए वह अपने ब्रह्मचर्य को ही नष्ट कर सकता है।' इस प्रकार, सब लोगों के लिए विवाह करना आवश्यक नहीं है, किन्तु जो ब्रह्मचर्य का पालन करने में असमर्थ हैं,

अथवा जिन्हें पुण्य-फल की निर्जरा करनी है, वे ही लोग विवाह करते हैं।

आजकल, पाश्चात्य देशों के बहुत से स्त्री-पुरुषों में, ये विचार फैल रहे हैं, कि विवाह करके स्वतन्त्रता खोने किसी एक के होकर रहने और बालक-बालिका आदि के पालन पोषण तथा स्त्री आदि के स्थायी व्यय में पड़ने की अपेक्षा यह अच्छा है, कि थोड़ी देर के लिए किसी स्त्री या पुरुष से सम्बन्ध कर लिया जावे और काम-वासना पूरी करके, उसे त्याग दिया जावे। ऐसे लोग सोचते हैं कि 'विषय-भोग, चाहे स्व-स्त्री तथा स्व-पति से किया जावे, या पर-स्त्री तथा पर-पुरुष से किया जावे, रज-वीर्य-नष्ट होने की दृष्टि से तो दोनों समान ही हैं। बल्कि विवाहित-जीवन में, इस दृष्टि से, और अधिक हानि है। क्योंकि, स्व-स्त्री या स्व-पति के साथ तो थोड़ी इच्छा होने पर भी दुर्विषय भोग सकते हैं, लेकिन पर-स्त्री या पर-पुरुष के साथ दुर्विषय तभी भोगेंगे, जब, कामेच्छा बहुत प्रबल हो जावेगी और रोकने से न रुक सकेगी।'

ब्रह्मचर्य न पाल सकने पर अविवाहित रहने से हानि।

इस प्रकार की युक्तियों द्वारा, पाश्चात्य देशों के बहुत से लोग, विवाहित-जीवन की जिम्मेदारियों से बचने के लिए और स्वच्छन्द रहने के लिए-ब्रह्मचर्य न पाल सकने पर भी अविवाहित रहना अच्छा समझते हैं। भारत के कुछ लोग भी, ऐसे विचारों के समर्थक हैं, और पाश्चात्य लोगों की युक्तियों के साथ ही, यह दलील और पेश करते हैं कि 'स्व-स्त्री तथा स्व-

पति के साथ मैथुन करने में भी पाप होता है, और ,परस्त्री तथा पर-पति के साथ मैथुन करने में भी पाप होता है । फिर विवाह क्यो किया जावे ? वल्कि विवाह करने से अधिक पाप होता है। क्योकि, विवाह समय में भी आरम्भ-समारम्भ होता है, तथा विवाह के पश्चात् भी स्त्री को भोजन, वस्त्र आदि देने में, और सन्तान के पालन-पोषण, विवाह आदि में-आरम्भ-समारम्भ होता है । इस तरह, आरम्भ-समारम्भ का पाप, परम्परा पर बढ़ता ही जाता है । इसलिए, पर-स्त्री से मैथुन करने की अपेक्षा विवाह करने में अधिक पाप है ।' इत्यादि कुतर्कें पैदा करते हैं ।

इस प्रकार के विचार वाले लोग, ब्रह्मचर्य के महत्व से तो अनभिज्ञ हैं ही, लेकिन विवाह के महत्व को भी नहीं समझ पाये हैं । वे समझते हैं, कि विवाह केवल दुर्विषय-भोग के लिए ही है, इससे अधिक विवाह का कोई मूल्य नहीं है । अपनी इस समझ पर भी वे, दूरदर्शिता से विचार नहीं करते । थोडी देर के लिए विवाह केवल विषय-भोग के लिये ही मान लिया जावे, तब भी यदि विवाह-प्रथा न होती, तो ससार में अशान्ति का साम्राज्य छा जाता । मनुष्य स्वभावत अपने ऐसे प्रेमी के प्रेम में किसी दूसरे का साझी होना नहीं सह सकता, इसलिए एक ही पुरुष को चाहनेवाली अनेक स्त्रियें, या एक ही स्त्री को चाहने-वाले अनेक पुरुष, आपस में लड कर मर जाते । आज भी सुना जाता है, कि एक वेश्या के पीछे अनेक नर-हत्या होती हैं । यदि वही वेश्या किसी एक की होती, तो सम्भवत ऐसी हिंसा का समय न आता । इसीप्रकार-विवाह प्रथा न होने पर, मनुष्य उस दाम्पत्य-प्रेम से सर्वथा वञ्चित रह जाता, जो विवाहित पति-

पत्नी में हुआ करता है। विवाह की प्रथा का स्थान यदि नैतिक-सम्बन्ध को ही प्राप्त होता, तो स्त्री पुरुष एक दूसरे से उतने ही समय तक प्रेम करते, एक दूसरे की उतने ही समय तक पर्वा करते, जबतक कि विषय-भोग नहीं भोगा जा चुका है, या जबतक वह विषय-भोग भोगने के योग्य है। विषय भोग भोग चुकने पर, या इस योग्य न रहने पर, स्त्री-पुरुष एक दूसरे की उसी प्रकार उपेक्षा करते, जिस प्रकार, वेश्या की उसका जार पति और जार पति की, वेश्या उपेक्षा करती है। विवाह प्रथा न होने पर और मनुष्यमात्र के स्वच्छन्द हो जाने पर, सहानुभूति, दया, और प्रेम का भी पूर्ण सद्भाव न रहता। स्त्री पुरुष, अपने आपको उस समय तक तो सुखी मानते रहते, जब तक कि उनमें विषय-भोग भोगने की शक्ति है, लेकिन इस शक्ति के न रहने पर, जीवन, दु:खमय, सहारा-हीन एवं पश्चात्ताप-पूर्ण होता। क्योंकि संसार में, जनन-क्रिया (सन्तान-प्रसव) को, प्रेम, दया, सहानुभूति, अहिंसा आदि के प्रचार का बहुत श्रेय है। विवाह प्रथा न होने पर, सन्तान की जवाबदारी से जिस प्रकार पुरुष बचना चाहते, उसी प्रकार स्त्रियें भी बचना चाहतीं। परिणामतः या तो भ्रूण-हत्या होती, या बालहत्या होती, या सन्तति निरोध के कृत्रिम उपायों से काम लिया जाता और धीरे-धीरे, जनन-क्रिया के साथ ही दया, प्रेम, अहिंसा, सहानुभूति आदि का भी लोप हो जाता।

विवाह-प्रथा का स्थान, यदि स्त्री-पुरुष की स्वच्छन्दता को प्राप्त होता, तो मनुष्यों का सामाजिक-जीवन, नीरस, एवं निरुद्देश्य होता। इस समय, अधिक से अधिक उद्देश्य, अच्छी

स्त्री या अच्छे पुरुष से काम-भोग भोगना ही होता और इस उद्देश्य के साधक कारणों को, प्रोत्साहन दिया जाता। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, आदि सिद्धान्त, इस उद्देश्य में बाधक माने जाते, इसलिए इन्हें समूल नष्ट किया जाता, जिससे संसार में अशान्ति छा जाती और हाहाकार मच जाता। तात्पर्य यह, कि यदि विवाह को केवल विषय-भोग के लिये ही माना जावे, तब भी नैमैत्तिक-सम्बन्ध की प्रथा होने पर, सांसारिक-जीवन शान्ति-पूर्वक न बीत सकता।

विवाह, विषय भोग के लिये नहीं है।

वास्तव में, विवाह दुर्विषय भोग के लिए नहीं है, किन्तु ब्रह्मचर्य पालन की कमजोरी को धीरे-धीरे मिटाकर, ब्रह्मचर्य पालन की पूर्ण क्षमता प्राप्त करने के लिए है। यदि प्रतिक्षण बढ़नेवाली दुर्विषय-भोग की लालसा को, बिना विवाह किये ही—विवेक से—दबाने की शक्ति हो, तो विवाह करने की कोई आवश्यकता ही नहीं रहती। इस शक्ति के अभाव में ही विवाह किया जाता है। जिसप्रकार यदि आग न लगने दी गई, या लगने पर तत्क्षण बुझा दी गई, तब तो दूसरा उपाय नहीं किया जाता और तत्क्षण न बुझा सकने पर—बढ़ जाने पर—उसकी सीमा करके उसे बुझाने का प्रयत्न किया जाता है। इसके लिए, जिस मकान में आग लगी होती है, उस मकान से दूसरे मकानों का सम्बन्ध तोड़ दिया जाता है, जिसमे वह फैल न सके और इस प्रकार उसे सीमित करके फिर बुझाने का प्रयत्न किया जाता है। वह आग, जो लगने के समय ही न बुझाई जा सकी थी, इस उपाय से बुझा दी जाती है, बढने नहीं पाती। यदि पहले ही

आग न लगने दी जाती, या लगने के समय ही बुझा दी जाती तब तो इस सीमान्तर्गत घर की भी हानि न होती, लेकिन ऐसा न कर सकने पर, यदि आग को सीमित न कर दिया जाता, तो उसके द्वारा अनेक मकान भस्म हो जाते। ठीक यही दृष्टान्त विवाह के लिए भी है। यदि मनुष्य अपने में काम-वासना की आग उत्पन्न ही न होने दे, या उत्पन्न होने के समय ही उसे विवेक द्वारा बुझा सके, तब तो विवाह की आवश्यकता ही नहीं रहती, लेकिन न दबा सकने पर, उस आग को विवाह द्वारा सीमित कर दिया जाता है और फिर उसे बुझाने की चेष्टा की जाती है। विवाह द्वारा कामेच्छा को सीमित कर देने से, वह बढ़ने नहीं पाती और इस प्रकार मनुष्य, असीम हानि से बच जाता है। यदि विषयेच्छा की आग, उत्पन्न न होने देने या विवेक द्वारा उसे दबा सकने की क्षमता न होने पर भी, उत्पन्न विषयेच्छा की पूर्ति के लिए स्वच्छन्दता से काम लिया जावे, तो वह बढ़कर भयङ्कर हानि पहुँचानेवाली हो जाती है। तात्पर्य यह, कि विवाह, दुर्विषयेच्छा को बढ़ाने के लिए नहीं है, किन्तु घटाने के लिए है, और स्वच्छन्दता से, दुर्विषय भोग की इच्छा बढ़ती है, घटती नहीं है। इसके सिवा, विवाहित जीवन बिताने में, दया, अनुकम्पा, आदि उन सद्गुणों का भी बहुत कुछ लाभ हो सकता है, जिनका लाभ स्वच्छन्दता में नहीं हो सकता। सन्तान को पालने-पोसने की दया, विवाहित-जीवन में ही की जाती है, स्वच्छन्द जीवन में तो उससे कभी-सन्तान को नष्ट करने-की इच्छा रहती है। इसलिए, ब्रह्मचर्य न पाल सकने पर, दुराचार-पूर्ण जीवन, स्वीकार नहीं करना चाहिए। इस विषय में

गाधीजी लिखते हैं—'यद्यपि, महाशय ब्यूरो अखण्ड ब्रह्मचर्य को ही सर्वोत्तम मानते हैं, लेकिन सबके लिए यह शक्य नहीं है, इसलिए वैसे लोगो के लिए, विवाह-बन्धन केवल, आवश्यक ही नहीं, वरन् कर्त्तव्य के बराबर है।' गाधीजी, आगे लिखते हैं—'मनुष्य के समाजिक जीवन का केन्द्र, एक पत्नीव्रत तथा एक पतिव्रत ही है।' यह तभी हो सकता है, जब स्वच्छन्दता को बुरा समझा जावे और उसे विवाह-बन्धन द्वारा त्यागा जावे।

जो लोग, पर-स्त्री-पति और स्व-स्त्री पति के विषय-भोग में समान पाप मानते हैं, वे भी गलत रास्ते पर हैं। स्व-स्त्री-पति और पर-स्त्री-पति के विषय-भोग में, प्रत्येक दृष्टि से बहुत अन्तर है, जिसका कुछ दिग्दर्शन ऊपर कराया भी गया है। इसलिए ब्रह्मचर्य के अभाव में, अविवाहित जीवन, सर्वथा निन्द्य है।

विवाह, पुरुष और स्त्री के आजीवन साहचर्य का नाम है। यह साहचर्य, काम-वासना की दवा, और ब्रह्मचर्य के समीप पहुँचाने का साधन है। पाश्चात्य विद्वान ब्यूरो लिखता है, कि 'विवाह करके भी, विषय-विलासमय असयम, धार्मिक और नैतिक, दोनों ही दृष्टि से अक्षम्य अपराध है। असयम से, वैवाहिक-जीवन को ठेस पहुँचती है। सन्तानोत्पत्ति के सिवा और सभी प्रकार की काम-वासना-तृप्ति, दाम्पत्य प्रेम के लिए बाधक और समाज तथा व्यक्ति के लिए हानिकारक है।' इस कथन द्वारा ब्यूरो ने, जैन-शास्त्रों के कथन को पुष्ट किया है। जैन-शास्त्र, यही बात कहते हैं। गाधीजी भी लिखते हैं—'विवाह बन्धन की पवित्रता को कायम रखने के लिए भोग नहीं, किन्तु आत्म-सयम ही जीवन का धर्म समझा जाना चाहिये। विवाह का उद्देश्य, दम्पति के हृदयों से

विकारों को दूर करके, उन्हें ईश्वर के निकट ले जाता है।'

विवाह रूपी आजीवन साहचर्य, ऐसे स्त्री-पुरुष का होता है, जो स्वभाव, गुण, आयु, बल, वैभव और सौन्दर्य आदि को दृष्टि में रखकर, एक दूसरे को पसन्द करे। स्त्री-पुरुष में से, किसी एक की ही पसन्दगी पर विवाह नहीं होता है, किन्तु दोनों की पसन्दगी से किया हुआ विवाह ही, विवाह के अर्थ में माना जा सकता है। किसी एक की इच्छा और दूसरे की अनिच्छा पर होनेवाला विवाह, विवाह नहीं है। विवाह-बन्धन, स्त्री और पुरुष दोनों की स्वेच्छा पर ही निर्भर है।

विवाह विषयक अधिकार

विवाह-सम्बन्ध स्थापित करने में, पुरुष, और स्त्री के अधिकार समान हैं। अर्थात्, जिसप्रकार पुरुष, स्त्री को पसन्द करना चाहता है, उसी प्रकार, स्त्री भी पुरुष को पसन्द करने की अधिकारिणी है। बल्कि, इस विषय में, स्त्रियों के अधिकार, पुरुषों से अधिक हैं। स्त्रियें, अपने लिए वर पसन्द करने का स्वयम्बर करती थीं, ऐसे प्रमाण तो जैन शास्त्र और अन्य ग्रन्थों में स्थान-स्थान पर मिलते हैं, लेकिन पुरुषों ने अपने लिए स्त्री पसन्द करने को, स्वयम्बर की ही तरह का कोई स्त्री सम्मेलन किया हो, ऐसा प्रमाण कहीं नहीं मिलता। इस प्रकार, स्त्री की पसन्दगी को विशेषता दी जाती थी। फिर भी यह बात नहीं थी, कि जिस पुरुष को स्त्री पसन्द करे, पुरुष के लिए उसके साथ विवाह करना आवश्यक हो। स्त्री के पसन्द करने पर भी, यदि पुरुष की इच्छा उसके साथ विवाह करने की नहीं है, तो विवाह करने से इनकार कर देना, कोई नैतिक या सामाजिक

अपराध नहीं माना जाता था, न अब माना जाता है। विवाह के लिए, स्त्री और पुरुष, दोनों ही को समान अधिकार हैं, और यह नहीं है, कि पसन्द आने के कारण, पुरुष, स्त्री के साथ और स्त्री, पुरुष के साथ, विवाह करने के लिए नीति या समाज की ओर से बाध्य हो। विवाह तभी हो सकता है, जब स्त्री-पुरुष, एक दूसरे को पसन्द करलें, और एक दूसरे के साथ विवाह करने के इच्छुक हों। इस विषय में जबरदस्ती को स्थान नहीं है।

ग्रन्थकारों ने, विशेषत तीन प्रकार के विवाह बताये हैं, देव-विवाह, गन्धर्व-विवाह और राक्षस-विवाह। ये तीनों विवाह, क्रमश उत्तम, मध्यम, और कनिष्ट माने जाते हैं। इन तीनों विवाह की व्याख्या नीचे बताई जाती है।

जो विवाह, वर और कन्या, दोनों की पसन्दगी से हुआ हो, जिसमें वर ने कन्या के और कन्या ने वर के गुण-दोष देख कर एक दूसरे ने, एक दूसरे को अपने समान माना हो, जिस विवाह के करने से वर और कन्या के माता-पिता आदि अभिभावक भी प्रसन्न हों, जो विवाह, रूप, गुण, स्वभाव आदि की समानता से, विधि और साक्षी-पूर्वक हुआ हो और जिस विवाह में, दाम्पत्य-कलह का भय न हो, तथा जो विवाह, दुर्विषय-भोग की इच्छा से नहीं, किन्तु पूर्ण-ब्रह्मचर्य के आदर्श तक पहुँचने के उद्देश्य से किया गया हो, उसे, देव-विवाह कहते हैं। यह विवाह, उत्तम माना जाता है।

जिस विवाह में, वर ने कन्या को और कन्या ने वर को पसन्द कर लिया हो, एक दूसरे पर मुग्ध हो गये हो, और माता-पिता आदि अभिभावक की स्वीकृति के बिना ही, एक ने दूसरे को स्वी-

कार कर लिया हो, किन्तु जिसमें देश-प्रचलित विवाह विधि पूरी न की गई हो, उसे गन्धर्व-विवाह कहते हैं। यह विवाह, दयविवाह की अपेक्षा मध्यम और राक्षस-विवाह की अपेक्षा अच्छा माना जाता है।

राक्षस विवाह उसे कहते हैं, जिसमें वर और कन्या, एक दूसरे को समान रूप से न चाहते हों, किन्तु एक ही व्यक्ति दूसरे को चाहता हो, जिसमें, समानता का ध्यान न रखा गया हो, जो किसी एक की इच्छा और दूसरे की अनिच्छा-पूर्वक जबरदस्ती या अभिभावक की स्वार्थ-लोलुपता से हुआ हो और जिसमें देश-प्रचलित उत्तम विवाह-विधि को ठुकराया गया हो, तथा वैवाहिक नियम भंग किये गये हों। यह विवाह, उक्त दोनों विवाहों से निकृष्ट माना जाता है।

पहले बताया जा चुका है, कि कमसेकम आयु का चौथा भाग, यानी २५ और १६ वर्ष, की अवस्था तक तो पुरुष को अखण्ड ब्रह्मचर्य का पालन करना ही चाहिये। इसके अनुसार विवाह की अवस्था, २५ वर्ष और १६ वर्ष से कम नहीं ठहरती है।

विवाह-योग्य अवस्था।

किसी भी ग्रन्थ में, विवाह-वय और सहवासवय का अलग उल्लेख नहीं पाया जाता, किन्तु विवाह और सहवास के एक ही साथ होने का प्रमाण मिलता है। अर्थात्, वही विवाह-वय और वही सहवास-वय। वैद्यक-ग्रन्थ कहते हैं—

पञ्चविंशे ततो वर्षे पुमान् नारी तु षोडशे।
समत्वागतवीर्यौ तौ जानीयात् कुशलो भिषक्॥

'वीर्य और रज की अपेक्षा से, २५ वर्ष का पुरुष और १६ वर्ष की स्त्री, परस्पर समान हैं, इस बात को कुशल वैद्य ही जानते हैं।'

इसके अनुसार विवाह की अवस्था, पुरुष की २५ वर्ष और स्त्री की १६ वर्ष ठहरती है। इसी अवस्था में स्त्री और पुरुष, इस बात के निर्णय पर भी पहुँच सकते हैं, कि हम पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन कर सकते हैं या नहीं? अर्थात् विवाह की आवश्यकता का अनुभव, इस अवस्था—या इससे अधिक अवस्था में ही हो सकता है, और जबतक आवश्यकता न जान पड़े, तब तक विवाह करना, धार्मिक और नैतिक, दोनों ही दृष्टि से अपराध है। जैनशास्त्र, पूर्ण ब्रह्मचर्य के प्रतिपादक हैं, इसलिए उनमें, विवाह विषयक विधि विधान नहीं पाया जाता, लेकिन जैनशास्त्रों में वर्णित कथाओं से विवाह के विषय पर बहुत प्रकाश पड़ता है। जैनशास्त्रों में वर्णित कथाओं से प्रकट है, कि स्त्री-पुरुष का विवाह तभी हो सकता है, जब वे विद्या, कला, आदि सीख चुके हों, और उनके शरीर पर कामवासना का प्रभाव पड़ने लगा हो। औपपातिक सूत्र मे कहा है—

नवग सुत्त पडिबोहिए अठारस्स देसी भासा विसारए गीयरत गंधवरणट कुसले हयजोही गयजोही रहजोही बाहुजोही बाहुमदी वियालचारी साहस्सीए अलभोग समत्थेया वि भवई।

'जिसके नव अंग (२ कान २ आँख २ नाक १ जीभ १ त्वचा और १ मन कामभोग के लिए) जाग्रत हुए हैं, अपने-अपने विषय को ग्रहण करने की इच्छा उत्पन्न हो गई है, जो अठारह देश की भाषा का

विशारद है, गान में, रति क्रीड़ा में, गन्धर्व कला में और नाट्यकला में कुशल है, अश्वयुद्ध, गजयुद्ध, रथयुद्ध बाहुयुद्ध और मर्दन करने में साहसी एवं निपुण और काम भोग भोगने में समर्थ हो गया है (उसका विवाह हुआ ।)'

इस पाठ से पुरुष की विवाह योग्य अवस्था पर बहुत अधिक प्रकाश पड़ता है । भगवती सूत्र में भी विवाह का वर्णन करते हुए पति-पत्नी की समानता किन-बातों में देखी जाती थी, यह बताया गया है । उसमें कहा है—

सरिसयाण सरित्तयाण सरिव्वियाण सरिस लावन्न रूप जोव्वण गुणोववेयाण विणीयाण ।

'समान योग्यतावाली, समान त्वचावाली, समान आयुवाली समान लावण्य, रूप यौवन और विनयवाली (कन्या के साथ विवाह हुआ)।'

इसके अनुसार, विवाह समान युवावस्था में ही हो सकता है । यद्यपि उक्त प्रमाण में समान आयु भी बतलाई गई है, लेकिन इसके साथ ही, समान यौवन भी कहा गया है और ऊपर वैद्यक ग्रन्थ का हवाला देकर, यह भी बताया जा चुका है, कि २५ वर्ष की अवस्था का पुरुष तथा १६ वर्ष की अवस्था की स्त्री, समान हैं । स्थानाग सूत्र की टीका में भी कहा गया है—

पूर्णषोडशवर्षा स्त्री पूर्णविंशेन सगता ।
शुद्धे गर्भाशये मार्गे रक्ते शुक्रेऽनिल हृदि ॥
वीर्यवन्त सुत सूते ततो न्यूनाब्दयोः पुनः ।
रोग्यल्पायुरधन्यो वा गर्भो भवति नैव वा ॥

५ वाँ स्थान, २ रा उद्देशा ।

'जिसकी अवस्था १६ वर्ष की हो चुकी है ऐसी स्त्री, जिसकी अवस्था २० वर्ष को हो चुकी है, ऐसे पुरुष से मिलने पर और रक्त, वीर्य, वायु, गर्भाशय-मार्ग तथा हृदय शुद्ध होने पर, वीर्यवान् पुत्र उत्पन्न करती है। इससे कम अवस्थावाली स्त्री, यदि कम अवस्थावाले पुरुष से सगम करे, तो रोगी, अल्पायुषी तथा आलसी सन्तान उत्पन्न करती है, या गर्भाधान ही नहीं होता।'

यद्यपि यह कहने वाले टीकाकार ने, पुरुष की अवस्था २० वर्ष की ही बताई है, लेकिन स्त्री की अवस्था तो १६ वर्ष ही कहा है। अर्थात् जितने भी प्रमाण दिये गये हैं, उन सबसे स्त्री की विवाह योग्य अवस्था १६ वर्ष से अधिक ही ठहरती है, कम नहीं। इस प्रकार पुरुष का विवाह २० या २५ वर्ष और और स्त्री का विवाह १६ वर्ष की या इससे अधिक अवस्था में ही हो सकता है, कम अवस्था में नहीं। कम अवस्था में विवाह होने पर क्या हानि होती है, यह बात आगे बताई गई है।

विवाह की सख्या।

प्रकृति पर दृष्टिपात करने से, यह बात स्पष्ट है कि एक पुरुष, एक ही स्त्री के साथ और एक स्त्री, एक ही पुरुष के के साथ विवाह कर सकती है, अधिक के साथ नहीं। यद्यपि, जैनशास्त्रों में और अन्य ग्रन्थों में, अधिक विवाह की बातें मिलती हैं, लेकिन अधिक स्त्रियों के साथ विवाह करना, उस समय की सस्कृति थी और उस समय के पुरुष, अधिक स्त्रियों का होना, एक विशेपता और सौभाग्य की बात मानते थे। उस समय की स्त्रियाँ भी, विशेपत ऐसे ही पुरुष को पसन्द करती थीं, जो वैभवशाली, यशस्वी, वीर और सुन्दर हो। ऐसे पुरुष के, कितनी ही स्त्रियाँ क्यों न

हों, उस समय की स्त्रियाँ, इस बात की अपेक्षा नहीं करती थीं। उस समय की संस्कृति कुछ भी रही हो और 'अधिक' स्त्रियों के साथ विवाह करने का कुछ भी कारण क्यों न रहा हो, लेकिन आज कल ऐसा करना, उचित नहीं कहला सकता। किसी भी व्यक्ति को, आजकल यह अधिकार नहीं है, कि किसी भी वस्तु का उपभोग, परिमाण से अधिक करे। इसके अनुसार किसी पुरुष को अधिक स्त्रियों से और किसी स्त्री को, अधिक पुरुषों से विवाह करना उचित नहीं है।

वैद्यक ग्रन्थों पर दृष्टि देने से भी, यही ज्ञात होता है, कि एक पुरुष की काम-वासना तृप्त करने के लिये एक स्त्री और एक स्त्री की काम वासना तृप्त करने के लिए एक पुरुष, सशक्त तथा पर्याप्त है। न एक पुरुष अधिक स्त्रियों की काम-वासना शान्त कर सकता है, न एक स्त्री अधिक पुरुषों की। इसके अनुसार भी, एक पुरुष का अधिक स्त्रियों से और एक स्त्री का अधिक पुरुषों से विवाह होना अनुचित है।

विवाहित-जीवन, सुख-पूर्वक निभाने की जिम्मेदारी, स्त्री और पुरुष पर समान रूप से है। हाँ, इसके लिए एक दूसरे का सहायक अवश्य है। फिर भी किसी ऐसे कार्य में जिसका दुष्प्रभाव अपने आप पर ही नहीं, किंतु भावी सन्तान या दूसरे लोगों पर भी पड़ता है—में सहायता करना, नैतिक सामाजिक और धार्मिक, तीनों ही दृष्टि से अपराध है। उदाहरण के लिए, सन्तान के बालक होने—पर्याप्त आयु की न होने—पर भी, पुरुष का स्त्री को और

पति-पत्नी पर उत्तरदायित्व।

स्त्री का पुरुष को प्रसन्न करने के लिए—उसकी इच्छा पूरी करने के लिए-मैथुन में प्रवृत्त होना। ऐसा करने से,एक छोटे बालककी माता गर्भवती हो सकती है, जिससे उस छोटे बालक की बढती मारी जाती है, उसे रोग घेर लेते हैं और गर्भ का बालक भी पुष्ट नहीं होता, किन्तु क्षीण दशा में पहुँचता जाता है। इस प्रकार दोनो ही बालको का जीवन, कष्टमय हो जाता है, इसलिए ऐसे कार्यों में दम्पति का एक दूसरे की सहायता करना भी अपराध है।

आधुनिक-विवाह।
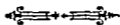
विवाह, कब, किस अवस्था में और किन नियमों के साथ होता है, यह थोड़े में बताया जा चुका है। अब यह देखना है, कि आज-कल की विवाह-प्रथा क्या है, विवाह के नियमादि का पालन किस प्रकार किया जाता है, और यदि उन नियमों की अवहेलना की जाती है, तो क्या हानि होती है। यह देखने के लिए, इस प्रकरण को बाल-विवाह और बेजोड़ विवाह, इन दो भागों में विभक्त करके क्रमश दोनों पर विचार किया जाता है।

बालविवाह।

पूर्व प्रकरण में यह बताया जा चुका है, कि पुरुष और स्त्री की, विवाह-योग्य कम से कम अवस्था २० या २५ और १६ वर्ष है। इसके साथ ही यह भी बताया गया है, कि पुरुष और स्त्री, किस योग्य हों, तब विवाह होता है। आधुनिक समय के विवाहों में, पूर्व-वर्णित विवाह-नियमों की अवहेलना की जाती है। यद्यपि पुरुष-स्त्री, विवाह-बन्धन में तभी बँध सकते हैं, जब वे

आजीवन ब्रह्मचर्य पालने की अपनी अशक्तता का अनुभव करें, लेकिन आज के विवाहों में, ऐसे अनुभव का समय ही नहीं आने दिया जाता। जैन-समाज में ही नहीं, किन्तु भारत के अधिकाश लोगों में, पुरुष-स्त्री या युवक-युवती के बदले, बालक-बालिका का विवाह किया जाता है। अधिकाश बालक-बालिका के माता-पिता अपने बच्चों का विवाह ऐसी अवस्था में कर देते हैं, जब कि वे बच्चे, विवाह की आवश्यकता, उसकी जवाबदारी और उसका भार समझने के अयोग्य ही नहीं, किन्तु इस ओर से ही अनभिज्ञ, होते हैं। यद्यपि बालक-बालिकाओं की वह अवस्था, खेलने कूदने योग्य है, लेकिन उनके माता-पिता, उन बच्चों के अन्य-अन्य खेल-कूद देखने के साथ ही, विवाह का खेल देखने की लालसा से, अपने दुधमुँहे बच्चों के जीवन का सर्वनाश कर देते हैं।

अभागे भारत में, ऐसे-ऐसे बालक-बालिकाओं के विवाह सुने जाते हैं, जिनकी अवस्था एक वर्ष से भी कम की होती है। अपने बालक या बालिका को दूल्हे या दुलहिन के रूप में देखने के लालायित माँ-बाप, अपनी जवाबदारी और सन्तान की भावी उन्नति को, बाल-विवाह की अग्नि में जला देते हैं। अपने क्षणिक सुख के लिए अपने अबोध बालकों को, भोग की धधकती हुई ज्वाला में, भस्म होने के लिए छोड़ देते हैं और अपनी सतान को उसमें जलते देख कर भी, आप खड़े-खड़े हँसते, तथा यह अवसर देखने को मिला, इसके लिए अपना अहोभाग्य मानते हैं।

आज के अधिकाश लोगों को, यह भी पता नहीं है कि हमारा विवाह कब, किस प्रकार और किस विधि से हुआ था, तथा विवाह के समय, हमें कौन-कौन-सी प्रतिज्ञायें करनी पड़ी

थीं। उन्हें पता भी कहाँ से हो? वे जानें तो कैसे? उनका विवाह तो तब हुआ होगा, जब वे, माँ की गोद में बैठकर दूध पिया करते होंगे, नगे शरीर, बच्चों के साथ खेला करते होंगे और विवाह तथा वधू किस जानवर का नाम है, अपनी बुद्धि से यह भी न जानते होंगे। उन्हें, घोड़े पर और मण्डप के नीचे उसी प्रकार बैठा दिया गया होगा, जिस प्रकार मन्दिरों में, मूर्त्तियें बैठा दी जाती हैं। जब ब्राह्मण लोग, पति-पत्नी के परस्पर के वचनों का पाठ कर रहे होंगे, तब वे, नाई और नाइन की गोदी में सो रहे होंगे। जब उन्हें भाँवरे दिलाई जाती होंगी—यानी फेरे दिये जाते होंगे—तब वे, अपने पैरों से नहीं, किन्तु नाई या नाइन के पैरों से चलते रहे होंगे। ऐसी दशा में, वे, विवाह की बातें जानें और बतावें, तो कहाँ से?

एक सज्जन कहते थे, कि मुझे एक विवाह में सम्मिलित होने का मौका मिला। उस विवाह में, पति और पत्नी, दोनों ही अल्पवयस्क थे। रात के समय जब कि विवाह होता था—कन्या, मण्डप में ही सो गई। लग्न के समय, कन्या की माँ ने कन्या को जगाते हुए कहा कि बेटी! उठ, तेरे लग्न करें। लड़की की अवस्था ऐसी थी, कि यह 'लग्न' शब्द को ही न जानती थी। माँ के जगाने पर, लड़की ने माँ से कहा कि—मुझे तो नींद आती है, तू अपने ही लग्न करले। यह कहकर लड़की फिर सो गई और अन्त में उसका विवाह, निद्रावस्था में ही हुआ।

विचारने की बात है, कि जो बालक-बालिका लग्न या विवाह का नाम भी नहीं जानते, उनका विवाह कर देने पर, वे विवाह-सम्बन्धी नियमों का पालन, किस प्रकार कर सकेंगे? उन्हें जब

अपने विवाह का ही पता नहीं है, तव वे विवाह विपयक प्रतिज्ञाओं को क्या जानें और उनका पालन कैसे करें ? सच्ची बात तो यह है, कि इस प्रकार की अबोध अवस्था में होने वाले विवाह को 'विवाह' कहना ही अन्याय है ।

जमाई या वहू के शौकीन माँ-बाप, और मालताल के चट्टू वाराती, बालक और वालिका रूपी छोटे-छोटे वछड़ों को सांसारिक जीवन की गाड़ी में जोत कर, आप उस गाड़ी पर सवार हो जाते हैं । अर्थात्, सांसारिक जीवन का बोझ, उन पर बलात डाल देते हैं । अपनी स्वार्थ-भावना के वश होकर, वे लोग, नीति की वाल-विवाह-विरोधी-वातों को उपेक्षा की दृष्टि से देखते हैं, उनका उपहास करते हैं और उन्हें पददलित कर डालते हैं । यद्यपि, वे यह सब कुछ करते हैं अच्छा समझकर, हर्ष तथा प्रसन्नता के लिए और अपनी सन्तान को सुखी बनाने के लिए, लेकिन वास्तव में, ऐसे लोग, जिस वाल-विवाह को अच्छा समझते हैं, वह कभी-कभी बहुत ही बुरा, जिसे हर्ष का कारण समझते हैं, वह शोक का कारण, और जिसे सन्तान को सुखी बनाने का साधन मानते हैं, वह सन्तान को दु खी बनाने का उपाय हो जाता है। कुछ लोग, इस बात को समझते भी होंगे, लेकिन सामाजिक नियमों से विवश होकर, या देखादेखी, बाल-विवाह के घोर पातकमय कार्य में प्रवृत्त होते हैं और सामाजिक नियम तथा अनुकरण करनेवाले स्वभाव के लट्ठ से, बुद्धि को—विवाह करने तक के वास्ते-दूर खदेड़ आते हैं ।

नाती-पोते द्वारा अपने जीवन को सुखी माननेवाले लोग, अपनी, सन्तान का बाल्यावस्था में विवाह करके ही सन्तोष

नहीं करते, किन्तु विवाह के समय में ही—या कुछ ही दिन पश्चात् अबोध पति-पत्नी को, उनका उज्ज्वल और सुखमय भविष्य, काला और दुःखमय बनाने के लिए, एक कोठरी में बन्द कर देते हैं। उन बालक-बालिका में, प्रारम्भ से ही ऐसे सस्कार डाले जाते हैं, जिनके कारण, वे अयोग्य अवस्था में ही मैथुन से स्नेह करने लगते हैं। इस प्रकार के सस्कारों में, यदि कुछ कमी रह जाती है, तो उसकी पूर्ति, विवाह समय के गीतों से पूरी हो जाती है, और वे बालक-बालिका अपने माता पिता की पोते-पोती विषयक लालसा पूरी करने के लिए, दुर्विषय भोग के अथाह सागर में-अशक्त होते हुए भी-कूद पड़ते हैं।

धार्मिक दृष्टि से बाल विवाह।

कुछ लोगों ने, बालविवाह की पुष्टि के लिए, धर्म की भी ओट ले रखी है और बाल-विवाह न करना, धार्मिक अपराध बतलाया जाता है। लेकिन जो लोग, बाल-विवाह को धार्मिक रूप देते हैं, उन्हीं के ग्रन्थों में लिखा है—

अज्ञात पति मर्यादामज्ञातपति सेवनाम् ।
नो द्वाहयेत्पिता बाला, न ज्ञाता धर्म शासनम् ॥

हेमाद्रि ।

'पिता ऐसी कम अवस्था वाली कन्या का विवाह कदापि न करे, जो, पति की मर्यादा, पति की सेवा और धर्म शासन को न जानती हो।'

इसके सिवा, आवश्यक ब्रह्मचर्य के विषय में, मनुस्मृति का जो प्रमाण दिया गया है, उससे भी बालविवाह का निषेध ही होता है। बालविवाह न करने को धार्मिक अपराध बतानेवाले

लोग, 'अष्ट वर्षा भवेद् गौरी' आदि का जो एक पाठ प्रमाण रूप बताते हैं, मनुस्मृति और हेमाद्रि के उक्त प्रमाणों से, बाल-विवाह का विधान करनेवाला वह पाठ, प्रेक्षित ठहरता है। जान पड़ता है, कि यह पाठ उस समय बनाया गया है, जब, भारत में मुसलमानों का जोर था और वे लोग, स्त्रियों और विशेषत अविवाहित-स्त्रियों का बलात् अपहरण करते थे। मुसलमानों से स्त्रियों की रक्षा करने के लिए ही, सम्भवत यह पाठ बनाया गया था, क्योंकि, मुसलमान लोग, विवाहित-स्त्रियों की अपेक्षा अविवाहित-स्त्रियों का अपहरण अधिक करते थे। इसलिए विवाह हो जाने पर, स्त्रियें, इस भय से बहुत कुछ मुक्त समझी जाती थीं।

यद्यपि, मुसलमानी काल में, बाल-विवाह की प्रथा, प्रचलित अवश्य हो गई थी, लेकिन आजकल की भाँति, अल्पवयस्क पति-पत्नी को, विवाह समय में ही सहवास नहीं कराया जाता था। किन्तु, सहवास का समय, विवाह-समय से भिन्न होता था। आज,मुसलमानी काल की-सी स्थिति न होने पर भी, बाल-विवाह प्रचलित है और सहवास की भी कोई निश्चित अवस्था नहीं है।

तात्पर्य यह, कि बाल-विवाह, किसी भी धर्म के शास्त्रों में, उचित या आवश्यक नहीं बताया गया है, किन्तु ऐसे विवाहों का, निषेध ही किया गया है।

बाल-विवाह द्वारा, प्राचीन विवाह-नियम भग करने वालों

को, प्रकृति-दत्त दण्ड भी भोगना पड़ता है। प्रकृति, अपने नियम भंग करने वाले के साथ, किंचित् भी नर्मी का व्यवहार नहीं करती, किन्तु दण्ड देती ही है। अत अब यह देखते हैं, कि बाल-विवाह के कारण, प्रकृति द्वारा कौनसा दण्ड मिलता है, यानी बाल-विवाह से क्या-क्या हानि होती हैं।

बाल विवाह मे हानि।

युवावस्था से पूर्व, स्त्री-पुरुष का रज-वीर्य, अपरिपक्व रहता है। बाल-विवाह और समय से पूर्व के दाम्पत्य-सहवास से, अपरिपक्व रज-वीर्य नष्ट होता है। अपरिपक्व रज-वीर्य नष्ट होने से, शरीर की, रस से लेकर मज्जातक सभी धातुएँ शिथिल हो जाती हैं, जिससे शारीरिक विकास रुक जाता है। सौन्दर्य, उत्साह, प्रसन्नता और अगों की शक्ति घट जाती है। आयुर्बल भी कम हो जाता है। रोग-शोक घेरे रहते हैं। असमय में ही दाँत गिर जाते हैं, बाल पकने लगत हैं, तथा आँखों की ज्योति क्षीण हो जाती है। थोड़े ही दिनों में, पुरुष नपुसक और स्त्री, स्त्रीत्व-रहित हो जाती है। इस प्रकार, पति-पत्नी का जीवन दु खमय हो जाता है।

रही सन्तानोत्पत्ति की बात। इस विषय में, वैद्यक-ग्रन्थ कहते हैं—

> *ऊन षोडश वर्षायाम् अप्राप्तः पचविंशतिम्।*
> *यद्या धत्ते पुमान् गर्भं कुक्षिस्थ स विपद्यते॥*
> *जातो वा न चिरञ्जीवेज्जीवेद्वा दुर्बलेन्द्रिय।*
> *तस्मादत्यन्त बालायां गर्भाधान न कारयेत्॥*

सुश्रुत

- 'यदि सोलह वर्ष से कम अवस्थावाली स्त्री में, २५ वर्ष से कम अवस्थावाला पुरुष गर्भाधान करे, तो वह गर्भ उदर में ही विपत्ति को प्राप्त होता है। यदि इस गर्भ से सन्तान उत्पन्न भी हुई, तो जीवित नहीं रहती है और यदि जीवित भी रही, तो अत्यन्त दुर्बल अंगवाली होती है, इसलिए, कम आयु वाली स्त्री में, कभी गर्भाधान न करना चाहिए।'

इस प्रकार, सन्तानोत्पत्ति के लिए भी बालविवाह घातक ही है। इंगलैण्ड में, मनुष्यों की औसत-आयु ५१ वर्ष और बालमरण प्रतिसहस्र ७५ है, लेकिन भारत के मनुष्यों की औसत आयु केवल २३ वर्ष और बाल-मरण प्रतिसहस्र १९४ है। इस महान अन्तर का कारण यही है, कि इंगलैण्ड में, बाल-विवाह की घातक प्रथा नहीं है, लेकिन भारत में, इस प्रथा ने, अधिकांश लोगों के हृदय में अपना घर बना लिया है। पौत्रादि के इच्छुक लोग, अपने बालक-बालिका का विवाह करते तो हैं पोते-पोती के सुख की अभिलाषा से, लेकिन असमय में उत्पन्न सन्तान, मृत्यु के मुख में जाकर, ऐसे लोगो को और विलाप करने के लिए छोड़ जाती है, अपने माता-पिता को अशक्त बना जाती है, तथा इस प्रकार उन्हें अपने दुष्कृत्यों का दण्ड दे जाती है। इंगलैण्ड की अपेक्षा, भारत के लोगों की औसत-आयु कम होने का कारण, बालविवाह द्वारा होनेवाले रोग और असमय के वीर्यपात से होने वाली कमजोरी है। इसी घातक प्रथा के कारण, अनेक स्त्रियें, प्रसवकाल में ही परलोक को प्रस्थान कर जाती हैं, या सदा के लिए रोग-ग्रस्त हो जाती हैं और फिर रोगी सन्तान उत्पन्न करके, भावी सन्तति के लिए काँटे बिछा जाती हैं।

बाल-विवाह के विषय में गांधीजी लिखते हैं, कि 'हिन्दुस्तान को छोड़कर और किसी भी देश में, बचपन से ही विवाह की बातें, बालकों को नहीं सुनाई जातीं। यहाँ तो, माता पिता की एक ही अभिलाषा रहती है—लडके का विवाह कर देना। इससे, असमय में ही बुद्धि और शरीर का ह्रास होता है। हम लोगों का जन्म, प्राय बचपन के व्याहे माता-पिता से हुआ है। हमें ऐसा लोकमत बनाने की जरूरत है, कि जिसमें बाल-विवाह असम्भव हो जावे। हमारी अस्थिरता, कठिन और अविरल श्रम से अनिच्छा, शारीरिक अयोग्यता, शान से शुरु किये गये हमारे कामों का बैठ जाना और मौलिकता का अभाव-इत्यादि, इन सब के मूल में, मुख्यत हमारा अत्यधिक वीर्यनाश ही है।'

गांधीजी, आगे लिखते हैं कि—'जो माँ-बाप, अपने बच्चों की सगाई बचपन में ही कर देते हैं, वे, उन बच्चों को बेंचकर घातक बनते हैं। अपने बच्चों का लाभ देखने के बदले, वे अपना ही अन्ध-स्वार्थ देखते हैं। उन्हें तो, आप बड़ा बनना है, अपनी जाति-बिरादरी में नाम कमाना है, लड़के का व्याह करके तमाशा देखना है। लड़के का हित देखें, तो उसका पढना लिखना देखें, उसका जतन करें, उसका शरीर बनावें। घर गृहस्थी की खटपट में डाल देने से बढ़कर, उसका दूसरा कौनसा बड़ा अहित हो सकता है?'

यदि यह कहा जावे, कि धार्मिकता की दृष्टि से विवाह तो बचपन में कर दिया जाता है, लेकिन सहवास नहीं होता है, तो पहले तो यह कथन, सर्वथा नहीं तो बहुत अंश में गलत है। क्योंकि, प्राय विवाह समय में ही सहवास होना सुना जाता है।

कदाचित उस समय सहवास न होता हो, तो फिर बचपन में विवाह किस दृष्टि से किया जाता है ? ऐसे विवाह का विधान तो, किसी भी धर्म के शास्त्र नहीं करते और ऐसे विवाह प्रत्यक्ष ही हानिप्रद हैं। बचपन में ब्याहे गये पति-पत्नी की अवस्था में, विशेष अन्तर नहीं होता। जिस समय, कन्या युवती मानी जाती है, उस समय उसका पति, युवावस्था में पदार्पण भी नहीं कर पाता। बहू युवती है, इस लोकलाज के भय से, माता-पिता की दृष्टि में, अपने अल्पवयस्क पुत्र के लिए स्त्री-सहवास आवश्यक हो जाता है। इसप्रकार, उस हानि से बचा नहीं जा सकता, जो बाल-विवाह से होती है। इसके सिवा, बचपन में विवाहे गये पति-पत्नी, आगे चलकर कैसे कैसे स्वभाव के होंगे, उनके रूप, गुण, शक्ति आदि में कैसी विषमता होगी, इसे कोई नहीं जान सकता। पति-पत्नी में विषमता होने से, उनका जीवन भी क्लेशमय बीतता है।

बचपन में विवाह होने से, विधवाओं की भी संख्या बढ़ती है। समाज में, एक-एक, दो-दो और चार-चार वर्ष की अवस्था-वाली बाल विधवाएँ दिखाई देना, बाल-विवाह का ही कटुफल है। चेचक आदि बीमारी से, बालक-पति की तो मृत्यु हो जाती है और बालिका-पत्नी, वैधव्य भोगने के लिए रह जाती है। जिस पति से, उस अबोध-बालिका ने कोई सुख नहीं पाया है, हृदय में जिसकी स्मृति का कोई साधन नहीं है, जिसके नाम पर वैधव्य भोगने का कोई कारण नहीं है, उस पति के नाम पर, एक बालिका से वैधव्य पालन कराने का कारण, बालविवाह ही है। ऐसी बाल-विधवा, अपनी वैधव्यावस्था किस सहारे से

व्यतीत कर सकेगी, यह देखने की कोई आवश्यकता भी नहीं समझता।

तात्पर्य यह, कि सहवास न होने पर भी, बालविवाह हानिप्रद ही है। विवाह होजाने पर, बालक पति-पत्नी, ज्ञान औ विद्या से भी बहुत कुछ पिछड़े रह जाते हैं, तथा एक दूस के स्मरण से, वीर्य में दोष पैदा होता है। इसलिए बाल विवा त्याज्य है।

बेजोड़-विवाद।

बेजोड़ विवाह भी, पूर्व की विवाह प्रथा और आज क विवाह-प्रथा में भिन्नता बताता है। यद्यपि विवाह में, वर औ कन्या की पूर्व-वर्णित समानता देखना आवश्यक है, लेकिन आ के अधिकाश विवाहों में, इस बात का ध्यान बहुत कम रख जाता है। आज के बेजोड़-विवाहों को देखकर, यदि यह कह जावे, कि वर या कन्या के साथ नहीं, किन्तु धन-वैभव या कुल के साथ विवाह होता है, तो कोई अत्युक्ति न होगी। यद्यपि ससार के प्रत्येक प्राणी, अपनी समानतावाले को ही अधि पसन्द करते हैं, और विवाह में तो यह बात विशेष ध्यान में रखने योग्य है, लेकिन आजकल के बहुत से विवाह, ऊँट औ बैल की जोड़ी—से होते हैं। ऐसे विवाह, विशेषत धन या कुल के कारण होते हैं। अर्थात्, या तो धन के लोभ से बेजोड़-विवा किया जाता है, या कुल के लोभ से। बेजोड़-विवाह में, धन क लोभ दो प्रकार का होता है। एक तो यह कि लड़के या लड़की

की ससुराल धनवान होगी, इसलिए बड़ी अवस्थावाली कन्या के साथ छोटी अवस्थावाले पुरुष का, या छोटी-अवस्थावाली कन्या के साथ बड़ी अवस्थावाले पुरुष का विवाह कर दिया जाता है। दूसरे, कन्या या वर के बदले में द्रव्य प्राप्त होगा, इसलिए भी ऐसे विवाह कर दिये जाते हैं। इसीप्रकार, कुल के लिए भी बेजोड़-विवाह किये जाते हैं, अर्थात् हमारी लड़की या हमारे लड़के की ससुराल इस प्रकार की घरानेदार या कुलवान होगी, इसलिए भी बेजोड़-विवाह किये जाते हैं।

कई माता-पिता, लोभ के वश होकर, अपनी सन्तान का हिताहित नहीं देखते और उसका विवाह, ऐसे वर या ऐसी कन्या के साथ कर देते हैं, जो बेजोड़ और एक दूसरे की अभिरुचि के प्रतिकूल होते हैं। कई माता-पिता, अपनी अबोध कन्या को, वृद्ध तक के गले मढ देते हैं। विशेषत वे धन के लिए ही ऐसा करते हैं, यानी कन्या के बदले में द्रव्य लेने के लिए। द्रव्य-लालसा के आगे, वे इस बात को विचारने की भी आवश्यकता नहीं समझते, कि इन दोनों में परस्पर मेल रहेगा या नहीं, तथा हमारी कन्या, कितने दिन सुहागिन रह सकेगी। उन्हें तो केवल द्रव्य से काम रहता है, उनकी तरफ से कन्या की चाहे कैसीही दुर्दशा क्यों न हो।

विवाह और पत्नी के इच्छुक वृद्ध भी यह नहीं देखते, कि मैं एक तरुणी के योग्य हूँ या नहीं और एक तरुणी, मुझे पसन्द करेगी या नहीं। विद्वानों का कथन है—

वृद्धस्य तरुणी विषम्।

—सूक्ति।

'वृद्ध को, तरुणी विष के समान बुरी लगती है।'

इसका उल्टा यह होगा, कि तरुणी को वृद्ध, विष के समान बुरा लगता है। जब पति-पत्नी एक दूसरे को विष के समान बुरे लगते हों, तब उनका जीवन सुखमय कैसे बीत सकता है? लेकिन इस बात पर, न तो धन-लोभी माता-पिता ही विचार करते हैं, न स्त्री-लोभी वृद्ध और न भोजन-लोभी बाराती या पंच। केवल धन के बल से, एक वृद्ध उस तरुणी पर अधिकार कर लेता है, जिसका अधिकारी एक युवक हो सकता था और इसी प्रकार माता-पिता की धन-लोलुपता से, एक तरुणी को अपना वह जीवन वृद्ध के हवाले कर देना पड़ता है, जिस जीवन को वह किसी युवक के साथ रहकर बिताने की अभिलाषा रखती थी। वृद्ध विवाह के विषय में, गुलिश्ताँ में आई हुई एक कहानी इस स्थान के लिए उपयुक्त होने से दी जाती है।

वृद्ध विवाह पर एक कहानी।

एक वृद्ध अमीर की स्त्री का देहान्त हो गया। अमीर के दोस्तों ने अमीर से दूसरा विवाह करने के लिए कहा। अमीर ने उत्तर दिया, कि मैं किसी बुड्ढी-स्त्री के साथ विवाह नहीं कर सकता, मुझे बुड्ढी-स्त्री पसन्द नहीं। दोस्तों ने उत्तर दिया, कि आपको बुड्ढी-स्त्री के साथ विवाह करने के लिए कौन कहता है। आप तरुणी के साथ विवाह कीजिये। हम, आपके लिए तरुणी की तलाश कर देंगे। दोस्तों की बात सुनकर, वृद्ध अमीर ने कहा कि—यह आप लोगों की मेहरबानी है, लेकिन मैं पूछता हूँ कि जब मुझ बुड्ढे को बुड्ढी स्त्री पसन्द नहीं है, तो क्या वह तरुण-स्त्री, मुझ बुड्ढे को पसन्द करेगी? यदि नहीं, तो फिर जबरदस्ती से क्या

लाभ ! अमीर की बात सुन कर, दोस्तों को शर्मिन्दा होना पड़ा और उन्होंने, अमीर के विवाह की बात छोड़ दी।

वृद्ध पुरुष के साथ तरुण-स्त्री के विवाह के समान ही, धन या कुल के लोभ से बालक-पुरुष के साथ तरुणी, या तरुण पुरुष के साथ बालिका भी विवाह दी जाती है। ये समस्त विवाह, बेजोड़ हैं। ऐसे विवाह, समाज में भयकर हानि फैलानेवाले, भावी सन्तति का जीवन दु खप्रद बनानेवाले और पारलौकिक जीवन को कंटकाकीर्ण करनेवाले हैं।

बालिका युवक और बालक युवती विवाह।

बेजोड़-विवाह से होनेवाली समस्त हानियों का वर्णन करना शक्ति से परे की बात है, फिर भी, सक्षिप्त में कुछ हानियें बताई जाती हैं। बेजोड विवाह से कुल की हानि होती है। विधवाओं की संख्या बढती है, जिससे व्यभिचार वृद्धि के साथ ही, आत्म-हत्या, भ्रूण-हत्या आदि होती हैं और अन्त में अनेक विधवाएँ वेश्या बनकर अपना जीवन घृणित रीति से बिताने लगती हैं। समाज में स्त्रियों की कमी होने से, कई युवक अविवाहित रह जाते हैं और दुराचारी बन जाते हैं। बेजोड पति-पत्नी से उत्पन्न सन्तान, भी अशक्त, अल्पायुषी और दुर्गुणी होती है।

जैन शास्त्रों में, ऐसा एक भी प्रमाण मिलता, जो बेजोड़-विवाह का पोषक हो। अन्य ग्रन्थों में भी, बेजोड़-विवाह का निषेध ही किया गया है। जैसे—

कन्या यच्छति वृद्धाय नीचाय धन लिप्सया।
कुरूपाय कुशीलाय स प्रेतो जायते नरः॥

स्कन्दपुराण

'जो पिता अपनी कन्या, वृद्ध, नीच धन के लोभी, कुरूप, और कुशील पुरुष को देता है, वह प्रेत-योनि में जन्म लेता है।'

इसी प्रकार कन्या-विक्रय के विषय में कहा है—

अल्पेनापि हि शुल्केन पिता कन्या ददाति यः।
रौरवे बहु वर्षाणि पुरीषं मूत्र मश्नुते॥

आपस्तम्ब स्मृति।

'कन्या देकर बदले में, थोड़ा भी धन लेनेवाला पिता, बहुत वर्ष तक रौरव नरक में निवास करके विष्टा-मूत्र खाता रहता है।'

आधुनिक विवाह-प्रथा की, और भी बहुत समालोचना की जा सकती है, लेकिन विस्तार-भय से ऐसा नहीं किया गया। यहां तो संक्षिप्त में केवल यह बताया गया है, कि आजकल की विवाह-प्रथा, पहले की विवाह-प्रथा से बिलकुल भिन्न है और इस भिन्नता से अनेक हानियें हैं।

विवाह में अपव्यय।

अधिकांश आधुनिक विवाहों में, अपव्यय भी सीमातीत होता है। आतिशबाजी, रण्डी, बाजे और ज्ञातिभोजनादि में इतना अधिक द्रव्य उड़ाया जाता है, कि जितने द्रव्य से, सैकड़ों-हजारों लोग, वर्षों तक पल सकते हैं। धनिक लोग, विवाह के अपव्यय द्वारा, गरीबों के जीवन-मार्ग में कांटे बिछा देते हैं। धनिकों के आडम्बर-पूर्ण विवाह को आदर्श मानकर, अनेक ग़रीब कर्ज लेकर विवाह का आडम्बर करते हैं और धनिकों द्वारा स्थापित इस

आदर्श की कृपा से अपने जीवन को, चिरकाल के लिए दु खी बना लेते हैं। विवाह के अपव्यय में धन की ही हानि नहीं होती, किन्तु कभी-कभी जन की भी हानि हो जाती है। बहुत से लोग, खाने-पीने की अनियमितता से बीमार होकर मर जाते हैं और बहुत-से अतिशबाजी की अग्नि में झुलस कर, विवाह की भेंट हो जाते हैं। कई युवक, विवाह में आई हुई वेश्याओं के ही शिकार बन जाते हैं। इस प्रकार आजकल की विवाह-पद्धति द्वारा अपना ही सर्वनाश नहीं किया जाता, किन्तु दूसरों के सर्वनाश—का भी कारण उत्पन्न कर दिया जाता है।

आजकल की विवाह प्रथा पर से एक प्रश्न।

आजकल समाज के सन्मुख विधवा विवाह का जो प्रश्न उपस्थित है, उसके मूल कारण, बाल-विवाह, बेजोड़-विवाह और विवाह की खर्चीली पद्धति ही हैं। बाल-विवाह और बेजोड़-विवाह के कारण, एक ओर विधवाओं की संख्या तो बढ़ जाती है, और दूसरी ओर बहुत से पुरुष अविवाहित ही रह जाते हैं। इसीप्रकार, विवाह की खर्चीली पद्धति के कारण भी, अनेक गरीब परन्तु योग्य युवक अविवाहित रह जाते हैं। क्योंकि उनके पास, वैवाहिक आडम्बर करने को द्रव्य नहीं होता। यदि बाल-विवाह और बेजोड़ विवाह बन्द हो जावें, विवाह में अधिक खर्च न हुआ करे, तो विधवाओं और अविवाहित पुरुषों की बढ़ी हुई संख्या न रहने पर सम्भवत विधवा-विवाह का प्रश्न आपही हल हो जावे।

साराश यह कि पूर्व समय में, विवाह तब किया जाता था,

जब पति-पत्नी, सर्वविरति-ब्रह्मचर्य पालने में असमर्थ होते थे अर्थात्, विवाह कोई आवश्यक का नहीं माना जाता था, लेकिन आजकल विवाह आवश्यक कार्य माना जाता है

प्राचीन और आधुनिक विवाहों में प्रधान अन्तर।

जीवन की सफलता, विवाह में ही समझी जाती है। जब तक लड़के-लड़की का विवाह न हो जावे, तब-तक वे दुर्भागी समझे जाते हैं। इसी कारण, आवश्यकता-और अनुभव के बिना ही, विवाह कर दिया जाता है और वह भी बेजोड़ तथा हजारों लाखों रुपये व्यय करके धूमधाम के साथ। पूर्व समय की विवाह-प्रथा, समाज में शान्ति रखती थी, समाज को दुराचार से बचाती थी और अच्छी सन्तान उत्पन्न करके, समाज का हित साधन करती थी। आजकल की विवाह-प्रथा, इसके विपरीत कार्य करती है। बाल-विवाह, बेजोड़-विवाह और विवाह का खर्चीली पद्धति, समाज में अशान्ति उत्पन्न करती है, लोगों को दुराचार में प्रवृत्त करती है और रुग्ण एवं अल्पायुषी सन्तान द्वारा, समाज का अहित करती हैं।

वैवाहिक विषय के वर्णन पर से कोई यह कह सकता है, कि साधुओं को इन सासारिक बातों से क्या मतलब और वे ऐसी बातों के विषय में उपदेश क्यों दें? इसका उत्तर यह है, कि यद्यपि इन सासारिक बातों से साधुलोग परे हैं, लेकिन साधुओं का धार्मिक-जीवन नीतिपूर्ण ससार पर ही अवलम्बित है। यदि ससार में सर्वत्र अनीति छा जावे, तो धार्मिक जीवन के लिए स्थान भी नहीं रह सकता। ऐसी दृष्टिकोण से—विवाह की विधि बताने के लिए ही—शास्त्र-

शंका समाधान

कथा में, विवाह-बंधन में जुड़नेवाले स्त्री पुरुष की समानता आदि का वर्णन है। यह बात दूसरी है, कि उनमें बालविवाह, असमय के सहवास आदि का निषेध नहीं है, लेकिन उस समय इसप्रकार की कुप्रथाएँ थीं ही नहीं, इसलिए इस प्रकार के उपदेश की भी आवश्यकता न थी। अन्यथा, पूर्ण-ब्रह्मचर्य का ही विधान करनेवाले होने पर भी, जैन शास्त्र ऐसे अपूर्ण नहीं हैं, कि उनमें सांसारिक-जीवन की विधि पर-कथाओं द्वारा-प्रकाश न डाला गया हो। 'सरीसा वया, सरीसातया' आदि पाठ इसी बात के द्योतक हैं, कि विवाह समान युवावस्था में होता था।

देशविरति ब्रह्मचर्य व्रत ।
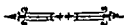
मातृवत्परदाराश्च परद्रव्याणि लोष्टवत् ।
आत्मवत्सर्वभूतानि यः पश्यति स पश्यति ॥

'जो मनुष्य, पराई स्त्री को माता के समान जानता है, पराये धन को मिट्टी के ढेले के समान मानता है और सब प्राणियों को अपने ही समान देखता है वही यथार्थ देखनेवाला है ।'

ऊपर यह तो कहा जा चुका है, कि जो पुरुष या स्त्री, सर्व विरति ब्रह्मचर्य पालन करने में समर्थ हैं, उन्हें विवाह न करना चाहिए और जो ऐसा करने में असमर्थ हैं, उनके लिए विवाह करना, अनुचित भी नहीं माना जाता । अब देखना यह है, कि विवाह करके भी ब्रह्मचर्य का पालन किया जा सकता है या नहीं और किया जा सकता है, तो किस रूप में ।

विवाहित जीवन में ब्रह्मचर्य

प्रत्येक बात का, ऊँचे से ऊँचा और नीचे से नीचा आदर्श रहता ही है । मनुष्य मात्र से, एक ही आदर्श की ओर चलने की आशा करना, उचित नहीं है, क्योंकि सब लोगों में, समान बुद्धि, शक्ति, साहस, धैर्य आदि नहीं होते । इस बात को दृष्टि

में रखकर, जैन शास्त्रों ने ब्रह्मचर्य का भी ऊँचे से ऊँचा और नीचे से नीचा, ऐसे दोनों ही प्रकार के आदर्श बताये हैं। ब्रह्मचर्य के सबसे ऊँचे आदर्श का नाम, सर्वविरति-ब्रह्मचर्य है और उससे नीचे आदर्श का नाम, देशविरति-ब्रह्मचर्य है। देशविरति ब्रह्म-चर्य, अर्थात् आंशिक ब्रह्मचर्य।

विवाहित पुरुष-स्त्री, देशविरति-ब्रह्मचर्यव्रत का पालन भली प्रकार कर सकते हैं। बल्कि, देशविरति ब्रह्मचर्य को स्वीकार करना, धार्मिक एवं नैतिक दृष्टि से प्रत्येक पुरुष स्त्री का कर्तव्य है। देशविरति ब्रह्मचर्य को स्वीकार करने से, विवाहित स्त्री-पुरुष के सांसारिक कामों में, किसी प्रकार की बाधा नहीं आती। क्योंकि सर्वविरति ब्रह्मचर्य मे, मैथुनाङ्गों सहित सब प्रकार के मैथुन का मन, वचन और काय से, करने, कराने और अनु-मोदन करने का त्याग लिया जाता है, लेकिन देशविरति ब्रह्मचर्य व्रत का आदर्श, इससे बहुत नीचा है। देशविरति ब्रह्मचर्य व्रत स्वीकार करनेवाला जो प्रतिज्ञा करता है, वह इस प्रकार होती है—

सदार संतोसिए अवसेस मेहुणं पच्चक्खामि जाव-जीवाए (देवदेवीसम्बन्धि) दुविहं तिविहेणंनकरेमि नकारवेमि-मणसा वयसा कायसा मनुष्यमनुष्यणी एवं तिर्यंचतिर्यंचणी सम्बन्धी एकविहं एगविहेणं नकरेमि कायसा——

इस प्रतिज्ञा के अनुसार, देशविरति ब्रह्मचर्यव्रत स्वीकार करनेवाले पुरुष या स्त्री के लिए, सांसारिक काम न रुकने योग्य बहुत गुंजायश रह जाती है। इसलिए, विवाहित पुरुष-स्त्री को,

देशविरति ब्रह्मचर्यव्रत स्वीकार करना, एव पालन करना चाहिए।

पुरुप और स्त्री के भेद से, देशविरति ब्रह्मचर्य व्रत का नाम, स्वदार सन्तोपव्रत और स्वपति सन्तोप व्रत है। इन दोनों व्रत की अलग-अलग व्याख्या की जाती है।

स्वदार-सन्तोप व्रत।

जिस ब्रह्मचर्य व्रत में, स्वदार का आगार रखा जाता है, उसे स्वदार-सन्तोप व्रत कहते हैं। इस व्रत को स्वीकार करने में, उन सभी स्त्रियों से मैथुन करने का त्याग करना पडता है, जो स्व की नहीं हैं। जो स्त्री स्व (खुद) की कहलाती है, उसके सिवा अन्य सभी स्त्रियें परदार हैं और यह व्रत स्वीकार करने में, ऐसी सभी स्त्रियों से मैथुन करने का त्याग लिया जाता है। इस प्रकार, गृहस्थ पुरुप जिस देशविरति ब्रह्मचर्य व्रत को स्वीकार करते हैं, उस का नाम स्वदार-सन्तोप व्रत है और इस व्रत को स्वीकार करने में, परदार का विरमण (त्याग) किया जाता है।

व्याख्या

स्वदार-सन्तोप व्रत का, बहुत माहात्म्य है। शास्त्रकारों का कथन है, कि इस व्रत को स्वीकार करनेवाले पुरुष की कामेच्छा सीमित हो जाती है, जिससे वह असीम कामेच्छा के पाप से बच जाता है। परस्त्री-सेवन का त्याग करनेवाले पुरुप का चित्त, परस्त्री की ओर जाता ही नहीं, जिससे, उसके द्वारा परस्त्री-सेवन का पाप नहीं

लाभ

होता। दुराचारी की अपेक्षा उसका शरीर, बलवान मेधावी और दीर्घायुषी होता है। उसकी सन्तान भी ऐसी ही होती है। अन्य ग्रन्थकारों ने भी, इस व्रत का बहुत माहात्म्य बताया है। पुराणों के रचयिता व्यासजी कहते हैं—

> स्वदारे यस्य सन्तोषः परदार निवर्तनम्।
> अपवादोऽपिनो यस्य तस्य तीर्थं फल गृहे॥
>
> व्यास स्मृति।

'निरपवाद स्वदार में सन्तोष करने और पराइ स्त्री से निवर्तनेवाला पुरुष, निन्दा से बच जाता है, तथा घर में ही उसे तीर्थ का फल मिल जाता है।'

स्वदार-सन्तोष व्रत स्वीकार करने से, दाम्पत्य-प्रेम में वृद्धि होती है। पति-पत्नी में कलह नहीं होता। लोक में निन्दा नहीं होती, किन्तु विश्वासपात्र माना जाता है। धन, वैभव, बल, बुद्धि, यश, कीर्ति, निर्भयता और सद्गुण सुरक्षित रहते हैं। परलोक में भी वह उन दुःखों से बचा रहता है, जो परदार-गामी को प्राप्त होते हैं।

परदार-गमन निन्दा।

स्वदार-सन्तोष व्रत रहित-यानी परदार-गामी-पुरुष, दुराचारी कहाता है और वह, अपनी स्त्री को भी सन्तुष्ट रखने में असमर्थ रहता है। ऐसे पुरुष का विश्वास, न स्व-स्त्री ही करती है, न पर-स्त्री ही। स्व-पत्नी से सदा कलह बना रहता है। घर, दुःखमय हो जाता है। सन्तान, या तो होती नहीं और होती भी है, तो रुग्ण, अल्पायुषी और दुराचारिणी। क्योंकि, माता पिता के सद्गुण-दुर्गुण का प्रभाव, सन्तान पर पड़ता ही है।

देशविरति ब्रह्मचर्यव्रत स्वीकार करना एवं पालन करना चाहिए।

पुरुष और स्त्री के भेद से, देशविरति ब्रह्मचर्य व्रत का नाम स्वदार सन्तोषव्रत और स्वपति सन्तोष व्रत है। इन दोनों व्र की अलग-अलग व्याख्या की जाती है।

स्वदार सन्तोष व्रत।

जिस ब्रह्मचर्य व्रत में, स्वदार का आगार रखा जाता है, उ स्वदार-सन्तोष व्रत कहते हैं। इस व्रत को स्वीकार करने से, उ

व्याख्या

सभी स्त्रियों से मैथुन करने का त्याग करना पड़ता है, जो स्व की नहीं हैं। जो स्त्री स्व (स्व की कहलाती है, उसके सिवा अन्य सभी स्त्रियें परदार हैं औ यह व्रत स्वीकार करने में, ऐसी सभी स्त्रियों से मैथुन करने क त्याग लिया जाता है। इस प्रकार, गृहस्थ पुरुष जिस देशविरति ब्रह्मचर्य व्रत को स्वीकार करते हैं, उस का नाम स्वदार-सन्तो व्रत है और इस व्रत को स्वीकार करने में, परदार का विरम (त्याग) किया जाता है।

स्वदार-सन्तोष व्रत का, बहुत माहात्म्य है। शास्त्रकारों क कथन है, कि इस व्रत को स्वीकार करनेवाले पुरुष की कामेच्छ

लाभ

सीमित हो जाती है, जिससे वह असी कामेच्छा के पाप से बच जाता है। परस्त्री सेवन का त्याग करनेवाले पुरुष का चित्त, परस्त्री की ओ जाता ही नहीं, जिससे, उसके द्वारा परस्त्री-सेवन का पाप ना

होता। दुराचारी की अपेक्षा उसका शरीर, बलवान मेधावी और दीर्घायुषी होता है। उसकी सन्तान भी ऐसी ही होती है। अन्य ग्रन्थकारों ने भी, इस व्रत का बहुत माहात्म्य बताया है। पुराणों के रचयिता व्यासजी कहते हैं—

स्वदारे यस्य सन्तोषः परदार निवर्तनम् ।
अपवादोऽपिनो यस्य तस्य तीर्थं फल गृहे ॥

व्यास स्मृति ।

'निरपवाद स्वदार में सन्तोष करने और पराई स्त्री से निवर्तनेवाला पुरुष, निन्दा से बच जाता है, तथा घर में ही उसे तीर्थ का फल मिल जाता है।'

स्वदार-सन्तोष व्रत स्वीकार करने से, दाम्पत्य-प्रेम में वृद्धि होती है। पति-पत्नी में कलह नहीं होता। लोक में निन्दा नहीं होती, किन्तु विश्वासपात्र माना जाता है। धन, वैभव, बल,बुद्धि, यश, कीर्ति, निर्भयता और सद्गुण सुरक्षित रहते हैं। परलोक में भी वह उन दुःखों से बचा रहता है,जो परदार-गामी को प्राप्त होते हैं।

परदार-गमन निन्दा।

स्वदार-सन्तोष व्रत रहित-यानी परदार-गामी-पुरुष, दुराचारी कहाता है और वह, अपनी स्त्री को भी सन्तुष्ट रखने मे असमर्थ रहता है। ऐसे पुरुष का विश्वास, न स्व-स्त्री ही करती है, न पर-स्त्री ही। स्व-पत्नी से सदा कलह बना रहता है। घर, दुःखमय हो जाता है। सन्तान, या तो होती नहीं और होती भी है, तो रुग्ण, अल्पायुषी और दुराचारिणी। क्योंकि, माता-पिता के सद्गुण-दुर्गुण का प्रभाव, सन्तान पर पड़ता ही है।

परदार गामी पुरुष की, लोक में निन्दा होती है। कोई उस-का विश्वास नहीं करता। सब लोग, यहाँ तक कि अपनी स्त्री भी, घृणा की दृष्टि से देखती है। उसका जीवन, कलंकित, दूषित एवं पापपूर्ण रहता है। पर स्त्री की इच्छा रखनेवाले पुरुष की, संचित कीर्ति भी नष्ट हो जाती है। यश, उसके पास भी नहीं फटकता। धन-वैभव, उसे त्याग देते हैं। बल, सौन्दर्य, साहस और धैर्य का उसमें अभाव-सा हो जाता है। वह, दुर्गुणों और पातकों का घर बन जाता है। उसमें से, सद्गुण निकल जाते हैं। भय, क्रोध, रोग, शोक, अपमान, दीनता आदि समस्त दुःख उसे घेर लेते हैं। कभी-कभी तो, मृत्यु का भी आलिंगन करना पडता है। परदार-गामी का मन, सदैव कलुषित बना रहता है, जिससे नीति और धर्म से निषिद्ध कार्य, सदा करता ही रहता है। इसप्रकार, उसका इहलौकिक जीवन दुःखमय बन जाता है और परलोक में उसे नरक की घोर से घोर वेदना सहनी पड़ती है।

पर-स्त्री-सेवन की बुराइयाँ बताते हुए, गाँधी जी लिखते हैं कि 'जहाँ पर स्त्री गमन न हो, वहाँ पर प्रतिशत पचास डाक्टर बेकार हो जावेंगे। पर-स्त्री-गमन से होने वाले रोगों की दवाइयें भी ऐसी जाहरीली होती हैं, कि यदि उन दवाइयों से एक रोग का नाश मालूम होने लगता है, तो दूसरे रोग घर कर लेते हैं और पीढ़ी दरपीढी चल निकलते हैं।'

गाँधीजी के कथन का अभिप्राय यह है, कि पर-स्त्री-सेवन से, रोग और अशक्तता का ऐसा आधिक्य हो जाता है, कि जिस का फल भावी सन्तति को भी भोगना पड़ता है। वे आगे कहते

हैं कि 'मनुष्य के सामाजिक जीवन का केन्द्र, एक-पत्नीव्रत है।' इसलिए, स्वदार सन्तोष व्रत स्वीकार करके, पर-स्त्री का त्याग करना ही लाभप्रद है। अन्य ग्रन्थकार भी कहते हैं—

दुराचारो हि पुरुषो लोके भवति निन्दितः ।
दुःखभागी च सततं व्याधितोऽल्पायुरेव च ॥
नहीदृशमनायुष्यं लोके किञ्चन दृश्यते ।
यादृशं पुरुषस्येह परदारोपसेवनम् ॥

मनुस्मृति ।

'दुराचारी पुरुष, लोक में निन्दित होता है, सदा दुःखी, रोगग्रस्त और अल्पायुषी होता है। इस संसार में, पुरुष का आयुर्बल क्षीण करने वाला ऐसा कोई भी कार्य नहीं है, जैसा कि पराई स्त्री के साथ रमण करना है।'

परदार-गमन से, केवल आयुर्बल ही क्षीण नहीं होता, किन्तु बल, साहस, धन-वैभव आदि भी नष्ट हो जाते हैं। कैसा भी बलवान हो, कैसा भी वैभवशाली हो और कैसा भी साहसी हो, लेकिन यदि उसमें पर-स्त्री चाहने का रोग है, तो उसका समस्त बल, वैभव, और साहस, गर्म तवे पर गिरी हुई जल की बूंद के समान नष्ट हो जाता है। पराई स्त्री की इच्छा करने वाला, अपनी ही हानि नहीं करता, किन्तु अपने कुल परिवार और मित्रों की भी हानि करता है। राजा रावण में, बल की कमी नहीं थी, वैभव भी खूब था और साहस भी पर्याप्त था, लेकिन वह सदाचारी-स्वदार सन्तोषी न था, इसलिए उसका बल, वैभव तथा साहस किसी काम न आया और परिवार सहित नष्ट

हो गया। यही बात मणिरथ पद्मोतर आदि के लिए भी है। इनमें भी यदि सदाचार का अभाव न होता, तो इनके नष्ट होने का भी कोई ऐसा निन्द्य कारण न था। बुद्ध-ग्रन्थ धम्मपद में लिखा है, कि 'जो अविचारी, पर-स्त्री की अभिलाषा करता है, उसे चार फल मिलते हैं—(१) अपयश, (२) निद्रानाशक चिन्ता (३) दण्ड और (४) नरक।' इस प्रकार अन्य ग्रन्थों ने भी, परदार-गमन की निन्दा की है।

परदार-गमन की हानि पर एक उदाहरण।

पराई स्त्री के साथ रमण करने वाला पुरुष, कभी-कभी कैसे घोर पाप में प्रवृत्त हो जाता है और पराई स्त्री के त्यागवाला पुरुष, ऐसे पाप से किस प्रकार बच जाता है, इसके लिए एक दृष्टान्त दिया जाता है।

एक बार, तीन आदमी विदेश गये। उन तीनों में से एक तो व्रतधारी श्रावक था—उसने स्वदार सन्तोष व्रत स्वीकार करके पर-स्त्री का त्याग कर दिया था—और शेष दो आदमी, व्रत-रहित, एवं परदार गामी थे। इन तीनों की माताएँ, बहुत पहले से ही घर से निकल गई थीं, जो उसी स्थान पर वेश्या वृत्ति करती थीं, जहाँ ये तीनों आदमी गये थे। उन त्यागव्रत रहित दोनों आदमियों ने, एक रात में, वेश्यागमन का विचार किया। इस विचार को, उन्होंने अपने श्रावक मित्र से भी प्रकट किया। श्रावक ने, अपने साथियों के विचार का विरोध किया, तथा वेश्यागमन से इनकार कर दिया। उन दोनों ने, श्रावक से बहुत आग्रह किया और कहा, कि तुम्हें वेश्या के यहाँ जाने को पैसे हम देंगे, तुम जाओ। दोनों साथियों ने, श्रावक को वेश्या

के यहाँ जाने के लिए विवश कर दिया।

तीनों मित्र, उन्हीं तीन वेश्याओं के यहाँ गये, जो इनकी माताएँ थीं। योगायोग से तीनों आदमी, अपनी-अपनी माँ के ही यहाँ गये। श्रावक को तो पर-स्त्री-संभोग का त्याग था, इस-लिए वह वेश्यारूपिणी अपनी माता के पास बैठ गया और उससे बातें करने लगा। बातों ही बातों में इन दोनों ने एक दूसरे को पहचान लिया। श्रावक ने, अपनी माता से पूछा कि-तू यहाँ कैसे आगई ? उसने उत्तर दिया, कि मैं, और मेरी पडोस की दो साथिनी-जो अमुक-अमुक की माँ हैं—हम तीनों यहाँ बहुत दिनों से वेश्यावृत्ति करती हैं। श्रावक ने कहा—गजब हुआ! वे दोनों भी यहाँ आये हैं और अपनी माताओं के यहाँ गये हैं! जल्दी दौडकर उन्हें बचाओ!

माता और पुत्र, उन दोनों के यहाँ दौडकर गये, परन्तु इनके जाने से पूर्व ही वे दोनो अपनी-अपनी माँ से भ्रष्ट हो चुके थे।

श्रावक की प्रेरणा से, य तीनों स्त्रियें भी वेश्या-वृत्ति छोड कर अपने अपने घर चलीं। श्रावक के दोनों मित्र भी साथ ही थें, लेकिन उन दोनों मित्रों को, अपने कृत्य पर इतनी लज्जा हुई, कि वे दोनों ही जहाज से कूद कर डूब मरे।

यदि उस एक श्रावक की ही तरह ये दोनों मित्र भी परदार त्यागी होते, तो इस प्रकार माँ के साथ भ्रष्ट होने एव लज्जित होकर मरने का मौक़ा क्यों आता ? आजकल भी, इस प्रकार की कई घटनाएँ सुनने में आती हैं, जिनमें परदार-गामी पुरुष ने, अपनी पुत्री आदि के साथ भी दुराचार किया। ऐसे घोर पापों

इसका यह अर्थ नहीं हो सकता, कि स्व-स्त्री से मैथुन करने में स्वच्छन्दता से काम लिया जावे। क्योंकि इस व्रत का नाम, स्वदार सन्तोष है, स्वदार-रमण नाम नहीं है। यदि स्वदार-रमण नाम होता, तब तो स्व-स्त्री के सेवन में स्वच्छन्दता को स्थान हो सकता था, लेकिन स्वदार सन्तोष नाम में, स्वच्छन्दता को स्थान ही नहीं रहता। इसलिए आगार होने पर भी, स्वदार-सेवन में नीतिकारों की बताई हुई मर्यादा का पालन करना आवश्यक है। नीतिकारों का कथन है—

स्व-स्त्री सेवन में नियमितता।

सन्तानार्थञ्च मैथुनम्।

'मैथुन का विधान, सन्तान उत्पन्न करने के लिए ही है।'

वैद्यक मतानुसार, रजोदर्शन से पूर्व स्त्री-पुरुष का संसर्ग, सन्तानोत्पत्ति के लिए निरर्थक है और ऋतु-स्नान के सिवा अन्य समय में किये गये मैथुन से, वीर्य वृथा जाता है। इसलिए ग्रन्थकारों ने कहा है—

रजो दर्शनत पूर्वं स्त्री-संसर्गं मा चरेत।

भविष्य पुराण।

'रजोदर्शन से पहले, स्त्री संसर्ग न करे।'

इस प्रकार, ऋतु-स्नान से पूर्व, स्त्री-सेवन का निषेध किया गया है। ऋतु-स्नान से पूर्व, स्त्री-सेवन द्वारा वीर्य को वृथा नाश करनेवाले के लिए ग्रन्थकार कहते हैं—

व्यर्थीकारेण शुक्रस्य ब्रह्महत्या मवाप्नुयात्।

निर्णय सिन्धु।

'वीर्य को वृथा खोने से, ब्रह्महत्या का पाप होता है।'

इस प्रकार स्वच्छन्दता से, अपनी स्त्री का सेवन करने का भी निषेध किया गया है। वैद्यकमतानुसार, स्वस्त्री के साथ भी अति मैथुन करने से, शारीरिक शक्ति क्षय होती है, वीर्य पतला पड़ता है, सन्तान दुर्बल, अल्पायुषी और दुर्गुणी होती है। अति मैथुन करनेवाला अच्छे कार्य नहीं कर सकता। ऐसा पुरुष, यदि कभी अपनी स्त्री से अलग रहे, तो उसमें व्यभिचार-दोष का आजाना बहुत सम्भव है। क्योकि, वह अपनी मैथुनेच्छा को रोकने में असमर्थ हो जाता है, इसलिए दुराचार में पड़ना आश्चर्य की बात नहीं। अति मैथुन से, आँखों की ज्योति क्षीण हो जाती है, दाँत गिर जाते हैं और शरीर से दुर्गन्ध आने लगती है। अति मैथुन के कारण, क्षय, प्रमेह, स्वप्नदोष, नपुंसकता, आदि रोग उत्पन्न होते हैं और आयुर्बल कम होता है। वैद्यक ग्रन्थों में कहा है—

> *अति स्त्री सम्प्रयोगाच्च रक्षेदात्मनमात्मवान् ।*
> *क्रीडाया मपि मेधावी हितार्थी परिवर्जयेत् ॥१॥*
> *शूल कास ज्वर श्वास कार्श्य पाड्वामयक्षया ।*
> *अति व्यवायाज्जायन्ते रोगाश्चाक्षेप का दय ॥*

'अति स्त्री प्रसग से अपने को बचाये रहना, सावधान मनुष्य को उचित है। अपना भला चाहनेवाले बुद्धिमान पुरुषों के लिए, क्रीड़ा में भी अति प्रसग वर्ज्य है। अतिमैथुन से, शूल, खाँसी, ज्वर श्वास, दुर्बलता, पीलिया, क्षय आदि वात व्याधि उत्पन्न होती हैं।'

तात्पर्य यह, कि अपनी स्त्री से भी अतिमैथुन वर्ज्य है। अतिमैथुन के साथ ही, नीतिकारों ने, असमय के मैथुन का भी

निषेध किया है। दिन का समय, रात का पहला और अन्तिम पहर, तथा स्त्री गर्भवती हो वह समय, मैथुन के लिए निषिद्ध है। दिन में तथा रात के पहले और अन्तिम पहर में, स्वस्त्री से किया गया मैथुन भी शरीर सम्बन्धी वे ही हानियें करनेवाला होता है, जो हानियें परस्त्री गमन से होती हैं। इसी प्रकार, गर्भवती स्त्री से मैथुन करने से, गर्भ के बालक पर बहुत बुरा प्रभाव पडता है। कभी-कभी तो माता-पिता की इस कुचेष्टा से, गर्भ में ही बालक की मृत्यु हो जाती है। यदि बालक जन्मा भी, तो वह बचपन से ही अब्रह्मचर्य की कुचेष्टाएँ करने लगता है और अन्त में, महाभयकर परिणाम को प्राप्त होता है। गर्भवती स्त्री से मैथुन करने पर, वह गर्भवती स्त्री भी रोग-ग्रस्त हो जाती है, तथा प्रसूति रोगादि से मर भी जाती है। गर्भवती से मैथुन करने के कार्य को, यदि मनुष्य-हत्या के समान पाप कहा जावे, तब भी कोई अत्युक्ति न होगी।

गर्भवती स्व-स्त्री के समान ही, उस स्वस्त्री से भी मैथुन करना वर्ज्य है, जिसका बालक छोटा हो। छोटे बालक की माँ के साथ, ऋतुकाल में मैथुन करना भी, वैद्यक और नीति के अनुसार हानिप्रद है। ऐसी स्त्री के साथ मैथुन करने से और उस स्त्री के गर्भवती हो जाने से, उस छोटे बालक का विकास रुक जाता है, और गर्भ का बालक भी, कमजोर, रुग्ण, एव अल्पायुषी होता है। इसलिए स्व-स्त्री से भी ऐसा मैथुन करना त्याज्य है।

वर्तमान समय के परदार-त्यागी और स्वदार-सन्तोषी पुरुषों

में सम्भवत ऐसे पुरुप तो गिन्ती के ही निकलेंगे, जो स्व-स्त्री-सेवन में नीतिकारों की बताई हुई मर्यादाओं का पालन करते हों। लोगों के मुँह से, एक-दो या चार-छ दिनों के लिए मैथुन का त्याग कराने की बात सुनकर, समाज की पतनावस्था पर दया आती है। उनके इस त्याग लेने की बात से यह स्पष्ट है, कि ऐसा कोई ही दिन जाता होगा, जिस दिन वे मैथुन से बचे रहते हों। यद्यपि नीतिकारों ने ऋतुकाल के सिवा अन्य समय में स्त्री-गमन का निपेध किया है, और इस बात का समर्थन वैद्यक ग्रन्थ भी करते हैं, तथा प्राकृतिक रचना पर दृष्टिपात करने से भी यही प्रकट है, फिर भी, लोग इस मर्यादा की अवहेलना करते हैं। ऐसे लोगों को मनुष्य कहने का कारण, उनकी शारीरिक रचना के सिवा और कुछ नहीं रहता। क्योंकि, जिन नियमों का पालन बुद्धिहीन पशु भी करते हैं, उन नियमों का पालन, यदि बुद्धि-सम्पन्न मनुष्य न करे, तो फिर उसमें, पशुओं की अपेक्षा-शारीरिक रचना के सिवा कौन सी विशेपता रही ? पशु भी प्राय ऋतु-काल के सिवा अन्य समय में मैथुन नहीं करता। यदि मनुष्य होकर भी इस नियम की अवहेलना करता है, तो इससे अधिक पतन की बात और क्या होगी ? स्वदार सन्तोपव्रत का पूर्णतया पालन तभी समझना चाहिए, जब पर-स्त्री को त्यागने के साथ ही, स्व-स्त्री के सेवन में अनियमितता न की जावे, यानी सन्तोप से काम लिया जावे।

इस समय के स्वदार सन्तोपी।

स्वदार-सन्तोपव्रत की विशेपता तब है, जब मौजूदा पत्नी

का ही आगार रखा जावे, जैसा कि आनन्द श्रावक ने, अपनी शिवानन्दा स्त्री का आगार रखा था। व्रत धारण करने के पश्चात्, और विवाह करने की इच्छा न रखी जावे। पुरुषों ने, अपने प्रभुत्व से बहुविवाह या एक स्त्री के मरने पर दूसरा विवाह करने का अधिकार बना लिया है, अन्यथा प्राकृतिक रचना पर ध्यान देने, एव न्याय दृष्टि से विचारने पर, यह बात स्पष्ट है, कि इस विषय में पुरुष को, स्त्री से अधिक अधिकार नहीं हैं। अर्थात्, जिस प्रकार स्त्रियें एक-पतिव्रत का पालन करती हैं, उसी प्रकार पुरुषों को भी, एक'पत्नी-व्रत का पालन करना उचित है और जिस प्रकार, विधवा होने पर भी स्त्रियें, दूसरे पुरुष के साथ विवाह नहीं करतीं, उसीप्रकार पुरुष को भी विधुर होने पर, दूसरी स्त्री के साथ विवाह करना उचित नहीं, किन्तु विधवाओं की तरह, विधुर को भी ब्रह्मचर्य पालना चाहिए।

एक पत्नीव्रत।
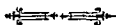
स्वपतिसन्तोष-व्रत।

कोकिलानां स्वरो रूपं नारी रूपं पतिव्रतम्।

चाणक्य नीति।

'कोयल का रूप उसका स्वर है और स्त्री का रूप, उसका पतिव्रत है।'

सर्वविरतिब्रह्मचर्यव्रत स्वीकार करने में असमर्थ विवाह करने वाली-स्त्रियों को विवाह करने के पश्चात् भी, स्वपति सन्तोष-व्रत स्वीकार एव पालन करना चाहिए।

प्रशंसा।

स्वपतिसन्तोषव्रत स्वीकार करने वाली स्त्रियें, देशविरति-ब्रह्मचारिणी कहलाती हैं, और व्यवहार तथा अन्य ग्रन्थकारों की दृष्टि में, ऐसी स्त्रियें ब्रह्मचारिणी भी कहाती हैं। जैसे—

या नारी पतिभक्तास्यात्सा सदा ब्रह्मचारिणी।

सूक्ति।

'जो स्त्री, पतिभक्ता है—दूसरे पुरुष से अनुराग नहीं रखती-वह सदा ब्रह्मचारिणी कहाती है।'

स्वपतिसन्तोषव्रत स्वीकार एव पालन करने से, स्त्रियों को वे ही लाभ होत हैं, जो लाभ पुरुषों को स्वदारसन्तोप-व्रत स होते हैं। ससारावस्था में स्त्रियों के लिए,

लाभ

स्वपति सन्तोषव्रत के समान, और कोई कार्य, इस लोक तथा परलोक में हितसाधक नहीं है। दूसरे कार्य किसी एक ही लोक का हित साधने में समर्थ हो सकते हैं, लेकिन स्वपतिसन्तोपव्रत से दोनों ही लोक सुधरते हैं। अन्य ग्रन्थकार भी कहते हैं—

पतिं या नाभिचरति मनोवाग्देह सयता।
सा भर्तृलोकानाप्नोति सद्भिः साध्वीतिचोच्यते॥

मनुस्मृति।

'जो स्त्री, मन, वाणी तथा शरीर से व्यभिचार नहीं करती है, पर-पुरुष को नहीं चाहती है, वह इसलोक में साध्वी कही जाती है और मरने पर, स्वर्ग और परम्परा से मोक्ष को प्राप्त होती है।'

स्वपतिसन्तोषव्रत स्वीकार करनेवाली स्त्री के लिए, इस लोक तथा परलोक में, कुछ भी दुर्लभ नहीं है। पतिव्रता-स्त्री की सेवा-सहायता के लिए देवता, भी तत्पर रहा करते हैं। शास्त्रों में, सीता, द्रौपदी और सुभद्रा आदि सतियों का वर्णन, उनके सतीत्व के कारण ही आया है, एवं अग्नि का शीतल होना भी उनके पातिव्रत का ही प्रभाव है। इसके विपरीत जो स्त्रियें व्यभिचारिणी हैं, उनके लिए, इस लोक और परलोक में वे ही हानियें हैं, जो हानियें व्यभिचारी पुरुष के लिए बताई गई हैं। अन्य ग्रन्थकारों ने भी कहा है—

व्यभिचार निन्दा।

व्यभिचारात्तु भर्तुः स्त्री लोके प्राप्नोति निन्द्यताम।
शृगाल योनिंचाप्नोति पाप रोगैश्च पीड्यते॥

मनुस्मृति।

'पर पुरुष के साथ रमण करनेवाली व्यभिचारिणी स्त्री, इस लोक में निन्दा को प्राप्त होती है, पाप तथा रोगों से पीड़ित होती है और मरकर स्यारी की योनि पाती है। यानी नर्क तिर्यंक गतिको प्राप्त होती है।'

स्वपति-सन्तोषव्रत पालन करने के लिए, स्त्रियों को भी उन नियमों का पालन करना आवश्यक है, जो नियम स्वदार सन्तोष व्रत लेनेवाले पुरुषों के लिए, बताये गये हैं। बल्कि, धर्म-सहायिका होने के कारण स्त्रियों पर, अपने पति को व्रत पर ... रखने, एवं नियमों का

नियम

पालन कराने की जिम्मेदारी और आ पड़ती है। स्वपति सन्तोष-व्रत की आराधिका स्त्री, ऐसे कोई कार्य नहीं करती, जिनके करने से उसके या उसके पति के व्रत में दोष लगता हो, या व्रत से सम्बन्ध रखनेवाले नियम भग होते हों।

व्रत-रक्षा के उपाय

देशविरति ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए, उन नियमों को आदर्श मानकर यथासभव उनका अनुसरण करना उचित है, जो नियम सर्वविरतिब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए बताये गये हैं। यह बात दूसरी है, कि देशविरति ब्रह्मचर्य व्रत स्वीकारने वाले लोग गृहस्थ होते हैं, इसलिए समुचित रूप में उन नियमों का पालन न कर सकें, लेकिन आशिक रूप में अवश्य पालन कर सकते हैं। उदाहरण के लिए सर्वविरति ब्रह्मचारी की तरह देशविरतिब्रह्मचारी, उस मकान में, जिसमें स्त्री, पशु रहते हों न रहने का नियम नहीं पाल सकता, लेकिन स्त्री-पुरुष अलग-अलग कमरो में रहने, या एक शय्या पर शयन न करने के नियम का पालन कर सकता है। इसी-प्रकार, देशविरति ब्रह्मचारी यदि स्त्री-मात्र को न देखने-उनसे बात चीत हँसी-मजाक आदि न करने—का नियम नहीं पाल सकता, तो पर-स्त्री के लिए तो इस नियम को पाल ही सकता है। साराश यह, कि देशविरति ब्रह्मचारी को, सर्वथा नहीं, तो आशिकरूप में उन मियमों का पालन करना उचित है, जो नियम, सर्वविरति ब्रह्मचारी एवं ब्रह्मचारिणी के लिए बताये गये हैं।

१०

देश-विरति ब्रह्मचर्य व्रत के अतिचार।

शास्त्र में, प्रत्येक व्रत की चार मर्यादा बतलाई गई हैं, अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार और अनाचार। व्रत को उल्लघन करने का सङ्कल्प करना अतिक्रम है। इस सकल्प को पूरा करने के लिए सामग्री जुटाना, व्यतिक्रम है। व्रत को उल्लघन करने के सकल्प को कार्यरूप में परिणत करने के लिए तैयार हो जाना, अतिचार है और व्रत का उल्लघन करने के सकल्प को पूरा कर डालना यानी व्रत को तोड़ डालना, अनाचार है।

व्याख्या

यद्यपि, व्रत में दूषण तो अतिक्रम और व्यतिक्रम से भी लगता है, लेकिन मानव-स्वभाव को दृष्टि में रखकर, व्यवहार में अतिक्रम और व्यतिक्रम से व्रत दूषित नहीं माना जाता, किन्तु अतिचार से व्रत दूषित माना जाता है और अनाचार से तो, व्रत नष्ट ही हो जाता है। व्रत में दूषण का प्रारम्भ अतिचार से माना जाता है, इसलिए प्रत्येक व्रत के अतिचारों को जानकर उनसे बचना आवश्यक है।

देश विरति ब्रह्मचर्य व्रत के, भगवान महावीर ने पाँच अति-चार बताये हैं, जो इस प्रकार हैं—

सदार संतोसीए पंच अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा तजहा-इत्तिरिय परिग्गहिया गमणे, अपरिग्गहिया गमणे, अनग क्रीडा करणे, पर विवाह करणे, कामभोग तिव्वाभिलासे।

'स्वदार सन्तोष व्रत के पाँच अतिचार जानने योग्य हैं, लेकिन आच रण योग्य नहीं हैं। वे अतिचार ये हैं—इत्वरपरिगृहीतागमन, अपरि-गृहीता गमन, अनग क्रीडा, पर विवाह करण, कामभोग में तीव्र अभिलाषा।'

पहला अतिचार

देशविरति ब्रह्मचर्यव्रत का पहला अतिचार, इत्वरपरि-गृहीता गमन है। बहुत से लोग, स्वदारसन्तोषव्रत लेकर भी यह गुञ्जायश निकालने लगते हैं, कि हमने स्वदार का आगार रखा है, अतः यदि किसी स्त्री को कुछ समय के लिए रुपये-पैसे देकर—या बिना दिये ही—अपनी बना ली जावे और उसके साथ स्वदार का-सा व्यवहार किया जावे, तो इससे स्वदारसन्तोष-व्रत में कोई दूषण नहीं आता। यद्यपि, स्वदार-सन्तोषव्रत में, केवल स्वदार—यानी जिसके साथ, देश और समाज प्रचलित रीति से विवाह हुआ है, उसी का आगार रहता है, फिर भी, कई लोग उक्त प्रकार की गुंजायश निकालने लगते हैं। लेकिन इस प्रकार की गुंजा-यश निकालकर, जो अपनी नहीं है, उस स्त्री को, थोड़े समय के लिए अपनी बनाकर, उसके साथ मैथुन करने के लिए तैयार हो जाना, अतिचार है। ऐसा करना, जबतक अतिचार के रूप में है, तबतक तो व्रत में दूषण ही लगता है—व्रत नष्ट नहीं होता-

लेकिन इस प्रकार का कार्य अनाचार के रूप में होने पर, यानि मैथुन क्रिया रूप में हो जाने पर व्रत नष्ट हो जाता है।

दूसरा अतिचार अपरिगृहीता-गमन है। परदार से निवर्तने वाले बहुत से लोग, परदार-त्याग का यह अर्थ लगाने लगते हैं, कि जो स्त्री दूसरे की है, जिसका स्वामी कोई दूसरा पुरुष है, उस स्त्री से मैथुन करने का हमने त्याग लिया है, लेकिन जो स्त्री किसी दूसरे की है ही नहीं, जिसका कोई नियत पति ही नहीं है—जैसे वेश्या—या जिसका विवाह ही नहीं हुआ है, या विवाह तो हुआ है, लेकिन अब वह पतिविहीना है—जैसे विधवा, या पति-परित्यक्ता—ऐसी स्त्री के साथ मैथुन करने से लिये हुए त्याग में, कोई दूषण नहीं आता। यद्यपि, पर-स्त्री के त्याग में उन सभी स्त्रियों का त्याग हो जाता है, जो अपनी नहीं हैं, फिर भी कई लोग इस प्रकार गुंजायश निकालने लगते हैं। लेकिन इस प्रकार की गुंजायश निकालकर, जो स्त्री अपनी नहीं हैं, उस स्त्री से मैथुन करने के लिए तैयार हो जाना, त्याग की प्रतिज्ञा को दूषित करना है। अतिचार की सीमा तक—यानी मैथुन करने की तैयारी तक—तो त्याग की प्रतिज्ञा दूषित ही होती है, लेकिन अतिचार की सीमाका उल्लंघन होते ही—अनाचार होने पर—लिया हुआ व्रत नष्ट होजाता है।

दूसरा अतिचार

कई लोग कहते हैं, कि वेश्या तो किसी की स्त्री नहीं है, इस कारण वेश्या-सभोग से व्रत नष्ट नहीं होता। ऐसा कहने और समझनेवाले लोग, लिये हुए व्रत और त्याग के रहस्य से ही अनभिज्ञ हैं। स्वदार सन्तोषव्रत और परदार-विरमण, स्त्री भोग की लालसा को

वेश्या गमन से हानि

सीमित करके, शनै-शनै उसे कम करने के लिए हैं। लेकिन वेश्या-सभोग, पर-स्त्री-सभोग से भी अधिक हानिप्रद है। वेश्या-समोग से, दुर्विपय-लालसा में ऐसी भयकर वृद्धि होती है, कि जिसका वर्णन करना, शक्ति से परे की वात है। वेश्या-गामी पुरुष-दुर्विपय-लालसा में वृद्धि होने के कारण-वेश्या के पीछे अपना सब कुछ खो बैठता है। वेश्या के पीछे, बडे-बडे धनिकों को—अपना धन वैभव खोकर—भीख माँगनी पडती है। वडे-वडे परिवार वाले, वेश्या के कारण नि सहाय हो जाते हैं। बडे-बडे बलवान, वेश्या-सग से बलहीन हो जाते हैं। इतना होन पर भी, जिस वेश्या के पीछे यह सब होता है, वह वेश्या, किसी भी पुरुष की नहीं होती। वेश्यागामी-पुरुष, इस-लोक में निन्दित और परलोक में दण्डित होता है। बडे अनुभव के पश्चात् भर्तृहरि कहते हैं—

वेश्या सो मदनज्वाला रूपेन्धन समेधिता।
कामिभिर्यत्र हूयन्ते यौवनानि धनानि च॥

'वेश्या, कामाग्नि की ज्वाला होती है, जो रूप ईंधन से सजी रहती है। कामी लोग, इस रूप-ईन्धन से सजी हुई वेश्या नाम्नी कामाग्नि की ज्वाला में, अपने यौवन और धन की आहुति देते हैं।'

तात्पर्य यह, कि वेश्या-गमन भयकर पाप है। वेश्या-गामी पुरुष का अन्त करण इतना कलुपित हो जाता है, कि वह अपने कुटुम्ब की स्त्रियों पर कुदृष्टि डालने में, तथा मनुष्य-हत्या एवं आत्म-हत्या करने में भी नहीं हिचकिचाता।

तीसरा अतिचार अनगक्रीडा है। कामसेवन के लिए

प्राकृतिक जो अंग हैं, उनके सिवा शेष सब अंग, काम सेवन के लिए, अनङ्ग हैं। जो अङ्ग, काम-सेवन के लिए अनङ्ग हैं, उनसे काम-क्रीडा करना, अनङ्ग-क्रीडा कहलाती है। जैसे-गुदामैथुन, हस्त-मैथुन, मुखमैथुन, कर्णमैथुन, आदि। इन सब मैथुनों की विशेष व्याख्या, अश्लीलता से भरी हुई है, इसलिए विशेष व्याख्या न करके इतना ही कहा जाता है, कि स्व-स्त्री से भी ऐसा मैथुन करने से, व्रत में दूषण लगता है। इसलिए व्रत-धारी को इस अतिचार से बचना चाहिए।

तीसरा अतिचार

चौथा अतिचार, पर-विवाह करण है। आनन्द श्रावक की तरह अपनी स्त्री का नाम लेकर स्वदार सन्तोषव्रत स्वीकार करनेवाला, केवल अपनी उसी स्त्री पर सन्तोष करने की प्रतिज्ञा करता है, जो प्रतिज्ञा करने के समय मौजूद है और जिसके साथ देश और समाज प्रचलित रीति से, विवाह हो चुका है। ऐसा होने पर भी, कई लोग यह गुञ्जायश निकालने लगते हैं, कि हमने स्व-स्त्री सन्तोषव्रत लिया है, इसलिए यदि किसी अविवाहित-स्त्री से विवाह करके उसे अपनी ही बनालें, तो कोई हर्ज नहीं। ऐसा करने से, हमारे व्रत में दूषण न लगेगा। वास्तव में ऐसा करना प्रतिज्ञा-विरुद्ध है। जबतक यह कार्य अतिचार की सीमा तक है, तबतक तो व्रत में दूषण ही लगता है, लेकिन अनाचार के रूप में होने पर, व्रत नष्ट हो जाता है। यह बात दूसरी है, कि कोई अपनी इच्छानुसार व्रत ले, लेकिन आनन्द की तरह स्वदार-सन्तोषव्रत लेने पर, पुनः विवाह करने का अधिकार नहीं रहता। इस व्याख्या

चौथा अतिचार

के विपय में आचार्य हरिभद्रसूरिजी कृत 'धर्मबिन्दु' प्रमाण है।

इस अतिचार का एक अर्थ, दूसरे का विवाह करना-कराना भी है। बहुत से लोग धर्म या पुण्य समझकर, दूसरे लोगों का विवाह करने-कराने लगते हैं, लेकिन व्रतधारी के लिए, ऐसा करना निषिद्ध है। ऐसा करने से, उसका व्रत दूपित होता है।

पाँचवाँ अतिचार

पाँचवाँ अतिचार, काम भोग की तीव्र अभिलाषा है। स्वदार-सन्तोषव्रत, काम-भोग की अभिलाषा को, मन्द करने के लिए ही लिया जाता है और इसीलिए इसके नाम में 'सन्तोष' शब्द लगा हुआ है। ऐसा होते हुए भी कई लोग, काम-भोग की अभिलाषा को तीव्र करने की चेष्टा करते हैं, यानी बाजीकरण आदि औषधि का सेवन करते हैं, या कामोद्दीपन की चेष्टा करते हैं और समझते हैं, कि इसमें हमारे व्रत को कोई हानि नहीं पहुँचती। लेकिन ऐसा करने से स्वदार के सेवन में सन्तोष नहीं रहता, किन्तु असन्तोष बढ़ जाता है। इसलिए व्रतधारी को, काम-भोग की अभिलाषा तीव्र करने का उपाय न करना चाहिए। ऐसा करने से व्रत में अतिचार होता है और व्रत दूपित हो जाता है।

इन अतिचारों को जानकर, इनसे बचना, देशविरति ब्रह्मचारी के लिए आवश्यक है। *

---

* इन अतिचारों का अर्थ करने में भिन्न भिन्न आचार्यों का भिन्न भिन्न मत है। कोशिश करने पर भी हम ऐसा सुअवसर प्राप्त न कर सके कि चर्चा द्वारा सब आचार्य इस विषय में एक मत हो जाते। अत व्याख्याता महोदय की टीकानुमोदित धारणानुसार यह अर्थ किया गया है। यदि भविष्य में कोई सर्वानुमोदित या उचित अर्थ प्राप्त हुआ, तो दूसरे संस्करण में परिशोधन कर दिया जावेगा। —सम्पादक।

उपसंहार ।

पूर्ण-ब्रह्मचर्य का अर्थ केवल शारीरिक संयम ही नहीं है, किन्तु सभी इन्द्रियों पर पूर्ण अधिकार और मन, वचन, काय करके काम भाव से सर्वथा मुक्ति है। पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन असंभव या अस्वाभाविक नहीं है, किन्तु सम्भव और स्वाभाविक है। यद्यपि पूर्ण ब्रह्मचर्य का सर्वांश में पालन तो गृहत्यागी साधु ही कर सकते हैं, लेकिन आंशिक रूप में गृहस्थ भी पाल सकता है और शरीर के साधारण विकास के लिए ब्रह्मचर्य का पालन करना आवश्यक है। इसके लिए दृढ़ता की आवश्यकता अवश्य है। जिसमें दृढ़ता नहीं है, जो इन्द्रियों के किंचित प्रकोप के सामने ही झुक जाता है, वह ब्रह्मचर्य का पालन नहीं कर सकता। क्योंकि, इन्द्रियों के सामने थोड़ा भी झुक जाने पर, इन्द्रियों का बल बढ़ता जाता है, वे अपना आधिपत्य जमाती जाती हैं, और फिर ब्रह्मचर्य से ही दूर नहीं फेंक देतीं, किन्तु दुराचार के गड्ढे में डाल देती हैं।

जिस प्रकार ब्रह्मचर्य स्वाभाविक है, उसी प्रकार, दुर्विषय-भोग अस्वाभाविक है, जिसकी इच्छा होना, प्राय बुरे तौर पर किये गये लालन-पालन का फल है। गाँधीजी के शब्दों में, 'माताएँ और दूसरे सम्बन्धी अबोध बच्चों को यह सिखलाना धार्मिक-कर्त्तव्य-सा मान बैठते हैं, कि इतनी उम्र होने पर तुम्हारा विवाह होगा। बच्चे के भोजन और कपड़े भी, बच्चे को उत्तेजित करते हैं। बच्चो को, सैकड़ों तरह की गर्म और उत्तेजक चीजें खाने को देते हैं, अपने अंध-प्रेम में, उनकी शक्ति की कोई पर्वा नहीं करते। इस प्रकार माता पिता स्वय विकारों के सागर में डूबकर, अपने लडकों के लिए बेलगाम स्वच्छन्दता के आदर्श बन जाते हैं।' गाधीजी का यह कथन, अधिकाश में ठीक है और इस प्रकार का पालन-पोषण ही विषयेच्छा उत्पन्न करने का कारण है।

दुर्विषय-भोग, उसी प्रकार अस्वाभाविक और ब्रह्मचर्य उसी प्रकार स्वाभाविक है, जिस प्रकार असत्य, अस्वाभाविक और सत्य, स्वाभाविक है। यदि किसी बालक के सामने, असत्य का वातावरण न आने दिया जावे, तो वह बालक 'असत्य' किसे कहते हैं, यह भी न जानेगा, न असत्य का उपयोग ही करेगा। ठीक इसी प्रकार, यदि किसी बालक के सामने दुर्विषय भोग सम्बन्धी कोई बात न की जावे, काम-भोग का कोई आचरण न किया जावे, तो सम्भवत उसमें उस प्रकार की दुर्विषयेच्छा उत्पन्न ही न होगी, जैसी कि इससे विपरीतावस्था में उत्पन्न हो सकती है। बच्चों के सामने, किसी कुकृत्य को यह समझकर करना, कि ये बच्चे क्या जानें, भूल है। बच्चो पर, प्रत्येक

अच्छी या बुरी बात का स्थायी प्रभाव पड़ता है। उनके हृदयरूपी कोरे चित्रपट पर, प्रत्येक बात इसप्रकार अंकित हो जाती है जो मिटाने से मिट नहीं सकती। वास्तव में, यह समझना ही भूल है, कि हमारे किसी कार्य को दूसरा नहीं देखता, या हमारे कार्य का अच्छा-बुरा प्रभाव, दूसरे पर नहीं पड़ सकता। गुप्त से गुप्त कार्य और विचारों का प्रभाव भी, इतना गहरा और इतनी दूर तक पड़ता है, कि जिसका अनुमान लगाना भी कठिन है।

यद्यपि, पूर्ण ब्रह्मचर्य के आदर्श तक सभी लोग नहीं पहुँच सकते, लेकिन प्रत्येक व्यक्ति के सामने इस आदर्श का होना आवश्यक है। जिसकी मानसिक आँखों के सामने यह आदर्श नहीं है, वह पतित से भी पतित हो जाता है। वह दुर्विषय-वासना की लगाम को, काबू में नहीं रख सकता, किन्तु उसका गुलाम हो जाता है।

पूर्ण ब्रह्मचर्य से मुक्त आदर्श, एक पत्नीव्रत और एक पतिव्रत है। जो लोग, पूर्ण ब्रह्मचर्य के आदर्श की ओर, सहसा गति करने में अपनेआप को असमर्थ देखते हैं—मार्ग में पतित होने का भय है—उनके लिए, यह दूसरा नीचे से नीचा आदर्श है। यह आदर्श, कमजोर लोगों के लिए पूर्ण ब्रह्मचर्य तक पहुँचने के मार्ग में—एक विश्रान्तिस्थल है। इससे नीचा कोई आदर्श नहीं है, न इससे नीची अवस्थावाला, ब्रह्मचर्य के मार्ग का पथिक ही माना जा सकता है।

विवाह, दुर्विषयेच्छा मिटाने की दवा है, न कि दुर्विषयेच्छा की तृप्ति का साधन। दुर्विषयेच्छा की तृप्ति तो कभी हो ही नहीं

सक्ती । उसकी तृप्ति के लिए, जैसे-जैसे उपाय किया जावेगा, वह वैसे ही वैसे बढ़ती जावेगी । दुर्विपयेच्छा-पूर्त्ति की प्रत्येक चेष्टा, दुर्विपयों का अधिकाधिक गुलाम बनाती है ।

विशेषत विवाह करने का कारण, सन्तानोत्पत्ति की अभिलाषा है, अत इस अभिलाषा के पूरी हो जाने पर, दुर्विपय-भोग का त्याग कर देना ही उचित है । इसीप्रकार बढती हुई सन्तान को रोकने के लिए भी, मैथुन का ही त्याग करना चाहिए, कृत्रिम उपायों का अवलम्बन लेना ठीक नहीं । सन्तति-निरोध के कृत्रिम उपाय, अनीति और पापाचार को बढाने वाले तथा स्वास्थ्य की दृष्टि से भी हानि-प्रद है ।

देशविरति-ब्रह्मचर्य-व्रत की रक्षा के लिए, स्त्री को पुरुष की और पुरुष को स्त्री की सहायता करना, उचित एव आवश्यक है । यदि किसी समय पुरुष में व्रत या उसकी मर्यादा भग करने की बुरी इच्छा हो, तो पत्नी का कर्त्तव्य है, कि वह प्रत्येक सम्भव उपाय से, अपने पति को ऐसा करने से बचावे । इसीप्रकार, यदि किसी समय स्त्री में ऐसी कुभावना हो, तो पति का भी यही कर्त्तव्य है । इसप्रकार एक दूसरे की सहायता एव एक दूसरे को सावधान करते रहने से, पति-पत्नी दोनो का व्रत निर्मल पलेगा और कभी न कभी पूर्ण ब्रह्मचर्य के आदर्श तक पहुँच कर अपना कल्याण कर सकेंगे ।

उपदेश को मत भूलिये।

इस मण्डल द्वारा प्राप्य पुस्तके। -

अहिंसा व्रत ।)
सकडाल पुत्र =)
धर्म व्याख्या =)
सत्यव्रत ≡)
हरिश्चन्द्र तारा ॥)
अस्तेयव्रत =)
सुबाहुकुमार =)
ब्रह्मचर्य व्रत =)
वैधव्य दीक्षा –)

सद्धर्म मण्डन २॥)
अनुकम्पा विचार ॥)
पूज्य श्री श्रीलालजी मं०
का जीवन चरित्र ॥)
शालिभद्र चरित्र ।≡)
मिल के वस्त्र –)
मातृ-पितृ सेवा –)
गज सुकुमार मुनि –)॥

डाक खर्च अलग है।

मगाने का पता—

सेक्रटरी

जैन-हितेच्छु श्रावक-मण्डल, तला

दैवी-सम्पद्

सेठ श्री रामगोपाल मोहता

सस्ता-साहित्य-मण्डल

साठवाँ ग्रन्थ

दैवी-संपद्

"दैवीसपद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता"

—गीता

लेखक

बीकानेर निवासी

सेठ श्री रामगोपाल मोहता

निवेदन

प्रस्तुत पुस्तक के लेखक श्री रामगोपाल मोहता राजस्थान के एक प्रसिद्ध विद्वान् विचारक तथा समाज सुधारक हैं। आपका आध्यात्मिक विषयों में सराहनीय प्रवेश है। "दैवीसम्पद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता" गीता के इस प्रसिद्ध श्लोक को विवेचन का आधार मान कर आपने भगवद्गीता के व्यवहार दर्शन की व्याख्या की है। इसका प्रथम संस्करण 'चाँद' कार्यालय से प्रकाशित हुआ था। इसकी अच्छी माँग होने से यह सरी बार छपकर तैयार है। इस बार इसे प्रकाशित करने का सुअवसर मोहताजी की कृपा से हमें मिला है इसके लिए हम उन्हें किन शब्दों में धन्यवाद दें?

मोहताजी की प्रेरणा —सहायता से हम इस पुस्तक का मूल्य हमारे यहाँ की अन्य पुस्तकों की अपेक्षा कम रख रहे हैं। हम इसके लिए मोहताजी के प्रति कृतज्ञता प्रदर्शित करते हैं।

एक बात का हमें खेद है कि पुस्तक में प्रूफ संशोधन की ऐसी भूलें रह गई हैं जो हम जैसे पुस्तक प्रकाशक के लिए शोभाप्रद नहीं हैं। लेकिन जो परिस्थितियाँ यहाँ थीं उनका आपको दिग्दर्शन कराने से तो गलतियाँ दूर हो नहीं जावेंगी। इतना ही आप समझलें कि परिस्थितियों की प्रतिकूलता के कारण ही ये भूलें रहने पाई हैं। लेकिन वे भूलें भूलें ही हैं—उनके लिए हम जिम्मेदार हैं। उसके लिए हम शरमिंदा हैं। जो भूलें रही हैं उनका शुद्धि पत्र अन्त में दिया गया है। पढ़ने के पहले पाठकों से प्रार्थना है कि वह कृपा करके पहले उन्हें सुधार लें। आगे से हम ऐसा प्रबन्ध कर रहे हैं कि पाठकों को इस सम्बन्ध में शिकायत करने का मौका न हो। —मन्त्री

प्रस्तावना

तन्त्रता के लिए आजकल सभ्य जगत में प्रायः सर्वत्र ही असाधारण संघर्ष एवं विप्लव मच रहा है। अनेक प्रकार के धार्मिक, राजनैतिक, सामाजिक एवं आर्थिक बन्धनों से लोग इतने तङ्ग आ गए हैं कि उनसे छुटकारा पाने के लिए बड़े ही आतुर प्रतीत होते हैं। कहीं पर धार्मिक अन्ध-विश्वासों और धर्म गुरुओं के पाश से छुटकारा पाने के लिए विप्लव मचा हुआ है और खून-खराबियाँ होती हैं; कहीं राजनैतिक गुलामी की शृंखलाओं को तोड़ फेंकने के लिए अनन्त प्रकार के कष्ट उठाए जा रहे हैं और असंख्य प्राणों की आहुतियाँ दी जाती हैं, कहीं सामाजिक बन्धनों से मुक्ति पाने के लिए संघर्ष की आग धधक रही है और कहीं आर्थिक दासता दूर करने के लिए परस्पर में घोर संग्राम हो रहा है। इतना सब कुछ होने पर भी सच्ची स्वतन्त्रता अब तक कहीं भी दृष्टिगोचर नहीं होती। यदि कोई जाति अथवा कोई देश किसी विशेष प्रकार के बन्धन से छुटकारा पाता है तो साथ-ही-साथ, उसी समय अन्य किसी प्रकार के बन्धन से बँध जाता है, क्योंकि सच्ची स्वतन्त्रता का वास्तविक रहस्य जाने बिना उसके लिए यथोचित उपाय नहीं किया जाता। बात यह है कि किसी खास विषय में अस्थाई भौतिक स्वतन्त्रता प्राप्त कर लेना मात्र ही सच्ची स्वतन्त्रता नहीं है। परन्तु इतना अवश्य है कि जिन लोगों में स्वतन्त्रता के भाव

जाग्रत हो जाते हैं, उनमें दासता की मनोवृत्ति कम हो जाती है, फल
पराधीनता के बन्धन ढीले पड़ जाते हैं।

अन्य देशवासियों की तरह भारतवासियों में भी स्वतन्त्रता के लि
कुछ आतुरता उत्पन्न हुई है परन्तु यह आतुरता अबतक केवल राजनैति
स्वतन्त्रता तक ही परिमित है। जिन कारणों से यहाँ के लोग राजनैति
परतन्त्रता में फँसे तथा जिन कारणों से वह अब तक बनी हुई है अर्था
जो—अनैक्य उत्पन्न करने वाले—बढ़े हुए धार्मिक अन्ध विश्वास, सामा
जिक बन्धन और आर्थिक परावलम्बन, राजनैतिक परतन्त्रता के कारण है
उनको दूर करने का समुचित उपाय अब तक कुछ भी नहीं किया ज
रहा है; अतः भारतवासी सब प्रकार के बन्धनों की बेड़ियों में ज्यों-के
मज़बूती से जकड़े हुए हैं। क्या आर्थिक, क्या सामाजिक, क्या धार्मि
और क्या राजनैतिक—किसी भी तरफ दृष्टि डालें—भारतवर्ष में सब
पराधीनता ही-पराधीनता का साम्राज्य दृष्टिगोचर होता है।

जीवन निर्वाह के लिए अर्थोपार्जन करने में यहाँ के लोगों में स्वा
लम्बन का प्रायः अभाव है। मजदूरी, नौकरी, व्यवसाय आदि अर्थोपार्ज
के जितने साधन हैं, उनके लिए हम लोग दूसरों पर निर्भर हैं—अपने
आप कुछ भी नहीं कर सकते। यदि किसी व्यक्ति पर निर्भर न भी रहें
तो प्रारब्ध, ग्रह-नक्षत्र, भूत-प्रेत, देवी देवता एवं पीर पैगम्बर आदि
आश्रय अवश्य ऐसे हैं और इन सब से बढ़कर ईश्वर पर अपना सा
बोझ लाद कर पूरे परावलम्बी बने रहते हैं।

सामाजिक व्यवहारों में, सामाजिक मर्यादाओं की प्राचीन पुस्त
(धर्मशास्त्रों) और प्रचलित रूढ़ियों के गुलाम बने हुए हैं। किसी
सामाजिक व्यवहार में, इन पुस्तकों की मर्यादाओं और रूढ़ियों से विरो
का भ्रम हुआ कि "हम दीन दुनिया से गए" ऐसा भय रहता है औ
समाज के नेताओं, पञ्चों और जाति भाइयों के बहिष्कार के आतङ्क से द
दबे रहते हैं।

अपनी आत्मिक उन्नति के लिए हम लोग धर्म और ईश्वर के ठेकेदार—आचार्यों और धर्म गुरुओं के सर्वथा अधीन रहते हैं, जिससे हमारे आत्म बल का नितान्त ही ह्रास हो गया है। चोटी से लेकर एड़ी तक उन लोगों के गिरवी रखे हुए हैं यानी उनके कब्जे में हैं। हमारा कोई व्यवहार ऐसा नहीं, जो उनकी स्वीकृति के बिना स्वतन्त्रता पूर्वक हम लोग कर सकें। अपना पारलौकिक कल्याण भी हम उन्हीं की दया पर निर्भर मानते हैं। उनकी कृपा के बिना हम अपने परमात्मा की प्राप्ति भी नहीं कर सकते।

इस तरह की पराधीनता की मनोवृत्ति राजनैतिक स्वतन्त्रता कैसे क़ायम रख सकती थी? अस्तु, जिन लोगों की मनोवृत्ति स्वाधीनता को अपनाए हुए थी अर्थात् जिनके बन्धन हम से कम और ढीले थे, उन्होंने हमारी राजनैतिक स्वतन्त्रता छीनकर इस क्षेत्र में भी हमें पूरा पराधीन बना दिया। इस समय हम लोग स्वय अपने स्वत्वो की रक्षा करने में नितान्त ही असमर्थ हैं—यहाँ तक कि छोटी-से छोटी बात के लिए भी हर तरह से विदेशी और विधर्मी लोगो की दया के भिखारी हैं। पराव लम्बन के भाव हम में यहाँ तक बढ़े हुए हैं कि अपनी भलाई के लिए तो दूसरो पर निर्भर रहते ही हैं, किन्तु अपनी बुराइयो के दोष भी दूसरो पर ही मढ़ते हैं। सारांश यह कि अपने लिए अच्छा या बुरा कुछ भी स्वतन्त्रता पूर्वक करने के लिए हम लोग अपने आपको योग्य नहीं समझते।

अब देखना चाहिए कि हमारी इतनी पराधीनता का मूल-कारण क्या है? कई लोग हमारे जाति-पाँति के भेद-भाव, कई नाना-पन्थ और नाना सम्प्रदायो के झगड़े; कई वर्ण आश्रम की मर्यादाओं का नष्ट हो जाना; कई ब्राह्मण-जाति के अत्याचार, कई धार्मिक अन्धविश्वास, कई स्त्रियो एव अन्त्यजों की पद दलित अवस्था; कइ आपस की अनेकता, कई बाल विवा हादि सामाजिक कुप्रथाओं के कारण बल-वीर्य का ह्रास होना और कई कलियुग का आगमन आदि—अनेक कारण हमारी पराधीनता के बताते हैं, परन्तु गहरा विचार करने से इसका एकमात्र कारण यही निश्चय होता

है कि हम लोगों ने "दैवी सम्पद्"—अर्थात् अखिल विश्व में सर्व एकात्म-भाव के निश्चयपूर्वक सबके साथ एकता के प्रेमयुक्त व्यवहार करना—छोड़कर, "आसुरी सम्पद्" को अपना लिया अर्थात् हम सब अपने पृथक्-पृथक् व्यक्तित्व के अहङ्कार और पृथक् पृथक् व्यक्तिगत स्वार्थों की आसक्ति करली। यही हमारे पतन के अनेक कारणों का एक मूल कारण है। इसी से अन्य सब बुराइयाँ उत्पन्न हुई हैं और जब तक इस मूल कारण का समुचित उपाय नहीं किया जायगा, तब तक हमारी पराधीनताओं एव दु खों का कभी अन्त नहीं होगा—यदि एक मिटेगी तो दूसरी उत्पन्न हो जायगी। जब तक रोग का मूल कारण नहीं मिटता तब तक एक उपद्रव शान्त होता है तो दूसरा उठता रहता है। एकाङ्गी उपायों से वास्तविक रोग की निवृत्ति कभी नहीं होती।

इस पुस्तक के टाइटिल पेज पर जो गीता का श्लोक है, उसका आशय यह है कि "दैवी सम्पद" मोक्ष अर्थात् स्वाधीनता का कारण है और "आसुरी" बन्धन अर्थात् पराधीनता का। उक्त भगवद्वाक्य के अनुसार, पराधीनता से पीछा छुड़ा कर स्वाधीन होने के लिए "आसुरी सम्पद्" छोड़कर "दैवी सम्पद्" धारण करना एकमात्र उपाय है और इसी का निरूपण करना इस पुस्तकका उद्देश्य है।

इस स्थान पर यह खुलासा कर देना आवश्यक है कि यहाँ "मोक्ष" शब्द का प्रयोग, मरने के बाद पापों से छूट कर "मुक्ति" प्राप्त करने मात्र के सङ्कुचित अर्थ में नहीं हुआ है, किन्तु इहलौकिक और पारलौकिक सब प्रकार के बन्धनों से—चाहे वे आर्थिक हों या सामाजिक, धार्मिक हों या राजनैतिक और चाहे वे अपने अच्छे-बुरे कर्मों के फल-स्वरूप हों या दूसरों के—यहीं पर छुटकारा पाने अर्थात् पूरे स्वाधीन एव जीवन-मुक्त होने के अर्थ में इसका प्रयोग हुआ है। अतः इस पुस्तक में मोक्ष, मुक्ति, स्वतन्त्रता, स्वाधीनता अथवा छुटकारा आदि शब्द जहाँ आए हैं, वहाँ उनका यही व्यापक अर्थ समझना चाहिए।

है कि हम लोगों ने "दैवी सम्पद्"—अर्थात् अखिल विश्व में सर्वत्र एकात्म-भाव के निश्चयपूर्वक सबके साथ एकता के प्रेमयुक्त व्यवहार करना—छोड़कर, "आसुरी सम्पद्" को अपना लिया अर्थात् हम सबने अपने पृथक्-पृथक् व्यक्तित्व के अहङ्कार और पृथक्-पृथक् व्यक्तिगत स्वार्थ में ही आसक्ति करली। यही हमारे पतन के अनेक कारणों का एक मूल कारण है। इसी से अन्य सब बुराइयाँ उत्पन्न हुई हैं और जब तक इस मूल कारण का समुचित उपाय नहीं किया जायगा, तब तक हमारी पराधीनताओं एवं दु खों का कभी अन्त नहीं होगा—यदि एक मिटेगी तो दूसरी उत्पन्न हो जायगी। जब तक रोग का मूल कारण नहीं मिटता तब तक एक उपद्रव शान्त होता है तो दूसरा उठता रहता है। एकाङ्गी उपायों से वास्तविक रोग की निवृत्ति कभी नहीं होती।

इस पुस्तक के टाइटिल पेज पर जो गीता का श्लोक है, उसका आशय यह है कि "दैवी सम्पद" मोक्ष अर्थात् स्वाधीनता का कारण है और "आसुरी" बन्धन अर्थात् पराधीनता का। उक्त भगवद्वाक्य के अनुसार, पराधीनता से पीछा छुड़ा कर स्वाधीन होने के लिए "आसुरी सम्पद्" छोड़कर "दैवी सम्पद्" धारण करना एकमात्र उपाय है और इसी का निरूपण करना इस पुस्तकका उद्देश्य है।

इस स्थान पर यह खुलासा कर देना आवश्यक है कि यहाँ "मोक्ष" शब्द का प्रयोग, मरने के बाद पापों से छुट कर "मुक्ति" प्राप्त करने मात्र के संकुचित अर्थ में नहीं हुआ है, किन्तु इहलौकिक और पारलौकिक सब प्रकार के बन्धनों से—चाहे वे आर्थिक हों या सामाजिक, धार्मिक हों या राजनैतिक और चाहे वे अपने अच्छे-बुरे कर्मों के फल-स्वरूप हों या दूसरों के—यहीं पर छुटकारा पाने अर्थात् पूरे स्वाधीन एवं जीवन मुक्त होने के अर्थ में इसका प्रयोग हुआ है। अतः इस पुस्तक में मोक्ष, मुक्ति, स्वतन्त्रता, स्वाधीनता अथवा छुटकारा आदि शब्द जहाँ आए हैं, वहाँ उनका यही व्यापक अर्थ समझना चाहिए।

है कि हम लोगों ने "दैवी सम्पद्"—अर्थात् अखिल विश्व में सर्वत्र एकात्म-भाव के निश्चयपूर्वक सबके साथ एकता के प्रेमयुक्त व्यवहार करना—छोड़कर, "आसुरी सम्पद्" को अपना लिया अर्थात् हम सबने अपने पृथक्-पृथक् व्यक्तित्व के अहङ्कार और पृथक्-पृथक् व्यक्तिगत स्वार्थ में ही आसक्ति करली। यही हमारे पतन के अनेक कारणों का एक मूल कारण है। इसी से अन्य सब बुराइयाँ उत्पन्न हुई हैं और जब तक इस मूल कारण का समुचित उपाय नहीं किया जायगा, तब तक हमारी पराधीनताओं एवं दु:खों का कभी अन्त नहीं होगा—यदि एक मिटेगी तो दूसरी उत्पन्न हो जायगी। जब तक रोग का मूल कारण नहीं मिटता तब तक एक उपद्रव शान्त होता है तो दूसरा उठता रहता है। एकाङ्गी उपायों से वास्तविक रोग की निवृत्ति कभी नहीं होती।

इस पुस्तक के टाइटिल पेज पर जो गीता का श्लोक है, उसका आशय यह है कि "दैवी सम्पद" मोक्ष अर्थात् स्वाधीनता का कारण है और "आसुरी" बन्धन अर्थात् पराधीनता का। उक्त भगवद्वाक्य के अनुसार, पराधीनता से पीछा छुड़ा कर स्वाधीन होने के लिए "आसुरी सम्पद्" छोड़कर "दैवी सम्पद्" धारण करना एकमात्र उपाय है और इसी का निरूपण करना इस पुस्तकका उद्देश्य है।

इस स्थान पर यह खुलासा कर देना आवश्यक है कि यहाँ "मोक्ष" शब्द का प्रयोग, मरने के बाद पापों से छूट कर "मुक्ति" प्राप्त करने मात्र के सङ्कुचित अर्थ में नहीं हुआ है, किन्तु इहलौकिक और पारलौकिक सब प्रकार के बन्धनों से—चाहे वे आर्थिक हों या सामाजिक, धार्मिक हों या राजनैतिक और चाहे वे अपने अच्छे-बुरे कर्मों के फल-स्वरूप हों या दूसरों के—यहीं पर छुटकारा पाने अर्थात् पूरे स्वाधीन एवं जीवन-मुक्त होने के अर्थ में इसका प्रयोग हुआ है। अतः इस पुस्तक में मोक्ष, मुक्ति, स्वतन्त्रता, स्वाधीनता अथवा छुटकारा आदि शब्द जहाँ आए हैं, वहाँ उनका यही व्यापक अर्थ समझना चाहिए।

जहाँ अन्य देशों के लोग उक्त सच्ची स्वतन्त्रता (जीवन मुक्ति) के असली रहस्य एवं उसकी प्राप्ति के वास्तविक उपाय जानने के अनुसन्धान में बड़े-बड़े दिमाग लड़ा रहे हैं, वहाँ हम लोगों के पूर्वज उस अनुपम ज्ञान निधि को सबके हित के लिए "वेदान्त दर्शन" रूप अक्षय भण्डार में भर गए हैं और श्रीमद्भगवद्गीता एवं योगवासिष्ठ में उसका खूब अच्छी तरह खुलासा कर गए हैं। योगवासिष्ठ में प्रायः श्रीमद्भगवद्गीता के सिद्धान्तों ही की बहुत विस्तार से व्याख्या की गई है, परन्तु वह ग्रन्थ बहुत बड़ा हो जाने से सर्वसाधारण के उपयोग में कम आता है। श्रीमद्भगवद्गीता में श्री भगवान् ने लोगों के उद्धार के लिए केवल सात सौ श्लोकों ही में उक्त ज्ञान भण्डार का बड़ी ही उत्तम एवं अद्भुत रीति से समावेश करके गागर में सागर भर दिया है और वह भी ऐसी सरल भाषा में कि उसको एक साधारण व्यक्ति भी सुगमता से समझ सकता है।

श्रीमद्भगवद्गीता का मैं विशेष रूप से अध्ययन और मनन करता हूँ और इस अद्भुत शास्त्र पर जितना ही अधिक विचार करता हूँ, उतनी ही श्रद्धा इस पर बढ़ती जाती है। यही कारण है कि इस पुस्तक में मैंने श्रीमद्भगवद्गीता के प्रमाण स्थान-स्थान पर दिए हैं। कई लोगों को उक्त सात सौ श्लोकों की श्रीमद्भगवद्गीता, श्रीकृष्ण महाराज की रची हुई होने में सन्देह है। इस विषय में इतना ही कह देना पर्याप्त है कि श्रीमद्भगवद्गीता चाहे भगवान श्रीकृष्ण महाराज की कथी हुई हो या किसी अन्य महात्मा की, परन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि इसके वक्ता को आत्मा-परमात्मा की एकता का प्रत्यक्ष अनुभव था अर्थात् अखिल विश्व को वह अपने में और अपने को सब में देखता था और उसने समष्टि अहङ्कार यानी साम्य भाव की स्थिति में इस अलौकिक ग्रन्थ की रचना की थी। समष्टि अहंभाव सम्पन्न महान आत्मा वस्तुतः परमात्मा ही होता है, अतः उक्त अवस्था में दिया हुआ यह भगवदुपदेश सार्वभौम

एव सार्वजनिक "राज विद्या" है अर्थात् जाति भेद, वर्ण-भेद, आश्रम-भेद, धर्म-भेद, सम्प्रदाय-भेद, देश-भेद, काल-भेद आदि किसी भी प्रकार के भेद बिना, यह सब श्रेणी के लोगों के लिए एक समान हितकर अर्थात् सब प्रकार के बन्धनों से छुड़ाने वाला है। इसलिए जहाँ इसके श्लोकों के प्रमाण दिए हैं, वहाँ उनके अर्थ का सुलासा ऐसे व्यावहारिक ढङ्ग से करने का प्रयत्न किया गया है कि जन साधारण उनको सुगमता से समझ कर अपने अपने रात दिन के व्यवहारों में उनका उपयोग कर सकें अर्थात् व्यवहारिक रूप से उन पर अमल कर सकें तथा उक्त भगवदुपदेशानुसार अपने अपने आचरण यथाशक्य सात्विक बनाते हुए सब प्रकार के बन्धनों से मुक्त होने अर्थात् सच्ची स्वतन्त्रता प्राप्त करने के उद्योग में अग्रसर हो सकें। किसी भी उपदेश के अनुसार यदि व्यवहार न किया जाय, तो केवल पढ़ने-सुनने और समझ लेने मात्र से उसका वास्तविक लाभ नहीं होता। पाठक महोदयों से विनम्र प्रार्थना है कि मेरे इस निवेदन को ध्यान में रखते हुए इस पुस्तक को पढ़ें और इसमें जो त्रुटियाँ हों, उनकी मुझे सूचना देने की कृपा करें।

निवेदक,
रामगोपाल मोहता

प्रथम प्रकरण

दैवी सम्पद्

प्रथम प्रकरण

परतन्त्रता और स्वतन्त्रता अर्थात् बन्धन और मोक्ष

स्वतन्त्रता अर्थात् मोक्ष के लिए बेचैनी का कारण

यह कैसी विचित्र बात है कि यद्यपि संसार में सभी देहधारी, किसी न किसी रूप में, परतन्त्र अर्थात् भाँति-भाँति के बन्धनों से बँधे हुए हैं—सर्वथा स्वतन्त्र कोई भी नहीं है—फिर भी प्रत्येक प्राणी स्वतन्त्रता के लिए निरन्तर छटपटाता रहता है और स्वतन्त्रता सब को एक समान प्यारी है। बालक, अपने पूर्वजों के अधीन, स्त्री, पुरुष के अधीन, सेवक, स्वामी के अधीन; प्रजा, राजा के अधीन; राजा, मर्यादाओं के अधीन, छोटे, बड़ों के अधीन, व्यक्ति समाज के अधीन एवं व्यष्टि, समष्टि के अधीन रहते हैं। आस्तिक लोग अपने को ईश्वर के अधीन मानते

हैं और जीवमात्र काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि के अधीन एवं कर्मों के पाश से सदा बँधे हुए रहते हैं। चराचर सृष्टि एक दूसरे पर निर्भर है एवं ब्रह्माण्ड में जितने पदार्थ हैं वे एक दूसरे के प्रेम और आकर्षण से बँधे हुए हैं। तात्पर्य यह कि जब सारे ब्रह्माण्ड में बन्धन रहित पदार्थ कोई है ही नहीं तो फिर यह स्वतन्त्रता, स्वाधीनता या मुक्ति का भाव आया कहाँ से? इसका कोई न कोई कारण अवश्य होना चाहिए? वेदान्त कहता है कि इसका कारण सबके भीतर है; अर्थात् जो सब का असली अपना आप है यानी जो एक आत्म-तत्त्व सब में एकसार भरा हुआ है, वह सदा स्वतन्त्र और निर्बन्ध है; अतः स्वतन्त्रता—अपना असली स्वभाव होने से—सबको अत्यन्त प्यारी है और इसलिए इसके वास्ते इतनी बेचैनी है।

अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः ।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते ॥

—गी० अ० १३-३१

यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते ।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते ॥

—गी० अ० १३-३२

अर्थ—हे अर्जुन! अनादि और निर्गुण होने से यह (प्रत्यक्ष उपस्थित) अव्यय (सदा एकरस रहने वाला) परम आत्मा (द्वैत भाव से परे, अनेकों में एक, सर्वव्यापक, सूक्ष्म आत्म-तत्त्व) शरीरों में रहता हुआ भी कुछ नहीं करता और न उसे किसी प्रकार का लेप अर्थात् बन्धन ही होता है।

जैसे अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण, आकाश प्रत्येक पदार्थ के अन्दर और बाहर ओत प्रोत भरा हुआ भी किसी से लिप्त नहीं होता उसी प्रकार प्रत्येक शरीर में सूक्ष्म-रूप से सर्वत्र रहता हुआ आत्मा भी लिप्त (बद्ध) नहीं होता।

एकता सत् अतः मोक्ष है और अनेकता असत् अतः बन्धन है

तात्पर्य यह है कि अनेकों में जो एक है अर्थात् नानात्व में जो एकत्व है वह सत् है और उसमें किसी प्रकार का बन्धन नहीं है और पृथक्ता असत् है और इसीसे सब बन्धन होते हैं। सारांश यह कि एकता ही मोक्ष और पृथकता ही बन्धन है। जहाँ एक से दो होते हैं वहीं पराधीनता अथवा बन्धन को अवकाश रहता है, परन्तु जहाँ एक के सिवाय अन्य कोई पदार्थ है ही नहीं, वहाँ कौन किसके अधीन रहे और कौन किसको बाँधे। वेदान्त कहता है कि वास्तव में एक के सिवाय दूसरा कुछ है नहीं। जगत् में जो इतनी अनेकता प्रतीत होती है वह एक ही आत्मा के अनेक नाम और अनेक रूपों का बनाव है, उससे भिन्न कुछ नहीं है। और इस नाम रूपात्मक जगत् के जो अनन्त दृश्य हैं वे प्रति क्षण बदलते रहते हैं, इस लिए वे सब असत् हैं, क्योंकि जो पदार्थ स्थायी नहीं रहता वह सत् नहीं हो सकता—उस पर भरोसा नहीं किया जा सकता। जिस तरह जो व्यक्ति अपनी बात पर स्थिर नहीं रहता, क्षण क्षण में पलटता रहता है वह झूठा कहा जाता है, उसकी बात पर कोई विश्वास नहीं करता—यदि कोई उसे सच्चा मान कर विश्वास करे तो धोखा खाता है—इसी तरह प्रतिक्षण बदलने वाली जगत् की अनेकता को जो सत् मानकर संसार के व्यवहार करते हैं वे धोखा खाते हैं, अपने लिए बन्धन उत्पन्न करते हैं और दुःख उठाते हैं। परन्तु जगत् का असली तत्त्व जो एकत्व भाव है वह अपरिवर्तनशील होने से सदा इकसार बना रहता है इसलिए वह सत् है और इस एकता रूपी सत् के आधार पर व्यवहार करने वाले को कोई बन्धन नहीं होता, किन्तु वह सदा स्वतन्त्र एवं सबका स्वामी होता है। केवल आध्यात्मिक दृष्टि से नहीं किन्तु आधिदैविक और आधिभौतिक दृष्टि से भी एकता सच्ची और अनेकता झूठी है, क्योंकि एक ही आत्मा की अनन्त दैवी

शक्तियाँ अपने सूक्ष्म-भाव में, (सूक्ष्म (आधिदैविक) जगत् रूप होकर रहती हैं। और यही सूक्ष्म शक्तियाँ जब घनीभूत होकर स्थूल भाव धारण करती हैं तो भौतिक—जगत् रूप बन जाती हैं; अत सब प्रकार से एकत्व ही सचा है। जैसे जल-तत्व सूक्ष्म अवस्था में भाफ-रूप होता है, तरल अवस्था में पानी रूप रहता है और जब स्थूल रूप धारण करता है तो वह बर्फ बन जाता है; परन्तु सब अवस्थाओं में है वह एक जल तत्व ही, जल से भिन्न कुछ नहीं है, इसी तरह सूक्ष्म आधिदैविक और स्थूल आधिभौतिक जगत् सब एक आत्मा ही के अनेक रूप हैं। इसमें जो भिन्नता प्रतीत होती है वह कल्पित माया है, जो प्रति क्षण बदलती रहती है। अत सब अनेकता झूठी है तो इससे उत्पन्न होने वाले बन्धन अर्थात् पराधीनता भी वस्तुत झूठी है और एकता सच्ची होने से इसका स्वाभाविक गुण स्वतन्त्रता भी सच्ची है इसलिए अनेकता के भ्रम से जो बन्धन प्रतीत होते हैं वे झूठे और अस्वाभाविक होने के कारण सबको अप्रिय एवं दुःखदायक प्रतीत होते हैं और एकता-रूपी स्वाधीनता अथवा मुक्ति सच्ची और स्वाभाविक होने से सबको प्रिय एवं सुखदायक प्रतीत होती है। इसीलिए अनेकता के बन्धनों से छुटकारा पाने और एकता रूपी मुक्ति प्राप्त करने के लिए सब कोई बेचैन रहते हैं।

एकता रूपी दैवी सम्पद् को त्याग कर लोगों ने स्वयं अपने लिए बन्धन उत्पन्न कर लिए

परन्तु लोगों ने अपनी ही मूर्खता से अपनी—वास्तविक एकतारूपी—स्वाभाविक स्वतन्त्रता अथवा सर्वभूतात्मैक्य साम्यभाव की दैवी प्रकृति को भुला दिया और जगत् के नाना रूप अर्थात् अनेक नाम और अनेक रूपों के पसार को सच्चा और अपने आप को दूसरों से पृथक् मानकर भौतिक शरीरों में अपने व्यक्तित्व का अहङ्कार कर लिया एवं दूसरों से अपने पृथक् व्यक्तिगत स्वार्थ कल्पित करके उनमें आसक्ति के बन्धन उत्पन्न कर लिए क्योंकि जब अपना

व्यक्तिगत स्वार्थों के उपयोगी भौतिक पदार्थों में राग अर्थात् प्रीति की तो शेष पदार्थों से द्वेष स्वत हो गया, क्योंकि क्रिया की प्रतिक्रिया अवश्य होती है; अत जब राग रूपी क्रिया हुई तो द्वेष-रूपी प्रतिक्रिया साथ ही उत्पन्न होना अनिवार्य था। परिणाम यह हुआ कि पृथकता के मिथ्या ज्ञान के कारण राग और द्वेष के आसुरी भावों में अपने आपको इस छोटी सी देह और उसके स्वार्थों में सीमा-बद्ध (कैद) करके राग द्वेष से अपने लिए अनेक प्रकार के बन्धन उत्पन्न कर लिये।

> इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्व मोहेन भारत ।
> सर्वभूतानि संमोहं सर्गे यान्ति परतप ॥

—गी० अ० ७ २७

अर्थ—हे अर्जुन ! ससार में सब भूत प्राणी द्वैत भाव के मोह के कारण राग और द्वेष से (अपने लिए) बन्धन उत्पन्न कर रहे हैं।

भारत की पराधीनता का कारण अनेकता के आसुरी भाव।

भारतवर्ष में जब से यह एकता अर्थात् सर्वभूतात्मैक्य साम्य भाव का वेदान्त सिद्धान्त, प्रवृत्ति का विरोधी और निवृत्ति का प्रतिपादक माना जाकर केवल निवृत्ति में ही उसका उपयोग होने लगा—प्रवृत्ति में उसका कुछ भी प्रभाव न रहा—तब से इस देश में सब की एकता के ज्ञानयुक्त समत्व भाव से जगत् के व्यवहार करने की दैवी सम्पद् प्राय' लुप्त हो गई और अनेकता को सच्ची समझ कर सब लोग अपने को दूसरों से अलग मानने लगे एव प्रत्येक व्यक्ति दूसरों से अपने पृथक् व्यक्तित्व के अहङ्कार और दूसरों से पृथक् अपने व्यक्तिगत स्वार्थों में ही अत्यन्त आसक्त हो गया जिससे राग और द्वेष के आसुरी भावों ने सर्वत्र अपना साम्राज्य स्थापित कर लिया और आपस की विषमता के व्यवहारों की पराकाष्ठा हो गई। यही कारण है कि यह देश सब प्रकार से पराधीन और अवनत हो गया। इस पृथकता के अहङ्कार के कारण नाना मत, नाना धर्म,

स बनकर अपनी व्यक्तिगत स्वार्थसिद्धि के लिए उनकी खुशामद और
ाटुकारिता करना प्राय सब का स्वभाव-सा हो गया । प्रत्येक कार्य के
िए दूसरों पर—विशेष कर काल्पनिक अदृश्य शक्तियों पर—निर्भर रह
र परावलम्बी बने रहना श्रेष्ठ धर्म समझा जाने लगा । साराश
ह कि भारतवासियों ने सच्ची एकता के स्थान में झूठी अनेकता को
पनाने द्वारा अपनी स्वाभाविक स्वतन्त्रता खोकर पराधीनता उत्पन्न
रली, जिससे छुटकारा पाने के लिए बहुत छटपटाते हैं । परन्तु जबतक
म लोग अनेकता के आसुरी भाव छोड़ कर एकता रूपी दैवी सम्पद् ग्रहण
हीं करते तबतक वास्तविक स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं हो सकती ।

अवजानन्ति मा मूढा मानुषी तनुमाश्रितम् ।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् ॥

गी० अ० ९ ११

मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतस ।
राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिता ॥

—गी० अ० ९ १२

अर्थ—मूढ लोग मेरे (सबका आत्मा के) परम् (अनेकता मे एकत्व)
भाव को—जो सब भूतों का महान् ईश्वर है—न जानकर, मुझ (सबकी
आत्मा) को मनुष्य देहधारी (एक तुच्छ व्यक्ति) समझकर मेरा तिरस्कार
करते हैं अर्थात् ([illegible] शरीर ही में आसक्ति करके मूर्ख लोग
पा के [illegible] न जानकर अपने आप तिरस्कृत होते हैं ।
[illegible] स्वार्थ की मोहात्मक राक्षसी और
[illegible] आसक्ति रखनेवाले उन मूर्ख लोगों
[illegible] निरर्थक [illegible] र्थात् भेद-
[illegible] —के [illegible] करते हैं वे

स्वतन्त्रता स्वाभाविक है और एकता के आधार पर साम्य-भाव से व्यवहार करने से वह स्वतः प्राप्त है

परन्तु जो लोग नाम रूपात्मक जगत् के नाना-भांति के रूपों अर्थात् अनेकता को असत् जान कर उसकी आधारभूत एकता को सच्ची मानते हैं और सर्व भूतात्मैक्य साम्य-भाव रूपी दैवी सम्पद् युक्त संसार के व्यवहार करते हैं अर्थात् सब में एक ही आत्मा व्यापक समझ कर सबके साथ एकता की साम्य☉ बुद्धियुक्त प्रेम☉ पूर्ण सद्व्यवहार करते हैं और अपने व्यक्तिगत अहङ्कार को समष्टि अहङ्कार में एवं अपने व्यक्तिगत स्वार्थों को सबके स्वार्थों में जोड़ देते हैं अर्थात् सबके साथ अपनी एकता कर लेते हैं उनके लिए कोई बन्धन नहीं रहता, किन्तु वे अपने अज्ञान से खोई हुई अपनी स्वाभाविक स्वतन्त्रता पुनः प्राप्त कर लेते हैं। स्वाधीनता, स्वतन्त्रता या मुक्ति कहीं बाहर से नहीं आती, न उसके लिए स्थानान्तर अथवा (मरके) लोकान्तर जाने की आवश्यकता है और न उसकी प्राप्ति के लिए किसी काल की प्रतीक्षा करने की जरूरत है। वह तो सदा सर्वदा अपने अन्दर मौजूद है अर्थात् स्वतन्त्रता या मुक्ति सबके लिए स्वाभाविक होने से स्वतः प्राप्त है। परन्तु अपनी मूर्खता से लोगों ने पृथक्ता के भाव कल्पित करके राग द्वेष के जो नाना भांति के बन्धन स्वयं उत्पन्न कर लिए हैं केवल उन्हीं को हटाने की आवश्यकता है, फिर स्वतन्त्र अथवा मुक्त तो सब बनाए हैं ही।

> इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
> निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः॥
>
> —गी० अ० ५-१९

अर्थ—जिनका मन समत्व भाव में स्थित हो जाता है वे यहीं के यहीं सारे संसार को जीत लेते हैं अर्थात् उनको स्वतन्त्र एवं मुक्त होने के लि-

---

☉ तीसरे प्रकरण में समता और प्रेम का खुलासा देखिए।

किसी दूसरे लोक में जाना नहीं पड़ता, किन्तु यहीं पर जगत् के स्वामी अथात् स्वतन्त्र हो जाते हैं। क्योंकि निर्दोष अर्थात् सब बन्धनों से रहित ब्रह्म (आत्मा) ही सम अर्थात् सब में एक समान व्यापक है, अतः वे सर्वभूतात्मैक्य साम्य भाव युक्त व्यक्ति, उस निर्दोष और सम ब्रह्म (आत्मा) में ही स्थित रहते हैं। अर्थात् वे यहाँ के यहीं ब्रह्मभूत यानी मुक्त हो जाते हैं।

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति ।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥

—गी० अ० १३-३०

अर्थ—जब सब भूतों का पृथक्त्व अर्थात् जगत् का नानात्व एक ही में दीखने लगे और उस एक ही से सब जगत् का विस्तार दीखने लगे अर्थात् अनेकों में एक—नानात्व में एकत्व—दीखने लगे तब ब्रह्म अर्थात् मोक्ष प्राप्त होता है।

इसलिये स्वाधीनता अथवा मुक्ति की इच्छा रखने वालों को दूसरों से अपना भिन्न व्यक्तित्व और दूसरों के स्वार्थों से अपना अलग व्यक्तित्व स्वार्थ सिद्धि की आसुरी सम्पद् को छोड़ कर साम्य बुद्धि से सबके साथ एकता के ज्ञानयुक्त प्रेम का व्यवहार करने की दैवी सम्पद् को धारण करना चाहिए अर्थात् अपने व्यक्तित्व के अहङ्कार को समष्टि अहङ्कार में और अपने व्यक्तिगत स्वार्थों को सबके स्वार्थों में जोड़कर संसार के व्यवहार करने चाहिए।

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः ।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् ॥

—गी० अ० ९ १३

अर्थ—हे अर्जुन ! दैवी प्रकृति को धारण करने वाले महान् पुरुष मुझे (सबकी आत्मा) को सब भूतों का आदि कारण और सदा एकरस रहनेवाला जान कर एकत्व भाव से निरन्तर (मुझे सबकी आत्मा को) भजते हैं अर्थात्

सबको एक ही आत्मा के अनेक रूप जान कर अनन्य भाव से सबके साथ सदा प्रेम करते हैं।

एकता से ही व्यवहार यथोचित हो सकते हैं

बहुत से लोगों की यह समझ है कि सबके साथ एकता के भावयुक्त जगत् के अनेक प्रकार के व्यवहार हो नहीं सकते। स्थावर, जङ्गम, पशु, पक्षी, पुरुष, स्त्री आदि में आपस में, भिन्न भिन्न प्रकार के सम्बन्ध होते हुए, एकता के व्यवहार कैसे बन सकते हैं? परन्तु उनकी यह समझ गलत है। वास्तव में एकता ही से व्यवहार यथोचित होते हैं और सुधरते हैं; अनेकता से बिगड़ते हैं। जैसे आँख,नाक, कान, मुख, जिह्वा, दाँत, हाथ, पैर, दिल, दिमाग, नख, केश,नस, नाड़ियाँ आदि अनेक अङ्ग एक ही शरीर के होते हैं। इन से कोई कोमल, कोई कठोर, कोई सूक्ष्म, कोई स्थूल, कोई पवित्र एवं कोई मलीन होते हैं और अपनी अपनी योग्यतानुसार सब भिन्न भिन्न प्रकार के व्यवहार करते हैं, परन्तु सब हैं एक ही शरीर के अङ्ग। और जब ये एकता के भाव से सब व्यवहार करते हैं, तभी शरीर का निर्वाह ठीक ठीक हो सकता है; यदि इन में से कोई भी अङ्ग, चाहे वह कितना ही छोटा क्यों न हो; दूसरों के साथ एकतायुक्त व्यवहार न करे तो सारे शरीर का व्यापार बिगड़ जाय और साथ साथ उस अङ्ग का अपना भी नाश हो जाय। फर्ज़ करो कि कानों ने सुना कि किसी स्थान पैर कोई स्वादिष्ट खाद्य पदार्थ प्राप्त होता है; दिल में खाने की इच्छा हुई, पर उसे खाने के लिए, चले आँखों न उसे देखा, नाक ने सूँघा दिमाग(बुद्धि) ने निर्णय किया कि इसे खाना उचित है, हाथों ने उठाया और नसों द्वारा ग्रहण कर मुँह में दिया, दाँतों ने चबाया, जिह्वा ने स्वाद लेकर निगल लिया, नाड़ियों ने उसका रस खींच कर सब अङ्गों को यथायोग्य पहुँचा दिया; यद्यपि सब अवयव पृथक् पृथक् थे, परन्तु उद्देश सबका एक था और सबने एकता के भाव से, अपने अपने कार्य किए, जिससे सबकी पुष्टि हुई। यदि सब अङ्ग

इस तरह एकता के भाव से अपने-अपने कार्य नहीं करते तो किसी की भी पुष्टि नहीं होती ।

दूसरा दृष्टान्त । एक राष्ट्रीय राज्य में उसका प्रत्येक व्यक्ति उस राष्ट्र का एक अङ्ग होता है और जब प्रत्येक व्यक्ति राष्ट्र के सब व्यक्तियों के साथ अपनी एकता का अनुभव करता हुआ यथायोग्य अपना अपना व्यवहार करके राष्ट्र की पुष्टि करता है, राष्ट्र के लाभ में अपना लाभ और राष्ट्र की हानि में अपनी हानि समझता है, तभी राष्ट्र का व्यवहार भली प्रकार चल सकता है और वह राष्ट्र उन्नति करता है । यदि किसी राष्ट्र के व्यक्ति अपनी एकता को भूल कर अपने अपने पृथक् व्यक्तिगत स्वार्थों के लिए व्यवहार करने लग जायँ तो उस राष्ट्र के सब व्यवहार बिगड़ जायँ और अवश्य ही उसका पतन हो जाय ।

तीसरा दृष्टान्त । नाटक के खेल में जब प्रत्येक एक्टर अपने को उस नाटक का एक अङ्ग समझता है और दूसरे एक्टरों से अपनी एकता का अनुभव करता हुआ, उनके साथ तालबद्ध होकर अपना पार्ट बजाता है एवं दूसरों के पार्ट में सहायक होता है, सबका लक्ष्य एकमात्र खेल को साङ्गोपाङ्ग करने पर रहता है, खेल करते समय व्यक्तिगत पार्ट और व्यक्तिगत स्वार्थ में आसक्ति नहीं रहती, खेल अच्छा होने में ही सब लोग अपनी भलाई समझते हैं, तभी वह खेल ठीक ठीक सम्पादन होता है और सुधर सकता है । यदि एक्टर लोग आपस की एकता का भाव छोड़ कर अपने पृथक् व्यक्तिगत स्वार्थ के लिए उस व्यक्तिगत स्वाँग को सच्चा मान कर उसमें आसक्ति करलें और राजा आदि का उच्च पार्ट लेने वाले हीन पार्ट लेने वालों को भिन्न समझ कर उनका साथ न दें तो वह खेल अवश्य बिगड़ जाता है और साथ साथ वह व्यक्ति अपनी भी हानि करता है ।

इन तीनों दृष्टान्तों से सिद्ध होता है कि एकता ही से सब व्यवहार ठीक-ठीक हो सकते हैं और सुधर सकते हैं; अतः एकता को सच्ची और अनेकता के दृश्यों को नाटक के एक्टरों के स्वाँगों की तरह कल्पित एवं

दिखावटी समझते हुए जगत् के सभी व्यवहार सबके साथ एकता के आधार पर करने चाहिए। सत् होने से एकता ही परमात्मा है और असत् होने से अनेकता, उस एकता रूपी परमात्मा की प्रति क्षण बदलने वाली माया शक्ति का दिखाव है। इस अनेकता के मायिक दिखाव में एकता-रूपी परमात्म तत्त्व को सदा-सर्वदा देखते रहना चाहिए। जिस तरह कपड़े में सर्वत्र सूत ओत प्रोत रहता है—विचार कर देखने से सूत के अतिरिक्त कपड़ा कुछ है ही नहीं—सूत को निकाल देने से कपड़ा शेष ही नहीं रहता, उसी प्रकार जगत् में जगदीश्वर अर्थात् अनेकता में एकता ओत प्रोत भरी हुई है, उसके सिवाय और कुछ नहीं है। एकतारूपी जगदीश्वर को निकाल देने से अनेकता रूपी जगत् का अस्तित्व नहीं रहता; अत इसी दृष्टि से सब व्यवहार करने चाहिए—यही दृष्टि सच्ची है।

> सम सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्त परमेश्वरम्।
> विनश्यत्स्वविनश्यन्त य पश्यति स पश्यति॥
> —गी० अ० १३।२७

अर्थ—जो पुरुष, नाशवान सब चराचर भूत प्राणियों में, नाशरहित परमेश्वर को सम भाव से स्थित देखता है अर्थात् क्षण क्षण में परिवर्तनशील जगत् की अनेकता के दिखाव में सदा एक समान रहने वाली अविनाशी एकता का अनुभव करता है वही वास्तव में देखता है।

इस तरह एकता के उपासक स्वतन्त्र अथवा मुक्त होते हैं।

> मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्त सङ्गवर्जित।
> निर्वैर सर्वभूतेषु य स मामेति पाण्डव॥
> —गी० अ० ११।५५

अर्थ—जो मेरे लिए कर्म करता है अर्थात् सब चराचर सृष्टि में इस एक परमात्मा का दर्शन रख के, सबके साथ एकता का अनुभव करता हुआ कर्म करता है, जो मेरे परायण है अर्थात् अपने स्वार्थ को त्याग देने

(समष्टि आत्मा = परमात्मा) में—यानी सब में जोड़ दिया है, जो मेरा भक्त है अर्थात् सबके हृदय में स्थित मुझ परमात्मा से—यानी समस्त जगत् से—जो प्रेम करता है; जो सङ्ग से रहित अर्थात् लौकिक पदार्थों में जो व्यक्तिगत आसक्ति नहीं रखता और जो सब भूतों से वैर नहीं रखता अर्थात् जो किसी से भी द्वेष नहीं करता, वह मुझ में मिल जाता है; अर्थात् सब बन्धनों से छूट कर मुक्त हो जाता है।

जगत के व्यवहारों का त्याग अस्वाभाविक है।

बहुधा प्रश्न यह उठा करता है कि जब जगत् की अनेकता का बनाव झूठा और बन्धन रूप है तो इसके व्यवहार भी अवश्य ही झूठे एवं बन्धन रूप होंगे? फिर ऐसे व्यवहार किये ही क्यों जायँ? उनको त्याग कर सन्यास ही क्यों न ले लिया जाय? यद्यपि यह प्रश्न सरसरी तौर से तो ठीक प्रतीत होता है, परन्तु यदि अच्छी तरह विचार किया जाय तो यह बिल्कुल निराधार सिद्ध होता है। क्योंकि यद्यपि जगत् की अनेकता का बनाव झूठा है, परन्तु उसके अन्दर की एकता सच्ची है और एकता के आधार पर ही यथोचित व्यवहार होते हैं; पृथक्ता के आधार पर तो वे बिगड़ते हैं, अतः एकता के ज्ञानयुक्त संसार के व्यवहार करने से वे बन्धनरूप हो नहीं सकते और न उनके त्यागने की आवश्यकता ही रहती है। त्यागने और रखने का प्रश्न ही अज्ञान से उठता है, क्योंकि जहाँ एक से दो होते हैं वहीं त्यागना या रखना हो सकता है। जब एक आत्मा के सिवाय और कुछ है ही नहीं, उसकी माया का खेल यह संसार भी उससे भिन्न नहीं (ख्याली से पृथक् खेल की सत्ता ही सिद्ध नहीं होती), तो फिर कौन किसको त्यागे और कौन किसको ग्रहण करे? एक ही आत्मा के निर्गुण और सगुण (Positive and Negative) दो भाव हैं; उनमें से किसी का भी त्याग नहीं हो सकता। इसलिए त्याग अस्वाभाविक है—अतः वह हो नहीं सकता। अद्वैत वेदान्त सिद्धान्त कोरी

कल्पना (Theory) नहीं है कि वह किसी अस्वाभाविक बात का प्रतिपादन करे, यह तो पूरा व्यावहारिक यानी (Practical) है; अत वह इस अस्वाभाविक त्याग का प्रतिपादन नहीं करता। जहाँ दूसरे मत सब कुछ छोड़ देने से—यहाँ तक कि देह को भी छोड़ देने से—सुख, शान्ति अथवा मुक्ति की आशा दिखाते हैं वहाँ वेदान्त कुछ भी छोड़ने को नहीं कहता, किन्तु छोड़ना अप्राकृतिक बताता है।

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥
गी० अ० ३।५

अर्थ—क्योंकि कर्म के बिना एक क्षण भर भी कोई नहीं रह सकता प्रकृति जन्य गुणों के अधीन होकर उसको कर्म करने में लगे ही रहना पड़ता है।

परन्तु जिनको एकात्म भाव का सच्चा ज्ञान नहीं है वे मिथ्या वे मिथ्या ज्ञान से उत्पन्न व्यक्तिगत अहङ्कार से अपने कर्तव्य को छोड़ बैठते हैं अथवा कर्मों को दुःख एवं बन्धन रूप समझ कर त्यागते हैं। इस तरह के त्याग को गीता में भगवान् ने राजसी और तामसी त्याग कहा है।

नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते ।
मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः ॥
—गी० अ० १८।७

दुःखमित्येव यत्कर्म कायक्लेशभयात्त्यजेत् ।
स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत् ॥
—गी० अ० १८।८

अर्थ—जो कर्म अपने लिए नियत अर्थात् गुण कर्म-स्वभाव के अनुसार करने के लिये हैं उनका संन्यास यानी त्याग किसी को भी करना उचित नहीं है। मोह से किया हुआ उनका त्याग तामस कहलाता है।

शरीर को कष्ट होने के डर से अथवा दुःखदायक मान कर यदि को

कर्म छोड़ दे तो उसका वह त्याग राजस होता है, उससे त्याग का प्रयोजन सिद्ध नहीं होता।

व्यवहार छोड़ देना सच्चा त्याग नहीं, किन्तु अनेकता को झूठी और उसके अन्दर एकता को सच्ची जान कर व्यवहार करना ही सच्चा त्याग है।

वेदान्त शास्त्र जगत् के व्यवहारों का त्याग नहीं करवाता, न किसी को घर-गृहस्थ एवं प्रिय पदार्थ छोड़ने ही को कहता है। यहाँ तो अनेकता को झूठी और उसके अन्दर की एकता को सच्ची जान कर, व्यष्टि अहङ्कार की समष्टि अहङ्कार के साथ एकता करना अर्थात् अपने-आपको सब में जोड़ देना और अपने व्यक्तिगत स्वार्थों को सबके स्वार्थों के अन्तरगत मानना यानी सब के स्वार्थों में अपने स्वार्थों को मिला कर, संसार के व्यवहार करना सच्चा त्याग माना गया है।

कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन।
सङ्गंत्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः॥

—गी० अ० १८ ९

न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते।
त्यागी सत्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः॥

—गी० अ० १८ १०

न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते॥

—गी० अ० १८ ११

अर्थ—हे अर्जुन! अपने लिए जो कर्म नियत है अर्थात् गुण-कर्म स्वभाव के अनुसार जो कार्य अपने जिम्मे हैं, उनको करना अपना कर्तव्य है; ऐसा समझ कर, व्यक्तित्व की आसक्ति* और व्यक्तिगत स्वार्थ त्याग कर जो कर्म किए जाते हैं वही सात्विक त्याग माना गया है।

सर्वभूतात्मैक्य साम्य-भाव में जुड़ा हुआ, बुद्धिमान एवं संशय रहित त्यागी, प्रतिकूल कर्म से द्वेष नहीं करता और अनुकूल कर्म में आसक्त नहीं होता।

क्योंकि जो देहधारी हैं उससे कर्मों का निःशेष त्याग हो नहीं सकता; अतः जिसने कर्म-फल अर्थात् व्यक्तिगत स्वार्थ त्याग दिया हो वही सच्चा त्यागी अर्थात् सन्यासी है।

समष्टि-आत्मा = परमात्मा की प्रकृति के इस (संसार रूपी) खेल में चाहे गृहस्थी के स्वाँग में उसके योग्य व्यवहार किए जाएँ अथवा सन्यासी के स्वाँग में—उसके योग्य व्यवहार किए जाएँ—दोनों ही कल्पित स्वाँग हैं और इस खेल में दोनों ही के व्यवहारों की आवश्यकता होती है। कर्म दोनों ही में करने होते हैं। जिस तरह गृहस्थ में रहकर उस के योग्य व्यवहार करना कर्म है उसी तरह गृहस्थ से अलग होकर सन्यास लेना और उसके योग्य व्यवहार करना भी कर्म है; दोनों की मान्यता समान ही है। समत्व बुद्धि से लोक-संग्रह के लिए गृहस्थ का व्यवहार करने से सर्वत्र एकता के अनुभव रूप आत्म ज्ञान का जो निरतिशय सुख अर्थात् स्वतन्त्रता या मुक्ति प्राप्त होती है वही समत्व बुद्धि से सन्यास का व्यवहार करने से होती है। इसके विपरीत अपने पृथक् व्यक्तित्व के अहं-कार और व्यक्तिगत स्वार्थ की आसक्ति रखकर व्यवहार करने से दोनों ही बन्धन के हेतु हैं; अतः फल दोनों ही का एकसार है। गुण-कर्म स्वभावा-नुसार जिसकी जैसी योग्यता हो वैसा करे। यदि गृहस्थ में रहते हुए लोक-

---

*तृतीय प्रकरण में आसक्ति और त्याग का खुलासा देखिए।

समह के सांसारिक व्यवहार करने की योग्यता हो तो इस तरह करे और यदि सन्यास लेकर लोक-संग्रहार्थ व्यवहार करने की योग्यता हो तो वैसा करे—इस विषय में विवाद करना मूर्खता है।

ज्ञेय स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते॥
—गी० अ० ५ ३

साङ्ख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम्॥
—गी० अ० ५ ४

यत्साङ्ख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।
एकं साङ्ख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति॥
—गी० अ० ५ ५

अर्थ—हे अर्जुन! जो न तो किसी से द्वेष करता है और न किसी की इच्छा रखता है, उसको सच्चा सन्यासी समझ। क्योंकि द्वैत भाव से रहित हुआ, वह सुखपूर्वक बन्धनों से मुक्त हो जाता है अर्थात जिसने सब भूतात्मैक्य बुद्धि से व्यक्तित्व के भाव जन्य राग-द्वेषादि छोड़ दिए हैं वही सच्चा सन्यासी और मुक्त है।

सांख्य अर्थात् सन्यास और योग अर्थात् समत्व बुद्धि से संसार के व्यवहार करने रूपी कर्म-योग को, अज्ञानी लोग पृथक् कहते हैं—ज्ञानी लोग ऐसा नहीं मानते। (दोनों में से किसी भी) एक का भली-भाँति आचरण करने से, दोनों ही का फल हो जाता है।

जो स्थान सन्यासियों को प्राप्त होता है वही कर्मयोगी भी पहुँचता है। सांख्य (सन्यास) और योग (कर्मयोग) एक ही हैं, ऐसा जो जानता है वही यथार्थ तत्त्व को जानता है अर्थात् चाहे गृहस्थ में रह कर संसार के व्यवहार करे अथवा गृहस्थ त्याग कर; एकता के सिवाय द्वैत कुछ है नहीं, यह निश्चय होने से कोई भी बन्धन नहीं रहता।

> अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः ।
> स सन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः ॥
>
> —गी० अ० ६।१

> यं सन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव ।
> न ह्यसन्यस्तसङ्कल्पो योगी भवति कश्चन ॥
>
> —गी० अ० ६-२

अर्थ—जो कर्मफल का आश्रय न करके अर्थात् जो व्यक्तिगत स्वार्थ की आसक्ति से रहित होकर अपना कर्तव्य कर्म करता है वही सन्यासी और वही योगी है। गृहस्थ का त्यागने वाला तथा कर्मों को छोड़ कर निठल्ले बैठने वाला सच्चा सन्यासी अथवा योगी नहीं है।

हे पाण्डव ! जिसको सन्यास कहते हैं उसी को तू कर्मयोग समझ। क्योंकि सङ्कल्प का सन्यास किए बिना कोई भी कर्मयोगी नहीं होता अर्थात् व्यक्तिगत स्वार्थ के भाव जबतक मन में उत्पन्न होते रहते हैं तबतक कोई सच्चा कर्मयोगी नहीं होता।

> सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत ।
> कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ॥
>
> —गी० अ० ३-२५

अर्थ—मूर्ख लोग जिन कर्मों को आसक्ति सहित (अहंता ममता युक्त) किया करते हैं, विद्वान् लोग उनको आसक्ति छोड़ कर लोक-संग्रह के लिए अर्थात् सांसारिक व्यवहार में अपना पार्ट अच्छी तरह बजाने के लिए करते हैं।

संसार के खेल में लोक-संग्रह के लिए कर्म करना सबको आवश्यक है।

तात्पर्य यह कि चाहे स्त्री हो या पुरुष; ब्रह्मचारी हो या गृहस्थी; वानप्रस्थ हो या सन्यासी और चाहे किसी भी जाति या वर्ण का शरीर हो, गुण-कर्म-स्वाभावानुसार अपने कर्त्तव्य कर्म अपनी-अपनी योग्यता के अनुसार, लोक-संग्रह के लिए अर्थात् संसार चक्र के चलाने में अपना पार्ट यथावत् बजाने के भाव से, प्रत्येक व्यक्ति को—दूसरों से पृथक अपने व्यक्तित्व के अहङ्कार और दूसरों से पृथक् अपने व्यक्तिगत स्वार्थ की आसक्ति छोड़ कर—अवश्य ही सदा करते रहना चाहिए। लोक-संग्रह अर्थात् जगत् के व्यवहार चलाने रूपी यज्ञ के निमित्त कर्म किए बिना किसी का भी जीवन निर्वाह नहीं हो सकता; क्योंकि जगत् की स्थिति सबके अपने अपने कर्त्तव्य-कर्म करने रूपी यज्ञ चक्र पर ही निर्भर है।

नियत कुरु कर्म त्व कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः ।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः ॥

—गी० अ० ३-८

अर्थ—नियत अर्थात् गुण कर्म स्वभावानुसार अपने जिम्मे आए हुए कर्मों को तू कर; कर्म न करने की अपेक्षा कर्म करना ही अधिक श्रेष्ठ है। कर्म न करने से तो तेरी शरीर-यात्रा भी नहीं हो सकेगी अर्थात् कर्म किए बिना शरीर का निर्वाह ही नहीं हो सकता।

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः ।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर ॥

—गी० अ० ३-९

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥

—गी० अ० ३।१०

देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः ।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥

—गी० अ० ३।११

इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः ।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः ॥

—गी० अ० ३।१२

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः ।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥

—गी० अ० ३।१३

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः ।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः ॥

—गी० अ० ३।१४

कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम् ।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥

—गी० अ० ३।१५

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः ।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति ॥

—गी० अ० ३।१६

अर्थ—यज्ञ के लिए अर्थात् संसार चक्र को अच्छी तरह चलाने के लिए किए जाने वाले कर्तव्य-कर्मों के अतिरिक्त केवल अपने व्यक्तिगत स्वार्थ के लिए जो कर्म किए जाते हैं उनसे ही ये लोग बँधते हैं। तू उपरोक्त यज्ञ के निमित्त—उनमें दूसरों से पृथक् अपने व्यक्तित्व के अहङ्कार और व्यक्तिगत स्वार्थ की आसक्ति छोड़ कर—कर्म करता रह।

प्रारम्भ में यज्ञ चक्र के साथ ही प्रजा को रचकर प्रजापति ब्रह्मा ने उनसे कहा कि इस यज्ञ चक्र के द्वारा तुम्हारी वृद्धि होवे। यह यज्ञ चक्र तुम्हारी कामधेनु होवे अर्थात् यह यज्ञ चक्र ही तुम्हारी सब आवश्यकताओं को पूरी करेगा।

तुम इस यज्ञ से देवताओं को सन्तुष्ट करो और वे देवता तुम्हें सन्तुष्ट करें अर्थात् तुम अपने अपने हिस्से के कर्तव्य कर्म करने द्वारा समष्टि आत्मा=परमात्मा की माया रचित इस जगत् रूपी उसके विराट् शरीर को धारण करने वाली उसकी सूक्ष्म दैवी शक्तियों (विभूतियों)—जो समष्टि रूप से जगत् के सब कार्य कर रही हैं— के साथ अपनी अपनी व्यष्टि शक्तियों के व्यवहारों का योग दो और तुम्हारी सबकी व्यष्टि शक्तियों के व्यवहारों के योग से पूरित हुई वे परमात्मा की समष्टि दैवी शक्तियाँ तुम सबकी आवश्यकताएँ पूरी करें। इस तरह सबके साथ ताल-बद्ध होकर व्यवहार करने द्वारा परस्पर में एक-दूसरे को योग देते हुए और एक-दूसरे की आवश्यकताओं को पूरी करते हुए परम श्रेय को प्राप्त होवो अर्थात् सबके साथ ताल बद्ध होकर अपने अपने हिस्से का काम बराबर करते रहने ही से संसार का व्यव

दार यथावत् चलता रहेगा, जिससे सबको अपनी अपनी आवश्यक भोग्य सामग्री मिलती रहेगी।

यज्ञ से सन्तुष्ट होकर देवता लोग तुमको तुम्हारे इच्छित भोग देंगे अर्थात् अपने-अपने हिस्से के कर्तव्य कर्म अच्छी तरह पालन करने से जगत् रूपी उसके विराट् शरीर को धारण करने वाली परमात्मा की समष्टि दैवी शक्तियाँ पोषित होकर लोगों के जीवन के लिए आवश्यक पदार्थ उत्पन्न करेंगी। परंतु उन्हीं का दिया हुआ बदला उन्हें दिए बिना जो व्यक्ति सब भोग्य पदार्थ केवल आप ही भोगता है, वह निश्चय ही चोर है अर्थात् संसार के समस्त भोग्य पदार्थ सबकी समष्टि (सम्मिलित) शक्ति से उत्पन्न होते हैं, उन सार्वजनिक पदार्थों को जो अकेला ही अपनी व्यक्तिगत इच्छाओं की पूर्ति के उपयोग में लेकर दूसरों को उनसे वंचित रखता है वह उनकी चोरी करता है।

यज्ञ से बचे हुए भाग को ग्रहण करने वाले सज्जन सब पापों से छूट जाते हैं अर्थात् जो सज्जन (स्त्री हो या पुरुष) संसार चक्र में अपने कर्तव्य कर्म अच्छी तरह पालन करके उनसे प्राप्त होनेवाले पदार्थों को, यथायोग्य दूसरों की आवश्यकताएँ पूरी करते हुए, आप भी अपनी आवश्यकतानुसार भोगते हैं उनको कोई (चोरी आदि का) पाप नहीं लगता। परन्तु जो दूसरों की आवश्यकताओं की उपेक्षा करके केवल अपने लिए ही पकाते हैं अर्थात् जो केवल अपने व्यक्तिगत शरीर के विषयों की तृप्ति के लिए ही कर्म करते हैं। वे पाप भोगते हैं।

अन्न अर्थात् भोग्य पदार्थों से भूत प्राणी होते हैं, पर्जन्य अर्थात् इनकी उत्पादक शक्ति से अन्न (भोग्य पदार्थ) होते हैं, यज्ञ से समष्टि उत्पादन शक्ति होती है और यज्ञ, कर्म से अर्थात् सबके अपने अपने कर्तव्य-कर्म यथावत् करने से होता है।

कर्म प्रकृति से और प्रकृति, अविनाशी समष्टि आत्मा=परमात्मा से उत्पन्न हुए जान। इसलिए सर्व-व्यापक आत्मा=परमात्मा ही यज्ञ में अर्थात् संसार-चक्र को चलाने में स्थित है।

इस तरह जगत् के धारणार्थ प्रवृत्त किए हुए इस चक्र, यानी यज्ञ-चक्र के अनुसार जो नहीं वर्तता अर्थात् जो इस संसार के खेल में अपने व्यक्तित्व की और व्यक्तिगत स्वार्थों की सबसे एकता करके अपना कर्त्तव्य पालन नहीं करता, उसका जीवन पाप रूप है और उस इन्द्रिय लम्पट का अर्थात् केवल अपने व्यक्तिगत भौतिक शरीर के विषय भोगों के लिए ही उद्योग करने वाले का, जीना फ़िजूल है यानी उसका मनुष्य (स्त्री या पुरुष का) शरीर व्यर्थ है।

गीता के उपरोक्त श्लोकों का भावार्थ यह है कि चतुर्विध समष्टि अन्तःकरण रूपी चतुर्मुख ब्रह्मा के सङ्कल्प से, सब लोगों की—उनके कर्त्तव्यों सहित—रचना होकर, प्रेरणा हुई कि अपने अपने कर्त्तव्य यथावत् करते रहने से सब की इच्छाएँ पूरी होकर सबकी वृद्धि होती रहेगी, क्योंकि समष्टि-आत्मा-परमात्मा की दैवी शक्तियाँ जो सूक्ष्म रूप से सब में व्याप्त हैं और जो समष्टि भाव से जगत् रूप बनी हुई हैं वे व्यष्टि भाव में प्रत्येक व्यक्ति में रहती हैं और उनसे ही व्यष्टि व्यवहार होता है और उन व्यष्टि व्यवहारों का सम्मिलित योग ही समष्टि व्यवहार है जिससे सारे जगत् का सञ्चालन होता है। इसलिए सबके अपने अपने हिस्से के कर्त्तव्य-कर्म यथावत् करने रूपी व्यवहार के योग से ही जगत् का समष्टि व्यवहार यथावत् चल सकता है और समष्टि व्यवहार यथावत् चलने ही से व्यक्तियों की इच्छाएँ और आवश्यकताएँ पूरी हो सकती हैं।

यज्ञ और देवताओं का खुलासा

यज्ञ और देवताओं की जो व्याख्या ऊपर की गई है वह साधारण लोगों की समझ में शायद ठीक प्रतीत न हो, क्योंकि 'यज्ञ' शब्द का अर्थ

अधिकतर लोग वैदिक कर्म काण्ड के "हवन" (अग्नि में पदार्थों की आहुति देने) का करते हैं। परन्तु गीता में प्रतिपादित यज्ञ का यह अर्थ नहीं है। अनेकता के भाव से व्यक्तिगत स्वार्थ के लिए किए जाने वाले वैदिक कर्म काण्ड का तो गीता के दूसरे अध्याय श्लोक ४२ से ४६ तक में भगवान् ने साफ शब्दों में निषेध कर दिया है, अतः आरम्भ में ही जिस विषय का निषेध कर दिया उसी का पुनः विधान किस तरह हो सकता है। इसके अतिरिक्त यदि यहाँ "यज्ञ" शब्द का अर्थ हवन ही माना जावे तो तीसरे अध्याय के नवम् श्लोक के अनुसार हवन के सिवाय अन्य—पठन, पाठन, प्रजारक्षण, कृषि, गोरक्षा, वाणिज्य, सेवा, दान, परोपकार आदि के निमित्त किए जाने वाले सभी कर्म बन्धन के हेतु हो जावेंगे, जिनके बिना हवन भी तथा, संसार में किसी का जीवित रहना भी असम्भव हो जावेगा, और जगत् का विनाश भगवान् को अभिप्रेत नहीं है (देखो गी० अ० ३ श्लो० २४)। इसके अतिरिक्त, उस समय अर्जुन को यह उपदेश देने का अवसर भी नहीं था कि "हवन के लिए तू कर्म कर" क्योंकि वहाँ तो उसको क्षात्र धर्म के अनुसार युद्ध करके अपने कर्तव्य पालन करने के उपदेश का प्रसङ्ग था। अतः यहाँ यज्ञ शब्द का अर्थ हवन नहीं हो सकता, किन्तु लोक संग्रह अर्थात् संसार चक्र को भली-भाँति चलाने में अपना भाग पूर्ण तरह चलाना ही यज्ञ का एक मात्र ठीक-ठीक अर्थ हो सकता है। तीसरे अध्याय के चौदहवें श्लोक के अन्त में भगवान् ने "यज्ञः कर्म समुद्भवः।" कह कर यह अर्थ स्पष्ट भी कर दिया है।

इसी तरह "देवता" शब्द का अर्थ भी अधिकतर लोग स्वर्गादि लोकों में बैठे हुए इन्द्रादि देवता समझते हुए हैं। परन्तु तात्त्विक दृष्टि से विचार कर देखा जाए तो यह अर्थ स्थूल बुद्धि के साधारण लोगों को समझाने के लिए जगत् को धारण करने वाली समष्टि-आत्मा = परमात्मा की समष्टि सूक्ष्म दैवी शक्तियों का स्थूल रूपक बाँध कर किया गया है। परन्तु जहाँ गूढ़ तत्त्वों का तात्त्विक विचार करना होता है वहाँ इन रूपकों को ही

सत्य मान लेने से सच्चा तथ्य समझ में नहीं आ सकता और वास्तविक सच्ची स्थिति समझे बिना संशयात्मक दशा में जगत् के व्यवहार भी ठीक-ठीक नहीं किए जा सकते। यदि समष्टि-आत्मा = परमात्मा के, इस जगत् रूपी विराट शरीर को धारण करने वाली उसकी समष्टि दैवी शक्तियाँ किसी एक ही स्थान में सीमाबद्ध होकर बैठ जायँ तो वहाँ बैठी हुई वे इस वृहत् ब्रह्माण्ड का सञ्चालन ही कैसे कर सकेंगी? और इन देवताओं को परमात्मा की दैवी शक्तियों से भिन्न कोई और पदार्थ मान नहीं सकते, क्योंकि एक के अतिरिक्त दूसरा कुछ है नहीं। यदि मान भी लें तो सुदूर लोकों में बैठे हुए भिन्न भिन्न देवताओं को इस लोक में आकर यहाँ के लोगों से भोग्य पदार्थ लेने का क्या अधिकार है और क्या उनको पीछा देने का प्रयोजन है? तथा यहाँ के लोगों को उन दूसरे लोकों में बैठे हुए देवताओं को मान कर उनको सन्तुष्ट करने और उनसे सट्टा भुगताने की आवश्यकता ही क्या है? गीता में स्पष्ट कहा है कि वे देवता तुमको अपने इष्ट पदार्थ देंगे! अतः यदि देवता लोग समष्टि-आत्मा = परमात्मा की दैवी शक्तियों से कोई भिन्न पदार्थ होते तो लोगों को इष्ट पदार्थ देने की उनमें योग्यता कहाँ से आती। इससे यही सिद्ध होता है कि इस जगत् रूपी विराट शरीर को धारण करने वाली समष्टि-आत्मा = परमात्मा की समष्टि दैवी शक्तियाँ ही देवता हैं और वे ही सूक्ष्म शक्तियाँ व्यष्टि रूप से प्रत्येक व्यक्ति के शरीर में हैं और इन व्यष्टि शक्तियों का समष्टि शक्तियों के साथ सहयोग अर्थात् एकतायुक्त व्यवहार करना ही यज्ञ है।

सब भूत प्राणी इस संसार रूपी यन्त्र चक्र (विराट पहिए) के अङ्ग (पुरजे) हैं और जैसे किसी मशीन के एक पुरजे के भी निकम्मे हो जाने से उस मशीन के काम में त्रुटि आ जाती है, उसी तरह इस संसार चक्र में एक भी प्राणी के कर्त्तव्य पालन न करने से उसमें उतनी ही त्रुटि आ जाती है और उस त्रुटि से सबको कष्ट होता है तथा उस कष्ट के दोष का भागी अपना कर्त्तव्य का पालन न करने वाला प्राणी होता है।

स्वामी भाव से स्वतन्त्रतापूर्वक व्यवहार करने चाहिए

यह जगत्, आत्मा के स्वभाव ही से उत्पन्न होने वाली प्रकृति (माया) का खेल है और प्रत्येक व्यक्ति उस (समष्टि) आत्मा = परमात्मा का अंश है; अतः स्वयं अपने रचे हुए (जगत् रूपी) कार्य को—उसके स्वामी भाव से—अवश्य चलाना चाहिए। इस तरह चलाने से कोई बन्धन या दुःख प्रतीत नहीं होता। परन्तु स्थूल शरीर में ही अहंभाव के तामसी अहङ्कार के वश होकर यदि स्वयं अपने रचित कार्य को—अपने ही राजस तामस भावों से—दुःख रूप या बन्धन रूप मान कर उससे अलग होने की चेष्टा की जाय अथवा उसकी उपेक्षा करके उसे बिगाड़ दिया जाय तो अपने ही भावों से वह दुःख और बन्धन-रूप हो जाता है जिससे छुटकारा पाना असम्भव हो जाता है। इसलिए इस जगत् रूपी स्वाधीन राष्ट्रीय-राज्य में अपने आपको उस राष्ट्र का एक मेम्बर (अङ्ग) समझ कर, स्वयं अपने ज़िम्मे ली हुई ड्यूटी को—उसका स्वामी होकर—स्वतन्त्रतापूर्वक अच्छी तरह बजाना चाहिए।

> कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।
> मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ॥
>
> —गी० अ० २ ४७

अर्थ—कर्म में तेरा अधिकार है, फल में कदापि नहीं; फल अर्थात् व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि के लिए तू कर्म मत कर और कर्म न करने की व्यक्तिगत अहङ्कार की आसक्ति भी मत रख। अर्थात् कर्म रूप जगत् सब तेरे ही समष्टि भाव की प्रकृति का खेल होने से उस पर तेरा अधिकार है यानी तू इसका अधिपति है। परन्तु इस खेल से उत्पन्न होने वाले नाना भाँति के कल्पित सुख दुःखादि द्वन्द्वों का कुछ भी प्रभाव तुझ पर नहीं पड़ना चाहिए क्योंकि यह सब तेरी ही रचना है; अतः इन पर कुछ भी लक्ष्य मत रख और

इन नाना भाँति के कल्पित सुख दुःखादि द्वन्द्वों से व्याकुल होकर अपने इस भेष [illegible] छोड़ कर बिगाड़ देना भी तेरी महिमा के प्रतिकूल है। तात्पर्य यह कि तू अपनी प्रकृति (माया) के इस खेल में द्वैत भाव की भावना त्याग, जगत् के अधिपति रूप से कार्य करता रह।

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते॥
—गी० अ० २।४८

अर्थ—"मैं करता हूँ, मेरे कर्म हैं, अमुक कर्म का मुझे अमुक फल मिलेगा"—इस तरह के व्यक्तिगत अहङ्कार और व्यक्तिगत स्वार्थ का मन छोड़ कर, कर्म की सफलता और असफलता में निर्विकार रहता हुआ, योग युक्त होकर अर्थात् सर्वात्म साम्य भाव में स्थित रह कर कर्म कर—साम्य भाव ही योग है।

जिस तरह एक स्वाधीन राष्ट्र का नागरिक सर्वथा स्वतन्त्र रहता हुआ अपने राष्ट्रीय राज्य के प्रति अपना कर्तव्य पालन करता है और यदि वह अपना कर्तव्य उचित रीति से पालन न करे तथा दूसरों के स्वत्वों को हानि पहुँचाये तो वह परतन्त्र होकर राष्ट्रपति से दण्डित होता है; उसी तरह इस संसार रूपी राष्ट्र में अपने कर्तव्यों का स्वामी होकर स्वाधीनतापूर्ण व्यवहार करना चाहिए, नहीं तो विवश होकर दास भाव से करने पड़ेंगे।

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥
—गी० अ० १८।६१

अर्थ—हे अर्जुन! समष्टि=परमात्मा सब प्राणियों के हृदय में रहता है और अपनी माया से सब भूत प्राणियों को यन्त्र पर चढ़े हुए की तरह घुमाता है।

अपने व्यष्टिरूप को जगत् से पृथक् मानने के तामसी अहङ्कार से [illegible]

केवल अपने व्यक्तिगत स्वार्थ में ही आसक्त हो जाने से परतन्त्रता या दासता उत्पन्न होती है; परन्तु जहाँ व्यक्तित्व का भाव नहीं और व्यक्तिगत स्वार्थ में आसक्ति नहीं, किन्तु सर्वभूतात्मैक्य साम्य भाव से व्यवहार किया जाता है, वहाँ सदा स्वाधीनता है। आत्मा तो स्वभाव से ही स्वतन्त्र है; अत प्रकृति का स्वामी बनना अथवा दास बनना अपने ही अधीन है। सर्वत्र एक ही आत्मा = परमात्मा व्यापक होने के साम्य भाव से व्यवहार करने पर कोई दासता या पराधीनता का बन्धन नहीं होता; किन्तु इस तरह व्यवहार करने वाला महापुरुष स्वय प्रकृतिका स्वामी—ईश्वर रूप हो जाता है और उसी की प्रेरणा से भूत प्राणी नाना प्रकार की चेष्टाएँ करते हैं।

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्पराशान्तिं स्थानं प्राप्स्यसिशाश्वतम्॥
—गी० अ० १८ ६२

अर्थ—इसलिए हे भारत ! तू सब प्रकार से उसकी शरण में जा अर्थात् अपने और सबके हृदय में स्थित समष्टि आत्मा = परमात्मा से यानी अखिल ब्रह्माण्ड से अपनी एकता का अनुभव कर। उसकी प्रसन्नता से तुझे परम शान्ति तथा शाश्वत स्थान प्राप्त होगा अर्थात् (आत्मा परमात्मा की) यानी सारे विश्व की एकता का अनुभव करते हुए ससार के व्यवहार यथावत करते रहने से अन्त करण में प्रसन्नता होकर परम शान्ति और अनन्त सुख प्राप्त होगा, फिर किसी प्रकार का बन्धन नहीं रहेगा।

सर्वभूतात्मैक्य साम्य भाव से व्यवहार करने का महत्व

यह समत्व योग अर्थात् एक आत्मा को सब में समान रूप से व्यापक जान कर सबमे प्रेमयुक्त व्यवहार करना एक बार आरम्भ कर देने पर

फिर छूटता नहीं, किन्तु उत्तरोत्तर बढ़ता रहता है और न इससे किसी प्रकार की हानि या अनिष्ट ही होता है, किन्तु इसके थोड़े आचरण से थोड़ा और अधिक से अधिक सुख अवश्य प्राप्त होता है। यह समत्व योग यानी व्यावहारिक वेदान्त सब धर्मों से श्रेष्ठ, सबके लिए समान हितकर, सबको इसका समान अधिकार, अत्यन्त विशाल, सबसे अधिक सूक्ष्म अर्थात् सबका सार और सर्वव्यापक है। इसका जितना अधिक आचरण किया जाय उतना ही अधिक लाभ होता है अर्थात् जितने देश और जितने व्यक्तियों के साथ और जितने समय के लिए एकता के प्रेमभाव से व्यवहार किया जाता है उतनी ही सुख समृद्धि प्राप्त होती है। केवल व्यक्तियों के लिए ही नहीं, किन्तु राष्ट्र और जातियों के लिए भी यही सिद्धान्त लागू है। जो राष्ट्र और जाति परस्पर में तथा दूसरों के साथ जितना ही अधिक एकता का व्यवहार करती है अर्थात् उसकी एकता का क्षेत्र जितना ही अधिक विस्तृत होता है उतना ही अधिक वह राष्ट्र या जाति शक्तिशाली, उन्नत, सुख-समृद्धि सम्पन्न और स्वाधीन होती है।

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्॥
—गी० अ० २।४०

अर्थ—इस समत्व बुद्धि से [illegible] वाले कर्मयोग का एक बार आरम्भ कर देने पर फिर उसके [illegible] नहीं [illegible] जिस समय एक परमात्मा सब में सम[illegible] भाव से जगत् के व्यवहार [illegible] आत्मस्वरूप [illegible] में सर्वात्मभा[illegible] रहती; [illegible] फल भी

उठाने की आवश्यकता नहीं है और न कोई ऐसी क्रिया या विधि ही है कि जिसके पूर्ण न होने से पीछा गिरना पड़े, किन्तु इसमें एक चार लगने से उत्तरोत्तर उन्नति होती है; और इस धर्म का थोड़ा-सा भी आचरण महान भय से रक्षा करता है अर्थात् पहले थोड़े लोगों से यानी अपने कुटुम्ब, जाति, ग्राम या देश के साथ एकता के प्रेम भाव से जुड़कर व्यवहार करने से भी इतना आत्मबल आ जाता है कि किसी प्रकार का भय नहीं रहता; अतः इस धर्म का थोड़ा भी आचरण करने वाला निर्भय हो जाता है।

राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम् ।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम् ॥

—गी० अ० ९ २

अर्थ—यह ज्ञान और विज्ञान सहित अर्थात् अध्यात्म ज्ञान युक्त, व्यवहार करने का समत्व योग यानी व्यावहारिक वेदान्त, राज विद्या है अर्थात् सब विद्याओं की राजा, श्रेष्ठ, सार्वभौम, राज मार्ग की तरह सर्वोपयोगी, सार्वजनिक, अत्यन्त विशाल और सबके सेवन करने योग्य है यानी इसका व्यवहार सबके लिए खुला होने से इस पर सबका अधिकार है=इसलिए यह राज-विद्या है, यह समत्व योग राज गुह्य अर्थात् सबसे अधिक गहन और सूक्ष्मतम यानी सबका सार होने से अत्यन्त गुप्त (सूक्ष्म) रूप से सर्वव्यापक है=इसलिए यह राज गुह्य है, यह समत्व योग सबसे पवित्र और उत्तम है अर्थात् इससे द्वैत भाव के व्यक्तिगत अहङ्कार से उत्पन्न होने वाले सब पापों की निवृत्ति होकर शुद्धि होती है और इसके आचरण से अधम-से-अधम दुराचारी भी सुधार कर पवित्र और उत्तम बन जाता है=इसलिए यह सबसे पवित्र और उत्तम है, यह समत्व योग प्रत्यक्ष फल देने वाला नकद धर्म है अर्थात् इसके फल—सब प्रकार के बन्धनों से मुक्ति अर्थात् स्वतन्त्रता या स्वाधीनता—के लिए किसी समय, स्थान या पदार्थ अथवा किसी दूसरे जन्म की प्रतीक्षा करनी नहीं पड़ती, किन्तु जिस क्षण दूसरों के साथ एकता

फिर छूटता नहीं, किन्तु उत्तरोत्तर बढ़ता रहता है और न इससे किसी प्रकार की हानि या अनिष्ट ही होता है, किन्तु इसके थोड़े आचरण से थोड़ा और अधिक से अधिक सुख अवश्य प्राप्त होता है। यह समत्व योग यानी व्यावहारिक वेदान्त सब धर्मों से श्रेष्ठ, सबके लिए समान हितकर, सबको इसका समान अधिकार, अत्यन्त विशाल, सबसे अधिक सूक्ष्म अर्थात् सबका सार और सर्वव्यापक है। इसका जितना अधिक आचरण किया जाय उतना ही अधिक लाभ होता है अर्थात् जितने देश और जितने व्यक्तियों के साथ और जितने समय के लिए एकता के प्रेमभाव से व्यवहार किया जाता है उतनी ही सुख समृद्धि प्राप्त होती है। केवल व्यक्तियों के लिए ही नहीं, किन्तु राष्ट्र और जातियों के लिए भी यही सिद्धान्त लागू है। जो राष्ट्र और जाति परस्पर में तथा दूसरों के साथ जितना ही अधिक एकता का व्यवहार करती है अर्थात् उसकी एकता का क्षेत्र जितना ही अधिक विस्तृत होता है उतना ही अधिक वह राष्ट्र या जाति शक्तिशाली, उन्नत, सुख-समृद्धि सम्पन्न और स्वाधीन होती है।

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्॥
—गी० अ० २।४०

अर्थ—इस समत्व बुद्धि से किए जाने वाले कर्मयोग का एक बार आरम्भ कर देने पर फिर उसके फल का नाश नहीं होता अर्थात् जिस समय एक परमात्मा सब में समान भाव से व्यापक होने के ऐक्य भाव से जगत् के व्यवहार करना आरम्भ किया जाता है उसी समय से उसके फल—आत्मस्वतन्त्रता—का अनुभव होने लगता है और अभ्यास बढ़ते-बढ़ते अन्त में समात्मभाव होकर पूर्ण स्वतन्त्रता या जीवन-मुक्ति प्राप्त हुए बिना नहीं रहती, इसमें किसी प्रकार की त्रुटि, भूल या कमी रह जाने से कोई उलटा फल भी नहीं होता अर्थात् दूसरे धर्मों की तरह इसमें ऐसी सामग्रियों के

उठाने की आवश्यकता नहीं है और न कोई ऐसी क्रिया या विधि ही है कि जिनके पूर्ण न होने से पीछा गिरना पड़े, किन्तु इसमें एक बार लगने से उत्तरोत्तर उन्नति होती है, और इस धर्म का थोड़ा-सा भी आचरण महान भय से रक्षा करता है अर्थात् पहले थोड़े लोगों से यानी अपने कुटुम्ब, जाति, ग्राम या देश के साथ एकता के प्रेम भाव से जुड़कर व्यवहार करने से भी इतना आत्मबल आ जाता है कि किसी प्रकार का भय नहीं रहता, अत्र इस धर्म का थोड़ा भी आचरण करने वाला निर्भय हो जाता है।

राजविद्या राजगुह्य पवित्रमिदमुत्तमम् ।
प्रत्यक्षावगम धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम् ॥

—गी० अ० ९ २

अर्थ—यह ज्ञान और विज्ञान सहित अर्थात् अध्यात्म ज्ञान-युक्त, व्यवहार करने का समत्व योग यानी व्यावहारिक वेदान्त, राज-विद्या है अर्थात् सब विद्याओं का राजा, श्रेष्ठ, सार्वभौम, राज मार्ग की तरह सर्वोपयोगी, सार्वजनिक, अत्यन्त विशाल और सबके सेवन करने योग्य है यानी इसका व्यवहार सबके लिए खुला होने से इस पर सबका अधिकार है=इसलिए यह राज-विद्या है, यह समत्व योग राज गुह्य अर्थात् सबसे अधिक गहन और सूक्ष्मतम यानी सबका सार होने से अत्यन्त गुप्त (सूक्ष्म) रूप से सर्वव्यापक है=इसलिए यह राज गुह्य है, यह समत्व योग सबसे पवित्र और उत्तम है अर्थात् इससे द्वैत भाव के व्यक्तिगत अहङ्कार से उत्पन्न होने वाले सब पापों का निवृत्ति होकर शुद्धि होती है और इसके आचरण से अधम-से अधम दुराचारी भी सुधार कर पवित्र और उत्तम बन जाता है=इसलिए यह सबसे पवित्र और उत्तम है, यह समत्व योग प्रत्यक्ष फल देने वाला नक़द धर्म है अर्थात् इसके फल—सब प्रकार के बन्धनों से मुक्ति अर्थात् स्वतन्त्रता या स्वाधीनता—के लिए किसी समय, स्थान या पदार्थ अथवा किसी दूसरे जन्म की प्रतीक्षा करनी नहीं पड़ती, किन्तु जिस क्षण दूसरों के साथ एकता

का प्रेम-भाव उत्पन्न हुआ उसी क्षण राग-द्वेष से मुक्ति हो जाती है और जिनसे एकता का भाव हो जाता है उनकी सब शक्ति और सम्पत्ति अपनी बन जाती है, अतः राग, द्वेष, ईर्षा और दीनता आदि के दुःख तुरत मिट जाते हैं। इसलिए यह प्रत्यक्ष ही फल देने वाला है, यह समत्व योग धर्म-रूप है अर्थात् यह विश्व धर्म होने से सब धर्मों का इसमें समावेश हो जाता है अतः यह सच्चा धर्म है, इस समत्व योग का आचरण सुख-साध्य है अर्थात् इसके आचरण करने में किसी प्रकार का शारीरिक या मानसिक कष्ट या परिश्रम नहीं होता, न किसी सामग्री के जुटाने की ही आवश्यकता पड़ती है, परन्तु समझने मात्र ही से यथावत् आचरण होने लगता है, और यह समत्व योग अव्यय है अर्थात सदा एक-सा रहने वाला है, घटता-बढ़ता नहीं और इसका फल अनिवार्य्य है।

इस साम्य भाव के व्यवहार से पूर्ण स्वाधीनता अवश्यम्भावी है।

इस तरह समत्व बुद्धि से व्यवहार करना आरम्भ करने के बाद इसमें पूर्ण कुशलता प्राप्त होने के पहले ही यदि शरीर पात हो जाय तो भी इसमें लगा हुआ व्यक्ति दूसरा जन्म इससे भी अच्छे कुल और अच्छी परिस्थिति में लेता है और वहाँ के संस्कारों से वहाँ फिर उसी समत्वयोग में आगे बढ़ता हुआ समय पाकर सर्वोत्तम भाव प्राप्त करके मुक्त हो जाता है अर्थात् आत्मा परमात्मा यानी सब की एकता का प्रत्यक्ष अनुभव कर लेता है। सारांश यह कि साम्य बुद्धि से व्यवहार करने में लगा हुआ व्यक्ति उत्तरोत्तर उन्नत ही होता है, कभी अवनत नहीं होता।

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते।
न हि कल्याणकृत्कश्चिद् दुर्गतिं तात गच्छति॥

—गी० अ० ६ ४०

प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः ।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ॥
—गी० अ० ६ ४१

अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम् ।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम् ॥
—गी० अ० ६ ४२

तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम् ।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन ॥
—गी० अ० ६ ४३

पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः ।
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते ॥
—गी० अ० ६ ४४

प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः ।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम् ॥
—गी० अ० ६ ४५

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः ।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन ॥
—गी० अ० ६ ४६

अर्थ—हे पार्थ ! क्या इस जन्म और क्या दूसरे जन्म में, ऐसे व्यक्ति का अर्थात् साम्य भाव से व्यवहार करने में लगे हुए व्यक्ति का कभी विनाश नहीं होता; क्योंकि कल्याणकारक कर्म करने वाले किसी भी व्यक्ति की दुर्गति नहीं होती।

पुण्य करने वाले व्यक्तियों को मिलने वाले उच्च लोकों को प्राप्त होकर, वहाँ बहुत वर्षों तक निवास करके, फिर वह योग भ्रष्ट अर्थात् साम्य भाव से

कर्म करने में पूर्ण कुशलता प्राप्त किए बिना ही मर जाने वाला यति, पवित्र श्रीमानों के घर में जन्म लेता है अथवा बुद्धिमान कर्मयोगियों (समत्व बुद्धि से व्यवहार करने वालों) के कुल में जन्म लेता है। इस प्रकार का जन्म इस लोक में बड़ा ही दुर्लभ है।

वहाँ (अर्थात् पवित्र श्रीमानों के अथवा बुद्धिमान कर्मयोगियों के घर में जन्म लेकर) उसको अपने पूर्व जन्म में प्रारम्भ किए हुए साम्य बुद्धियुक्त व्यवहार करने के संस्कारों को स्फूर्ति हो आती है और हे कुरुनन्दन! वह उससे आगे बढ़ता हुआ सिद्धि पाने का अर्थात् आत्मज्ञान की पूर्णावस्था को प्राप्त करने का फिर प्रयत्न करता है।

अपने पूर्व जन्म के उस अभ्यास के कारण वह पूर्ण सिद्धि की ओर स्वतः ही खींचा जाता है, अतः जिसको समत्व योग की अर्थात् साम्य भाव में जुड़ने की जिज्ञासा यानी प्रबल इच्छा भी हो जाती है वह व्यक्तिगत स्वार्थ के लौकिक फलों को देने वाले कर्मकाण्ड मय वेदों को उल्लंघन कर जाता है अर्थात् वैदिक कर्म-काण्ड से ऊपर उठ जाता है।

इस प्रकार प्रयत्न पूर्वक उद्योग करते-करते पापों से शुद्ध होकर अर्थात् व्यक्तिगत तामसी मलिन अहङ्कार से मुक्त होकर वह समत्व बुद्धि से कर्म करने वाला कर्मयोगी अनेक जन्मों में उत्तरोत्तर उन्नति करता हुआ अन्त में परम गति को पहुँच जाता है अर्थात् आत्मा-परमात्मा की एकता का दृढ़ अपरोक्ष ज्ञान प्राप्त कर पूर्ण स्वाधीन या मुक्त हो जाता है।

तपस्वियों से अर्थात् व्रत उपवासादि तथा हठयोग के साधन एवं शरीर को कष्ट देने वाली अन्य क्रियाएँ करने वाले तपस्वियों से योगी अर्थात् साम्य बुद्धि से संसार का व्यवहार करने वाला श्रेष्ठ है, ज्ञानी अर्थात् व्यवहार में एकत्व भाव का कुछ भी उपयोग न करके, कोरी ज्ञान की बातें बनाने और पुस्तक पढ़ कर केवल शास्त्रार्थ करने वाले शुष्क ज्ञानियों की अपेक्षा साम्य बुद्धि से संसार का व्यवहार करने वाला कर्मयोगी श्रेष्ठ समझा जाता है और अपने व्यक्तिगत स्वार्थ के लिए कर्म करने वाले अर्थात् श्रौत-स्मार्त एवं पौरा

िणक कर्म काण्डियों की अपेक्षा भी समत्व बुद्धि से व्यवहार करने वाला कर्मयोगी श्रेष्ठ है। इसलिए हे अर्जुन ! तू योगी अर्थात् सवभूतात्मैक्य साम्य भाव से संसार के व्यवहार करने वाला कर्मयोगी बन।

इस तरह व्यवहार न करने से दुर्दशा

सब के हृदय में स्थित, सबके आत्मा, प्रकृति के स्वामी, महायोगेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण के इस सार्वभौम, प्राणी मात्र के लिए सदा इकसार उपयोगी एव सनातन उपदेश के अनुसार जो व्यवहार करते हैं, वे सब प्रकार के बन्धनों से छूट कर स्वतन्त्र एव मुक्त हो जाते हैं, परन्तु जो इसके विपरीत व्यवहार करते हैं उनकी दुर्दशा होती है।

मयि सर्वाणि कर्माणि सन्न्यस्याध्यात्म चेतसा ।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वर ॥

—गी० अ० ३ ३०

अर्थ—मुझमें अध्यात्म बुद्धि से सब कर्मों का सैन्यास करके अर्थात् सब में एकात्म दृष्टि-रूप समत्व बुद्धि से किसी भी प्रकार के फल की आशा, एव ममता छोड़ कर, प्रसन्नतापूर्वक युद्ध कर अर्थात् अद्वैत भाव से, अपने पृथक् व्यक्तित्व के अहङ्कार और अपने पृथक् व्यक्तिगत स्वार्थों का सबसे एकता करके, सबके हित के लिए अपने कर्तव्य-कर्म कर।

ये मे मतमिद नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवा ।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभि ॥

—गी० अ० ३ ३१

ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम् ।
सर्व ज्ञान विमूढास्तान्विद्धि नष्टानचेतसः ॥

—गी० अ० ३ ३२

अर्थ—जो श्रद्धा* युक्त होकर बिना असूया (तिरस्कार) के मेरे इस नित्य अर्थात् सर्वकाल, सर्वदेश, सब व्यक्तियों के समान उपयोगी सनातन मत के अनुसार व्यवहार करते हैं वे सब कर्मों के बन्धनों से छूट जाते हैं अर्थात् मुक्त हो जाते हैं। परन्तु जो दोष दृष्टि से शङ्काएँ करके मेरे इस सनातन मत के अनुसार नहीं बर्तते अर्थात् आत्मनिष्ठ साम्य बुद्धि से अपने कर्तव्य कर्म नहीं करते उन, सम्पूर्ण ज्ञान से विमूढ अर्थात् पक्के मूर्ख अविवेकियों को नष्ट हुए समझो।

---

* श्रद्धा का खुलासा इस पुस्तक के तीसरे प्रकरण में देखिए।

दूसरा प्रकरण

दूसरा प्रकरण

—※—

मनुष्यों (स्त्री पुरुषों) के आत्म-विकाश की पाँच प्रधान श्रेणियाँ

मनुष्य देह में आत्म विकास के अनन्त दर्जे हैं, परन्तु उनके पाँच प्रधान विभाग किये जा सकते हैं।

(१) सब से नीची श्रेणी में बहुत ही अल्प आत्म विकास वाले ड़ प्रकृति के स्त्री पुरुष हैं, जो खनिज वर्ग में रक्खे जा सकते हैं। इनका यरा (कार्यक्षेत्र) केवल अपनी देह तक ही परिमित रहता है। इन :-पाल्ह लोगों को अपने स्थूल शरीर के आधिभौतिक सुख-दुःख आदि के ग्राय दूसरी किसी बात से कोई प्रयोजन नहीं। अपने शरीर के विषय-गों के लिए दूसरों को चाहे कितना ही कष्ट क्यों न हो, इन को इसकी छ भी परवाह नहीं रहती। दूसरों के सुख-दुःख से इनको कोई वास्ता हीं। केवल अपने स्थूल शरीर और अपने व्यक्तित्व को ही सब कुछ मानने ले ये पाषाण प्रकृति के स्त्री पुरुष—खनिज पदार्थों में चाँदी, सोना, रा, माणिक, मोती आदि कीमती वस्तुओं की तरह—चाहे धन-कुबेर एव राजा-बादशाह ही क्यों न हों अथवा विद्वान् पण्डित, साम्प्रदायिक आचार्य या यती-सन्यासी ही क्यों न हों, वे हैं खनिज वर्ग के ही। इन लोगों को लट्टू की उपमा दी जा सकती है, जो अपने शरीर के इर्द गिर्द ही चक्कर काटता रहता है। ये लोग अपने शरीर के रूप, यौवन, बल, बुद्धि, विद्या, ज्ञान, चतुराई, मान, मर्यादा, पद, प्रतिष्ठा, बड़प्पन, पवित्रता, कुलीनता एव धार्मिकता आदि का बड़ा घमण्ड रखते हैं और इन उपाधियों के

घमण्ड में बहुत ही सङ्कीर्ण शारीरिक नियमों का पालन करके दूसरे लोगों का तिरस्कार करते तथा कष्ट देते हैं और स्वयं भी दूसरों से तिरस्कृत हो कर कष्ट पाते हैं। शरीर में अत्यन्त आसक्ति रख कर ये लोग अपने लिए इतने बन्धन और रोगादि उत्पन्न कर लेते हैं कि दूसरों के अधीन होकर अपनी व्यक्तिगत स्वाधीनता एवं शारीरिक सुखों से वञ्चित हो जाते हैं। यदि ये लोग पारलौकिक सुखों की इच्छा करते हैं तो वह भी केवल अपने व्यक्तित्व के लिए ही।

(२) दूसरी श्रेणी के लोग वनस्पति वर्ग के कहे जा सकते हैं। पहली श्रेणी वालों से इन में कुछ अधिक आत्म विकास होता है और इनका दायरा (कार्यक्षेत्र) कुछ विस्तृत हो कर अपने कुटुम्ब तक परिमित रहता है। इन लोगों को अपने शरीर और कुटुम्ब के सिवाय और कुछ भी कर्तव्य नहीं रहता। ये लोग अपने शरीर के अतिरिक्त अपने कुटुम्ब के आधिभौतिक सुखों के लिए भी दौड़ धूप करते रहते हैं और उनके स्वार्थों के लिए दूसरों को हानि पहुँचाने में कुछ भी आनाकानी नहीं करते। इन्हें कोल्हू के बैल की उपमा दी जा सकती है। जिस तरह कोल्हू के बैल का दायरा यद्यपि लट्टू से विस्तृत होता है, परन्तु वह कोल्हू के इर्द गिर्द ही घूमता रहता है; उसी तरह कुटुम्ब-पालक का दायरा यद्यपि पेट-पालू से बड़ा होता है, परन्तु है वह अपने कुटुम्ब तक ही परिमित। ये लोग अपने कुटुम्ब के धन-बल, जन-बल, मान, प्रतिष्ठा, सभ्यता, कुलीनता एवं पवित्रता आदि का बहुत घमण्ड करते हैं और इन बातों के अहङ्कार से दूसरों के साथ घृणा करने, दूसरों को नीचा दिखाने तथा कष्ट देने वाली अत्यन्त सङ्कुचित कौटुम्बिक व्यवस्थाएँ बाँध कर उनका कड़ाई से आचरण करके स्वयं कष्ट उठाते हैं और दूसरों को कष्ट देते हैं। इस तरह अपने कुटुम्ब ही में आसक्ति रखने वाले लोग इन कौटुम्बिक मर्यादाओं से बँधे हुए दूसरे कुटुम्ब वालों से सदा सशंकित और कौटुम्बिक परतन्त्रताओं में जकड़े हुए रहते हैं।

(३) तीसरी श्रेणी के लोग पशु-वर्ग के हैं। इनमें प्रथम और द्वितीय श्रेणी वालों से कुछ अधिक आत्म विकास होता है और इनका दायरा (कार्य्यक्षेत्र) अपनी जाति या समाज तक परिमित होता है। ये लोग अपने शरीर, कुटुम्ब और जाति या समाज को ही सब कुछ मानते हैं, इनके सिवाय दूसरों से इनका ममत्व नहीं रहता। इनके स्वार्थों के लिए दूसरों को हानि या कष्ट पहुँचाना ये लोग नीति सम्मत मानते हैं। इन समाज-सेवियों को घुड़दौड़ के घोड़े की उपमा दी जा सकती है। जिस प्रकार घुड़दौड़ के घोड़े का दायरा (कार्यक्षेत्र) यद्यपि लट्टू और कोल्हू के बैल से बड़ा होता है, परन्तु वह घुड़दौड़ के मैदान के इर्द गिर्द ही चक्कर काटता रहता है, उसी प्रकार इन समाज-सेवियों का दायरा यद्यपि पेट पालू और कुटुम्ब पालक से बड़ा होता है, परन्तु है वह समाज सेवा तक ही सीमा-बद्ध। ये लोग अपनी जाति या समाज के धन-बल, जन-बल, मान, प्रतिष्ठा पवित्रता कुलीनता एवं सामाजिक मर्यादाओं की धार्मिकता आदि का बहुत घमण्ड करते हैं और इन बातों के अहङ्कार से दूसरे समाज के लोगों के साथ घृणा करने, दूसरों को नीचा दिखाने तथा कष्ट देने वाली अत्यन्त सङ्कीर्ण सामाजिक मर्य्यादाओं की व्यवस्थाएँ बाँध कर उनका कट्टरता से आचरण करके स्वय कष्ट उठाते हैं और दूसरों को कष्ट देते हैं। इस तरह अपने समाज ही में आसक्ति रखने वाले ये लोग सामाजिक परतन्त्रताओं से बँधे हुए, दूसरे समाजवालों से सदा सश ङ्कित एवं सामाजिक परतन्त्रताओं से जकड़े हुए रहते हैं।

(४) चौथी श्रेणी के लोग मनुष्य प्रकृति के हैं। इनमें प्रथम तीन श्रेणियों से अधिक आत्म विकास होता है, अत ये उनसे उच्च कोटि के हैं। इनका दायरा (कार्यक्षेत्र) अपने देश तक परमित होता है अर्थात् अपने देश ही को ये लोग सब कुछ मानते हुए, उसके लिए दूसरे देशों के लोगों को कष्ट देना और-हानि पहुँचाना सर्वथा न्याय समझते हैं। इनको चन्द्रमाकी उपमा दी जा-सकती है चन्द्रमा

का दायरा यद्यपि लट्टू, कोल्हू के बैल और घुड़दौड़ के घोड़े से बहुत ही अधिक विस्तृत है, परन्तु यह पृथ्वी के इर्द गिर्द ही चक्कर काटता रहता है। इसी तरह देशभक्तों का दायरा यद्यपि पहले लोगों से बड़ा होता है परन्तु अपने देश तक ही परिमित रहता है। अपना देश दूसरों से अधिक धन, जन एवं शक्ति सम्पन्न, उन्नत, पवित्र, प्रतिष्ठित एवं धार्मिक होने का घमण्ड करके ये लोग दूसरे देशवासियों का तिरस्कार करते हैं, उनको दबाते और उनके साथ ईर्षा करते हैं। इस तरह अपने देश ही में आसक्ति रखने वाले लोग दूसरे देशवासियों से सदा सशंकित और दबे हुए रहते हैं।

(५) पाँचवीं श्रेणी के लोग मनुष्य कोटि से ऊँचे, देव कोटि के होते हैं। इनका आत्म विकाश सबसे अधिक होता है और इनकी बुद्धि महान् हो जाती है। इनका (कार्यक्षेत्र) बेहद अर्थात् सम्पूर्ण विश्व तक फैला हुआ होता है। इनकी किसी व्यक्ति समुदाय या देशविशेष ही में ममत्व की आसक्ति नहीं रहती; किन्तु समस्त भूतप्राणियों की भलाई के लिए ये लोग प्रयत्न करते रहते हैं और सब की सेवा करना अपना कर्तव्य समझते हैं। शारीरिक एवं मानसिक विषम आचरणों के कारण प्राणियों को जो अनेक प्रकार के आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक क्लेश होते हैं—समता के उपचार से—ये महापुरुष उनका निवारण करने का प्रयत्न करते रहते हैं। इनको सूर्य्य की उपमा दी जा सकती है; क्योंकि सूर्य्य के समान स्थित होकर ये लोग सबका एक समान हित करते हैं।

सब से निम्न श्रेणी—अन्तिम वर्ग के लोगों में तमोगुण (अज्ञान) की अधिकता रहती है, सतोगुण बहुत ही कम। और ऊपर की श्रेणियों में ज्यों ज्यों आत्म विकाश बढ़ता है, उसी के अनुसार उत्तरोत्तर सतोगुण बढ़ता और तमोगुण कम होता जाता है; परन्तु किसी भी गुण का सर्वथा अभाव, किसी भी दशा में, किसी भी व्यक्ति में नहीं होता; केवल न्यून

धिक्य का तारतम्य रहता है। फलतः निम्न श्रेणी के लोगों में भी तारतम्य से कुछ-न-कुछ भाव ऊपर की श्रेणियों के अवश्य रहते हैं, इसी तरह ऊपर की श्रेणी वालों में भी य तारतम्य से निम्न श्रेणियों के भाव रहते हैं। यद्यपि खनिजवर्ग के देहवादियों में विश्वप्रेम तक के भाव मौजूद-तो रहते हैं, तथापि वे इतने अल्प और अविकसित होते हैं कि प्रत्यक्ष में प्रतीत नहीं हो सकते। इसी तरह देव वर्ग के महान् पुरुष भी अपने शरीरों से भी प्रेम करते हैं, परन्तु उनमें सतोगुण इतना बढ़ा हुआ रहता है कि किसी शरीर विशेष ही में उनकी आसक्ति नहीं होती; अत व्यक्तिगत शरीरों के प्रति उनका विशेष प्रेम प्रतीत नहीं होता।

तमोगुण जड़ात्मक है, रजोगुण राग और क्रियात्मक एव सतोगुण सुख और ज्ञानात्मक है। सतोगुण से मनुष्य उन्नति करता है, तमोगुण से गिरता है और रजोगुण दोनों के बीच में रहकर चढ़ाने गिराने की क्रिया कराता है।

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसा ।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसा ॥

—गी० अ० १४।१८

अर्थ—सतोगुण का सेवन करने वाले ऊपर को उठते हैं, रजोगुणी बीच में ठहरते हैं और कनिष्ठ तमोगुण का सेवन करने वाले नीचे गिरते हैं।

इसलिए प्रत्येक व्यक्ति को सात्विक आचरणों से अपने में सतोगुण बढ़ाते हुए उन्नति करने और आगे बढ़ने का प्रयत्न करते रहना चाहिए। चाहे खनिज वर्ग का व्यक्ति हो या वनस्पति-वर्ग का; पशु-वग हो या मनुष्य-वर्ग—सबको निरन्तर आगे ही बढ़ते रहना चाहिए। चाहे देव-वग का व्यक्ति ही क्यों न हो, किसी एक स्थिति में ठहर जाना उसके लिए भी पतनकारक है। एक अवस्था में पड़े रहना ही जड़ता अथवा तमोगुण है, अत ठहरने से गिरावट होती है। रजोगुण क्रियाशील होने से अपना

कार्य निरन्तर करता ही रहता है। यदि आगे बढ़ने का प्रयत्न किया जाय तो बढ़ने में सहायक होता है—नहीं तो पीछे गिरा देता है। ऊपर उठने में प्रयत्न करने की आवश्यकता रहती है, गिरना तो प्रयत्न के बिना ही हो जाता है।

रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत।
रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा॥
—गी० अ० १४।१०

अर्थ—रजोगुण और तमोगुण को दबा कर सत्व अधिक होता है और रज एवं सत्व को दबा कर तम अधिक होता है, इसी प्रकार तम और सत्व को दबा कर रज अधिक होता है।

इसलिए प्रत्येक वर्ग के व्यक्ति को अपने आचरणों को सात्विक बना कर आगे बढ़ने में तत्पर रहना चाहिए। अपने-अपने वर्ग के उपयुक्त आचरणों को सात्विक बना कर ही प्रत्येक व्यक्ति अपनी क्रमोन्नति करता हुआ बिना रुकावट के अन्तिम दर्जे (परमात्म भाव) तक पहुँच सकता है। यदि आचरण सात्विक बनाने का प्रयत्न नहीं किया जाय तो तमोगुण की वृद्धि होकर ऊपर चढ़े हुओं की भी पीछी गिरावट हो जाना स्वाभाविक है; अतः चढ़ना और गिरना अपने ही अधिकार में है।

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः॥
—गी० अ०

अर्थ—अपना उद्धार आप ही करें, अपने आपको गिरने न दें क्योंकि आप ही अपना बन्धु और आप ही अपना शत्रु है।

प्रथम श्रेणी अर्थात् खनिज-वर्ग के मनुष्यों (स्त्री-पुरुषों) के सात्विक आचरण

स्वतन्त्रता या मुक्ति की इच्छा रखने वाले खनिज-वर्ग के स्त्री-पुरुषों को अपने शरीर के आचरण सात्विक बनाना चाहिए। क्योंकि इस शरीर में रह कर ही मनुष्य (स्त्री पुरुष) जीवात्मा-परमात्मा अर्थात् व्यष्टि-समष्टिकी एकता का अनुभव प्राप्त कर सकता है। और इस शरीर द्वारा ही मनुष्य (स्त्री पुरुष) ससार-रूपी नाटक का खेल सब के साथ एकता के प्रेम * भावयुक्त करके स्वतन्त्रता अथवा मुक्ति प्राप्त कर सकता है। शरीर की स्वाभाविक आवश्यकताओं तथा प्राकृतिक वेगों को सम * आहार और सम * विहार द्वारा शान्त करके, शीत, उष्ण, रोग, विपत्तियों आदि से उसकी रक्षा करके तथा शुद्ध वायु में, साफ सुथरा रख कर उसे आरोग्य, सुदृढ़ एव बलवान बना कर दीर्घजीवी बनाना चाहिए, जिससे उसके द्वारा सात्विक आचरण होकर शारीरिक बन्धनों से छुटकारा मिले।

आहार

आहार सात्विक—शरीर को पोषण करने एव उसे आरोग्य, बलवान तथा सुदृढ़ बनाए रखने की दृष्टि से करना चाहिए, न कि केवल जिह्वा के स्वाद के लिए जिह्वा के स्वाद को गौण मान कर, जहाँ तक बन सके, सादा और सम भोजन करना चाहिए। आयु, विवेक-शक्ति, बल, आरोग्यता, सुख और प्रीति बढ़ाने वाले (अर्थात् खाने के बाद जिनसे अजीर्ण आदि रोग, दु:ख और अरुचि पैदा न हो। किन्तु सब प्रकार से आराम मिले); रसदार चिकने, अधिक ठहरने वाले, हृदय को शक्ति देने वाले, शुद्ध किए हुए तथा अच्छी तरह पकाये हुए युक्त अर्थात् जितना आराम के साथ पच जाय उतनी मात्रा में नियमित समय पर खाना सात्विक आहार है।

---

* तृतीय प्रकरण में प्रेम और समता का खुलासा देखिए।

रजोगुणी तमोगुणी आहार भरसक न खाना चाहिए। अति कड़वे, अति खट्टे, अति खारे अति गर्म (जलते हुए) अति तीखे; अति रूखे, दाह उत्पन्न करने वाले; जिनके खाने से दुःख, शोक और रोग उत्पन्न हों (अर्थात् अधिक मात्रा में तथा अनियमित रूप से अनेक बार असमय में खाना); दुःख से बचने वाले; बासी, नीरस, दुर्गन्धयुक्त, एक से अधिक बार संस्कार किए हुए, जूठे, बुद्धि को हानि पहुँचाने वाले और मैले आहार राजसी-तामसी होते हैं।

जल पवित्र, साफ, छना हुआ, मीठा, न अति ठण्डा और न उष्ण पीना चाहिए।

किसी प्रकार का व्यसन—मादक पदार्थ धूम्रपान, सुरती, तम्बाकू आदि, बीमारी के बिना चाय, काफी, बर्फ, लेमनेड, सोडा-वाटर आदि तथा अनजानी विदेशी खाने-पीने की चीजें एवं बिना रोग के औषधि सेवन आदि से सर्वथा बचे रहना चाहिए।

यह बात सभी बुद्धिमान लोग मानते हैं कि आहार विहार का प्रभाव मनुष्य की बुद्धि पर अवश्य ही पड़ता है। आर्य्य-संस्कृति तो यहाँ तक मानती है कि नीति से उपार्जन किया हुआ आहार बुद्धि को शुद्ध रखता है और अनीति से किया हुआ आहार उसको मलिन करता है। तात्पर्य यह कि आहार शुद्धि को हमारे यहाँ बहुत ही महत्त्व दिया गया है और खाने-पीने के लिए मुँह पर एक प्रकार से मोहर-सी लगाई हुई रखना आवश्यक समझा गया है। सात्त्विक आहार से बुद्धि निर्मल होती है और राजस-तामस से मलिन, परन्तु वर्तमान में बुद्धि पर प्रभाव पड़ने का सूक्ष्म विचार तो छूट गया और उसके स्थान में रूढ़िवाद पर आस्था रखनेवाले लोग छूआछूत, कच्ची-पक्की, जाति-पाँति आदि के स्थूल विचारों तथा पुस्तकों के प्रमाणों पर ही शुद्धि अशुद्धि का निर्णय करने लगे, जिससे आहार की शुद्धि के बदले उसमें महान् अशुद्धि होकर इतनी विषमता आ गई कि बुद्धि सदा मलिन रहने लगी और शरीर अनेक प्रकार के रोगों

का निवास-स्थान हो गया। लोगों ने खाने पीने में इतनी अनावश्यक संकीर्णता करली कि जिससे वे संसार के व्यवहार अच्छी तरह करने लायक ही नहीं रहे, अर्थात् भिन्नता के भावों की वृद्धि होकर इन लोगों का आपस का प्रेम और एकता जड़ से उखड़ गई, जिससे दूसरे लोगों की प्रतिद्वन्द्विता में ठहरना मुश्किल हो गया। चोरी तथा ठगी से धन संग्रह करके पुण्यपर्वों, उत्सवों और पितृ-कर्मों के उपलक्ष में बड़े बड़े राजसी तामसी भोजनों के आडम्बर किये जाते हैं, जिनमें अनजाने विदेशी घी, खाण्ड, केशर आदि पदार्थों से तथा मांसाहारी और गौहिंसकों से खरीदे हुए अशुद्ध दूध मावे आदि से बने हुए खाद्य पदार्थ शुद्ध मानकर खाना खिलाना परम धर्म समझा जाता है, परन्तु शुद्ध-सात्विक पदार्थों से बने हुए रोटी दाल-भात आदि यदि अपनी जाति के फिरके से भिन्न फिरके का कोई व्यक्ति छू ले तो वे इनके नजदीक अशुद्ध हो जाते हैं और उनके खाने से इनका धर्म डूब जाता है।

दूसरी तरफ नए फैशन के लोग आहार विहार की शुद्धि-अशुद्धि के विचार को केवल ढकोसला मानते हैं और इस विषय में सावधानी रखने की कुछ आवश्यकता नहीं समझते। खाने-पीने में इस बात की जाँच वे लोग बहुत ही कम करते हैं कि जो चीजें वे खाते हैं वे किन पदार्थों की, कहाँ, कैसे बनी हैं तथा किसने बनाई हैं और जिसके हाथ से वे खाते हैं वह व्यक्ति किस आचरण का है। इत्यादि। देखने में फैंसी, खूबसूरत, जिह्वा को स्वाद लगने वाली और फैशन के अनुकूल चाहिए, फिर मुँह का फाटक बेरोकटोक खुला रहता है। विदेशों में बने हुए अनजाने खाद्य पदार्थ (Patent food) बड़े शौक से खाए जाते हैं और बालकों को भी उन्हीं के खाने का अभ्यास कराया जाता है। चाय, तमाखू, नशा आदि व्यसन की चीजें शिष्टाचार की सामग्री गिनी जाती हैं और बर्फ, सोडा-वाटर, लेमनेड तथा विदेशी दवाइयाँ खाते रहना अमीरों का फैशन हो गया है।

इन रजोगुणी-तमोगुणी खाने की चीजों के विषम आहार से न तो शरीर आरोग्य रह सकता है और न बुद्धि ही सात्विक हो सकती है। इस लिए सात्विकता की इच्छा रखने वाले लोगों को इनसे बचना आवश्यक है। आहारशुद्धि के लिए बहुत ही सावधान रहना चाहिए।

वस्त्र

शरीर को शीत, उष्ण तथा रोगादि से बचाने एवं लज्जा निवारण के उद्देश्य से समाज की तथा स्वयं अपनी मर्यादा के अनुसार, अवसर और परिस्थिति की आवश्यकता के उपयुक्त वस्त्र पहिनना चाहिए, न कि केवल दिखावे की सुन्दरता बढ़ाने के लिए। किसी विशेष ढङ्ग के पोशाक में आसक्ति और कट्टरता नहीं रखनी चाहिए। यथाशक्य मोटा, सादा और साफ-सुथरा स्वदेशी वस्त्र पहिनना चाहिए। केवल दिखावे की चटक-मटक के बारीक और रेशम आदि के महीन वस्त्र न तो शरीर को शीत उष्ण तथा रोगादि से सुरक्षित रख सकते हैं और न वे लज्जा निवारण ही करते हैं।

व्यायामादि विहार

शरीर में वात-पित्त-कफादि दोषों को सम रखकर बल और दृढ़ता कायम रखने एवं उनके बढ़ाने के लिए शक्त्यानुसार स्त्री और पुरुष सबको परिश्रम अवश्य करना चाहिए। जहाँतक हो सके, उत्पादक श्रम ही करना, परन्तु यदि ऐसा न हो सके तो व्यायाम नित्य नियम से करना चाहिए। अमीरी, आलस्य या प्रमाद में निकम्मे रह कर शरीर को शिथिल न बनाना चाहिए। यथाशक्य स्वदेशी व्यायाम करना चाहिये। ज्ञान न होने के कारण देशी सादे व्यायामों से घृणा करके विदेशी बहुत खर्चीले व्यायाम और खेलों में आसक्ति रखना सात्विकता के विरुद्ध है। वास्तव में देशी सादे व्यायाम और खेल बहुत अल्प खर्चीले होते हुए भी विदेशी आडम्बरों से कम लाभदायक नहीं। शक्त्यानुसार पैदल घूमने का अभ्यास अवश्य रखना चाहिए; सवारी आदि में बैठकर आने-जाने में इतना आस-

क न हो जाना चाहिए कि पैदल चलने की आदत ही छूट जाय और आवश्यकता पड़ने पर पैदल चलने में दुःख हो।

इसी तरह शरीर के दूसरे विहार भी यथाशक्य सादे बनाये रखने चाहिए, ताकि काम पड़ने पर परवशता न रहे और शरीर रोगों से मुक्त रहे।

ब्रह्मचर्य्य*

काम के वेग की शान्ति के लिए पुरुष को अपनी स्त्री के साथ और स्त्री को अपने पुरुष के साथ केवल ऋतुकाल में—वैद्यक शास्त्र के बँधे हुए नियमों के अनुसार—विषय करना चाहिए। अमर्य्यादित रूप से, असमय में और पराए स्त्री-पुरुष से सङ्ग कदापि नहीं करना चाहिए। शरीर को आरोग्य, सुदृढ़ एवं बलवान बनाने और मन-बुद्धि की सात्विकता के लिए वीर्य की रक्षा करना अत्यन्त आवश्यक है; इसलिए इस विषय में बहुत ही संयम से रहना चाहिए। विषयानन्द के लिए वीर्य का ज़रा भी अपव्यय नहीं करना चाहिए।

दूसरी इन्द्रियों के विषय भी मर्य्यादित-रूप से संयम के साथ भोगना चाहिए उनमें आसक्त होकर तल्लीन न होना चाहिए। अनियमित विषय भोगों से ही शरीर कमजोर होकर रोग ग्रसित होता है। आँखों से प्रिय पदार्थों को देखने, कानों से प्रिय ध्वनियों के सुनने, नासिका से सुगन्धित वस्तुओं के सूँघने, त्वचा से सुहावने पदार्थों के स्पर्श करने, जिह्वा से खान पान के स्वादिष्ट रसास्वादन लेने आदि शौकीनी के भोगों की ऐसी आदत न डालनी चाहिए कि उनके न मिलने पर चित्त में विक्षेप हो। यदि उपरोक्त भोग्य पदार्थ अधिक प्रयास के बिना प्राप्त हों अथवा गुणियों के गुण तथा कारीगरों के कला-कौशल की रक्षा अथवा व्यवसायियों को सहायता देने के लिए व्यवहार में लाना उचित प्रतीत हो तो उनको अनासक्त बुद्धि

---

*तृतीय प्रकरण में ब्रह्मचर्य्य का खुलासा देखिए।

से मन[*] और इन्द्रियों[*] को वश में रखते हुए भोगने में हानि नहीं। परन्तु उनको निरन्तर भोगने के लिए प्रयास करने, उनकी प्राप्ति के लिए चिन्तित रहने तथा रात दिन उनका ही ध्यान करते रहने से महान् अनर्थ होते हैं और वे सच्चे सुख में बहुत बाधक होते हैं, क्योंकि विषयभोगों का सुख राजसी होने से परिणाम में महान् दुःखदायक होता है।

> विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम् ।
> परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम् ॥
>
> —गी० अ० १८।३८

अर्थ—इन्द्रियों और उनके विषयों के संयोग से होने वाला (क्षणिक) सुख राजस कहा जाता है। यह पहिले तो अमृत के समान प्रतीत होता है, परन्तु उसका परिणाम विष के समान होता है।

> ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते ।
> आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः ॥
>
> —गी० अ० ५।२२

अर्थ—क्योंकि (बाह्य पदार्थों के) संयोग से उत्पन्न होने वाले भोग, उत्पत्ति और नाश वाले हैं, अतएव वे दुःख के ही कारण हैं। हे कौन्तेय! बुद्धिमान लोग इनमें आसक्त नहीं होते।

नित्य कर्म

सवेरे सूर्योदय से पहिले—जितनी जल्दी हो सके—उठ कर, बिस्तर छोड़ने के पूर्व सर्वान्तर्यामी, सर्वव्यापक, परमात्मा का स्मरण-ध्यान करना चाहिए। फिर शौच, दातुन, स्नान आदि से शरीर के सब अङ्गों को साफ और शुद्ध करने के उपरान्त कुछ नियमित समय तक ईश्वरोपासना, मन को एकाग्र करने के लिए यानी अपने व्यक्तित्व को सुसंस्थित करने के अभ्यास

---

[*] शम और दम का खुलासा तृतीय प्रकरण में देखिए।

के लिए, सात्विक भाव से—किसी फल की आशा न रख कर—अवश्य करनी चाहिए; अर्थात् दिन भर संसार के व्यवहार करने में एक परमात्मा सर्वत्र एक समान व्यापक होने का साम्य भाव चित्त में बना रहे, ताकि आत्मा के विमुख अर्थात् बन्धन करनेवाले व्यवहार शरीर से न बने, यानी दूसरों के साथ राग-द्वेषादि के आसुरी व्यवहार न हों; इसलिए सुबह के प्रशान्त समय में कुछ समय तक मनको सर्वात्मा = परमात्मा के चिन्तन रूप एकता में जोड़ना चाहिये।

ईश्वरोपासना विधि*

सार्वात्मा = परमात्मा का सबसे अधिक—यथार्थ बोध करानेवाला शब्द अथवा चिन्ह "प्रणव" अर्थात् "ॐकार" है, क्योंकि इस एक अक्षर में ही परमात्मा के सत् चित् आनन्द-स्वरूप, उसकी सर्वव्यापकता तथा विश्व की आधिभौतिक, आधिदैविक एवं आध्यात्मिक एकता का भाव भरा हुआ है।

प्रणव सर्ववेदेषु।

—गी० अ० ७.८

अर्थ—सब वेदों में ॐकार मैं हूँ।

इसलिए उक्त अर्थ सहित "ॐ" के स्मरण और जपछ द्वारा परमात्मा की उपासना करना सब से श्रेष्ठ है तथा स्त्री; पुरुष; ऊँच, नीच सब कोई उसको बहुत ही सुगमता से कर सकते हैं। परन्तु यदि पहले उसमें मन न लगे तो प्रथमावस्था में—केवल साधन-मात्र के लिए—अपनी अपनी रुचि के अनुसार, सगुण अथवा निर्गुण उपासना, चाहे किसी मूर्ति, चित्र अथवा दूसरे चिन्ह को लक्ष्य कर अथवा ध्यान द्वारा—जिसमें मन लगे—करे। परन्तु अपने उपास्य देव को एक व्यक्ति या एकदेशी अथवा उत्पत्ति विनाश वाला न समझना किन्तु अज, अविनाशी, जगदीश्वर,

---

*तृतीय प्रकरण में ईश्वर भक्ति तथा जप का खुलासा देखिए।

जगन्नियन्ता जगदाधार, सर्वव्यापी, सर्वज्ञ, सर्व शक्तिमान आदि गुणों का चिन्तन करते हुए उसकी उपासना करनी चाहिए। उसमें रजोगुणी तमोगुणी भाव अर्थात् काम, क्रोध, लोभ, मद, शोक, शीत, उष्ण, क्षुधा, तृषा, राग द्वेष आदि का आरोप कर, रजोगुणी-तमोगुणी पदार्थों द्वारा और रजोगुणी-तमोगुणी भावों से उपासना नहीं करनी चाहिए; क्योंकि परमात्मा केवल सात्विक एवं अनन्य भक्ति से प्रसन्न होता है, न कि रजोगुणी-तमोगुणी पदार्थों तथा भावों से संसार में ऐसा कोई पदार्थ नहीं जो परमात्मा से पृथक् हो, इसीलिए उसकी उपासना करने के लिए किसी पदार्थ की आवश्यकता नहीं रहती।

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः॥
—गी० अ० ९।२६

अर्थ—जो भक्ति से मुझे पत्र, पुष्प फल अथवा जल (अर्थात् जो वस्तुएं बिना अधिक प्रयास के प्राप्त हो सकती हैं वे) अर्पण करता है उस नियत चित्त व्यक्ति की भक्तियुक्त भेंट को मैं (प्रसन्नतापूर्वक) ग्रहण करता हूँ। अर्थात् प्रत्येक देहधारी की देह में मैं सर्वात्मा-परमात्मा ही रहता हूँ। अतः मेरी उन देहों के उपयुक्त तथा उनकी आवश्यकता और अपनी योग्यता के अनुसार पत्र, पुष्प, फल या जल ही के द्वारा जो मेरी उन देहों की सेवा करता है—जिस तरह पशु-पक्षियों को घास, दाना, पुष्प आदि से और मनुष्यों की फल जल आदि से अर्थात् जो पदार्थ साधारण स्थिति के लोगों को भी सहज में ही प्राप्त हो सकते हैं उनसे प्रेम पूर्वक जो सेवा करता है, अथवा स्थूल बुद्धि के साधारण व्यक्तियों के एकाग्र होने के प्रयोजन से उपासना के लिए कल्पित की हुई देव मूर्तियों, चित्र एवं दूसरे चिन्हों पर केवल पत्र, पुष्प, फल और जल ही जो भक्ति से

पढ़ाता है, उसे—सब के साथ प्रेम में जुड़े हुए—व्यक्ति की उक्त भेंट से मैं समष्टि आत्मा=परमात्मा बहुत प्रसन्न होता हूँ।

> समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
> ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्॥
>
> —गी० अ० ९ २९

अर्थ—सब भूतों में मैं एक समान हूँ, मुझे न तो कोई पदार्थ अप्रिय है और न कोई प्रिय। जो भक्ति से मेरा भजन करते हैं अर्थात् जो मुझ परमात्मा को सब में एक समान देखकर सब की प्रेमयुक्त सेवा और आदर करते हैं वे मुझ में हैं और मैं उनमें हूँ अर्थात् वे मेरे साथ एक हो जाते हैं।

> गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा।
> पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः॥
>
> —गी० अ० १५ १३

अर्थ—पृथ्वी के अन्दर रह कर सब भूतों को मैं सर्वात्मा-परमात्मा अपने तेज से धारण करता हूँ। रसात्मक सोम होकर सब ओषधियों अर्थात् वनस्पतियों का पोषण मैं ही करता हूँ।

इसीलिए जब संसार का कोई भी पदार्थ उससे अलग नहीं तो उसकी मूर्ति के सामने पदार्थ या भोग्य सामग्री रखने मात्र की उपासना से वह प्रसन्न नहीं होता। पदार्थ तो सांसारिक लोगों की आवश्यकताओं को पूरी करने के लिए होते हैं। इसलिए जिसके पास पदार्थ हों उसको उन पदार्थों से देहधारियों की आवश्यकताएँ पूरी करनी चाहिए, यही परमात्मा की सच्ची उपासना है, क्योंकि वही सब प्राणियों में रहकर सब भोग भोगता है।

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः ।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ॥

—गी० अ० १५।१४

अर्थ—मैं ही वैश्वानर अग्नि होकर सब प्राणियों की देहों में रहता हूं और प्राण, अपान वायु के समान योग से चार प्रकार के अन्न (भोग्य पदार्थों) को पचाता हूं (भोगता हूं)।

सांसारिक फलों के लिए देवताओं का पूजन

सांसारिक फलों की प्राप्ति के लिए की हुई राजसी उपासना से तात्कालिक फल तो प्राप्त होते हैं, परन्तु वे एकत्व भाव अर्थात् सत्यज्ञान अथवा मोक्ष प्राप्ति के मार्ग में बाधक होते हैं।

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः ।
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया ॥

—गी० अ० ७।२०

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति ।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम् ॥

—गी० अ० ७।२१

स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते ।
लभते च ततः कामान्मयैव विहितान्हि तान् ॥

—गी० अ० ७।२२

अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम् ।
देवान्देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि ॥

—गी० अ० ७।२३

अर्थ—भिन्न-भिन्न कामनाओं से विक्षिप्त बुद्धि वाले लोग अपनी अपनी प्रकृति के वश, मुझ समष्टि आत्मा=परमात्मा से भिन्न देवताओं को मान कर, उपासना के भिन्न-भिन्न नियम पालन करके, उनका यजन पूजन करते हैं।

जो-जो देव-भक्त जिस-जिस शरीरधारी देवता की श्रद्धा⊛ पूर्वक पूजा करने का इच्छा करता है उस-उस की श्रद्धा, मैं (सबका आत्मा-परमात्मा) उस-उस देवता में स्थिर कर देता हूँ।

उस श्रद्धा से युक्त वह (भक्त) उस (देवता) की आराधना करता है और उसी के अनुसार उसकी कामनाओं की यथायोग्य पूर्ति, मुझ (सबके-आत्मा-परमात्मा) ही से होती है।

परन्तु इन अल्प बुद्धि वाले लोगों को मिलनेवाले ये फल नाशवान होते हैं। देवताओं को भजने वाले देवताओं को प्राप्त होते हैं और मेरे भक्त मुझे प्राप्त होते हैं।

भावार्थ यह है कि परमात्मा से भिन्न न तो पूजा करने वाला है और न पूजा जाने एवं फल देने वाला देवता ही। परन्तु पृथकता के भ्रम से अपने व्यक्तित्व को अलग मानने के तामसी अहङ्कार वाले लोग अपने विषय-सुखों एवं धन पुत्रादि की कामनाओं से आतुर होकर आप ही—अपनी उन कामनाओं युक्त मन से—अलग अलग देवता कल्पित कर लेते हैं और आप ही (उनमें स्थापित की हुई) अपनी अचल श्रद्धा से—फल उत्पन्न कर लेते हैं। यदि एक ही देवता को मानने वालों की संख्या बहुत हो और उसमें उनकी अचल (दृढ़) श्रद्धा हो तथा सब मानने वालों में इस विषय में आपस की एकता का भाव हो तो उस बढ़ी हुई सम्मिलित भावना के कारण लोगों की कामनाओं की पूर्ति की अधिक सम्भावना रहती है। परन्तु इन विषय-सुखों की कामनाओं की प्राप्ति के लिए उत्पन्न होने

⊛ श्रद्धा का खुलासा तृतीय प्रकरण में देखिये।

वाली श्रद्धा का फल, इन विषय-सुखों को देने वाले कल्पित देवताओं को उत्पन्न करके, उनके द्वारा इन नाशवान् कामनाओं की प्राप्ति कर लेने के अतिरिक्त और कुछ नहीं होता। परन्तु जिनको सर्वत्र एक परमात्मा का निश्चय होता है वह अपने व्यक्तित्व को उसमें समर्पण कर देते हैं, वे परमात्म भाव को प्राप्त हो जाते हैं।

अपने उपास्य देव में पूर्ण श्रद्धा रखते हुए दूसरों के इष्ट की निन्दा या अनादर न करना चाहिए, किन्तु सबके देवों में अपने उपास्य देव को व्यापक देखना चाहिए; क्योंकि सब चराचर सृष्टि में एक ही परमात्म ओत प्रोत भरा हुआ है। भिन्न भिन्न मजहब, भिन्न भिन्न मत तथा भिन्न भिन्न सम्प्रदाय वाले चाहे उसको भिन्न भिन्न नामों तथा भिन्न भिन्न उपाधियों से विभूषित करके उसकी उपासना भिन्न भिन्न तरीकों से भले ही करें, परन्तु वास्तव में सब नामों और सब उपाधियों में एक परमात्मा के सिवाय दूसरा कोई है ही नहीं—यह दृढ़ निश्चय रखना चाहिए। जो इस तरह परमात्मा के एकत्व भाव के तत्व को न जान कर, भिन्न-भिन्न मतों के ईश्वर को पृथक् पृथक् मानते हैं वे परमात्मा को प्राप्त नहीं हो सकते।

येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम्॥
—गी० अ० ९।२३

अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च।
न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते॥
—गी० अ० ९।२४

अर्थ—हे कौन्तेय! मुझ परमात्मा से भिन्न, अन्य देवता मान कर श्रद्धायुक्त पूजन करने वाले भी मेरा ही पूजन करते हैं, परन्तु वह पूजन विधिहीन होता है।

क्योंकि सब यज्ञों का भोक्ता और स्वामी मैं ही हूँ, परन्तु वे तत्त्व से मुझे नहीं जानते, इसलिए गिर जाया करते हैं।

तात्पर्य यह कि जब एक परमात्मा के सिवाय दूसरा कुछ है ही नहीं, तो देवताओं की कल्पना करके उनको पूजने वाले भी परोक्ष रूप से परमात्मा ही का पूजन करते हैं, परन्तु ये लोग देवताओं को परमात्मा से पृथक् मानकर व्यक्तिगत स्वार्थ सिद्धि के भाव से उनका पूजन करते हैं, एकत्व भाव से नहीं करते, अत वह विपरीत भाव का पूजन उनके पतन का कारण होता है। यहाँ इतना कह देना आवश्यक प्रतीत होता है कि अधिकाश हिन्दू जनता इस विपरीत भाव की पूजक है। अपने अपने स्वार्थों की सिद्धि के लिए ये लोग अगणित देवी-देवताओं की कल्पना करके नाना प्रकार से देव पूजा, मरे हुए असख्य पितरों की प्रेत पूजा और भौतिक जड़ पदार्थों की भूत पूजा करने में ही सन्तोष नहीं करते, किन्तु अन्य मतावलम्बियों क पीर-पैगम्बरों को भी पूजते हैं और अपनी इष्ट सिद्धि तथा अनिष्ट निवारण के लिए सर्वथा उन पर निर्भर रहते हुए अपनी आत्मा को उनके गिरवी रख कर पूरे परावलम्बी बने हुए हैं, फलत उनमें आत्म-बल की नितान्त ही कमी एव स्वावलम्बन का भाव लुप्त हो गया है। इस तामसी आचरण से सर्व व्यापक परमात्मा की अवज्ञा ही नहीं होती, किन्तु यह एक प्रकार की नास्तिकता है, जिसका दुष्परिणाम ऊपर के श्लोकानुसार प्रत्यक्ष ही दृष्टिगोचर हो रहा है।

सार्वजनिक उपासना

स्थूल बुद्धि के लोगों के लिए श्रद्धापूर्वक ईश्वरोपासना करना इसलिए आवश्यक है कि स्थूल शरीर ही में उनकी अत्यन्त आसक्ति होने के कारण वे लोग प्राय शरीर ही सब कुछ मानते हैं, इससे परे कोई सूक्ष्म तत्व है ही नहीं, उनको ऐसा निश्चय होने की अधिक सम्भावना रहती है और स्थूल शरीरों में अनन्त प्रकार के भेद होते हैं, इसलिए इस निश्चय से आपस में एकता का प्रेम हो नहीं सकता। अत स्थूल शरीरों से पर परमतत्व के अस्तित्व तथा उसकी सर्वव्यापकता एव सर्वशक्तिमत्ता का

विश्वास जमाए रखने के निमित्त उनके लिए ईश्वरोपासना श्रद्धापूर्वक करना आवश्यक है और इस प्रयोजन की पूर्णतया सिद्धि के लिए भी अपने घरों में बैठे हुए पृथक् पृथक् उपासना करने की अपेक्षा सार्वजनिक मन्दिरों या उपासना-स्थानों में नियत समय पर, स्त्री-पुरुष ऊँच-नीच सबको एकत्रित होकर, उपरोक्त सात्त्विक भाव से एक ही परमात्मा की उपासना करना अधिक श्रेयस्कर होता है। एक ही काल में, एक ही स्थान पर, एकत्रित होकर एक ही ईश्वर की उपासना करने से सब में प्रेम और एकता का भाव बढ़ता है। स्त्रियों को अपने अपने पति तथा अन्य स्वजनों के साथ जाना चाहिए। मन्दिर और उपासना-स्थान पवित्र एवं रमणीय प्रदेश में इस तरह विशाल और खुलासा बने हुए होने चाहिए कि जिसके अन्दर जाने से हृदय में सात्त्विकता उत्पन्न हो। उनमें एकान्त पास के बन्द कमरे न होने चाहिए, किन्तु बड़े-बड़े सभा-मण्डप व दालान होने चाहिए, कि जहाँ कोई किसी के साथ किसी प्रकार का गुप्त व्यवहार न कर सके। उपासना यदि कविता में की जाय तो वह कविता सब उपासकों के समझ में आने योग्य होनी चाहिए। यदि संगीत में की जाय तो सब उसमें सम्मिलित हो सकें, ऐसा संगीत होना चाहिए। यदि कथा उपदेश द्वारा हो तो वह भी सबके समझने लायक होना चाहिए। इन कविताओं, गायनों तथा कथा-उपदेशों में यही भाव रहना चाहिए कि परमात्मा सर्वत्र एक समान व्यापक है; जो मूर्ति, चित्र या लिंग में है, वही मन्दिर के भवन में और वही पुजारियों और उपासकों में है। उनमें व्यक्तित्व के भाव और व्यक्तिगत स्वार्थों के त्याग का उपदेश तथा सबमें प्रेम और एकता के भाव भर रहने चाहिए एवं सात्त्विक व्यवहारों का शुभ परिणाम और राजस-तामस व्यवहारों से दुःख उत्पन्न होने की शिक्षा बार-बार आनी चाहिए। मन्दिर और उपासना-स्थान उपासकों के लिए परमपिता परमात्मा के घर हैं, अतः उन पर उसके सब सन्तानों का समान अधिकार है; इसलिए उपासना-स्थानों में प्रवेश का अधिकार

सबको एक समान रहना चाहिए—चाहे उस नगर या ग्राम का निवासी हो अथवा बाहिर का आगन्तुक; चाहे वह किसी वर्ण, किसी जाति और किसी स्थिति का हो—किसी के लिए भी भेद या परहेज न होना चाहिए। मन्दिरों और तीर्थ-स्थानों की स्थापना का यही प्रयोजन था कि लोग नियत समय पर, एक स्थान में एकत्रित होकर एक परमात्मा की उपासना द्वारा आपस में प्रेम बढ़ावें और एकता की शिक्षा प्राप्त करें। वहाँ सार्वजनिक हित के कार्यों का अनुष्ठान हो, आगन्तुकों को आश्रय मिले और सब कोई सम्मिलित होकर एक-दूसरे के सहयोग और सहायता से दु खों की निवृत्ति और सुख प्राप्ति के उपाय करें। मन्दिरों की बनावट और उनके पुराने समय की कार्यक्रम की व्यवस्थाएँ इन्हीं उद्देश्यों की पूर्ति के अनुकूल बनी हुई थीं। परन्तु जब से भारतवर्ष के लोगों ने व्यावहारिक वेदान्त से उपेक्षा की तब से इन देवस्थानों की स्थापना का असली तत्त्व तो लुप्त हो गया, केवल प्रक्रिया रह गई और इनके सम्बन्ध में व्यक्तिगत स्वार्थ एवं व्यक्तित्व के अहङ्कार के भाव बढ़ कर घोर दुर्दशा हो गई और परस्पर का प्रेम एवं एकता बढ़ाने के बदले ये देवस्थान अनेकता और फूट फैलाने तथा कुकर्म करने के वृहत् साधन हो गए। एक-एक नगर और ग्राम में नाना सम्प्रदायों के अनेक मन्दिर बन गये और बन रहे हैं; जिन में से अधिकांश का उपयोग कुकर्मों के लिए होता है। उपासना में व्यक्तित्व के भाव का यहाँ तक अतिक्रम हुआ है कि घर घर में पृथक् पृथक् मन्दिर स्थापित होकर भी सन्तोष नहीं हुआ, किन्तु एक ही कुटुम्ब के प्रत्येक व्यक्ति के अलग अलग उपास्य देव अपनी अपनी पिटारियों में बन्द करके रक्खे जाते हैं। ऐसी दशा में परमात्मा की सर्वव्यापकता और सर्वात्म साम्य-भाव की एकता का विचार ही कैसे उत्पन्न हो। जबतक परमात्मा की उपासना में भी इस तरह की पृथकता का भाव बना रहेगा, तबतक भारत का उत्थान होना असम्भव है। अत: सबके हित की दृष्टि से प्रत्येक नगर और गाँव में सार्वजनिक उपासना को पुनर्जीवित करना आवश्यक है

यज्ञ*

संसार के खेल में अपने-अपने गुणों की योग्यता के अनुसार जो पद अपने जिम्मे हो उसको अपना कर्त्तव्य समझकर, सचाई और तत्परता के साथ, युक्ति और शक्ति से उत्साह सहित अच्छी तरह यजन द्वारा लोक सेवा करके उससे जो कुछ प्राप्त हो जाय उसी से अपनी आजीविका करना रूपी यज्ञ, प्रत्येक व्यक्ति को करना चाहिए। यदि सत्त्वगुण प्रधान होने के कारण विद्या और ज्ञान की अधिकता होने से, शिक्षक वा अध्यापक ब्राह्मण का व्यवसाय अपने हिस्से में हो तो ब्राह्मण के कर्त्तव्य अच्छी तरह पालन करने चाहिए।

शमो दमस्तपः शौचक्षान्तिरार्जवमेव च ।
ज्ञान विज्ञानमास्तिक्य ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ॥

—गी० अ० १८।४२

अर्थ—मन-संयम†, इन्द्रिय-निग्रह†, तप† (गी० अ० १७ श्लो० १४ से १७ में वर्णित), बाहर-भीतर की पवित्रता†, शान्ति†, सरलता† और आस्तिक बुद्धि†, ज्ञान† अर्थात् आत्मज्ञान और विज्ञान अर्थात् सांसारिक पदार्थों एवं व्यवहारों का विशेष ज्ञान द्वारा संसार के अर्थ (लोकसेवा) द्वारा आजीविका करना, ये ब्राह्मण के कर्त्तव्य हैं। अर्थात् मन और इन्द्रियों के संयम, तप, पवित्रता आदि पूर्वक परमात्मा का ज्ञान और सांसारिक विद्याओं तथा पदार्थों के विज्ञान के प्रचार एवं अध्ययन अध्यापन द्वारा लोकसेवा करके उससे जो कुछ प्राप्त हो उसी में अपना निर्वाह सन्तोषपूर्वक करना, ब्राह्मण का कर्त्तव्य है।

*यज्ञ का खुलासा प्रथम प्रकरण में देखिए।

†शम, दम, तप शौच, क्षान्ति, आर्जव, आस्तिक्य और ज्ञान का खुलासा तृतीय प्रकरण में देखिए।

रज सत्व की प्रधानता के कारण बुद्धि और बल की अधिक योग्यता होने से यदि रक्षक वर्ग अर्थात् क्षत्री का पार्ट हो तो—

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम् ।
दानमीश्वर भावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम् ॥

—गी० अ० १८ ४३

अर्थ—शूरवीरता*,तेज*, धैर्य* नीति कुशलता*,युद्ध में पीछे न हटना, दानवीरता†, तथा ईश्वर भाव अर्थात् ईश्वर की तरह प्रेम*,न्याय और दण्ड* पूर्वक प्रजापालन द्वारा सांसारिक व्यवहार (लोक सेवा) करके आजीविका करना, यह क्षत्री का कर्तव्य है।

रज तम की प्रधानता के कारण व्यवस्था की अधिक योग्यता होने से यदि व्यवसायी वर्ग अर्थात् वैश्य का पार्ट हो तो—

कृषिगोरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम् ।

—गी० अ० १८ ४४ पूर्वार्द्ध

अर्थ—खेती, गो आदि पशुओं का पालन और वाणिज्य (व्यापार) द्वारा सांसारिक व्यवहार (लोक सेवा) करके आजीविका करना वैश्य का कर्तव्य है।

तम की प्रधानता के कारण शारीरिक श्रम करने की अधिक योग्यता होने से यदि श्रमी वर्ग अर्थात् शूद्र का पार्ट हो तो—

परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम् ॥

गी० अ० १८ ४४ उत्तरार्द्ध

---

*शूरता, तेज, धैर्य, कुशलता, प्रेम और दण्ड का खुलासा तृतीय प्रकरण में देखिए।

†दान का खुलासा इसी प्रकरण में आगे देखिए।

अर्थ—सेवा करना अर्थात् शिल्प, नौकरी तथा मजदूरी आदि शारीरिक श्रम द्वारा संसार के व्यवहार (लोक-सेवा) करके आजीविका करना शूद्र का कर्तव्य है।

यदि स्त्री शरीर का पार्ट हो तो जिस योग्यता के पुरुष के घर उसका जन्म हो तथा जिस योग्यता के पुरुष के साथ उसका विवाह सम्बन्ध हो उसी के व्यवहारों में सहायता देने, अपने गृहस्थ के काम-काज सुचारु रूप से करने तथा सन्तानों का पालन-पोषण, शिक्षण, आदि की देख-रेख करके आजीविका करना साधारणतया स्त्री शरीर का कर्तव्य है।

स्त्रियों के विषय में पुरुषों का यह विशेष कर्तव्य है कि बाल्यावस्था में पिता और पीछे पति पुत्रादि उनकी सदा आदरपूर्वक रक्षा करें और पिता आदि का कर्तव्य है कि कन्याओं का उनके समान गुणों के पुरुषों के साथ विवाह-सम्बन्ध करें। अपने व्यक्तिगत स्वार्थ के लिए पुरुष यदि अपने इस कर्तव्य में त्रुटि करे तो स्त्री अपना कर्तव्य कदापि ठीक-ठीक पालन नहीं कर सकती; अतः सात्त्विक व्यवहार और समाज की आत्मिक उन्नति के लिए अपना-अपना कर्तव्य पूरी तरह पालन करने की सबके लिए अत्यन्त आवश्यकता रहती है।

व्यवसाय (अपने कर्तव्य-कर्म) लौकिक दृष्टि से ऊँचा हो या नीचा इसमें अभिमान* या ग्लानि* न करना, क्योंकि संसार के व्यवहार के लिए छोटे, मोटे, ऊँचे, नीचे प्रतीत होने वाले सभी व्यवसाय अपने-अपने स्थान पर एक समान* योग्यता के, एक समान आवश्यक और अनिवार्य हैं; इसलिए जो व्यवसाय अपने हिस्से में आया हो उसी को श्रेष्ठ समझ कर, अच्छी तरह प्रसन्नतापूर्वक करना चाहिए। साथ ही अन्य दूसरों के व्यवसाय का तिरस्कार या घृणा* न करना चाहिए। किन्तु स

---

*अभिमान, ग्लानि, घृणा व तुच्छता तृतीय प्रकरण में देखें।

के साथ सहयोग एवं सहानुभूति रखते हुए सब से ताल-बद्ध होकर अपने कर्तव्य करने चाहिए।

> श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात
> स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्
>
> —गी० अ० १८ ४७

> सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत् ।
> सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृता ॥
>
> —गी० अ० १८ ४८

अर्थ—दूसरों के अच्छे व श्रेष्ठ मान जाने वाले व्यवसाय से अपना व्यवसाय विगुण अर्थात् हीन कोटि का प्रतीत हो तो भी वह श्रेष्ठ है। स्वभाव-सिद्ध अर्थात् अपने गुणों की योग्यता के अनुसार—अपने लिए—नियत कर्म करने में कोई दोष नहीं होता।

हे कौन्तेय ! जो कर्म सहज अर्थात् गुणों की योग्यता के अनुसार अपने अपने शरीर के अनुकूल हैं वह सदोष प्रतीत हो तो भी उसे कभी न छोड़ना चाहिए, क्योंकि सम्पूर्ण आरम्भ किसी न किसी दोष से वैसे ही घिरे हुए रहते हैं जैसे कि धुएँ से आग । अर्थात् दोष-दृष्टि से देखने पर जगत का कोई भी कार्य्य सर्वथा निर्दोष नहीं मिलेगा, चाहे वह कितना ही अच्छा या ऊँचे दर्जे का क्यों न प्रतीत होता हो। दोष किसी कर्म में नहीं, किन्तु देखने वाले के भाव में होता है।

वर्ण-व्यवस्था ।

वर्तमान समय में व्यवहार में सूक्ष्म दार्शनिक विचारों का उपयोग छूट जाने के कारण वर्ण-व्यवस्था के विषय में बहुत मतभेद और खींचा तानी चल रही है। पुराने विचार के लोग जन्म से ही वर्ण मानना ठीक समझते हैं—जन्म के सिवाय दूसरी किसी भी तरह से वर्ण मानना

धर्म विरुद्ध मानते हैं। दूसरी तरफ नवीन विचार वाले, जन्म को कुछ भी महत्व न देकर केवल कर्म ही से वर्ण मानना उचित समझते हैं और जन्म से वर्ण व्यवस्था ही को सब विपत्तियों का मूल कारण बताते हैं। दोनों ही धारणाएँ स्थूल विचारों पर ही अवलम्बित हैं। सूक्ष्म सात्विक विचारों की दोनों ही में कमी है, अतः गुणों को उचित महत्व दोनों ही नहीं देते। परन्तु आर्य्य-संस्कृति ने गुणों के आधार पर ही वर्णव्यवस्था निर्मित की थी और पूर्वकाल में उसी के अनुसार बर्ताव होता था और यदि विचार कर देखा जाय तो गुणों के अनुसार कर्मों का विभाग होना प्राकृतिक भी है। गुणों की योग्यता के बिना न तो किसी वंश में जन्म लेने मात्र ही से उस वंश परम्परा के कर्म करने में सफलता मिलती है और न स्वेच्छा से स्वीकार किया हुआ कर्म ही अच्छी तरह सम्पादन किया जा सकता है। परन्तु इतनी बात अवश्य है कि सन्तान के साथ माता पिता का एकता का विशेष सम्बन्ध होने से तथा विशेष कारणों के बिना, रजवीर्य्य के साथ वंश परम्परा के गुण सन्तानों में आना स्वाभाविक होने से माता-पिता के गुण साधारणतया सन्तानों में अधिकता से आते हैं— यह बात प्रत्यक्ष देखने में आती है; इसलिए प्राचीन समय में सूक्ष्मदर्शी ऋषियों ने वर्णव्यवस्था के लिए कर्म की अपेक्षा जन्म को अधिक महत्व दिया था एवं सवर्ण अर्थात समान गुण वाले स्त्री पुरुषों के विवाहों को उत्तम विवाह माना था। वर्ण निर्णय के लिए जन्म को कर्म से अधिक महत्व देना विशेष उपयुक्त, हितकर तथा वैज्ञानिक भी है। क्योंकि किसी विशेष वर्ण में उत्पन्न होने वाला बालक जितनी अच्छी तरह सुभीते के साथ उस वर्ण के कर्तव्य-कर्म की शिक्षा प्राप्त करके उसके अनुसार व्यवहार कर सकता है, उतनी अच्छी तरह दूसरे वर्ण में उत्पन्न होने वाला बालक दूसरे वर्ण के उत्पन्न होने वाले कर्मों को सम्पादित नहीं कर सकता। परन्तु वर्तमान समय की परिस्थिति में केवल जन्म से ही वर्ण मानने पर कट्टरता रखना जुआनी जमा-खर्च के सिवाय कार्य-रूप

में कुछ भी मूल्य नहीं रखता, क्योंकि प्रथम तो किसी भी वर्ण में इतने दीर्घ काल तक रजवीर्य्य की शुद्धि बनी रहना सम्भव नहीं, दूसरे, देश और काल की परिवर्तनशील परिस्थिति तथा माता पिता के आहार विहार और मानसिक एवं शारीरिक स्वास्थ्य की परिवर्तन शील अवस्था आदि का प्रभाव भी रजवीर्य्य पर पड़ता है,-जिसके कारण उनके सभी सन्तान समान गुणों वाले नहीं होते। तीसरे सङ्गति के प्रभाव से भी गुणों में थोड़ा बहुत फेरफार होता ही है; इस तरह के अनेक कारणों से वर्णव्यवस्था में धीरे धीरे बहुत विशृङ्खलता आ गई। वर्तमान में ब्राह्मण कुलोत्पन्न बहुत से तामसी प्रकृति के लोग केवल शारीरिक सेवा करने योग्य हो गये हैं, क्षत्री कुलोत्पन्न बहुत से लोग डरपोक, दब्बू, मूढ़, विषय लम्पट और अत्याचारी दृष्टिगोचर होते हैं और बहुत से शूद्रोचित पेशा करने की योग्यता रखते हैं वैश्य कुलोत्पन्न बहुत से व्यक्ति निरुद्यमी, आलसी एवं परावलम्बी बन गये हैं और शूद्र कुलोत्पन्न बहुत से सात्विक प्रकृति के लोग ज्ञान विज्ञान में निपुण, ब्राह्मणोचित तथा बहुत से क्षत्रिय एवं वैश्योचित व्यवहार करने की योग्यता रखते हैं फिर चार वर्णों के हजारों विभाग होकर—एक-दूसरे के साथ सहयोग देने के बदले—परस्पर में अत्यन्त विरुद्धताएँ उत्पन्न हो गईं प्रत्येक फिरका ही नहीं, किन्तु प्रत्येक व्यक्ति अपने अपने स्वार्थ के लिए तथा अपने अपने बड़प्पन के अभिमान में एक-दूसरे की अवहेलना और तिरस्कार करने लग गया। इसके अतिरिक्त भिन्न संस्कृतियों के लोगों के सहवास से प्रत्येक वर्ण का अपने अपने कर्म पर आरूढ़ रहना भी अशक्य हो गया और अपने अपने वर्ण के अनुसार कर्म करवाने वाली आर्य संस्कृति की राजसत्ता भी नहीं रही, किन्तु उसके स्थान में—जिसका जो जी चाहे वह कर्म करने में स्वतन्त्रता देने वाली—भिन्न संस्कृति की राजसत्ता हो गई। फल यह हुआ कि जन्म से—ब्राह्मणेतर अन्य वर्ण भी शिक्षा और ज्ञान विज्ञान सम्बन्धी पेशे करने लगे; जन्म से क्षत्रियेतर अन्य वर्ण राजशासन और

सैनिक कार्यों में बड़े से लेकर छोटे पदों पर आरूढ़ हो गए और जन्म से वैश्येतर अन्य वर्ण भी कृषि और व्यापार आदि के पेशे बहुतायत से कर रहे हैं, इसी तरह जन्म से शूद्रेतर वर्ण अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्री और वैश्य शारीरिक श्रम का कार्य करते हैं, और इतना विपरीत आचरण हो जाने से भी जन्म से वर्ण मानने की थोथी एवं पतनकारी कट्टरता ज्यों-की-त्यों बनी हुई है। तात्पर्य यह है कि यद्यपि वर्णव्यवस्था के लिए योग्य गुणों की आवश्यक्ता अनिवार्य रूप से स्वीकार कर लेने पर, माता पिता के गुण सन्तान में आने की अधिक सम्भावना के कारण कर्म की अपेक्षा जन्म को प्रधानता देना उत्तम और वैज्ञानिक साधन है, परन्तु दीर्घ काल तक इस व्यवस्था के अच्छी तरह चलने के बाद वर्तमान में लोगों ने इसके वैज्ञानिक तत्त्व को छोड़ कर केवल रूढ़ि को ही पकड़ लिया, अर्थात् गुणों पर दुर्लक्ष्य कर शरीर ही को प्रधानता ददी, जिससे इस अवस्था का दुरुपयोग होकर विश्रृंखलता आ गई और हितकर होने के बदले यह महान हानिकारक हो गई।

दूसरी तरफ गुणों की योग्यता पर दुर्लक्ष्य कर के लोग, अपने व्यक्तिगत स्वार्थ सिद्धि के लोभ से अपने दिए पसन्द पड़े स्वीकार करके उनके अनुसार वर्ण मानने लगे। इस नई मनमानी व्यवस्था की नींव कच्ची होने के कारण अधिक समय तक समाज की व्यवस्था सन्तोषजनक रहना असंभव है, किन्तु थोड़े ही काल में इससे भयङ्कर विश्रृंखलता उत्पन्न होकर संसार में घोर विप्लव हो जाने की सम्भावना प्रत्यक्ष प्रतीत हो रही है।

यद्यपि पश्चिमी लोगों में प्रत्यक्ष में तो कर्म की ही प्रधानता दीखती है, परन्तु जन्म के महत्व को भी उन्होंने सर्वथा छोड़ नहीं दिया है। उत्तराधिकार के नियम सब देशों में किसी न किसी रूप में अभी तक प्रचलित हैं और वे जन्म ही को महत्व देते हैं; और गुणों की योग्यता पर तो उन लोगों का पूर्ण ध्यान है। यद्यपि साधारणतया पेशे स्वीकार करने में वहाँ

कड़ा नियन्त्रण नहीं है, परन्तु कई पेशे ऐसे हैं जिनको केवल आवश्यक योग्यता के परीक्षोत्तीर्ण व्यक्ति ही कर सकते हैं और यह बात आम तौर से पाई जाती है कि अपने-अपने पेशे में विषय की विशेष योग्यता प्राप्त किये बिना कोई भी व्यक्ति ख्याति और सफलता प्राप्त नहीं कर सकता। गुणों की योग्यता को यहाँ इतना अधिक महत्व प्राप्त है कि नीचातिनीच कुलोत्पन्न व्यक्ति भी गुणों की समुचित योग्यता होने पर ऊँचे से ऊँचे पद पर आरूढ़ हो सकता है। इतना होने पर भी यह कहना ही पड़ता है कि इस समय सभ्य संसार का झुकाव अधिकतर आधिभौतिक कर्मों को महत्व देकर उनपर ही समाज की वर्णव्यवस्था का निर्माण करने की तरफ हो रहा प्रतीत होता है। परन्तु समय पाकर जब इसका भयङ्कर दुष्परिणाम उपस्थित होगा, तब सब को स्वीकार करना पड़ेगा कि आर्यसंस्कृति की वर्ण व्यवस्था दूसरों की अपेक्षा अधिक उपयुक्त और टिकाऊ थी।

कर्मों का विभाग गुणों की योग्यता के आधार पर होना ही प्राकृतिक है और इसके अनुसार ही वर्णव्यवस्था का निर्माण करने से जगत् का व्यवहार सुख-शान्तिपूर्वक चल सकता है।

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्म विभागशः।
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम्॥

—गी० अ० ४ १३

अर्थ—गुणों की योग्यतानुसार कर्म विभाग के आधार पर चार वर्णों की सृष्टि मुझ समष्टि आत्मा=परमात्मा से हुई।

ब्राह्मण क्षत्रिय विशां शूद्राणां च परन्तप।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभाव प्रभवैर्गुणैः॥

—गी० अ० १८ ४१

अर्थ—ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्य और शूद्रों के कर्म उनके स्वभावजन्य गुणों की योग्यतानुसार बँटे हुए हैं।

इसलिए समाज के लिए सब से अधिक हितकर वर्णव्यवस्था यह है कि साधारणतया जन्म से वर्ण मान कर फिर गुणों की अयोग्यता प्रकट होने पर उन व्यक्तियों को अपने पेशे बदल कर अपने गुणों की योग्यतानुसार दूसरे पेशे स्वीकार कर लेने चाहिए। अर्थात् सत्वगुण प्रधान कुल में जन्म लेने पर पहिले तो वह बालक ब्राह्मण ही समझा जाना चाहिए, परन्तु पीछे उसमें रजोगुण अथवा तमोगुण की प्रधानता प्रकट होने से उक्त गुणों की तारतम्यता के अनुसार उसका वर्ण बदल कर उसके अनुकूल उसको पेशा स्वीकार कर लेना चाहिए। इसी तरह रजोगुण तथा तमोगुण प्रधान वर्णोंमें उत्पन्न होनेवालोंकी व्यवस्था होनी चाहिए। परन्तु यह व्यवस्था तभी चल सकती है जब कि समाज सत्ता या राज सब लोगों के हिताहित के तात्विक विचार से इसका नियन्त्रण करे। कर्मों के विषय में तात्विक दृष्टि के विचार बिना साधारण जनता को स्वेच्छाचार पेशा स्वीकार करने की स्वतन्त्रता रहने से राजसी-तामसी व्यवहारों का जो दुष्परिणाम होता है वही होना अवश्यम्भावी है।

यद्यपि आर्य्य संस्कृति ने वर्णव्यवस्था के उपरोक्त चार बड़े विभाग किए हैं, परन्तु गुणों के अनन्त प्रकार के तारतम्य के कारण इन (चारों) में से प्रत्येक में भी गुणों के तारतम्यानुसार कर्म करने की भिन्न भिन्न योग्यताएँ होती हैं। शिक्षक वर्ग—ब्राह्मण वर्ण में ऊँचे-ऊँचे तत्ववेत्ता विद्वान एवं विशारद आचार्य से लेकर साधारण उपदेशक, शिक्षक एवं लेखक तक सम्मिलित हैं। रक्षक वर्ग—क्षत्री वर्ण में सम्राट-राजा और बड़े बड़े हाकिमों एवं आफिसरों से एक एक फौजी सिपाही एवं चपरासी तक सम्मिलित हैं। वैश्य वर्ण में कृषि, वाणिज्य तथा उद्योग धन्धों की बड़ी बड़ी कम्पनियों के धन-कुबेर स्वामियों से लेकर छोटी से-छोटी नमक-मिर्चें आदि की दूकानदारी एवं फेरी करने वाले बनिया और दलाल, गुमाश्ता, मुकादम आदि तक सम्मिलित है। इसी तरह शूद्र वर्ण में सूक्ष्म-से-सूक्ष्म कलाओं तथा कल पुर्जों के बड़े बड़े कारीगरों एवं इञ्जीनियरों से लेकर साधारण मजदूर और भङ्गी, चमार

आदि भी सम्मिलित हैं। साराश यह कि गुणों के अन्तर प्रत्यान्तर चार तत्त्व के अनुसार उपरोक्त चार वर्णों के अन्तर्गत अगणित व्यवसाय के पेशे होते हैं। अत सब को अपने अपने गुणों की योग्यतानुसार पेशा स्वीकार करके लोक-सेवा-रूपी यज्ञ करना चाहिए।

आजीविका का जो भी व्यवसाय हो वह लोक सेवा के भाव से करना चाहिए, अपनी आजीविका उसके अन्तर्गत समझनी चाहिए। जो सेवा—चाहे वह धन के रूप में हो या किसी वस्तु के रूप में अथवा किसी प्रकार के शारीरिक एव मानसिक श्रम के रूप में–दूसरों से ली जाय उसकी एवज में उसके पूरे मूल्य की सेवा देने का सदा ध्यान रखना चाहिए। आप कुछ भी सेवा न देकर दूसरों से मुफ्त की सेवा करवाने अथवा आप कम सेवा देकर उसके बदले में दूसरों से अधिक सेवा लेने की नीयत कदापि न रखनी चाहिए। सभी व्यवसायों में सत्य* का बर्ताव पूर्ण रूप से रखना चाहिए। झूठ, कपट, छल, छिद्र आदि करके दूसरों को धोखा देकर अपना स्वार्थ सिद्ध करने का सकल्प भी नहीं रखना तथा दूसरों की निर्बलता से अनुचित लाभ नहीं उठाना चाहिए। जो कार्य जिस तरह और जिस समय पूरा करने का वायदा किया हो उसको उसी तरह ठहराव के अनुसार पूरा करने के लिए जी-जान से प्रयत्न करना चाहिए।

काम करते समय आलस्य, उदासीनता, ढिलाई, प्रमाद उपेक्षा तथा खेल आदि में जरा भी समय नहीं गँवाना चाहिए, किन्तु एकाग्र चित्त से, उत्साह*, धैर्य* एव तत्परता के साथ अपना काम अच्छी तरह शक्ति, युक्ति, और प्रेमपूर्वक करना चाहिए।

इस तरह अपने कर्तव्य पालन करने रूपी यज्ञ से जो कुछ लाभ मिले उसको अपना हक समझ कर प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार करना और उसी में सन्तुष्ट रहना चाहिए। प्रति दिन, प्रति सप्ताह तथा प्रति मास एव प्रति-

---

* सत्य, उत्साह एव धैर्य का खुलासा तृतीय प्रकरण में देखिए।

यप कुछ अवकाश शरीर और मन को आराम देने के लिए भी अवश्य रखना चाहिए, क्योंकि कुछ न कुछ अवकाश के बिना निरन्तर काम करते रहने से शरीर और मन अस्वस्थ हो जाते हैं, जिससे अपने कर्तव्य कर्म पालन होने में बाधा पहुँचती है। समय का पूरा सदुपयोग करना चाहिए। एक मिनट भी निरर्थक नहीं गँवाना। जो काम जिस समय करना हो उसको उसी समय अवश्य करना अर्थात् समय की पाबन्दी रखनी चाहिए। काम के समय काम और आराम के समय आराम करना चाहिए। समय का व्यतिक्रम नहीं करना चाहिए।

कर्म-सिद्धि के पाँच साधन।

किसी भी कार्य की सिद्धि के लिए पाँच साधन होते हैं और वे पाँचों ही जब उस कर्म के अनुकूल होते हैं तभी वह काम सिद्ध होता है। यदि उनमें से कोई एक साधन भी ठीक नहीं होता तो उस काम की सिद्धि में उतनी ही त्रुटि रहती है।

> अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम्।
> विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम्॥
> —गी० अ० १८।१४

> शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः।
> न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः॥
> —गी० अ० १८।१५

अर्थ—(१) अधिष्ठान अर्थात् स्थूल शरीर अथवा जिस स्थान में स्थित होकर कर्म किए जायँ वह स्थान, (२) कर्ता अर्थात् कर्मों की प्रेरणा करने वाला (प्रकृति सहित) आत्मा का व्यष्टि भाव, (३) अनेक प्रकार के करण अर्थात् मन, बुद्धि, ज्ञानेन्द्रियाँ, कर्मेन्द्रियाँ तथा कर्म करने के उपकरण (औज़ार) (४) कर्म करने की अनेक प्रकार की चेष्टाएँ एवं क्रियाएँ, (५) दैव अर्थात् जगत् को धारण करने वाली समष्टि आत्मा की सूक्ष्म दैवी शक्तियाँ।

शरीर से, वाणी से अथवा मन से मनुष्य जो-जो कर्म करता है—चाहे वह न्याय हो या अन्याय, अर्थात् अच्छा हो या बुरा—उसके ये पाँच ही कारण हैं।

तात्पर्य यह कि शरीर आरोग्य और बलवान् हो एवं काम करने का स्थान अनुकूल हो, उस काम के लिए अन्तःकरण में यदि आत्मा की प्रेरणा हो, बुद्धि में उसके विषय में यथार्थ निर्णय करने की योग्यता हो; मन विक्षिप्त न हो, इन्द्रियों में कोई दोष न हों; हथियार उस कर्म के उपयुक्त हों, कर्म करने की चेष्टाएँ उचित हों, तथा क्रियाएँ सब ठीक हों और समष्टि सूक्ष्म दैवी शक्तियाँ अनुकूल हों अर्थात् सब के साथ अपनी एकता का भाव (तालबद्धता) हो, तभी कर्मों में सिद्धि प्राप्त होती है। इन साधनों में कोई त्रुटि बनी रहे और दूसरों के स्वार्थ तथा दूसरों के के कम से तालबद्ध न होकर केवल अपने व्यक्तिगत स्वार्थ से तथा अपनी पृथकता के अहङ्कार के किए हु काम में सफलता नहीं मिलती। जिस तरह कोई गाने वाला वाद्यों के साथ स्वर-ताल मिला कर गाता है तभी उसका गायन ठीक सिद्ध होता है और उसमें सफलता मिलती है—यदि गवैया स्वर और ताल के वाद्यों से एकता न करे तो उसका गायन बिगड़ जाता है—उसी तरह इस संसार के कामों में दूसरों के साथ तालबद्ध होने ही से सफलता मिलती है; पृथकता के भाव से किए हुए कामों में सफलता प्राप्त नहीं हो सकती। उपरोक्त पाँच साधनों में से जितने ही साधन अधिक उपयुक्त होते हैं उतनी ही अधिक सफलता मिलती है और जितनी कम उपयुक्तता होती है उतनी ही कम सफलता मिलती है।

यदि शक्ति और युक्ति से अच्छी तरह प्रयत्न करने पर भी किसी काम में सफलता न मिले अथवा उसका विपरीत परिणाम हो तो उसके लिए किसी दूसरे व्यक्ति को दोष नहीं देना, न उस असफलता के लिए किसी से द्वेष ही करना चाहिए—किन्तु इन पाँच कारणों में से किसी न किसी

वर्ष कुछ अवकाश शरीर और मन को आराम देने के लिए भी अवश्य रखना चाहिए क्योंकि कुछ न कुछ अवकाश के बिना निरन्तर काम करते रहने से शरीर और मन अस्वस्थ हो जाते हैं, जिससे अपने कर्तव्य कर्म पालन होने में बाधा पहुँचती है। समय का पूरा सदुपयोग करना चाहिए। एक मिनट भी निरर्थक नहीं गँवाना। जो काम जिस समय करना हो उसको उसी समय अवश्य करना अर्थात् समय की पाबन्दी रखनी चाहिए। काम के समय काम और आराम के समय आराम करना चाहिए। समय का व्यतिक्रम नहीं करना चाहिए।

कर्म-सिद्धि के पाँच साधन।

किसी भी कार्य की सिद्धि के लिए पाँच साधन होते हैं और ये पाँचों ही जब उस कर्म के अनुकूल होते हैं तभी वह काम सिद्ध होता है। यदि उनमें से कोई एक साधन भी ठीक नहीं होता तो उस काम की सिद्धि में उतनी ही त्रुटि रहती है।

अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम्।
विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम्॥
—गी० अ० १८।१४

शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः॥
—गी० अ० १८।१५

अर्थ—(१) अधिष्ठान अर्थात् स्थूल शरीर अथवा जिस स्थान में स्थित होकर कर्म किए जायँ वह स्थान, (२) कर्ता अर्थात् कर्मों की प्रेरणा करने वाला (प्रकृति सहित) आत्मा का व्यष्टि भाव, (३) अनेक प्रकार के करण अर्थात् मन, बुद्धि, ज्ञानेन्द्रियाँ, कर्मेन्द्रियाँ तथा कर्म करने के उपकरण (औज़ार) (४) कर्म करने की अनेक प्रकार की चेष्टाएँ एवं क्रियाएँ, (५) दैव अर्थात् जगत् को धारण करने वाली समष्टि आत्मा की सूक्ष्म दैवी शक्तियाँ।

शरीर से, वाणी से अथवा मन से मनुष्य जो-जो कर्म करता है—चाहे वह न्याय हो या अन्याय, अर्थात् अच्छा हो या बुरा—उसके ये पाँच ही कारण हैं।

तात्पर्य यह कि शरीर आरोग्य और बलवान् हो एवं काम करने का स्थान अनुकूल हो; उस काम के लिए अन्तःकरण में व्यष्टि आत्मा की प्रेरणा हो, बुद्धि में उसके विषय में यथार्थ निर्णय करने की योग्यता हो; मन विक्षिप्त न हो, इन्द्रियों में कोई दोष न हों; हथियार उस कर्म के उपयुक्त हों, कर्म करने की चेष्टाएँ उचित हों; तथा क्रियाएँ सब ठीक हों और समष्टि सूक्ष्म दैवी शक्तियाँ अनुकूल हों अर्थात् सब के साथ अपनी एकता का भाव (तालबद्धता) हो, तभी कर्मों में सिद्धि प्राप्त होती है। इन साधनों में कोई त्रुटि बनी रहे और दूसरों के स्वार्थ तथा दूसरों के के कम से तालबद्ध न होकर केवल अपने व्यक्तिगत स्वार्थ से तथा अपनी पृथक्ता के अहङ्कार के लिए हु काम में सफलता नहीं मिलती। जिस तरह कोई गाने वाला बाजों के साथ स्वर-ताल मिला कर गाता है तभी उसका गायन ठीक सिद्ध होता है और उसमें सफलता मिलती है—यदि गवैया स्वर और ताल के बाजों से एकता न करे तो उसका गायन बिगड़ जाता है—उसी तरह इस संसार के कामों में दूसरों के साथ तालबद्ध होने ही से सफलता मिलती है, पृथक्ता के भाव से किए हुए कामों में सफलता प्राप्त नहीं हो सकती। उपरोक्त पाँच साधनों में से जितने ही साधन अधिक उपयुक्त होते हैं उतनी ही अधिक सफलता मिलती है और जितनी कम उपयुक्तता होती है उतनी ही कम सफलता मिलती है।

यदि शक्ति और युक्ति से अच्छी तरह प्रयत्न करने पर भी किसी काम में सफलता न मिले अथवा उसका विपरीत परिणाम हो तो उसके लिए किसी दूसरे व्यक्ति को दोष नहीं देना, न उस असफलता के लिए किसी से द्वेष ही करना चाहिए—किन्तु इन पाँच कारणों में से किसी न किसी

वश्य त्रुटि रही होगी—यही निश्चय करके उस त्रुटि को खोज कर
ने का प्रयत्न अवश्य करना चाहिए।

सफलता का रहस्य

कर्मों की सिद्धि साधारणतया उपरोक्त पाँच साधनों से होती है,
परन्तु उनकी सफलता का असली रहस्य इन सब सेपरे और बहुत सूक्ष्म
है और उस पर अमल करने से सफलता होना अनिवार्य है। अर्थात्
जब किसी कार्य के विषय में कोई महत्वपूर्ण जटिल प्रश्न उपस्थित
हो तो उस समय चित्त की वृत्ति को बहिर्मुखता अर्थात् दृश्य जगत् की
अनेकता से समेट कर अन्तर्मुख अर्थात् अपने आप (एकता) में स्थिर
कर लेना चाहिए। जबतक वृत्ति बहिर्मुख रहती है, तब तक व्यक्तित्व का
अहङ्कार और अनेकता के भाव बने रहते हैं, परन्तु ज्योंही वृत्ति अन्तर्मुख
अर्थात् अपने अन्दर स्थिर हुई त्योंही अनेकता, व्यक्तित्व का अहङ्कार और
व्यक्तिगत स्वार्थ के द्वैत भाव लोप होकर उस कार्य में मग्न एकाग्र हो
जाता है। यह एकत्व भाव की आत्माकार वृत्ति ही कर्मों की सफलता की
कुञ्जी है, क्योंकि सब कामनाओं की पूर्ति तथा सब सफलताओं एवं सब
सुखों का असीम खजाना आत्मा ही है और वह अखिल विश्व में एक है,
अत आत्माकार वृत्ति होने से अखिल विश्व के साथ एकता हो जाती
है। फलतः जो सङ्कल्प होता है उसी में सफलता प्राप्त की जा सकती है।
किसी भी कार्य के विषय की कोई भी ग्रन्थि चाहे वह कितनी ही जटि-
लता से उलझी हुई क्यों न हो—इस साधन से बड़ी सुगमता से सुलझ
सकती है। संसार में दार्शनिक ज्ञान तथा लौकिक विज्ञान सम्बन्धी
जितनी सफलताएँ लोगों को प्राप्त हुई हैं और होती हैं तथा योद्धाओं
-कार्यकर्ताओं और वीर पुरुषों को जो-जो विजय प्राप्त हुई और होती हैं
। वह कहीं बाहर से नहीं आतीं; किन्तु आत्मा के प्रसाद से ही प्राप्त होती हैं
अर्थात् दार्शनिकों के चित्त की वृत्ति जब अन्तर्मुख होकर आत्मा में एकाग्र

हो जाती है, तभी वे अपने-अपने लक्ष्य तक पहुँचने में समर्थ होते हैं और वैज्ञानिक लोग जो समय समय पर विश्व को चकित करने वाले चमत्कारिक आविष्कार ढूँढ निकालते हैं वे भी इसी साधन से। इसी तरह युद्ध करते समय जब वीर योद्धाओं के चित्त की वृत्ति अत्यन्त एकाग्र हो जाती है, उस समय लड़ने-लड़ाने और राग, द्वेष आदि द्वैत भाव और व्यक्तित्व का अहङ्कार मिट जाता है और उस एकाकार अवस्था में ही वे विजयी होते हैं।

सारांश यह कि जो इस रहस्य को अच्छी तरह समझ कर दृढ़ता पूर्वक एक निश्चय से अपने चित्त की वृत्तियों को बहिर्मुखता से हटा कर अन्तर्मुख करने में समर्थ होता है वह अपनी इच्छानुकूल सफलता अवश्य प्राप्त कर सकता है। अधिक महत्व के काम में चित्त की वृत्ति को अधिक समय तक अन्तर्मुख (एकाग्र) करने की आवश्यकता रहती है और थोड़े महत्व का काम थोड़े समय में सिद्ध हो सकता है। किसी भी काम के करते समय जब इस तरह वृत्ति आत्मा में जुड़ जाती है तब "अमुक कार्य मैं कर रहा हूँ, इसका परिणाम यह होगा, इसके सिद्ध होने पर मुझे इतना लाभ होगा, मेरी इतनी ख्याति या मान होगा" इत्यादि द्वैत भाव उस समय बिल्कुल ही नहीं रहते, किन्तु कर्त्ता, करण और कर्म सब एक हो जाते हैं और तब सफलता स्वतः अपने अन्दर ही प्राप्त हो जाती है।

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥

—गी० अ० ९ २२

अर्थ—जो व्यक्ति अनन्य भाव से मेरा चिन्तन करते हुए मुझे भजते हैं अर्थात् सब प्रकार के द्वैत भाव को मिटा कर मुझ सर्वान्तर्यामी आत्मा में चित्त की वृत्ति को लगाते हैं उन नित्य योगयुक्त अर्थात् निरन्तर सबके साथ एकता के भाव में जुड़े हुए, आत्माकार वृत्ति वालों का, योग (अप्राप्त पदार्थों

की प्राप्ति) और क्षेम (प्राप्त पदार्थों की रक्षा) में सब का आत्मा-परमात्मा किया करता हूँ, यानी उनकी सफलता में सारा विश्व सहायक होता है।

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते ।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम् ॥
—गी० अ० २।५०

अर्थ—इस लोक में समत्व* बुद्धियुक्त संसार के व्यवहार करने वाला, भले-बुरे दोनों प्रकार के कर्मों से अलिप्त रहता है। इसलिए तू सर्वभूतात्मैक्य साम्यभाव में युक्त रह, कर्मकर, क्योंकि सर्वभूतात्मैक्य साम्य भाव ही कर्मों में कौशल है। अर्थात् सर्वभूतात्मैक्य साम्य भाव में जुट कर कर्म करने वाला कर्मों का अधिपति हो जाता है, अतः सफलता उसको स्वतः प्राप्त है।

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः ।
सबुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ॥
—गी० अ० ४।१८

अर्थ—कर्म में अकर्म अर्थात् यह अनित्य, असत्य याना सदा परिवर्तनशील संसार जो कर्मरूप है, इसमें अकर्म अर्थात् एक, निर्विकार, सत्य आत्मा को; तथा उस एक (किसी का कार्य न होने से) अकर्म रूप सत्य आत्मा में इस संसार प्रपञ्च को जो पुरुष देखता है अर्थात् जो अनेकों में एक और एक में अनेक देखता हुआ सदा व्यवहार करता है वह मनुष्यों में बुद्धिमान्, एकत्व भाव में जुड़ा हुआ (महात्मा), कर्मों की पूर्णावस्था को पहुँचा हुआ होता है।

परन्तु जो आत्म विमुख होकर संशय-युक्त अथवा संकल्प विकल्प युक्त मन से कार्य करता है उसको सफलता नहीं मिलती।

---

* समता का खुलासा तृतीय प्रकरण में देखिए।

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति ।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः ॥

—गी० अ० ४-४०

अर्थ—मूर्ख और श्रद्धा* हीन अर्थात् अपने आप पर भरोसा न रखने वाला यानी स्वावलम्बन से रहित और संशयात्मा* का नाश होता है। संशय आत्मा को इस लोक और परलोक दोनों में सफलता एवं सुख अर्थात् मुक्ति (स्वतन्त्रता) नहीं है।

अज्ञानियों को अपने आप अर्थात् अपने अन्दर रहने वाले सर्वव्यापी आत्मा पर भरोसा नहीं होता, किन्तु किसी भी कार्य की सिद्धि के लिए वे दूसरों पर ही निर्भर रहते हैं। कई लोग कर्मों की सफलता के लिए आत्मा से भिन्न अदृश्य देवी-देवता, भूत प्रेत आदि का आश्रय लेकर जप, तप, व्रत, अनुष्ठान आदि से उनको प्रसन्न करने की चेष्टाएँ करते रहते हैं, कई ग्रह-नक्षत्र आदि के शुभाशुभ फलों पर विश्वास करके उनके अनिष्ट फल के भय से ज्योतिषियों के अधीन रहते हुए उनके आदेशानुसार मुहूर्त और उनकी बताई हुई रीति के बिना कोई भी कार्य नहीं करते और ग्रहों की अनुकूलता के लिए ज्योतिषी जी की आज्ञानुसार ग्रह शान्ति के जप, पाठ-पूजा, दानादि में समय, शक्ति और पदार्थों का अपव्यय करते हैं, कई मूढ़ लोग अपने पूर्व जन्म के सञ्चित कर्मों से अपने आपको बँधा हुआ मान कर कर्मों की सफलता जड़ प्रारब्ध के अधीन छोड़, स्वयं जड़ बने हुए रहते हैं; कई निर्बल आत्मा अपने आपको सर्वथा अयोग्य समझ कर दूसरे मनुष्यों की कृपा पर निर्भर रहते हैं और कई लोग अपने सब कामों का भार अपने से भिन्न ईश्वर पर छोड़ कर उसकी दया के भिखारी बने हुए हैं। इस तरह के परावलम्बी लोगों का कभी एक निश्चय नहीं होता, किंतु

* श्रद्धा, संशय और भय का खुलासा तृतीय प्रकरण में देखिये।

से सदा संशय और वहम में ही डूबे रहते हैं, अतः उनको सफलता तो कहाँ, किन्तु उल्टी दुर्गति होती है।

दान*

अपनी आमदनी का कम से कम दसवाँ हिस्सा परोपकार* अर्थात् लोकोपयोगी कार्यों में अवश्य लगाना चाहिए। यदि अपनी आमदनी की मात्रा बहुत अल्प हो तो भी यह संकोच न करना चाहिए कि इसमें से क्या दिया जाय, किन्तु जितनी आमदनी हो उसी का दसवाँ हिस्सा अवश्य देना चाहिए। क्योंकि दान की योग्यता उसकी मात्रा पर नहीं होती, किन्तु देने वाले के भाव पर ही होती है। अधिक सामर्थ्य वालों के अधिक दान की जितनी योग्यता है उतनी ही कम सामर्थ्य वालों के कम मात्रा के दान की योग्यता होती है। जिनके पास द्रव्यादि पदार्थ न हों—विद्या, बल, बुद्धि आदि गुण हों—वे अपने इन गुणों का दान कर सकते हैं। जैसे विद्वान् अध्यापन द्वारा अपना विद्या का लाभ दूसरों को पहुँचा सकता है उसी तरह बलवान अपने बल द्वारा निर्बलों को भय से बचा सकता है, बुद्धिमान अपनी सद्बुद्धि की सम्मति द्वारा लाभ पहुँचा सकता है और ज्ञानी पुरुष ज्ञानोपदेश द्वारा लोगों को कृतार्थ करता हुआ संसार के भय से मुक्त कर सकता है। अभय दान की महिमा सब दानों से अधिक है। परन्तु दान सात्विक होना चाहिए।

> दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे।
> देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्विकं स्मृतम्॥
> —गी० अ० १७-२०

अर्थ—दान देना आवश्यक है, ऐसा भाव मन में रख कर, प्रत्युपकार की इच्छा न रखते हुए अर्थात् उस दान के बदले में कोई कार्य करवाने,

* उदारता तथा परोपकार का खुलासा तृतीय प्रकरण में देखिये।

किसी प्रयोजन की सिद्धि, मान, कीर्ति अथवा इस लोक या परलोक के किसी फल की इच्छा न रखते हुए—देश, काल और पात्र की योग्यता देख कर दान देना सात्विक दान कहा गया है।

देश, काल और पात्र से मतलब जिस देश में, जिस काल में और जिस व्यक्ति को जिस पदार्थ की अत्यन्त आवश्यकता हो अथवा जिससे उसका कष्ट दूर होकर वास्तविक हित होता हो या जिस पात्र को दान दिया जाय उसका आचरण सात्विक हो और वह उस दान का सदुपयोग करके अपना तथा औरों का कल्याण करने की योग्यता रखता हो, उसी तरह का दान करना चाहिए।

दान से दो तरह के लाभ हैं। एक तो सांसारिक पदार्थों का त्याग* करने से उनमें ममत्व की आसक्ति नहीं रहती। दूसरा क्षुधा, तृषा आदि शारीरिक वेगों के शान्त न होने से एवं त्रिविध ताप से पीड़ित रहने के कारण तथा अज्ञानवश मानसिक अयोग्यता रहने से लोग आत्मिक उन्नति नहीं कर सकते; इसलिए इन त्रुटियों को दूर करने के लिए दान करना सबका कर्तव्य है।

संसार में सब लोग अन्योन्याश्रित हैं अर्थात् एक दूसरे के सहयोग की अपेक्षा रखते हैं। इसलिए एक दूसरे की आवश्यकताएँ पूरी करने के लिए त्याग* करना सबका कर्तव्य है। जो स्वयं त्याग करता है उसकी आवश्यकताएँ दूसरे लोग पूरी करते हैं, अतः दान से वस्तुतः स्वयं अपना ही उपकार होता है, दूसरों पर कोई एहसान नहीं। दूसरों पर एहसान करने के भाव से दान नहीं करना चाहिए।

दान का दुरुपयोग

रजोगुणी पुरुषों के विषय भोगों की पूर्ति के लिए रजोगुणी पदार्थों का दान देकर उनको विषय-वासनाओं को उत्तेजना देना, दान का दुरुपयोग है।

---

* त्याग का खुलासा तृतीय प्रकरण में देखिए।

उससे धन, समय और पुरुषार्थ की हानि के अतिरिक्त लोगों का भी अनिष्ट होता है। और आत्मिक उन्नति में बाधा पहुँचती है, क्योंकि कुपात्रों को दान देने से दुराचार और दुर्गुणों की वृद्धि होती है और वे लोग जनता को पीड़ा देते हैं, इसलिए उससे दान देने वाले तथा समाज—सबकी हानि होती है।

> यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः।
> दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम्॥
>
> —गी० अ० १७ २१

> अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते।
> असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम्॥
>
> —गी० अ० १७ २२

अर्थ—परन्तु प्रत्युपकार (बदले में अपना उपकार करवाने) अथवा फल के उद्देश्य से बहुत क्लेशपूर्वक जो दान दिया जाता है वह राजसी दान कहाता है।

विपरीत देश, विपरीत काल और कुपात्रों को जो अनिष्टकारक दान तिरस्कार पूर्वक दिया जाता है वह तामसी होता है।

जिस तरह—पुत्र जन्म, पुत्र-पुत्री के विवाह, मान वृद्धि एवं त्यौहार आदि के हर्ष के अवसरों पर प्रतिष्ठा और कीर्ति बढ़ाने के उद्देश्य से बड़े बड़े रजोगुणी-तमोगुणी उत्सव, नाच-रङ्ग और भोजनादि करने, बधाइयाँ बाँटने, खुशामदियों एवं भाडों आदि को धन लुटाने आदि में; धर्मात्मा कहलाने की कीर्ति और स्वर्गादि फल प्राप्ति के उद्देश्य से तीर्थाटन करके तथा ग्रहण, सङ्क्रान्ति आदि पर्वों पर कुपात्र सण्डे-मुसण्डों एवं पण्डे पुरोहितों को धन और पदार्थ देने आदि में; व्रत उपवासादि करके कुपात्रों को—उनसे बदले की सेवा लेने के भाव से—पहरावनी आदि देने तथा ब्राह्मण-भोजन करवाने आदि में अपने आत्मीयों के रोगादि शारीरिक

आने पर उक्त कष्ट निवृत्ति के उद्देश्य से कुपात्रों को अनेक प्रकार के दान देने, स्वादिष्ट पदार्थ खिलाने तथा मनुष्यों के खाद्य पदार्थ पशु-पक्षियों को खिलाने आदि में और प्रियजनों की मृत्यु के अवसर पर प्रेत-कर्म तथा उनके निमित्त ब्राह्मण और बिरादरी को जिमाने के बड़े-बड़े आडम्बर करने आदि में जो समय, शक्ति और धन का अपव्यय किया जाता है वह राजसी-तामसी दान है। इस तरह के आडम्बर करने वालों को स्वयं बड़ा क्लेश होता है और जिनको धन दिया जाता है तथा भोजन खिलाया जाता है उनका महान् अनिष्ट और तिरस्कार होता है। इसके अतिरिक्त कुपात्रों को दिए हुए उस दान से दूसरे अनेक प्रकार के अनर्थ होते हैं।

इस राजसी-तामसी कृत्यों में समय, शक्ति और धन का अनाप शनाप अपव्यय करने से सारी आयु उन्हीं के करने तथा उनके निमित्त द्रव्योपार्जन करने में बीत जाती है और इन कामों के निमित्त द्रव्योपार्जन करने में बहुत से कुकर्म यानी राक्षसी व्यवहार भी करने पड़ते हैं, जिनसे बड़ी दुर्दशा होती है और सात्विक आचरण न बनने से अपना वास्तविक श्रेय साधन नहीं हो सकता—जो इस मनुष्य-जन्म का सच्चा कर्तव्य है और जो इस मनुष्य-देह ही में प्राप्त हो सकता है—अन्य किसी भी देह में नहीं।

पितृ-कर्म

प्रेतान्भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः

—गी० अ० १७ ४ उत्तरार्द्ध

अर्थ—तमोगुणी लोग मरे हुओं (पित्रों) तथा जड़ पदार्थों को पूजते हैं।

मृतक के पीछे श्राद्ध, तर्पण एवं भोजनादि प्रेत क्रियाएँ करने का यह उद्देश्य है कि साधारण जनता में तमोगुण की प्रधानता होने के कारण सूक्ष्म आध्यात्मिक विचार की योग्यता नहीं रहती, किन्तु स्थूल शरीर ही में उनकी अत्यन्त आसक्ति रहती है। जिससे वे प्रायः असद् व्यवहार करते

रहते हैं, इसलिए उनको बुरे कर्मों से बचाने और शुभ कर्मों में प्रवृत्त करने के लिए उनके चित्त में यह विश्वास जमाने की आवश्यकता रहती है कि इस स्थूल शरीर के मरने पर भी जीवात्मा नहीं मरता, किन्तु वह परलोक में दूसरा शरीर धारण करके, यहाँ किये हुए अपने कर्मों का फल भोगता है और मरने पर भी उसका सम्बन्ध पीछे रहने वालों से बना रहता है और उनके अच्छे-बुरे आचरणों का फल भी उसको पहुँचता है। यह विश्वास जमाए रखने के लिए ही प्रेत-कर्म का विधान किया गया है, ताकि जीवात्मा के नित्यत्व, एकत्व तथा अच्छे-बुरे कर्मों के फल आगे अवश्य भोगने के विश्वास से वे बुरे कर्मों से बचें और आस्तिक रहें; नहीं तो स्थूल शरीर ही को सब कुछ मान कर वे नास्तिक हो जावेंगे और बुरे कर्मों में प्रवृत्त होंगे। इसलिए स्थूल बुद्धि वालों को प्रेत-कर्म अवश्य और ज्ञानियों को लोक-संग्रह के निमित्त करना उचित जान पड़े तो करने चाहिए। परन्तु ये श्राद्धादि प्रेत कर्म, सत् शास्त्रों में विधान की हुई विधि से, बहुत संक्षेप, सद्भावना तथा सात्विक वृत्ति से करने चाहिए। अधिक मात्रा में तथा अधिक समारोह से करने से उनमें रजोगुणी तमोगुणी भावों की अत्यन्त प्रबलता हो जाती है, जिससे अपने आपको, दूसरों को तथा (आत्मा सर्वत्र एक होने से) मृतात्मा को, भी बहुत क्लेश होता है। मरे हुए आत्मीयों की शान्ति तथा यथार्थ तृप्ति तो उसके उत्तराधिकारियों के सात्विक आचरणों और उसके प्रति सात्विक भावनाओं से मिलती है, न कि भोजनादि आडम्बरों अथवा प्रेत-कर्मों से।

किसी आत्मीय की मृत्यु पर शोक* करके चित्त को दुखित न करना चाहिए, क्योंकि शरीर तो जन्मने मरने वाला ही है और जीवात्मा कभी मरता नहीं, केवल रूपों का परिवर्तन होता है, इसलिए शोक करना अयोग्य है।

---

* तृतीय प्रकरण में शोक का खुलासा देखिए।

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि॥
—गी० अ० २।२७

अर्थ—क्योंकि जो जन्मता है उसका मृत्यु निश्चित है और जो मरता है उसका जन्म भी निश्चित है, इसलिए इस अपरिहार्य (अनिवार्य) बात का तुझे शोक करना उचित नहीं।

देहीनित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत।
तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि॥
—गी० अ० २ ३०

अर्थ—हे भारत! सब देहों का यह देही अर्थात् जीवात्मा सदा अवध्य है अर्थात् कभी मरता नहीं, इसलिए तुझको किसी भी भूत प्राणी के मरन का शोक करना उचित नहीं है।

जीवात्मा कभी जन्मता मरता नहीं। अपने पूर्व संस्कारों से इस संसार में जितना काम करने को यह देह धारण करता है उतना हो जाने पर देह को छोड़ कर अपने संस्कारों के अनुसार दूसरी देह धारण करता है।

देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति।
—गी० अ० २ १३

अर्थ—जिस प्रकार देह धारण करने वाले जीवात्मा को उस देह में बालपन, जवानी और बुढ़ापा आता है उसी प्रकार दूसरी देह प्राप्त हुआ करती है। इस विषय में बुद्धिमानों को मोह नहीं होता।

भारतवासियों के पतन के कारणों में से दान का दुरुपयोग भी एक प्रधान कारण है। जब से यहाँ व्यावहारिक वेदान्त का आचरण छूटा तब से लोग अपने व्यक्तिगत अहङ्कार, व्यक्तिगत स्वार्थ सिद्धि, मान, प्रतिष्ठा

तथा पारलौकिक स्वर्गादि सुख प्राप्ति के अन्ध विश्वास से इन नैमित्तिक व्यवहारों में शक्ति, समय और धन का इतना दुरुपयोग करते रहा और कर रहे हैं कि सारी आयु इन आसुरी कर्मों में ही बीत जाती है। यद्यपि समय, शक्ति और धन के सदुपयोग करने से इस लोक में सुख-शान्ति और स्वतन्त्रता के साथ जीवन यापन करते हुए सच्चे और अक्षय सुख की प्राप्ति हो सकती है, परन्तु उन्हीं के इस तरह के दुरुपयोग से भयानक पतन, सुख समृद्धि का नाश, पराधीनता तथा आत्मविमुखता हुई है और जबतक इस तरह के नैमित्तिक व्यवहारों में शक्ति, समय और धन का इस प्रकार दुरुपयोग होता रहेगा, तबतक अवस्था सुधरनी असम्भव है।

तप

आत्मिक उन्नति के इच्छुक को यज्ञ और दान के साथ साथ सात्विक भाव से तप करना भी आवश्यक है। तप कायिक, वाचिक और मानसिक तीन प्रकार का होता है।

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शरीरं तप उच्यते॥

—गी० अ० १७।१४

अर्थ—देवों की जिनमें माता-पिता*, गुरु*, और स्त्री के लिए पति* अथवा जिनमें दैवी सम्पद् के गुणों की अधिकता हो, ऐसे व्यक्ति—जो प्रत्यक्ष देव हैं—भी सम्मिलित हैं, गी० अ० १८ ४२ में वर्णित गुणों वाले ब्राह्मणों* की, आयु और विद्या ज्ञानादि गुणों में जो बड़े हों उनकी तथा बुद्धिमानों* की पूजा; अन्दर और बाहिर की पवित्रता*, सरलता*, ब्रह्मचर्य* और अहिंसा*—यह शारीरिक तप कहा जाता है।

---

*देव पूजन, मातृ-भक्ति, गुरु भक्ति, पति भक्ति द्विज पूजन, प्राज्ञ पूजन, पवित्रता, सरलता, ब्रह्मचर्य, अहिंसा-सत्य और स्वाध्याय का खुलासा तृतीय प्रकरण में देखिए।

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत् ।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते ॥
—गी० अ० १७ १५

अर्थ—किसी के मन को उद्वेग न करने वाले, सत्य*, प्रिय और हित के वचन बोलना और स्वाध्याय* अर्थात सद् विद्याओं का अभ्यास—यह वाचिक तप कहा जाता है ।

मन प्रसाद सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रह ।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते ॥
—गी० अ० १७ १६

अर्थ—मन की प्रसन्नता*, सौम्य भाव, मननशीलता, मन का संयम और निष्कपटता—यह मानसिक तप कहलाता है ।

श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्त्रिविधं नरै ।
अफलाकाङ्क्षिभिर्युक्तै सात्त्विकं परिचक्षते ॥
—गी० अ० १७ १७

अर्थ—श्रद्धा* युक्त और नि स्वार्थ* भाव से किया हुआ यह तीन प्रकार का तप सात्विक कहा जाता है ।

आसुरी तप

इसके विपरीत श्रद्धारहित, किसी स्वार्थ सिद्धि के लिए, अपने और दूसरों के शरीरों को कष्ट देकर तथा दूसरों की हानि करने के उद्देश्य से किए जाने वाले राजसी-तामसी तप आसुरी भाव के होते हैं और ये सर्वथा त्याज्य हैं ।

---

*इन सब का खुलासा तीसरे प्रकरण में देखिए ।

सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत् ।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम् ॥
—गी० अ० १७।१८

मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः ।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम् ॥
—गी० अ० १७।१९

अर्थ—सत्कार, मान और पूजा के लिए दम्भ* से जो अस्थिर और अनिश्चित तप किया जाता है वह राजसी कहा जाता है।

शरीर को पीड़ा देकर अथवा दूसरों की हानि करने के उद्देश्य से मूढ़ लोग दुराग्रह* से जो तप किया करते हैं—वह तामस कहलाता है।

अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः ।
दम्भाहङ्कारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः ॥
—गी० अ० १७।५

कर्षयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः ।
मां चैवान्तःशरीरस्थं तान्विद्ध्यासुरनिश्चयान् ॥
—गी० अ० १७।६

अर्थ—मूढ़ लोग काम*, राग* और हठ* के आवेश में, दम्भ* और अभिमान* युक्त, शास्त्र वर्जित घोर तप करके शरीर में रहने वालों भूतों के समुदाय को तथा अन्तःकरण में स्थित सवान्तर्यामी मुझको भी क्लेश देते हैं; उनको तू आसुरी निश्चय वाला जान।

तात्पर्य यह कि बड़े, बूढ़े, सद्गुरु, विद्वान, बुद्धिमान तथा और एवं सात्विक आचरण वाले महापुरुषों आदि का श्रद्धा और निःस्वार्थ भाव

* इनका खुलासा तृतीय प्रकरण में देखिए।

से आदर-सत्कार एवं सेवा शुश्रूषा करके उनका सत्सङ्ग प्राप्त करने से स्त्री पुरुष आत्मिक उन्नति के मार्ग में अग्रसर हो सकते हैं; क्योंकि सत्सङ्ग के प्रसाद से व्यक्ति उन्नति करता है और कुसङ्ग से गिरता है। इसी तरह शरीर को साफ-शुद्ध रखना; सबसे सरलता का बर्ताव करना, इन्द्रियों को अपने वश में रखते हुए मर्यादित भोग भोगना; अपनी तरफ से किसी को किसी प्रकार की पीड़ा न देना, किसी का दिल न दुखे ऐसी सत्य, मधुर और हित कर वाणी बोलना, सच्छास्त्रों का अध्ययन और अभ्यास करना अपना मन प्रसन्न और दूसरों के प्रति सौम्य भाव रखना अर्थात् दूसरों के हित का चिन्तन करना और अन्तःकरण शुद्ध रखना, इत्यादि कायिक, वाचिक और मानसिक तप से स्त्री-पुरुषों के आचरण सात्विक होते हैं। परन्तु मूर्ख लोग इस लोक में अपने शरीर और उसके सम्बन्धियों की स्वार्थ सिद्धि तथा परलोक में स्वर्गादि सुखों की प्राप्ति अथवा कीर्ति, मान और पूजा प्राप्त करने के लिए हठपूर्वक शीत, उष्ण, भूख, प्यास सहन करके तथा दूसरी अनेक प्रकार की कष्टदायक क्रियाएँ करके शरीर को क्लेश देते हैं—जिस तरह शीतकाल में आश्रय और वस्त्र-रहित रहना तथा शरीर पर ठण्डा जल डालना; गर्मी में कड़ी धूप में, जलती रेत में पड़े रहना और अग्नि के सम्मुख बैठना; निराहार और निर्जल व्रत, उपवासादि करना; कठिन और नुकीली चीजें शरीर में चुभाना; हठ करके दीर्घ काल तक खड़े रहना या किसी एक स्थिति में बैठे रहना, पत्थर, कङ्कर आदि सयुक्त कठिन स्थलों पर लेटना, शरीर के नख-केशादि बढ़ाना और मैले-कुचैले रहना आदि—आसुरी भाव का तप करते हैं, जिससे स्वयं क्लेश पाते हैं और दूसरों को भी पीड़ा देते हैं, अतः वे लोग (इस तरह के आसुरी तप से) आत्म विमुख होकर नीचे गिरते हैं।

यज्ञ, दान और तप तथा अन्य कृत्य करते समय "ॐ तत्सत्" मन्त्र का उच्चारण अथवा चिन्तन अवश्य करते रहना चाहिए। यह मन्त्र आत्मा परमात्मा के सर्वत्र समान भाव से व्यापक होने का द्योतक है। इसके

अर्थ सहित चिन्तन करते हुए सब काम करने से दूसरों से पृथक् अपने व्यक्तित्व के अहङ्कार-जन्य जो अनेक प्रकार के दोष हैं वे मिटने तथा आचरण सात्विक होने में बड़ी सहायता मिलती है।

आसुरी व्यवहारों का त्याग

शरीर और उसके सम्बन्धी पदार्थों का गर्व करके दूसरों का तिरस्कार अथवा घृणा करना तथा अपने शरीर और उसके सम्बन्धियों स्वार्थ के लिए दूसरों को दबाना, कष्ट देना और हानि पहुँचाना—आसुरी व्यवहार हैं जो सर्वथा त्याज्य हैं।

अहङ्कारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः॥
—गी० अ० १६।१

तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान्।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु॥
—गी० अ० १६।१

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम्॥
—गी० अ० १६-२

अर्थ—अहङ्कार*हठ*, काम* और क्रोध* में रत रहते हुए वे मनुष्य लोग अपने और दूसरों के शरीर में रहने वाले मुझ सर्वात्मा परमात्मा से द्वेष*कर मेरा (आत्मा का) तिरस्कार* करते हैं। उन द्वेष करने वाले क्रूर, दुराचारी, नीच मनुष्यों को मैं (सबका आत्मा) हमेशा इस संसार में आसुरी योनियों ही में गिराता हूँ। हे कौन्तेय! वे मूढ़ लोग जन्म जन्म में आसुरी योनि पाते हुए मुझ (सर्वात्मभाव) को कभी प्राप्त नहीं होते, किन्तु उत्तरोत्तर अधम गति को जाते हैं अर्थात् नीचे गिरते रहते हैं।

---

*अहङ्कार, हठ, गर्व, काम, क्रोध, द्वेष और तिरस्कार का खुलासा तृतीय प्रकरण में देखिए।

त्रिविध नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः ।
काम क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ॥
—गी० अ० १६ २१

एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः ।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम् ॥
—गी० अ० १६ २२

अर्थ—काम*, क्रोध* और लोभ*—ये तीन प्रकार के नरक के द्वार हैं, इसलिए अपने नाश करने वाले अर्थात् आत्म विमुख करने वाले इन तीनों का त्याग करना चाहिए। हे कौन्तेय! इन तीन नरक के द्वारों से जो मनुष्य पार हो जाता है वह अपना कल्याण करता है और उत्तम गति अर्थात् सब प्रकार के बन्धनों से छूट कर मोक्ष पाता है

आसुरी भावापन्न व्यक्ति अपने शरीर और उसके सम्बन्धियों का बड़ा गर्व करते हैं—"मैं उत्तम कुल में उत्पन्न, बड़ा बलवान् रूपवान, सामर्थ्यवान, धनाढ्य, सुखी, प्रतिष्ठित, भोगी और सिद्ध हूँ, मेरा बड़ा कुटुम्ब और वैभव है, मेरे समान दूसरा कौन है मैं बड़ा बुद्धिमान्, विद्वान्, ज्ञानी और धर्मात्मा हूँ; मैं यज्ञ करता हूँ, दान देता हूँ और अनेक प्रकार से मौज उड़ाता हूँ, सब कोई मेरी आज्ञा में हैं, कई शत्रुओं को मैंने मार डाला, कईयों को फिर मारूँगा, इतनी धन सम्पत्ति मेरे पास है, फिर दूसरों को दबा कर अधिक सम्पत्ति प्राप्त करूँगा; अपने धन बल, जन-बल विद्या बुद्धि और इज्जत के बल से दूसरों को खूब झुकाऊँगा और सब पर शासन करूँगा।" इस तरह ये लोग अनेक प्रकार से दूसरों को दबाते एवं घृणा और तिरस्कार करते हैं, यहाँ तक कि दूसरों को अपने पास बिठाने और छूने में भी पातक मानते हैं। हीन स्थिति वालों की प्राकृतिक आवश्यकताएँ पूरी होने में भी बाधक होते हैं और उनको निर्दयतापूर्वक

*काम, क्रोध और लोभ का खुलासा तृतीय प्रकरण में देखिए।

क्लेश देने में ही वे अपनी धार्मिक और सामाजिक प्रतिष्ठा मानते हैं। इस तरह के आसुरी व्यवहारों से बहुत दुर्गति होती है और नाना भाँति के बन्धनों से कभी छुटकारा नहीं होता; क्योंकि शरीर, उसके सम्बन्धी तथा उनके भोग्य पदार्थ—सभी,प्रतिक्षण बदलने वाले और नाशवान् होते हैं। इनमें जो अच्छाई और अनुकूलता प्रतीत होती है वह सत् चित् आनन्द स्वरूप आत्मा के आभास की है। अज्ञानियों को इन प्रतिक्षण बदलने वाले नाम रूपात्मक पदार्थों ही में जो सुख प्रतीत होता है वह भ्रम है। वास्तव में सुख अपनी और सबकी आत्मा में है; आत्मा ही के प्रतिबिम्ब से पदार्थों में सुख प्रतीत होता है; आत्मा से भिन्न कोई सुख नहीं है। पदार्थों में जो प्यारापन है वह भी आत्मा ही का है अर्थात् सच्चिदानन्द स्वरूप एक आत्मा ही सबको प्यारा है और वही सब में व्यापक होने से सब प्यारे लगते हैं। आत्मा से भिन्न इन प्रतिक्षण बदलने वाले पदार्थों में स्वयं अपना प्रियपन कुछ भी नहीं है। इसलिए इनको आत्मा से भिन्न मान कर जो इनमें आसक्त होता है तथा किसी को अपना और किसी को पराया मान कर किसी में राग और किसी से द्वेष करता है वह सदा दुःखी रहता है और उसकी निरन्तर अधोगति होती है—परतन्त्रता से उसका कभी छुटकारा नहीं होता। अतः आत्म विमुख करने वाले इन आसुरी व्यवहारों से सर्वथा बचना चाहिए।

गायन

आत्मप्रेम

[राग—भैरवी ताल कैरवा]

जग में प्यारे लगे सब अपने लिए ।
पति पत्नी को, पत्नी पति को, पिता पुत्र प्यारे अपने लिए ।
माता सुता भगिनी और बन्धु, मित्र भी प्यारे लगते अपने लिए ॥१॥
न्यात जात और सगे सम्बन्धी, गुरु शिष्य प्यारे अपने लिए ।
राजा रैयत ग्राम नगर और, देश भी प्यारा लगता अपने लिए ॥२
अन्न धन वैभव वस्त्र आभूषण, भूमि भवन प्यारे अपने लिए ।
पशु पक्षी वन वृक्ष लता फल, नदी पहाड़ प्यारे अपने लिए ॥३॥
आश्रम वर्ण उपाधि बुद्धि बल, मान बडाई प्यारी अपने लिए ।
आँख नाक मुख कान त्वचा मन, देह भी प्यारी लगती अपने लिए ॥४॥
वेद शास्त्र और धर्म कर्म सब, ईश्वर भी प्यारा लगता अपने लिए ।
देवी देव स्वर्गादि लोक पुन ,मुक्ति भी प्यारी लगती अपने लिए ॥५॥
जो कोई जिसको अपना माने, उसको वह प्यारा लगता अपने लिए ।
माने बेगाना जो कोई जिसको,वह नहीं प्यारा लगता अपने लिए ॥६॥
जितने पदार्थ अपने माने, शेष बेगाने होते अपने लिए ।
अपनी वस्तु जब होवे बेगानी,फिर नहीं प्यारी लगती अपने लिए ॥७॥
लगते पदार्थ जब तक प्यारे, अच्छे लगे जब वे अपने लिए ।
मान किसी को अपना बेगाना, दुःख उपजाते क्यों अपने लिए ॥८॥
असली प्यारा अपना आप है, जो सदा ही अच्छा लगता अपने लिए ।
सच्चिदानन्द आप है सब में, इसीसे प्यारे सब अपने लिए ॥९॥
अपन आपको जो सब में जाने, सबको वह प्यारा लगता अपने लिए ।
सब 'गोपाल" नहीं कोई दूजा, यही समस्त मन अपने लिए ॥१०॥

(बृहदारण्यक उपनिषद् के दूसरे अध्याय के चतुर्थ ब्राह्मण के मन्त्र ५,६ के आधार पर)

दूसरी श्रेणी अर्थात् वनस्पति वर्ग के मनुष्यों (स्त्री पुरुषों) के सात्विक आचरण

दूसरी श्रेणी अर्थात् वनस्पति वर्ग के स्त्री पुरुषों को अपने-अपने शरीर के आचरण सात्विक बनाने के साथ साथ अपने कुटुम्ब के साथ सात्विक व्यवहार करना चाहिए अर्थात् कुटुम्ब के लोगों के साथ अपनी एकता का ज्ञान रखते हुए उनसे प्रेम ⊛ पूर्ण बर्ताव करना चाहिए। अपने व्यक्तित्व की कुटुम्ब के साथ एकता करके अपने व्यक्तिगत स्वार्थों को कुटुम्ब के स्वार्थों के अन्तर्गत समझते हुए उसकी भलाई के लिए यत्न करते रहना चाहिए। अपनी व्यक्तिगत स्वार्थ सिद्धि के लिए कुटुम्ब का अनिष्ट कदापि न करना चाहिए। पुत्र पुत्रियों को अपने माता-पिता, ⊛ स्त्री को अपने पति ⊛ तथा उनके अभाव में जो अपने घर में बड़े हों उनका प्रेम और श्रद्धापूर्वक आदर, सत्कार, सेवा शुश्रूषा, भरण पोषण और रक्षण करना तथा अपने अच्छे आचरणों से उनको सदा प्रसन्न रखना चाहिए। अपने व्यक्तित्व के अहङ्कार तथा अपने व्यक्तिगत स्वार्थों को दूसरों के साथ एकता करने और मन तथा इन्द्रियों के संयम के अभ्यास का सबसे प्रथम और महत्व का साधन यही है। यदि अपने पूज्यों में रजोगुणी-तमोगुणी भावों की अधिकता हो—जो अपने सात्विक आचरणों के प्रतिबन्धक होते हों—तो विनीत और सरल भाव से उनको समझाने का उद्योग करना चाहिए, परन्तु उनके राजसी तामसी भावों के सम्मान के लिए अपने सात्विक व्यवहारों की अवहेलना करना उचित नहीं; क्योंकि पूज्य बुद्धि, पूज्यों के शरीर के प्रति रखने का कर्तव्य है, न कि उनके रजोगुणी-तमोगुणी भावों के प्रति। यदि अपने सात्विक आचरणों से उनको—उनके राजसी तामसी भावों के कारण—विक्षेप होता हो तो

⊛ प्रेम, मातृ पितृ भक्ति और पति भक्ति का खुलासा तीसरे प्रकरण में देखिए।

उसमें अपना दोष नहीं; यह दोष उनके भावों का है। परन्तु अपने राजसी-तामसी व्यवहारों द्वारा अपने पूज्यों को विक्षुब्ध न करना और जान बूझ कर उनकी अवहेलना कदापि न करनी चाहिए। अपने भरसक ऐसा यत्न करना चाहिए कि उनको कोई दु:ख न हो।

पुरुष को अपनी स्त्री के साथ एकता का ज्ञान रखते हुए उससे पूर्ण प्रेम ॐ का बर्ताव करना चाहिए, क्योंकि स्त्री पुरुष का आपस का द्वैत भाव मिट कर सच्ची एकता होने से दूसरों के साथ एकता के अनुभव के अभ्यास में बहुत सुगमता होती है। इसलिए स्त्री पुरुष का परस्पर में अनन्य प्रेम होना चाहिए और एक-दूसरे के साथ सम भाव की एकता होनी चाहिए। एक दूसरे के सुख, दु:ख, शोभा, निन्दा, मान, अपमान, हानि, लाभ आदि को अपना समझना चाहिए। परमात्मा के—जगत रूपी—विराट शरीर का, पुरुष दाहिना और स्त्री बायाँ अङ्ग है—अत, जैसा बर्ताव अपने आधे अङ्ग के साथ किया जाना है वैसा ही स्त्री पुरुष को आपस में करना चाहिए। ससार के व्यवहार के लिए जितनी आवश्यकता पुरुष की है उतनी ही स्त्री की, और उस व्यवहार का सुधरना-बिगड़ना जितना पुरुष पर निर्भर है उतना ही स्त्री पर; तथा गृहस्थ के व्यवहार में जितना महत्त्व पुरुष का है, स्त्री का उससे किसी अश में कम नहीं हो सकता। भूख, प्यास, काम, क्रोध, लोभ, शोक, मोह, भय, राग, द्वेषादि वेगों की तथा सुख दु:ख, शीत, उष्ण, मानापमान आदि द्वन्द्वों की वेदना जैसी पुरुष को होती है वैसी ही स्त्री को। आत्मिक उन्नति और ईश्वर प्राप्ति का जितना अधिकार और जितनी योग्यता पुरुष को है उतनी ही स्त्री को। तात्पर्य यह कि अन्य सब बातों में स्त्री-पुरुष की योग्यता समान है, केवल इतना ही अन्तर है कि वह ससार को गर्भ में धारण करती है, इसलिए उसमें साधारणतया अपने जोड़े के पुरुष से

ॐ प्रेम का खुलासा तृतीय प्रकरण में देखिए।

रजोगुण की कुछ अधिकता होना आवश्यक और स्वाभाविक है और उसके शरीर की बनावट भी उस कार्य के अनुकूल होने से पुरुष से कुछ भिन्न है, अतः पुरुष की अपेक्षा स्त्री का शरीर साधारणतया कोमल और सुकुमार होता है। रजोगुण की अधिकता के कारण उसकी प्रकृति साधारणतया पुरुष की अपेक्षा कुछ अधिक चञ्चल और धैर्य कम होता है, जिससे शरीर के वेगों तथा द्वन्द्वों से उसका मन शीघ्र ही विचलित हो जाना स्वाभाविक है। इसलिए पुरुषों द्वारा उसके पालन पोषण, रक्षण, शिक्षण आदि में विशेष सावधानी रखने की आवश्यकता रहती है। अतः स्त्री के प्रति अपना कर्त्तव्य पालन अच्छी तरह करने का पुरुष को विशेष ध्यान रखना चाहिए। सम्मान और स्नेहपूर्वक उसका अच्छी तरह पालन पोषण करना उसके शारीरिक वेगों तथा द्वन्द्वों का नियमित रूप से शान्त करके उसे सदा सन्तुष्ट और प्रसन्न रखना; दुराचारियों से उसकी रक्षा करना, धार्मिक और नैतिक व्यवहारों की शिक्षा देकर, उसे कुमार्गों तथा दुःखों से बचाने का यथाशक्ति प्रयत्न करते रहना; उसको अपने कर्त्तव्य समझा कर तथा उसके आचरण सात्विक बनवाकर उसकी आत्मिक उन्नति में सहायक होना अपनी सामर्थ्यानुसार वस्त्राभूषणों से सुसज्जित रखना, परन्तु फिजूलखर्ची और सामर्थ्य से अधिक व्यय करने से रोकना, अन्ध विश्वासों और मिथ्याडम्बरों के हानिकारक व्यवहार छुड़ाने का यत्न करना और संसार के व्यवहारों में उसको अपने बराबर की हिस्सेदार समझना यह प्रत्येक पुरुष का कर्त्तव्य है। इन कर्त्तव्यों से उदासीन रहना या अवहेलना करना अथवा शरीर से, मन से तथा वाणी से स्त्री के साथ बुरा बर्ताव करना, उसको दुःख देना अथवा तिरस्कार या घृणा करना, अपने कर्त्तव्य से विमुख होना है। इस तरह की विषमता का बर्ताव पुरुष भाव के विरुद्ध होने से परमात्म प्राप्ति अर्थात् मुक्ति में बाधक है।

- माता पिता को अपने पुत्र पुत्रियों—सबका एक समान प्रेम* और वात्सल्य

---

* प्रेम और वात्सल्य का खुलासा सातवें प्रकरण में देखिए।

भाव से पालन पोषण तथा रक्षण करना, उन सबको अपनी शक्ति एवं योग्यतानुसार धार्मिक और नैतिक सुशिक्षा दिलाना, उनके शरीर बलवान तथा आरोग्य रहने के लिए आहार विहार में पूरी सावधानी रखना तथा व्यायाम आदि से उनको सुदृढ़ बनाना, विलासिता, फिजूलखर्ची, व्यसन, कुसङ्ग तथा कुमार्ग में न पड़ने देकर उनका जीवन सादा और सात्त्विक बनाने का प्रयत्न करना चाहिए। पुत्र को अपने व्यवसाय की तथा पुत्रियों को गृहस्थी के कामों और गृहशिल्प की विशेष शिक्षा देना; पुत्र तथा पुत्रियों के साथ एकसा सद्व्यवहार करना, कटु शब्द और गालियाँ न बोलना, मिथ्या—काल्पनिक भय दिखा कर उनका मन कम जोर न करना तथा झूठ बोलने की आदत न डालनी चाहिए। बालकों के पालन पोषण, रक्षण तथा शिक्षण का कर्त्तव्य बहुत ही आवश्यक और महत्व का है। इसमें उपेक्षा, उदासीनता आलस्य या प्रमाद कभी न करना चाहिए। शरीर का रक्षा के लिए मोटे वस्त्र पहिनने को उनकी आदत डालना तथा बारीक और निर्लज्जता के वस्त्र न पहिनाना चाहिए।

पुत्र पुत्री का विवाह जब वे विवाह के उद्देश्य को अच्छी तरह समझने लग जाय, उनको विवाह की वास्तविक आवश्यकता प्रतीत होने लगे तथा अपने जोड़ के वर अथवा वधू की उपयुक्तता एवं अपने भावी सुख-दुःख के विषय में विचार कर सम्मति देने की योग्यता आ जाय तब करना चाहिए। वर की आयु वधू से साधारणतया ४ ५ वर्ष अवश्य बड़ी होनी चाहिए। वधू के चुनने में मुख्य सावधानी इस बात की रहे कि वह सच्चरित्र, सुशीला, आरोग्य, श्रेष्ठ गुणों वाली हो तथा उसके कुल के आचरण अपने अनुकूल और चरित्र शुद्ध हो—इन बातों का अच्छी तरह अनुसन्धान कर लेना चाहिए। वधू के पिता की आर्थिक स्थिति तथा प्रतिष्ठा एवं वंश-परम्परा आदि का विचार बहुत गौण समझना तथा दहेज आदि के आर्थिक लाभ पर बिलकुल ही ध्यान न रखना चाहिए, यहाँ तक कि दहेज के ठहराव का प्रश्न विवाह सम्बन्ध में आना ही न चाहिए। विवाह से आर्थिक

लाभ की आशा रखना बहुत ही नीचता का भाव है और सात्विक व्यवहार के बिलकुल विरुद्ध है।

पुत्री के लिए सबसे अधिक सावधानी उसकी जोड़ के वर को चुनने में करनी चाहिए अर्थात् आयु में वर कन्या से ४ ५ वर्ष बड़ा हो, नीरोग, बलवान् एवं सुदृढ़ शरीर वाला हो; विद्या, बुद्धि, सुशीलता तथा सच्चरित्रता आदि गुणों और सौम्य भाव से युक्त हो ; अच्छे कुल में उत्पन्न तथा उसके माता पिता के आचरण शुद्ध हों। इसके बाद वर के पिता की आर्थिक स्थिति तथा प्रतिष्ठा का विचार करना चाहिए। इन बातों को देख कर सत्सत्कार के साथ कन्या का विवाह करना चाहिए। कन्या के विवाह में अपने किसी प्रकार के वर्तमान या भविष्य के आर्थिक लाभ अथवा मान प्रतिष्ठा का विचार करना घोर पाप है, अत ऐसे विचारों को उत्पन्न भी नहीं होने देना चाहिए। यदि सन्तान होने के पहले लड़की विधवा हो जाय तो उसका योग्य वर के साथ पुनर्विवाह कर देना चाहिए। जिस तरह कुँवारी लड़की का विवाह करना उसके माता पिता आदि का पवित्र कर्त्तव्य है उसी तरह नि सन्तान, युवावस्था प्राप्त विधवा के लिए भी समझना चाहिए, क्योंकि जवान स्त्री किसी भी दशा में अरक्षित न रहनी चाहिए। युवावस्था प्राप्त लड़कियों के अरक्षित रहने से अनेक प्रकार के अनर्थ होते हैं। बालकों के विवाह सम्बन्ध का एकमात्र उद्देश्य उनके भावी सुख एवं उनकी आत्मिक उन्नति पर ही रहना चाहिए। उनसे अपने इस लोक एवं परलोक के व्यक्तिगत स्वार्थ साधन करने का जरा भी लक्ष्य न रखना चाहिए।

अपनी हैसियत से बहुत ऊँचे दर्जे का विवाह-सम्बन्ध स्थापित करने के लिए लालायित न होना, किन्तु विशेष ध्यान अपनी समता अर्थात् समान गुण एवं समान योग्यता वालों के साथ सम्बन्ध करने पर ही रखना चाहिए, क्योंकि वास्तविक सुख समान स्थिति, समान आहार व्यवहार तथा समान विचार वाले सम्बन्ध में ही होता है। असमान सम्बन्ध से लम्बी मुद्दत के लिए सुख नहीं होता।

विवाह सम्बन्ध में जन्मपत्रियों में लिखे हुए ग्रहों के मिलान करने की प्रथा से हानि के सिवाय लाभ कुछ भी नहीं है, क्योंकि जन्मपत्रियों के अनुसार ग्रहों के फल ठीक ठीक मिलें, यह निश्चय नहीं है। अनेक अवसरों पर तो बहुत विपरीत फल होते देखे गए हैं। ऐसी अवस्था में जन्म पत्रियों का मिलान करके नाहक वहम उत्पन्न नहीं करना चाहिए। जात पाँत के सङ्कीर्ण विचारों के कारण योग्य वर-वधू की जोड़ मिलना वैसे ही बहुत दुर्लभ है, इतने पर भी सौभाग्यवश जब कोई योग्य जोड़ मिल जाती है तो ज्योतिषीजी महाराज की ग्रह-शान्ति हुए बिना वे बीच में टाँग अड़ा कर योग्य सम्बन्ध जुटने में बाधा लगा देते हैं। फलतः बहुत से बाल और बेजोड़ विवाह होने में जन्मपत्री का मिलान भी एक प्रधान कारण हो जाता है। सुख दुःख जन्मपत्री मिलाए हुए विवाहों में भी उसी प्रकार होता है जिस प्रकार बिना मिलाए हुओं में। बल्कि जन्मपत्री बिना मिलाए विवाहों में जोड़ ठीक बैठने से अधिक सुख की सम्भावना रहती है। ऐसी दशा में जन्मपत्रियों के मिलान पर विश्वास और वहम करके विवाह सम्बन्ध जैसे पवित्र और जन्म भर के सुख-दुःख निर्भर करने वाले गुरुतर कार्य के लिए स्वार्थी ज्योतिषियों के अधीन रहना बड़ी मूर्खता है।

विवाह व्यवस्था

विवाह-व्यवस्था के सम्बन्ध में भी आजकल बहुत वाद विवाद चलता है। कई लोग तो सन्तानों के विवाह पूर्ण रूप से माता पिता और उनकी अनुपस्थिति में बड़े भाई आदि अभिभावकों के अधीन रखना ही श्रेयस्कर मानते हैं, एवं जिनका विवाह होता है उनका इस विषय में एक शब्द उच्चारण करना भी नीति विरुद्ध एवं अधर्म समझते हैं, और कई लोग विवाह करने वालों ही को पूर्ण स्वतन्त्रता देने के पक्ष में हैं। प्रथम पक्ष वाले विवाह का उद्देश्य केवल सन्तानोत्पत्ति ही मानते हैं, जिससे मृत पितरों को परलोक में पिण्डोदक पहुँचाने वाला वंश चलता रहे और दूसरे

पक्ष वाले स्थूल शरीर के विषय भोगादि सुखों पर ही प्रधान लक्ष्य रखते हैं। परन्तु यदि विचार कर देखा जाय तो दोनों ही पक्ष व्यक्तिगत स्वार्थ और आधिभौतिक सुखों की दृष्टि पर ही अवलम्बित हैं। वास्तव में विवाह का सच्चा उद्देश्य, स्त्री पुरुष का—परस्पर एकता के नि स्वार्थ प्रेम भाव से रहते हुए और आपस के सहयोग से एक-दूसरे के शरीरों की आवश्यकताएँ पूरी करते हुए तथा प्राकृतिक वेगों को मर्य्यादित रूप से शान्त करते हुए—अपनी अपनी आत्मोन्नति करने के साथ-साथ समाज को सुव्यवस्थित रखकर उसकी उन्नति में भी सहायक होना है। सन्तानोत्पत्ति तथा आधिभौतिक विषय-सुख तो इसके गौण फल हैं। ये तो विवाह के बिना भी नर मादा के संयोग से पशु पक्षियों में भी होते ही हैं।

विवाह के उक्त पवित्र एवं सच्चे उद्देश्य की सिद्धि के लिए, वरवधू के माता पिता तथा उनकी अनुपस्थिति में अन्य अभिभावकों को—किसी भी प्रकार के अपने व्यक्तिगत इहलौकिक तथा पारलौकिक स्वार्थ सिद्धि का विचार न रख कर—केवल उनके (वर-वधू के) हित की दृष्टि से उनके उपयुक्त जोड़े को अच्छी तरह जाँच-पड़ताल करके चुनना चाहिए, फिर उनको एक दूसरे के गुणों से अच्छी तरह परिचित करा देने के उपरान्त दोनों को अपने सन्मुख बैठाकर उनका आपस में वार्तालाप करवाना चाहिए। इसमें लज्जा या सङ्कोच बिलकुल न रखना चाहिए। इस तरह करने पर वे एक दूसरे को पसन्द कर लें तब उनका सम्बन्ध करना चाहिए। वर-वधू की प्रसन्नतायुक्त सम्मति के बिना तथा माता पिता आदि के चुने बिना कोई भी सम्बन्ध होना उचित नहीं। चाहे प्रथम विवाह हो या पुनर्विवाह, इसी पद्धति से होना सुखदायक हो सकता है।

विवाह एक अत्यन्त ही महत्वपूर्ण कार्य है, जिस पर केवल इस जन्म का ही नहीं किन्तु भविष्य के जन्मों का भी सुधारना बिगाड़ना निर्भर है, इसलिए इस विषय में बहुत ही सोच विचार तथा सावधानी से काम लेने की आवश्यकता है। यह कार्य यदि माता पिता आदि के ही अधीन रहे

तो वे अपने व्यक्तिगत स्वार्थ से अथवा अज्ञानवश या वर वधू की रुचि न जानने के कारण अयोग्य जोड़ा चुन सकते हैं जिससे दोनों का भविष्य बिगड़ सकता है—जैसे कि वर्तमान में अधिकतर हिन्दू समाज में हो रहा है, और यदि युवक-युवतियों पर ही छोड़ दिया जाय तो अनुभव की कमी तथा यौवन के वेग में अत्यन्त विषयाशक्ति होने के कारण, आवेश में आकर परिणाम पर दीर्घ दृष्टि से विचार किए बिना—उनके अयथार्थ निर्णय की सम्भावना अधिक रहती है, जिससे अयोग्य जोड़ा चुना जा सकता है और जिसका परिणाम आगे जाकर भयङ्कर होता है, जैसे कि आजकल के सभ्य समाज में बहुतायत से देखा जाता है। अत इस सम्बन्ध में माता पिता तथा वर वधू दोनों को अपना अपना कर्त्तव्य यथायोग्य पालन करना चाहिए। जिन बड़ी आयु के वर-वधू के माता पिता आदि अभिभावक न हों उनको भी अपने अपने सुहृदय जनों की सम्मति से अपने विवाह योग्य जोड़े को चुनना चाहिए। विवाह सम्बन्ध अपने अनुकूल आयु तथा उप युक्त गुणों की जोड़ मिलने ही से सुखदायक तथा शुभ परिणाम जनक होता है—स्वार्थ और भोग कामना से कदापि नहीं! बेजोड़ विवाह का दुष्परि णाम केवल विवाह करने वालों ही को नहीं, किन्तु सब समाज को भोगना पड़ता है।

भाई-बहिन तथा दूसरे कुटुम्बियों के साथ सात्विक व्यवहार

भाई और बहिन यदि अपने से बड़े हों तो उनको भी पूज्य मानना, उनसे अपनी एकता के प्रेम एवं आदर-सम्मान युक्त व्यवहार करना, आव श्यकता पड़ने पर उनकी सेवा करना और उनके सुख दुःख में सहायक होना चाहिए और यदि अपने से छोटे हों तो उनके साथ अपने पुत्र पुत्री के समान एकता के प्रेमयुक्त वात्सल्य भाव का व्यवहार करना तथा उनकी शारीरिक एवं मानसिक उन्नति में सहायक होना। इसी तरह जो दीन और अनाथ कुटुम्बी अपने आश्रय में हों उनका प्रेम सहित पालन पोषण,

रक्षण शिक्षण प्रसन्न चित्त से करना चाहिए। यदि वे बालक हों तो अपनी सन्तानों की तरह उनके प्रति वात्सल्य भाव का व्यवहार करना और यदि बड़ी आयु के हों तो पूज्यभाव से उनके साथ आदर-सम्मानपूर्वक व्यवहार करना चाहिए। सब के सुख दुखों में सहायक होना और सबकी वास्तविक आवश्यकताएँ पूरी करने तथा उनके वास्तविक हित साधन के व्यवहारों में सहयोग देना चाहिए।

कौटुम्बिक अत्याचार

भारतवर्ष ने जब से आध्यात्मिकता को केवल निवृत्ति के उपयोगी समझकर ससार के व्यवहारों से उसको अलग कर दिया अर्थात् जब से दर्शन शास्त्रों का विचार केवल पर्वतों की कन्दराओं में रहने वाले, ससार से विरक्त—त्यागी महात्माओं ही के उपयोग की वस्तु समझी जाने लगी—गृहस्थी लोग उससे सर्वथा वञ्चित होगए—तब ही से यहाँ के लोगों में जड़ता बढ़ती गई और इस समय यहाँ अधिक सख्या आसुरी प्रकृति के लोगों ही की हो गई है। ये लोग स्वय अपने कुटुम्ब के साथ भी एकता के प्रेमयुक्त बर्ताव नहीं करते तो फिर अखिल विश्व के साथ एकता के प्रेमयुक्त बर्ताव की तो बात ही कैसी! अपने इस लोक तथा परलोक के व्यक्तिगत स्वार्थों तथा शरीर के क्षणिक सुख के लिए विषय करके ये लोग कीड़ों मकड़ों की तरह सन्तान उत्पन्न तो करते रहते हैं, परन्तु उचित रीति से उनके पालन-पोषण, रक्षण शिक्षण के लिए कुछ भी कष्ट उठाना नहीं चाहते। पुत्र द्वारा अपना (शरीर का) नाम अपने पीछे बहुत काल तक चलता रहे तथा मरने के बाद परलोक में—अपने को स्थूल शरीर मिलने तथा उसके भूखे प्यासे मरने की कल्पना करके, वहाँ उस शरीर को—जल तथा अन्न का पिण्ड पहुँचता रहता है इस विश्वास से पुत्र उत्पन्न करने के लिए (यदि साधारण तौर से उत्पन्न न हो तो) बड़े बड़े यत्न करते हैं और उसके उत्पन्न होने पर बहुत हर्ष मनाते हैं। यदि

यत्न करने पर भी पुत्र उत्पन्न न हो तो किसी लड़के को खरीद कर या गोद लेकर बड़ी खुशी मनाते हैं तथा ऐसे पुत्रों को बड़े लाड़ प्यार से रखते हैं, परन्तु लड़की बिना यत्न के ही उत्पन्न हो जाने पर बहुत शोकातुर होते हैं और उससे बड़ी घृणा करते हैं। कई लोग तो उसको जन्मते ही मार डालते हैं और जो नहीं मारते वे भी सदा उसका तिरस्कार करते हुए उसके मरने की कामना करते रहते हैं और यदि वह मर जाय तो बड़े प्रसन्न होते हैं, क्योंकि उससे उनको अपने व्यक्तिगत स्वार्थ सिद्धि की आशा कुछ भी नहीं रहती—नाहक उसको खिलाने पिलाने आदि पर खर्च करना और कष्ट उठाना पड़ता है। अपना उत्तराधिकारी धनवान बना रहे—इस व्यक्तिगत मोह तथा प्रतिष्ठा के लिए पुत्र के वास्ते तो अनेक तरह के कुकर्म करके, न्याय अन्याय से धन बटोर कर छोड़ जाना अपना परम धर्म समझते हैं, परन्तु कन्या को—विवाह और गौने आदि के अवसर पर समाज में अपनी व्यक्तिगत प्रतिष्ठा के लिए लाजिमी दहेज देने (सो भी कन्या को नहीं, किन्तु उसके ससुर आदि अपने सम्बन्धी को) के अतिरिक्त—कुछ भी देना अन्याय मानते हैं। चाहे कन्या कितनी ही दीन अवस्था या विपत्ति में क्यों न हो, चाहे वह पिता की नादेहन्दी के कारण सास ननद आदि के तानों से कोसी जाकर मर ही क्यों न जाय, परन्तु उसको कुछ भी देकर विपत्ति से बचाना या सन्तुष्ट करना अपने कर्त्तव्य से बाहिर मानते हैं।

पुत्र—चाहे औरस हो या खरीदा हुआ दत्तक, घर की सम्पत्ति का उत्तराधिकारी वही होता है। उसकी अनुपस्थिति में बाप दादे आदि सात पुश्तों की औलाद के पुरुष उत्तराधिकारी हो जाते हैं, परन्तु अपने शरीर से उत्पन्न कन्या का अपने पिता की सम्पत्ति में रत्ती भर भी अधिकार नहीं; क्योंकि उससे अपने शरीर का नाम नहीं चलता और न उसका दिया हुआ पिण्डोदक ही पहुँच सकता है—ऐसा भ्रम घुँसा हुआ रहता है।

अपने व्यक्तिगत स्वार्थ के लिए बालक-बालिकाओं को बेच देने में भी

भी—फौरन दूसरी पत्नी लाना परम धार्मिक कृत्य माना जाता है और एक पत्नी के मरने पर दूसरी लाने में तो पुरानी जूती फेंक कर नई लाने में जितना विचार होता है उतना भी शायद नहीं होता।

पुरुष की सम्पत्ति पर उसके जीवन-काल में तो स्त्री को किसी प्रकार का अधिकार होने का प्रश्न ही नहीं उठता, किन्तु पुरुष के मरने पर यद्यपि स्त्री जन्म भर वैधव्य भोगती हुई जड़वत् घर के एक कोने में बैठी, सड़ सड़ कर जीवन बिताने के लिए बाध्य की जाती है, परन्तु पति की सम्पत्ति में—सिवाय परिवार की सेवा टहल करने के एवज में रूखा-सूखा अन्न खाने के और कोई अधिकार नहीं रहता। विधवा होने पर वह इतनी अशुभ और तिरस्कृत बना दी जाती है कि उसका दर्शन होना भी अमङ्गल समझा जाता है, किसी भी माङ्गलिक कृत्य में वह सम्मिलित नहीं हो सकती—यहाँ तक कि उसके सगे भाई भी उससे तिलक और रक्षाबन्धन नहीं करवाते। मनुष्यपन के कुछ भी अधिकार यदि शेष रहे तो, वे भी विधवा होने पर सब छीन कर जड़-पाषाणादि के साथ जैसा व्यवहार किया जाता है उससे भी हीन व्यवहार उसके साथ किया जाता है। इस बात का जरा भी विचार नहीं किया जाता कि पुरुषों की तरह वह भी तो एक ज्ञानवान प्राणी है; अत उसको भी मान अपमान, घृणा तिरस्कार, सुख-दुःखादि की वेदना होती होगी। उसके लिए अच्छे पदार्थ खाना-पीना, साफ-सुथरे वस्त्र पहनना हँसना, खेलना, किसीसे बोलना, मन बहलाना तथा घर से बाहिर पैर रखना भी बड़ा भारी पाप है; किन्तु भूख, प्यास एवं शीतोष्ण आदि से उसे कष्ट देना ही श्रेष्ठ धर्म समझा जाता है और उसके मरने की बाट बड़ी उत्सुकता से देखी जाती है। विधवाओं पर इस तरह के अमानुषी अत्याचार करके ही इनको सन्तोष नहीं होता, किन्तु लावारिस माल समझकर उन बेचारियों पर हरेक मनुष्य बलात्कार करने को तैयार रहता है; अनेक अवसरों पर तो उनके ससुराल और पीहर के कुटुम्बी लोग ही उनको फुसला कर उनका सतीत्व नष्ट करते हैं और जब गर्भ हो जाता

है तो पहिले तो तीर्थों तथा गुप्त-स्थानों में भेज कर गर्भपात कराने का प्रयत्न किया जाता है, परन्तु यदि इसमें सफलता न हो तो या तो वे बेचारी विषादि के प्रयोग से मार डाली जाती हैं या उन्हें घर से निकाल कर समाज में अपना मुख उज्ज्वल किया जाता है। इस तरह घर से निकली हुई ये बेचारी या तो निर्दयी गुण्डों के हथकण्डों में पड़ कर घोर विपत्ति और कष्ट उठाती हैं या वेश्या-वृत्ति से नारकीय जीवन व्यतीत करती हैं अथवा इतनी यातनाओं से तङ्ग आकर आत्मघात कर लेती हैं। इस तरह के पैशाचिक कृत्य इन लोगों की दृष्टि में धर्म्म-सम्मत हैं और उन अबलाओं का इस तरह सर्वनाश करने वाले धर्मात्मा ही बने रहते हैं, परन्तु जवान विधवाओं का विवाह करके उनको सद्गृहस्थिनी बनाना बड़ा पापाचार माना जाता है।

पहिले जमाने में जब सती दाह की अमानुषी प्रथा प्रचलित थी तब तो बचारी विधवाओं को अग्नि में जलने की दारुण वेदना घण्ट आध घण्टे मूर्च्छित होने तक ही सहन करनी पड़ती थी, परन्तु अब तो उनको बिना अग्नि के ही जलते रहने की मर्म वेदना जन्म भर भोगनी पड़ती है। इससे अधिक नृशस-राक्षसी व्यवहार और क्या हो सकता है?

स्त्रियों को पर्दे के अन्दर बन्द रख कर सड़ाना, बुद्धि विकास के साधन उनकी ज्ञानेन्द्रियों के द्वारों को घूँघट से ढाँक कर बन्द कर रखना और बेचारियों को पिंजरे की चिड़िया बनाए रखना उच्चकोटि की मर्य्यादा मानी जाती है।

स्त्रियों को पर्दे के अन्दर इस वास्ते रक्खा जाता है कि पुरुष उन पर कुदृष्टि न डालें अर्थात् कुदृष्टि डालने का पाप तो करें पुरुष और उस पाप का फल भोगें बेचारी स्त्रियाँ! कैसा विचित्र न्याय है? मुँह बन्द करके पर्दे में रखना चाहिए कुदृष्टि डालने वाले पुरुषों को, परन्तु रक्खी जाती हैं निर्दोष अबलाएँ! यह बात ध्यान में रखने की है कि स्त्रियों को अधिकतर अपने ससुराल की तरफ के बड़ों से घूँघट करवाया जाता है, जिससे साबित

होता है कि घर के "बडेरे" ही कुदृष्टि डालने वाले पापी हैं, इसलिए घर के पुरुषों के पाप का फल भी, उनके बदले बेचारी स्त्रियों को भोगना पड़ता है।

अबलाओं की पुकार

(तर्ज़ लावनी)

टेर

सज्जन सुनो दे कान, धर्म का जो दम भरते हो।
नारी नर से कहे, जुल्म हम पर क्यों करते हो॥

अन्तरा

ब्रह्मा जी ने आदि काल में सृष्टि रची सारी।
एक भुजा से हुआ पुरुष और दूजी से नारी॥
दोनों मिल कर गृहस्थ करो यह आज्ञा करी जारी।
आप जगत के पिता हुए और हम भी महतारी॥
हम बिना आपका कोई काम नहीं चलता।
नारी को दुख होने से धर्म नहीं पलता।
जप तप व्रत तीरथ यज्ञ दान नहीं फलता॥
धर्मशास्त्र के हैं ये वचन, ध्यान इन पर भी धरते हो।
नारी नर से कहे जुल्म हम पर क्यों करते हो॥१॥
कन्या का जब होय जन्म सब दुखी आप होते।
मन्द हमारे भाग यह कह कर मन ही मन रोते॥
चीज निकम्मी जान हमें नफरत की नजर जोते।
प्रारब्ध से यही होत पापों का मल धोते॥

फिर आखिर ब्याहने की नौबत आती है ।
बिन देखे भाले घर को दी जाती है ।
निर्दयी आपकी वज्रसी छाती है ॥
तुम अपने स्वारथ काज हमारा सब सुख हरते हो ।
नारी नर से कहे जुल्म हम पर क्यों करते हो ॥२॥

चाहे वर बालक हो नादान मूर्ख होवे दुराचारी ।
बुड्ढा हो बीमार पहिले मौजूद भी हो नारी ॥
पशु दान देने में देखते पात्र सदाचारी ।
पर कुपात्र को दे देते हो कन्या बेचारी ॥
हम बिना उज्र उसके पीछे हो जातीं ।
बेजोड़ विवाह से ऊमर भर दुःख पातीं ।
सब सहती अत्याचार सदा गम खातीं ॥
और हरदम करतीं टहल आप फिर भी नहीं ठरते हो ।
नारी नर से कहे जुल्म हम पर क्यों करते हो ॥३॥

हो भले हमारे भाग आप से पहिले चली जावें ।
छोटी ऊमर में तो भी धन्य धन्य कहवावें ॥
नहीं शोच फिकर का काम तुरन्त दूजी नारी लावे ।
फटी पगरखी फेंक नई जूती जैसे लावे ॥
जिनके घर में बेटे पोते पोती हैं ।
सब अङ्ग शिथिल आँखों की मन्द ज्योती हैं ।
उनके लारे लग कन्याएँ रोती हैं ॥
करो इस तरह के अनर्थ आप नहीं ईश्वर से डरते हो ।
नारी नर से कहे जुल्म हम पर क्यों करते हो ॥४॥

दैवयोग से अगर आप के पीछे रह जातीं ।
जन्म भ्रष्ट हो जाय जगत में नहीं कोई साथी ॥

आठ बरस से साठ बरस की जब ऊमर आवी ।
बिना आग हर वक्त सिलगती ज्यों मट्टी ताती ॥
नहीं एक पलक भी सुख का दम भर सकतीं ।
नहीं बोल चाल हँस-खुशी ख्याल कर सकतीं ।
नहीं घर से बाहिर एक कदम धर सकतीं ॥
कर हम पर यह अन्याय आप सुख में विचराते हो ।
नारी नर से कहे जरम हम पर क्यों करते हो ॥५॥

काया के जो धर्म छोड़ सकता नहीं कोई ।
योगी यती सूरमाँ पण्डित चाहे जो होई ॥
ब्रह्मा विष्णु महेश ऋषि और मुनि हुए जोइ ।
क़ुदरत के नियमों को जरा नहीं पलट सके कोइ ॥
इन विषयों के वेगों को किसने मारा ।
मन की चञ्चलता से अर्जुन भी हारा ।
फिर साधारण अबलाओं का क्या चारा ॥
सब नाहक हमको दोष लगाते पर क्यों उतरते हो ।
नारी नर से कहे जरम हम पर क्यों करते हो ॥६॥

इस हालत पर भी हमको तुम ही फुसलाते हो ।
हम चाहें बचने को सत तुम ही डिगवाते हो ॥
धन भ्रष्ट अपरन करते जब मौक़ा पाते हो ।
फिर भी ठेकेदार धर्म के तुम कहलाते हो ॥
छल छिद्र आप कर हम से पाप कराते ।
जब काम पड़ सब आप अलग हो जाते ।
टीका कलङ्क का हमरे सिर लगवाते ॥
करो तुम ऐसे खोटे काम फिर भी शेखी में मारते हो ।
नारी नर से कहे ज़ुल्म हम पर क्यों करते हो ॥७॥

नारी नर से हाथ जोड़ कर अरज करे स्वामी।
बन्द करो सब जुल्म खुशी होवे अन्तरयामी ॥
आपत् काल के धर्म विचारो मेटो बदनामी।
दोनों आँख एकसी देखो दूर करो खामी ॥
इस समय धर्म की बहुत हो रही हानी।
हिन्दू जाती दब रही है चारों कानी।
हम अबलाओं की हो रही है हैरानी ॥
ऋषि मुनियों की सतान धर्म अपना क्यों बिसरते हो।
नारी नर से कहे जुल्म हम पर क्यों करते हो ॥८॥

जब पत्नी और सन्तानों पर व्यक्तिगत स्वार्थ के लिए इस तरह के अत्याचार किए जाते हैं तो क्रिया की प्रतिक्रिया (Aotion का Reaction) होना स्वाभाविक है। अत पत्नी अपने व्यक्तिगत विषय भोग गहनों, कपड़ों एव शौकनी के दूसरे साधनों के लिए तथा—परलोक में मिलने वाले सुखों के मिथ्या विश्वास से—धूर्तों को अनेक प्रकार के दान देने और तीर्थ, व्रत आदि के बड़े बड़े आडम्बर करने आदि में शक्ति से अधिक खर्च करवा कर उनके निमित्त धन कमाने के लिए पति को जन्म भर तैली के बैल की तरह घुमाती है, और पिता-माता की वही आसुरी प्रकृति सन्तानों में आती है, फलत वे लोग अपने व्यक्तिगत स्वार्थों के लिए पिता-माता को तङ्ग करते रहते हैं।

इस तरह के आसुरी भावों के कारण ही इस देश की इतनी अधो गति हुई है और जब तक ये भाव नहीं सुधरेंगे अर्थात् जबतक स्त्री पुरुषों में आपस में समता का व्यवहार न होगा, जब तक पुरुष वर्ग स्त्री जाति का आदर करना नहीं सीखेंगे, जब तक उनको अपने बराबरी का साझेदार समझने नहीं लगेंगे तथा जब तक उनको अपने मनुष्यता के अधिकार से वञ्चित रक्खेंगे एव जबतक कन्याओं के प्रथम विवाह की तरह विधवाओं

के पुनर्विवाह को भी श्रेष्ठ धर्म नहीं माना जायगा, तबतक इस देश की उन्नति होना असम्भव है।'

इससे कोई यह न समझे कि इस देश में सभी लोग आसुरी प्रकृति के ही हैं, ऐसी बात नहीं है। कई सज्जन इस देश में भी उच्चकोटि के महात्मा हैं, जिनके प्रभाव ही से अभी तक इसका गौरव बना हुआ है—परन्तु कहने का प्रयोजन यह है कि अधिकांश लोग आधिभौतिक शरीरों के व्यक्तिगत स्वार्थों को ही सब कुछ मान कर व्यवहार करते हैं—जिनसे ऊपर उठे बिना उन्नति हो नहीं सकती। इसलिए जनता में सार्वजनिक साम्य भाव के प्रचार द्वारा स्वार्थ त्याग की शिक्षा दी जानी चाहिए और स्वार्थ-त्याग का प्रारम्भिक कार्यक्षेत्र अपना कुटुम्ब है।

संयुक्त परिवार व्यवस्था

वर्तमान समय में व्यवहार में दार्शनिक विचारों का उपयोग छूट जाने के कारण अन्य श्रेष्ठ व्यवस्थाओं की तरह संयुक्त परिवार व्यवस्था का भी व्यतिक्रम हो जाने से इस देश के लोगों की जो अनेक प्रकार की हानियाँ हुई हैं उनको देख कर, स्थूल शरीर और उसके आधिभौतिक विषय सुखों को ही सब कुछ मानने वाले पश्चिमी संस्कृति के लोग भले ही आर्यों के इस संयुक्त परिवार व्यवस्था के सिद्धान्त को स्वावलम्बन का नाशक तथा महान् हानिकारक समझें, परन्तु जो आर्य संस्कृति केवल आधिभौतिक उन्नति को ही सच्ची उन्नति तथा केवल आधिभौतिक शरीर के सुखों को ही सच्चा सुख नहीं मानती, किन्तु आध्यात्मिक उन्नति और आध्यात्मिक सुखों को प्रधानता देकर आधिभौतिकता को उसी का प्रतिक्षण परिवर्तनशील दिखाव मात्र समझती है, वह इस संयुक्त परिवार व्यवस्था को—व्यक्तिगत स्वार्थसिद्धि के लिए नहीं—किन्तु अपने स्वार्थों का दूसरों के स्वार्थों के अन्तर्गत मान कर दूसरों की आवश्यकताएँ पूरी करने में सहायक होने और दूसरों की सेवा तथा हित करने के सर्वोत्तम साम्य-भाव

में जुड़ने के लिए आवश्यक और अत्यन्त उपयोगी समझती है। हाँ, यह बात अवश्य है कि प्रत्येक व्यवस्था का शुभ और अशुभ परिणाम उसके सदुपयोग और दुरुपयोग पर निर्भर है और यह सिद्धान्त सर्वोपरि है।

अपने कुटुम्ब के लोगों के साथ इस तरह एकता के ज्ञानयुक्त प्रेमपूर्ण व्यवहार करते हुए दूसरे कुटुम्ब वालों से ईर्षा द्वेष आदि के भाव न रखने चाहिए और अपने कुटुम्ब के धन बल, जन-बल, मान प्रतिष्ठा, कुलीनता, पवित्रता, उच्चता आदि का घमण्ड करके दूसरे कुटुम्ब वालों को दबाना नहीं चाहिए और न किसी का तिरस्कार ही करना चाहिए, क्योंकि जो दूसरे कुटुम्ब वालों से प्रेम का व्यवहार न करके उनको दबाते हैं और उनसे ईर्षा, द्वेष तथा घृणा करते हैं वे अपने कुटुम्ब वालों के साथ भी सात्विक व्यवहार नहीं कर सकते। दूसरे कुटुम्ब के लोगों को दबाने और उनसे ईर्षा, द्वेष* तथा घृणा* करने की प्रतिक्रिया अवश्य होती है जिससे अपने कुटुम्ब में भी परस्पर में एक दूसरे को दबाने एवं एक दूसरे से ईर्षा, द्वेष और घृणा के भाव उत्पन्न होते हैं; फलतः स्वयं अपना और अपने कुटुम्ब का उलटा अधःपतन होता है।

उपरोक्त रीति से अपने कुटुम्ब के साथ सात्विक आचरण करने से कौटुम्बिक बन्धनों से छुटकारा मिलता है।

तीसरी श्रेणी (पशु वर्ग) के मनुष्यों (स्त्री-पुरुषों) के सात्विक आचरण

जिन लोगों का कार्यक्षेत्र जाति या समाज तक विस्तृत हो गया है, उन समाज सेवियों को अपने शारीरिक और कौटुम्बिक व्यवहार सात्विक बनाने के साथ-साथ अपनी जाति या समाज के साथ सात्विक व्यवहार करना चाहिए अर्थात अपने व्यक्तित्व को सारे समाज के साथ जोड़ देना

---

* ईर्षा, द्वेष, घृणा का खुलासा तृतीय प्रकरण में देखिए।

और अपने व्यक्तिगत स्वार्थों को समाज के स्वार्थों के अन्तर्गत समझना एवं समाज के साथ एकता का प्रेमयुक्त व्यवहार करके उसके सुख-दुःख में सहायक होना एवं उसकी धार्मिक, नैतिक और आर्थिक उन्नति के लिए प्रयत्न करने में सहयोग देना चाहिए।

समाज सङ्गठन का यही प्रयोजन है कि गुणों, की समानता के कारण भिन्न लोगों के सामाजिक आचार, व्यवहार और विचार एक से हों वे मिल कर परस्पर के सहयोग, सहानुभूति तथा एक-दूसरे के भय से बुरे कर्म करने से बचे रहें, ताकि लोक मर्यादा विश्रृङ्खल न हो और सब कोई यथायोग्य, श्रेयस्कर व्यवहार करते हुए अपनी शारीरिक, मानसिक एवं आत्मिक उन्नति करने में अग्रसर होते रहें। इस उद्देश्य से प्रत्येक समाज अपनी अपनी परिस्थिति के अनुसार बुरे कर्मों से बचने और सद् आचरण करने के नियम बनाता है और समाज के सभ्य उन नियमों के अनुसार बर्ताव करके अपनी उन्नति करते हैं। इसलिए प्रत्येक मनुष्य के लिए समाज का सङ्गठन बहुत ही आवश्यक और हितकारक है। परन्तु समाज का वही सङ्गठन हितकर होता है जिसमें समान गुणों तथा समान आचार, विचार एवं व्यवहार वाले व्यक्ति ही सम्मिलित हों तथा वह समाज अपने नियमों में समय और परिस्थिति के अनुकूल आवश्यक संशोधन एवं परिवर्तन करता रहे; यदि इसके विपरीत होता है तो वही समाज दुःख दायक और हानिकारक हो जाता है। इसलिए प्रत्येक मनुष्य का कर्त्तव्य है कि वह अपने समान गुणों वाले तथा अपने से मिलते-जुलते सामाजिक आचार, विचार व व्यवहार वाले पुरुषों के ही समाज में रहे और उस समाज की भलाई के लिए प्रयत्न करे। जिस समाज में रहे उसके नियमों के प्रतिकूल बर्ताव न करे; परन्तु यदि उन नियमों के पालन करने की सामर्थ्य न हो या उन नियमों का पालन करना अपने सात्त्विक आचरण के विरुद्ध पड़ता हो तो उन हानिकारक सामाजिक नियमों को बदलवाने का प्रयत्न करे और यदि उस प्रयत्न में सफलता न हो सके तो

उस समाज में रहने का आग्रह न करे; किन्तु प्रेमपूर्वक स्वयं उससे अलग होकर अपने अनुकूल आचार, विचार और व्यवहार के समाज में सम्मिलित हो जाय। किसी समाज में रह कर अपने अन्तःकरण के विरुद्ध उसके नियम पालन करना आत्म विमुख होना है और नियम पालन न करके उसमें रहना असद् व्यवहार है।

अपने समाज के लोगों के साथ एकता के ज्ञानयुक्त प्रेमपूर्ण व्यवहार करते हुए दूसरे समाज के लोगों से ईर्षा द्वेषादि के भाव न रखने चाहिए और अपने समाज के धन-बल, जन-बल, एवं मान, प्रतिष्ठा तथा पवित्रता आदि का गर्व करके अन्य समाज वालों को दबाना न चाहिए,न किसी का तिरस्कार ही करना चाहिए; क्योंकि जो दूसरे समाजवालों से प्रेम का बर्ताव न करके उनको दबाने की चेष्टा करते हैं तथा उनमे ईर्षा, द्वेष और घृणा के भाव रखते हैं वे अपने समाज वालों से भी प्रेमपूर्ण व्यवहार नहीं कर सकते। अन्य समाज के लोगों को दबाने और उनसे ईर्षा, द्वेष एवं घृणा करने की प्रतिक्रिया अवश्य होती है, जिससे अपने समाज में भी एक दूसरे को दबाने एवं एक दूसरे से ईर्षा, द्वेष और घृणा करने के भाव उत्पन्न हो जाते हैं जिससे स्वयं अपना और अपने समाज का अधःपतन होता है।

इस तरह अपने समाज के साथ सात्विक व्यवहार करने से अनेक प्रकार के सामाजिक बन्धनों से छुटकारा मिल जाता है।

सामाजिक अत्याचार

आजकल भारतवासियों के सामाजिक सङ्गठन में भी व्यक्तिगत स्वार्थ ही की प्रधानता है और वर्तमान सामाजिक सङ्गठन में रहते हुए मनुष्य का कार्यक्षेत्र विस्तृत होने के बदले उलटा अधिक सङ्कुचित हो जाता है, जिससे उन्नति के बदले उलटी अवनति होती है। प्रत्येक समाज के टुकड़े टुकड़े होकर इतने फिरके बन गए हैं कि उनका दायरा बहुत ही

छोटा और सङ्कुचित हो गया है। प्रत्येक फिरका अपने अत्यन्त सङ्कीर्ण नियमों की मज़बूत चहारदिवारी के भीतर इस तरह जकड़ कर कैद हो गया है कि उसका कोई भी व्यक्ति उससे बाहिर—किसी दूसरे फ़िरके के व्यक्ति के साथ—किसी प्रकार का सामाजिक व्यवहार नहीं कर सकता। इस तरह की सङ्कुचितता में सात्विक भावों के विचार भी उत्पन्न नहीं हो सकते। प्रत्येक फिरके के नियम प्राय जन्म, मृत्यु और विवाह आदि सम्बन्धी रीति रिवाज और रूढ़ियों का पालन करवाने तथा इन अवसरों पर अपने सभ्यों से लाज़िमी तौर पर बिरादरी और ब्राह्मणों के लिए मिष्टान्न भोजन आदि के आसुरी आडम्बर करवाने तक ही परिमित होते हैं। इसके अतिरिक्त किसी प्रकार की धार्मिक, आर्थिक अथवा नैतिक भलाई या उन्नति पर कोई लक्ष्य नहीं रहता। इन फ़िरक़ों के नेता=पञ्च लोग अपने अपने फिरके को अपनी मौरूसी जायदाद समझ कर उससे अपनी व्यक्तिगत स्वार्थ सिद्धि करने के लिए सदा प्रयत्नशील रहते हैं और अपने नेतापन की प्रतिष्ठा के अभिमान में लोगों को दबाते तथा कष्ट देते हैं। किसी के घर में मृत्यु होने पर लाज़िमी तौर से उससे मिष्टान्न-भोजन करवा कर माल उड़ाते हैं। जिस व्यक्ति से ऐसे भोज करवाए जाते हैं वह—चाहे कैसा ही दीन हो अथवा अनाथ विधवा हो या नाबालिग बच्चा हो और मृत्यु भी चाहे ऐसे जवान की क्यों न हो, जिससे उसका घर एकदम उठ बैठ जाय—फिर भी इन लोगों को उसके यहाँ माल उड़ाने तथा जहाँ तक बन सके बेचारे दीन दुखिया शोकातुर भोजन कराने वाले को तंग करने और दुःख देने में किसी प्रकार का त्रास नहीं आता चाहे वे बेचारे दीन और अनाथ अपना घर एवं वस्त्राभूषण बेच डालें अथवा असहाय विधवाओं के जीवन निर्वाह के लिए कुछ भी साधन न रहने से चाहे वे अपना शरीर भी गिरवी क्यों न रख दें अर्थात् पेट की ज्वाला बुझाने और छोटे बच्चों को पालन करने के लिए उनको आततायियों की मज़दूरी करके अपने सतीत्व को भी तिलाञ्जलि देना पड़े परन्तु शि-

दरी का यह प्रेत भोज करना लाजिमी है। यदि कोई अत्यन्त गरीबी के कारण ऐसे भोज (जिनको "कारज" कहते हैं) करने में असमर्थ होता है तो फिर वह समाज में मुँह दिखाने योग्य नहीं रहता और उसका "नाक कट गया" माना जाता है तथा वह समाज के लोगों से सदा कोसा जाता है। जब मृत्यु के अवसर पर भी इस तरह का राक्षसी व्यवहार होता है तब विवाहादि हर्ष के अवसरों की सामाजिक रीत रिवाजों और भोज आदि के आसुरीपन का अनुमान सहज ही किया जा सकता है। तात्पर्य्य यह कि वर्तमान के सामाजिक सङ्गठन में रहने से मनुष्य को विवश होकर आसुरी व्यवहार करने पड़ते हैं। इसके नियमों को पालन करते हुए मनुष्य सात्विक आचरण कर ही नहीं सकता। अतएव सात्विक आचरण की इच्छा रखने वाले पुरुषों को अपने समान गुणों तथा समान विचार वाले व्यक्तियों के समाज का स्वतन्त्र सङ्गठन करना चाहिए।

चौथी श्रेणी (मनुष्यवर्ग) के मनुष्यों (स्त्री-पुरुषों) के सात्विक आचरण

जिन लोगों का आत्म विकास इतना विस्तृत हो गया है कि वे अपने देश की सेवा करना अपना कर्तव्य समझते हैं और देशोन्नति के लिए सदा प्रयत्नशील रहते हैं, उनको जाति, वर्ण, धर्म या मत आदि के भेद भाव बिना सारे देशवासियों के साथ अपनी एकता का ज्ञान रखते हुए सब से प्रेमयुक्त व्यवहार करना चाहिए। अपने व्यक्तित्व को सारे देशवासियों के व्यक्तित्व में जोड़ देना और अपने व्यक्तिगत स्वार्थों को देश स्वार्थों के अन्तर्गत समझना चाहिए। नि स्वार्थ भाव से देश के कष्ट दूर करना तथा उसकी आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक उन्नति करने एवं शक्ति सम्पन्न बनाने के लिए निरन्तर प्रयत्न करते रहना चाहिए। देश की हानि में अपनी, अपने कुटुम्ब तथा समाज की हानि और देश के लाभ में सब

का लाभ समझना चाहिए। किसी व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि, मान, प्रतिष्ठा आदि के लिए देश सेवा नहीं करनी चाहिए।

अपने देश की सेवा करते हुए दूसरे देशों के साथ भी प्रेम और मेल जोल रखना चाहिए और अपने देशवासियों में दूसरे देशवासियों के साथ प्रेम के बर्त्ताव करने के भाव उत्पन्न करने चाहिए। अपने देश के धन जन, जनबल, प्राचीनता, विद्या और कला-कौशल की उन्नति आदि, प्रतिक्षण परिवर्तनशील आधिभौतिक शक्तियों के मोह और घमण्ड में आसक्त होकर दूसरे देशवासियों को दबाना न चाहिए और न उनसे ईर्षा, द्वेष एवं घृणा के भाव ही रखना चाहिए; क्योंकि सभी देश एक ही परमात्मा की माया शक्ति के अनेक नाम और रूप हैं; अतः जिस देश के निवासी अपनी आधिभौतिकता के घमण्ड में दूसरे देशवासियों से घृणा करते हैं या उन्हें दबाते और कष्ट देते हैं वे स्वयं तिरस्कृत होते, कष्ट पाते एवं दूसरों से दबते तथा पराधीन रहते हैं। क्योंकि दूसरों से ईर्षा, द्वेष, घृणा तिरस्कार करने की प्रतिक्रिया स्वयं अपने ऊपर होती है जिससे अपने देश ही में आपस में द्वैत भाव बढ़ कर एक दूसरे को दबाने, एक दूसरे की हानि करने एवं एक दूसरे के साथ घृणा, तिरस्कार एवं ईर्षा द्वेष करने के भाव उत्पन्न हो जाते हैं जिससे उस देश का अधःपतन हो जाता है। परन्तु जिस देश के निवासी आपस में एकता का प्रेम रखते हुए, अपने देश को सुख-समृद्धिशाली एवं उन्नत बनाने के लिए प्रयत्नशील होने के साथ साथ दूसरे देशवालों से मेल-जोल, मैत्री एवं प्रेम रखते हैं वह देश सदा उन्नत, सुख-समृद्धि सम्पन्न, शक्तिशाली एवं स्वाधीन रहता है।

भारतवर्ष जब तक दूसरे देशवासियों से मैत्री और प्रेम का व्यवहार करता रहा, तब तक वह सुख समृद्धि-सम्पन्न, शक्तिशाली, एवं उन्नत रहा; परन्तु जब से यहाँ के लोग अपनी प्राचीनता, धार्मिकता एवं पवित्रता आदि बड़प्पन के घमण्ड में दूसरे देश वालों को दबाने और उनसे ईर्षा द्वेष तथा घृणा करने लगे एवं दूसरे देशों में जाने से भी परहेज करने लगे,

तब से ही प्रतिक्रिया-स्वरूप यहाँ के निवासियों में फूट पड़ कर आपस में वही ईर्षा-द्वेष, घृणा और परहेज करने तथा एक दूसरे को दबाने के भाव उत्पन्न हो गए और गृह कलह के कारण दूसरे देश वालों ने इनको दबा लिया, अत दूसरों के अधीन होकर स्वय घृणा और तिरस्कार के पात्र हो गए। अब तक भी इस देश के अधिकतर लोगों में दूसरे देशों के प्रति ईर्षा द्वेष, घृणा और परहेज के भाव बने हुए हैं और जब तक दूसरों के प्रति ये भाव बने रहेंगे तब तक आपस में भी ये ही सर्वनाशी भाव बने रहेंगे। इसलिए दूसरे देशवासियों के साथ भी मैत्री और प्रेम के भाव रखने चाहिए।

पाँचवीं श्रेणी (देव वर्ग) के मनुष्यों (स्त्री पुरुषों) के सात्विक आचरण

इस श्रेणी के लोगों का आत्म विकाश अत्यन्त उन्नत होता है और इनका कार्यक्षेत्र सारे जगत् तक विस्तृत हो जाता है अर्थात् ये लोग किसी प्रकार के जाति वर्ण, धर्म, एव देश के भेद भाव बिना प्राणी मात्र की सेवा करना अपना कर्तव्य समझते हैं, लोकहित के लिए अपने देश, समाज, कुटुम्ब और शरीर तक को त्याग देने को तैयार रहते हैं तथा दूसरों के कष्ट निवारण के लिए प्रसन्नतापूर्वक स्वय कष्ट सहन कर लेते हैं। ये लोग मनुष्य-देह में साक्षात देवता हैं। जिस तरह परमात्मा की दैवी शक्तियां सारी चराचर सृष्टि का समान भाव से सञ्चालन करती रहती हैं, उसी तरह इस वर्ग के लोग समान भाव से भूत प्राणियों की सेवा करते रहते हैं अपने, अपने कुटुम्ब, जाति और देश के स्वार्थों को विश्वरूपी परमात्मा के अर्पण कर देते हैं। परन्तु सर्वभूतात्मैक्य आत्म ज्ञान के अभाव में जबतक इनमें यह द्वैत भाव बना रहता है कि "जगत मुझ से भिन्न है; मैं उसकी सेवा करता हूँ" और इस पृथक्ता के भाव से लोक-सेवा करते हुए यह अहङ्कार रहता है कि "मैं लोगों का उपकार

करता हूँ, लोगों पर दया करके उनके दुःख मिटाता हूँ यदि मैं ऐसा न करूँ तो लोग दुःख पावेंगे" अथवा हीनता का यह भाव रहता है कि मैं एक तुच्छ व्यक्ति हूँ, किसी के लिए कुछ कर नहीं सकता, इत्यादि" तब तक वे पूर्णावस्था को नहीं पहुँच सकते। किन्तु जबतक द्वैत भाव तथा पृथक् व्यक्तित्व का अहंकार बना रहता है तब तक कभी-न-कभी मोह के वश होकर पीछे गिरने की भी आशंका रहती है।

इसलिए इतने बढ़े हुए आत्म विकास एवं सारे विश्व की सेवा करने वाले देव वर्ग के स्त्री-पुरुषों को भी सब प्रकार के बन्धनों से छुटकारा पाकर मुक्त होने के लिए सर्वभूतात्मैक्य ज्ञान की अत्यन्त आवश्यकता रहती है; अर्थात् उनको इस एकत्व भाव के अनुभवयुक्त जगत के व्यवहार करना चाहिए कि "स्वयं मैं और यह सारा विश्व एक ही परमात्मा के अनेक रूप हैं, अतः सबके साथ मेरी वास्तविक एकता है।"

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥

गी० अ० १८-६५

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

—गी० अ० १८।६६

अर्थ—मुझमें मन रख कर मेरा भक्त हो, मेरा यजन* कर, मेरी वन्दना कर, मैं तुझसे सत्य प्रतिज्ञा कर कहता हूँ कि इससे तू मुझमें ही आकर मिलेगा, क्योंकि तू मेरा प्यारा भक्त है। भावार्थ यह है कि जो सर्व आत्मा = परमात्मा को सब में एक समान-व्यापक समझ कर—यानी सारा विश्व आत्मामय है, यह निश्चय करके—अपने व्यक्तित्व को सब में जोड़ देता है; सबके साथ अनन्य भाव से प्रेम करता है; सबके हित के लिए यज्ञ* करता

* यज्ञ का खुलासा प्रथम प्रकरण में देखिए।

और सबकी सेवा करता है, वह—सबका प्यारा अर्थात् सबका आत्मा—निश्चय ही परमात्म स्वरूप हो जाता है; यानी वह अखिल विश्व का प्रेरक एवं नित्य मुक्त है।

सब धर्मों को छोड़कर तू एक मेरी (सर्वात्मा = परमात्मा की) शरण में आ, मैं तुझे सब पापों से मुक्त कर दूँगा, चिन्ता मत कर। इसका भावार्थ यह है कि द्वैतभावजन्य सब धार्मिक (मजहबी) और साम्प्रदायिक एवं मत मतान्तर सम्बन्धी भेद भाव और विधि निषेध, पाप पुण्य, धर्म अधर्म, अच्छे बुरे, रीति-रिवाज आदि में आसक्ति के बन्धन एवं ऊँच-नीच, छोटे बड़े, मान-अपमान, वर्ण आश्रम आदि पृथक् व्यक्तित्व के अहङ्कार को छोड़ कर एक (अद्वैत) समष्टि आत्मा = परमात्मा में अपने आपको जोड़ देने से अर्थात् सारे विश्व के साथ अपनी एकता का अनुभव कर लेने से किसी भी कर्म का बन्धन शेष नहीं रहता और न किसी प्रकार की चिन्ता ही बाक़ी नहीं रहती है। जब तक पृथकता के ये भाव रहते हैं कि मैं अमुक धर्म, मज़हब, मत या सम्प्रदाय का अनुयायी हूँ, मेरा अमुक वर्ण, अमुक आश्रम, अमुक जाति व अमुक पद है, मैं अमीर हूँ, मैं ग़रीब हूँ, मैं कर्म करने वाला अलग हूँ, कर्म अलग है और जिससे तथा जिसके लिए कर्म करता हूँ वे अलग हैं एवं अमुक कर्म का मुझे अमुक फल मिलेगा इत्यादि तभी तक धर्माधर्म, पाप-पुण्य आदि का बन्धन होता है; परन्तु जब सब में एक परमात्मा समान भाव से व्यापक जान कर सबके साथ एकता का विश्व धर्म स्वीकार कर लिया जाता है अर्थात् अपने पृथक् व्यक्ति के भावों को सबसे एकता रूपी समष्टि भाव में लय कर दिया जाता है तो फिर बन्धन करने के लिए कुछ भी शेष नहीं रहता। अतः सबके साथ एकता का अनुभव करने वाला वह महान् आत्मा संसार के सब व्यवहार करता हुआ भी सदा सर्वदा मुक्त रहता है यानी स्वयं ईश्वर रूप हो जाता है।

इस तरह सर्वत्र साम्य भाव में स्थित एवं द्वैत बुद्धि से रहित होकर वे जीवनमुक्त कर्मयोगी सब भूत प्राणियों को अपने ही अङ्ग समझते

हुए—अर्थात् इस दृढ़ निश्चय से कि "सेवक, सेवा और सेव्य अथवा उपकारी, उपकार और उपकार्य तीनों एक ही हैं मानो मैं आप ही अपनी सेवा अथवा उपकार करता हूँ, मुझसे भिन्न कुछ भी नहीं है"—वे सबके हित (लोक-संग्रह) के व्यवहार करते रहते हैं।

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः॥

—गी० अ० ६।२९

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥

—गी० अ० ६।३०

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते॥

—गी० अ० ६।३१

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥

—गी० अ० ६।३२

अर्थ—सर्वत्र एक समान देखने वाला, योगयुक्त अर्थात् सबके साथ एकता के अनुभव युक्त व्यवहार करने वाला व्यक्ति, आपको सब भूत प्राणियों में और सब भूत प्राणियों को आप में देखता है।

जो मुझ (परमात्मा) को सब में और सबको मुझमें देखता है उससे मैं कभी अलग नहीं होता और न वही कभी मुझसे दूर होता है।

जो एकत्व भाव अर्थात् सर्वभूतात्मैक्य बुद्धि से, सब प्राणियों में रहने वाले मुझ परमेश्वर को भजता है अर्थात् जो सबके साथ एकता के भाव से युक्त पर जगत का व्यवहार करता है, वह कर्मयोगी सर्व प्रकार से बर्तता हुआ भी मुझमें ही रहता है।

हे अर्जुन ! जो सबके सुख और दुख को अपने समान देखता है अर्थात् अपने ही सुख दुख मानता है, वह समत्व बुद्धि से व्यवहार करने वाला व्यक्ति श्रेष्ठ योगी माना जाता है।

योऽन्त सुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव य ।
स योगी ब्रह्मनिर्वाण ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति ॥
—गी० अ० ५ २४

लभन्ते ब्रह्म निर्वाणमृषय क्षीणकल्मषा ।
छिन्नद्वैधा यतात्मान सर्वभूतहिते रता ॥
—गी० अ० ५ २५

अर्थ— जो अन्त सुखी अर्थात् नाम रूपात्मक जगत की अनेकता के अन्दर एकता यानी एकात्म भाव में सुख अनुभव करता है,जोअन्तरारामी अर्थात् नाना प्रकार की आधिभौतिकता के अन्दर जो एक आध्यात्मिकता है—उसमें रमता यानी एकात्म भाव से व्यवहार करता है और जो अन्तर्ज्योति अर्थात् आधिभौतिक जड़ता रूपी अन्धकार के अन्दर जिसको सर्वत्र एक आत्मतत्व का प्रकाश दीखता है—वह योगी ब्रह्मरूप हो जाता है एव उसे ही ब्रह्मनिर्वाण अर्थात् मोक्ष प्राप्त होता है।

हे अर्जुन ! जिन ऋषियों के व्यक्तित्व के अहङ्कार-जन्य सब पाप क्षय हो गए हैं और जिनका द्वैत भाव मिट गया है एव जो सबके साथ अपनी एकता के अनुभव से निरन्तर सब भूत प्राणियों के हित में लगे रहते हैं—उनको महानिर्वाण अर्थात् मोक्ष प्राप्त होता है।

प्रत्येक देश में पूर्वोक्त पाँच श्रेणियों में से नीचे की श्रेणियों के स्त्री पुरुषों की सख्या क्रमश अधिक और ऊपर की श्रेणियों की सख्या क्रमश कम होती है और सब से ऊँची श्रेणी देव-वर्ग के मनुष्य तो विरले ही होते हैं। जिस देश में ऊपर की श्रेणियों के मनुष्यों (स्त्री-पुरुषों) की सख्या दूसरे देशों के मुक़ाबले में जितनी अधिक होती है और उनके आ-

चरण जितने ही अधिक सात्विक होते हैं उतना ही वह दूसर देशों की अपेक्षा अधिक उन्नत और स्वतन्त्र होता है और जहाँ सब से ऊँचे अर्थात् देव-वर्ग के मनुष्यों (स्त्री पुरुषों) का निवास (अल्प संख्या में भी) हो वह देश बहुत ही उन्नत हो जाता है। उपरोक्त सर्वभूतात्मैक्य ज्ञानयुक्त साम्य भाव से लोक-संग्रह के लिए सांसारिक व्यवहार करने वाला देव वर्ग का महापुरुष यदि एक भी किसी देश में अवतीर्ण हो जाय तो उसके प्रभाव से उस देश में नीची श्रेणियों के लोगों के आचरण भी प्रायः सात्विक बन जाते हैं और वह देश शीघ्र ही उन्नति के शिखर पर पहुँच जाता है।

तृतीय प्रकरण
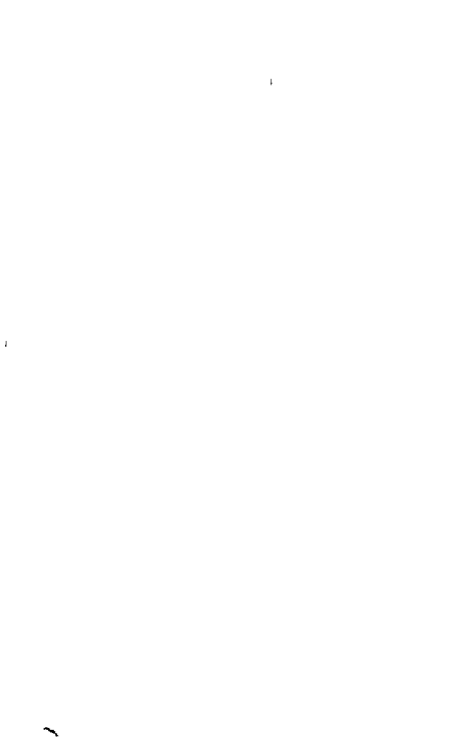
तृतीय प्रकरण

—※—

सात्विक और राजस तामस व्यवहारों का खुलासा

पूर्व प्रकरण में मनुष्यों (स्त्री-पुरुषों) को पाँच श्रेणियों में विभक्त करके उन सबके लिए यथायोग्य सात्विक आचरणों की आवश्यकता बतलाई गई है, क्योंकि सात्विक आचरणों से ही सब प्रकार की स्वाधीनता या मुक्ति प्राप्त होती है—इसके विपरीत राजस-तामस आचरणों से बन्धन होता है। परन्तु सात्विक और राजस तामस भाव आपस में इतने उलझे हुए हैं कि उनका भेद—यथावत् जान कर, व्यवहार में एक का ग्रहण और दूसरे का त्याग करना अत्यन्त कठिन विषय है इसलिए इसका विशेष रूप से खुलासा करना अत्यावश्यक है।

यद्यपि साधारणतया सात्विक व्यवहार ग्राह्य और राजस-तामस त्याज्य हैं, परन्तु यह संसार, सबकी आत्मा = परमात्मा की त्रिगुणात्मक प्रकृति का कार्य होने से, उसके व्यवहारों में तीनों गुणों का तारतम्य बना रहना अनिवार्य है, अत जगत के रहते किसी एक का भी सर्वथा त्याग हो नहीं सकता।

> न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुन ।
> सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्त यदेभि स्यात्त्रिभिर्गुणैः ॥
>
> —गी० अ० १८ ४०

अर्थ—इस पृथ्वी पर, आकाश में अथवा (सूक्ष्म) देवलोक में भी ऐसी
कोई वस्तु नहीं है, जो प्रकृति के इन तीन गुणों से मुक्त हो।

तमोगुण स्थूल जड़ात्मक है अतः इसके बिना स्थूल जगत् का
अस्तित्व ही नहीं रहता। इसी तरह रजोगुण रागात्मक एवं क्रियात्मक
होने से जगत की सारी हलचल—अर्थात् सब व्यवहारों—का कारण है
और यही तम एवं सत्व के बीच में रह कर सब प्रकार की चेष्टाएँ करवाता
है। यह योगवाही है, अतः सतोगुण की प्रबलता में इसके द्वारा सात्विक
व्यवहार होते हैं और तमोगुण की प्रबलता में इसी के द्वारा तामस व्यव-
हार होते हैं; अर्थात् जिस गुण के साथ जुड़ता है उसी के अनुरूप क्रिया
करता है। क्रिया सब प्रकार की इसी पर निर्भर है, इसलिए यह किसी
से भी त्यागा नहीं जा सकता। सतोगुण में इसको जोड़ना प्रयत्नसाध्य
है, परन्तु तमोगुण में जोड़ने के लिए प्रयत्न की आवश्यकता नहीं। ऊपर
उठने में प्रयत्न करना पड़ता है, नीचे गिरने में प्रयत्न की आवश्यकता नहीं
रहती। अतः यदि सतोगुण के साथ इसको जोड़ने का प्रयत्न न किया गया
तो तमोगुण के साथ तो यह स्वतः ही जुड़ा हुआ रहता है, जिससे
प्रकार के बन्धन होते हैं। सारांश यह कि यद्यपि सतोगुण की वृद्धि का
सात्विक आचरण करने का प्रयत्न करना आवश्यक है, परन्तु रजोगुण तमो-
गुण के सहयोग बिना सात्विक व्यवहार सिद्ध नहीं हो सकता। जिस तरह
शरीर में कठोर अङ्ग दाँत, नख, केशादि के बिना ज्ञानेन्द्रियाँ आदि कोमल
अङ्गों के काम नहीं चल सकते, किन्तु उनके सहयोग की आवश्यकता रहती
है, उसी तरह सात्विक व्यवहार यथावत् पालन करने के लिए राजस-तामस
की भी अत्यन्त आवश्यकता रहती है।

जगत में प्रत्येक पदार्थ एक दूसरे का उपकारी-उपकारक अर्थात् अन्यो-
न्याश्रित (एक दूसरे पर निर्भर रहने वाला) है। एक के बिना दूसरे का
काम नहीं चलता।

गायन

(राग जौनपुरी टोड़ी ताल कव्वाली)

सभी पदार्थ हैं इस जग में, एक एक के उपकारी ॥ टेर ॥
नभ वायु अग्नि पृथ्वी जल रवि शशि तारा बिजली बादल
नदी पहाड़ वन वृक्ष लता फल पशु पक्षी और नर नारी ॥ सभी पदार्थ हैं ॥१॥
देव असुर भूपति धन हीना शूरवीर कायर अति दीना
पण्डित मूर्ख वृद्ध नवीना सज्जन और दुराचारी ॥ सभी पदार्थ हैं० ॥ २ ॥
सुख सम्पत्ति विपद दुख नाना हानि लाभ जीना मर जाना
हर्ष शोक रोना और गाना अमृत जहर मधुर खारी ॥ सभी पदार्थ हैं० ॥३॥
भले बुरे मोटे छोटे सब आपस में सहायक होते जब
अपने करतब कर सकते तब सन्यासी और घर बारी ॥ सभी पदार्थ हैं० ॥४॥
ऊँच नीचे हलके भारी अन्योन्याश्रित सृष्टि सारी
सभी परस्पर हैं हितकारी आवश्यकता न्यारी न्यारी ॥ सभी पदार्थ हैं० ॥५॥
तिरस्कार करना न किसी का एक आत्मा है सब ही का
उपकारक और आभारी का भेद बुद्धि तजिए सारी ॥ सभी पदार्थ हैं ॥६॥
जड़ चेतन जो कुछ है सोई, सब "गोपाल" और नहीं कोई ॥
सच्चिदानन्द एक नहीं दोई नाना नाम रूपधारी ॥ सभी पदार्थ हैं ॥७॥

(बृहदारण्यक उपनिषद् दूसरे अध्याय के पाँचवे ब्राह्मण के मधुविद्या के आधार पर)।

अस्तु। राजस-तामस व्यवहार त्याज्य और सात्विक ग्राह्य कहने का तात्पर्य यह है कि यद्यपि राग, द्वेष, काम, क्रोध, लोभ, शोक, भय, मोह, आलस्य, निद्रादि राजस-तामस भाव सर्वथा त्यागे नहीं जा सकते, तथापि उनके वश में न होना चाहिए, किन्तु उनको अपने वश में करके—सदुपयोग द्वारा—उनका राजसी-तामसीपन मिटा देना चाहिए ताकि उनसे पराधीनता के बन्धन उत्पन्न न हों, यानी उनको अपने अधीन रख कर

लोकहित के लिए—आवश्यकतानुसार—स्वाधीनतापूर्वक व्यवहार में लाना चाहिए; किसी के भी अहित के लिए नहीं। जिस तरह सदुपयोग करने से विष भी अमृत का काम देता है यानी अनेक रोगों को मिटाता है और दुरुपयोग से अमृत भी विष में परिणत होकर अनेक रोग उत्पन्न कर देता है, उसी तरह सदुपयोग से राजस-तामस प्रतीत होनेवाले व्यवहार भी सात्त्विक अर्थात् लोक-हितकर हो जाते हैं और दुरुपयोग से सात्त्विक व्यवहार भी राजस तामस होकर दुःख और बन्धन के हेतु बन जाते हैं। संसार में सदा सर्वदा एकरस रहने वाला कोई भी पदार्थ नहीं है। परमात्मा की त्रिगुणात्मक माया के इस खेल में किसी भी व्यवहार में स्वयं अपना अच्छा-पन या बुरापन नहीं है, अच्छा-बुरापन कर्त्ता की बुद्धि और उपयोग में है।

> दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनञ्जय ।
> बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः ॥
>
> गी० अ० २।

अर्थ—हे धनञ्जय! बुद्धियोग की अपेक्षा कर्म (बहुत ही) निकृष्ट है अर्थात् बुद्धि के उपयोग बिना कोरे कर्म से कुछ भी नहीं हो सकता। इसलिए तू बुद्धि की शरण में जा अर्थात् बुद्धि से काम ले। (बुद्धि से काम न लेकर) केवल (स्थूल शरीर के लिए) फल की इच्छा से कर्म करने वाले लोग कृपण अर्थात् दीन दुखिया होते हैं।

अतएव सात्त्विक और राजस-तामस व्यवहारों का बुद्धि द्वारा उपयोग करना चाहिए। बुद्धि से काम न लेकर, अर्थात् सूक्ष्म विचार के बिना केवल शास्त्रों के रोचक, भयानक वचनों में ही अन्धश्रद्धा रख कर—अथवा व्यक्तिगत स्वार्थ सिद्धि के लिए व्यवहार करने से कई अवसरों पर साधारणतया सात्त्विक प्रतीत होने वाले व्यवहारों से अनर्थ हो जाता है और कई अवसरों पर साधारणतया राजस-तामस प्रतीत होने वाले व्यवहार करने में अनर्थ हो जाता है।

परन्तु यह बुद्धि सात्विक-ज्ञानयुक्त अर्थात् आत्मनिष्ठ होनी चाहिए।

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम्॥
—गी० अ० १८ २०

अर्थ—जिससे विभक्त अर्थात् भिन्न-भिन्न सब भूत प्राणियों में एक ही अविभक्त अर्थात् बिना बटा हुआ और अव्यय अर्थात् सदा एकरस रहने वाला भाव दीखता है अर्थात् सर्वत्र एक आत्मतत्व ही दीखता है-वह सात्विकज्ञान है।

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्॥
—गी० अ० २ ४१

अर्थ—व्यवसायात्मिक अर्थात् निश्चयात्मिक बुद्धि एक ही है। जिनका एक निश्चय नहीं उनकी बुद्धि में अनन्त वासनाएँ उत्पन्न होकर, बुद्धि की शाखाएँ अनन्त प्रकार की हो जाती हैं अर्थात् एक आत्मनिष्ठ बुद्धि ही निश्चयात्मक है जिससे यथार्थ निर्णय हो सकता है। जिनकी आत्मनिष्ठ बुद्धि नहीं वे यथार्थ निर्णय नहीं कर सकते।

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये।
बंधं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी॥
—गी० अ० १८ ३०

अर्थ—प्रवृत्ति (कर्म करने), निवृत्ति (कर्म न करने), कार्य (कौन सा काम करने योग्य है), अकार्य (कौनसा कार्य न करने योग्य है) भय (किससे डरना), अभय (किससे न डरना) बन्धन क्या है और मोक्ष क्या है, इनबातों को जो बुद्धि यथार्थ रूप से निश्चय करके जानती है, वह बुद्धि सात्विक है।

तात्पर्य यह है कि यद्यपि साधारणतया सात्विक व्यवहार अच्छे और, राजस-तामस बुरे कहे जाते हैं, परन्तु आत्म निष्ठ बुद्धि बिना किस अवसर

विचार करने का प्रयत्न करते हैं और उनमें भी कोइ विरला ही दीर्घकाल के अभ्यास के बाद असली तत्त्व (सर्वभूतात्मैक्य भाव) की पूर्णावस्था तक पहुँचने में सफलता प्राप्त करता है।

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः॥

—गी० अ० ७ १

अर्थ—हजारों मनुष्यों में से कोई विरला ही सिद्धि पाने अर्थात् आत्म ज्ञान प्राप्त करने का यत्न करता है और उन यत्न करने वालों में से कोई विरला ही मुझ (समष्टि आत्मा=परमात्मा) को यथार्थ जान सकता है।

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥

—गी० अ० ७ १

अर्थ—बहुत जन्मों के अभ्यास के बाद, सूक्ष्म विचारों वाला ज्ञानवान व्यक्ति, यह जान लेने से—कि जो कुछ है सब वासुदेव परमात्मा ही है—मुझे प्राप्त हो जाता है अर्थात् सब के साथ एकता का अनुभव कर लेता है। ऐसा महात्मा बहुत दुर्लभ है।

ऐसे महान् व्यक्ति ही कर्मों के विषय में यथार्थ निर्णय करके संसार का व्यवहार यथायोग्य चलाने में समर्थ होते हैं और उन्हीं महान् व्यक्तियों के नेतृत्व में जन साधारण उनके अनुयायी होकर अपने अपने कर्त्तव्य कर्म यथायोग्य पालन कर सकते हैं क्योंकि अधिकतर जन-समाज की तामो गुण प्रधान प्रकृति होने के कारण उनकी स्थूल कर्मों ही में आसक्ति रहती है; सूक्ष्म विचारों में प्रवेश करने की तथा सूक्ष्म तत्त्वों के समझने की उनमें योग्यता बहुत ही कम रहती है। इसलिए तत्त्वदर्शी महात्मा उन लोगों को, यथायोग्य स्थूल रीति से ही उनके कर्त्तव्य समझाने और उनसे श्रेष्ठ आचरण करवाने तथा बुरे व्यवहार छुड़वाने के लिए साधारणतया

सात्विक तथा राजस-तामस व्यवहारों के स्थायी भेद करके उनके आधार पर देश, काल और पात्र की परिस्थिति के अनुसार समय-समय पर विधि निषेध की मर्यादाएँ बाँध दिया करते हैं। ये विधि निषेध की मर्यादाएँ ही साधारण लोगों का धर्म हो जाता है और साधारणतया उनके अनुसार आचरण करके ये लोग अपनी उन्नति करते हैं। यदि तत्त्वदर्शी महात्मा लोग स्थूल बुद्धि के लोगों के लिए समय समय पर यथोचित मर्यादाएँ न बाँध कर—उन्हें केवल तत्वज्ञान का उपदेश देकर ही—व्यवहार करने में सर्वथा स्वतन्त्र कर दें तो—तात्त्विक मर्म को समझने की योग्यता न होने के कारण—वे तामसी बुद्धि के लोग अर्थ का अनर्थ करके विपरीत आचरणों द्वारा ससार का व्यवहार सर्वथा बिगाड़ दें।

> अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसा वृता।
> सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धि सा पार्थ तामसी ॥
>
> —गी० अ० १८ ३२

अर्थ—तमोगुण से आच्छादित जो (बुद्धि) अधर्म को धर्म और धर्म को अधर्म मानती है और सब पदार्थों को विपरीत समझती है वह तामसी [illegible]

उस समा[illegible]

> प्रकृतेर्गुणसम्मूढा सज्जन्ते गुणकर्मसु।
> तानकृत्स्नविदो मन्दान्कृत्स्नविन्न विचालयेत् ॥
>
> —गी० अ० ३ २९

अर्थ—हे अर्जुन! प्रकृति के गुणों के वश में हुए मूढ़ (अज्ञानी) लोग गुण और कर्मों में ही आसक्त रहते हैं, उन स्थूल बुद्धि के अज्ञानीजनों को तत्त्वदर्शी महात्मा (मर्यादा के अनुसार कर्म करने से) विचलित न करे।

परन्तु जैसे कि पहले कहा जा चुका है, वास्तव में व्यवहारों का सात्विक और राजस-तामस भेद सदा सर्वदा इकसार नहीं रहता; फलतः उनके आधार पर बँधी हुई विधि निषेध की मर्यादाएँ भी सदा सर्वदा स्थायी

साधारणतया सात्त्विक प्रतीत होने वाले व्यवहारों का खुलासा (स्पष्टीकरण)

प्रेम

समस्त भूत प्राणी एक सत् चित् आनन्द स्वरूप आत्मा के ही अनेक नाम और रूप हैं, वस्तुतः एक आत्मा के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है—इस सर्वभूतात्मैक्य भाव से सबके साथ स्वाभाविक प्रेम करना, दूसरों के सुख दुःख अपने समान समझना; अपनी तरफ से किसी से भी द्वेष का भाव नहीं रखना; सभी सुखी हों, सभी सन्मार्ग पर चलें, सभी उन्नति करें, सबके प्रति इस तरह की सद्भावना रखना—यह सच्चा अर्थात् सात्त्विक प्रेम है। परन्तु विशेष व्यक्तियों एवं उनके भौतिक शरीरों के प्रेम में आसक्त होकर, उनके साथ यथायोग्य व्यवहार न करना अथवा अपने कर्त्तव्यों में त्रुटि करना अथवा उनसे यथायोग्य काम न लेना अर्थात्—इस विचार से कि उनका उपयोग करने से उनको शारीरिक परिश्रम या कष्ट होगा—उनसे अपने अपने कर्त्तव्य-पालन करवाने की उपेक्षा करना अथवा किसी के परोक्ष के अधिक सुख प्राप्ति के निमित्त, प्रत्यक्ष में होने वाले थोड़े से शारीरिक दुःख को भी, भौतिक प्रेम के वश होकर, सहन न करना यह मिथ्या प्रेम है। भौतिक शरीरों तथा विशेष व्यक्तियों में प्रेम की आसक्ति, मोह में परिणत होकर बहुतों के प्रति राग और बहुतों से द्वेष उत्पन्न कर देती है जिससे बड़ी दुर्गति होती है। अर्जुन को भी भौतिक शरीरों तथा विशेष व्यक्तियों में प्रेम की आसक्ति होकर मोह उत्पन्न हो गया था जिससे उसकी बड़ी बुरी दशा हो गई थी और जिसको मिटाने के लिए ही भगवान ने उसे श्रीमद्भगवद्गीता का उपदेश दिया।

आत्मा की त्रिगुणात्मक प्रकृति में, जगत रूपी, इस खेल में नाना प्रकार के भूतप्राणी होते हैं और उनका परस्पर में नाना प्रकार का सम्बन्ध होता है; अतः उनमें आपस में प्रेम का बर्ताव भी अपनी-अपनी योग्यता

और परस्पर के सम्बन्ध के अनुसार भिन्न भिन्न प्रकार से होता है, अर्थात् बड़ों के साथ छोटों का प्रेम का बर्ताव भक्ति के रूप में, छोटों के साथ बड़ों का प्रेम का बर्ताव वात्सल्य के रूप में, बराबरी वालों से स्नेह के रूप में; अपने से हीन स्थिति वालों से अनुग्रह के रूप में; दुखियों के साथ दया, सुखियों से मित्रता, सज्जनों से मुदिता और दुराचारियों से उपेक्षा के रूप में—प्रेम का बर्ताव होता है। इन सबका पृथक-पृथक् स्पष्टीकरण निम्न प्रकार है।

ईश्वर-भक्ति।

सारे विश्व का समष्टि भाव अर्थात् सब भूत प्राणियों का एकत्व ही ईश्वर है यानि एक ईश्वर समस्त चराचर भूत प्राणियों में एक समान व्यापक है—उससे पृथक् कुछ भी नहीं है—इस निश्चय से, जगत् को ही जगदीश्वर समझ कर, सब चराचर भूत प्राणियों के साथ यथायोग्य प्रेम का बर्ताव करना; अपने व्यक्तित्व को जगत् रूपी जगदीश्वर के साथ जोड़ कर तथा अपने व्यक्तिगत स्वार्थों को जगत् रूपी जगदीश्वर के अर्पण करके संसार के व्यवहार करना; कोई काय करने में सब के आत्मा ईश्वर की सर्वव्यापकता को नहीं भूलना, किसी के साथ भी विपरीत बर्ताव न करना, अपनी तरफ से किसी के साथ ईर्षा, द्वेष, घृणा या तिरस्कार का बर्ताव न करना और किसी को किसी प्रकार की हानि न करना; अपनी शक्ति और योग्यतानुसार लोक सेवा करना—यह सच्ची ईश्वर भक्ति है; अर्थात् विश्व-प्रेम ही सची ईश्वर भक्ति है। श्रीमद्भगवद्गीता के ग्यारहवें अध्याय में भगवान ने अपने विराट रूप में अर्जुन को सब चराचर सृष्टि दिखा कर कहा कि "भेद बुद्धि से वेदाध्ययन, तप, दान और हवन-यज्ञ आदि करने से—जगत् के एकत्व भाव—मेरे इस विश्व रूप को कोई नहीं देख सकता, किन्तु अनन्य भक्ति अर्थात् सब के साथ एकत्व भाव के प्रेम से ही मैं (अपने इस रूप में) देखा एवं जाना जा सकता हूँ और इसीसे मेरे

साथ एकता हो सकती है। अतः जो सब के लिए कर्म करते हैं, सब से एकता रखते हैं; अपने व्यक्तित्व के अहंकार और व्यक्तिगत स्वार्थों को जो सब के साथ जोड़ देते हैं और किसी भी भूत प्राणी से वैर नहीं करते, वे सब से प्रेम करने वाले मेरे भक्त मुझे प्राप्त होते हैं।" इस पर अर्जुन ने शंका की कि "इस विश्व-प्रेम रूपी आपकी सगुण उपासना करने वाले तथा जगत् का तिरस्कार करके निर्गुण ब्रह्म की उपासना करने वाले— भक्तों में से श्रेष्ठ योगी कौन है? इसके उत्तर में भगवान ने कहा"—

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते ।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः ॥

—गीता अ० १२-२

अर्थ—जो पराश्रद्धा अर्थात् सब में एकत्व भाव की सात्विक श्रद्धा से (जगत् को जगदीश्वर जान कर) मेरे इस सगुण स्वरूप यानी विश्व की एकता में, अपने मन को निरन्तर जोड़ कर, मेरी उपासना करते हैं, उन भक्तों को मैं श्रेष्ठ योगी मानता हूँ।

सारांश यह कि विश्व के साथ एकता का प्रेमयुक्त व्यवहार ही सच्ची ईश्वर भक्ति है। और मन को इस प्रकार की एकता में जोड़ने अर्थात् एकाग्र करने के अभ्यास के लिए—किसी स्थान विशेष में स्थिर होकर अथवा किसी मूर्तिचित्र अथवा दूसरे किसी चिन्ह या नाम विशेष में ईश्वर बुद्धि करके निःस्वार्थ भाव से पूजन, भजन, स्मरण, कीर्तन मन्त्र, स्तुति आदि से— निराकार अथवा साकार ईश्वर के गुणों का चिन्तन करते रहना तथा सभी स्थानों, मूर्तियों, चित्रों, चिन्हों और नामों में एक ही ईश्वर की सर्वव्यापकता का लक्ष्य रखना—यह भी साधनावस्था की अर्थात् प्रारम्भिक ईश्वर भक्ति है। यह प्रथमावस्था की ईश्वर भक्ति उपरोक्त सच्ची ईश्वर भक्ति का साधन मात्र है। जिस तरह विद्यार्थी विद्या प्राप्त करने के लिए, प्रथम वर्ण शिक्षा से आरम्भ करके—उसके साधन से—आगे उच्च शिक्षा प्राप्त करता

है, परन्तु जब वह ऊपर की कक्षा में पहुँच जाता है तो वर्ण शिक्षा का अभ्यास पीछे छोड़ देता है, अथवा जिस तरह छोटी आयु की कन्याएँ, गुड़ियों के खेल द्वारा गृहस्थ की शिक्षा प्राप्त करती हैं, परन्तु जब वे बड़ी होकर गृहस्थिन बनती हैं तब गुड़ियों का खेल छोड़ देती हैं; उसी तरह, यद्यपि विश्वप्रेम रूपी ईश्वर भक्ति में मन को जोड़ने की शिक्षा के लिए 'प्रतीक-उपासना—किसी स्थान विशेष में अथवा किसी मूर्ति, चित्र तथा अन्य चिन्ह अथवा किसी नाम विशेष पर लक्ष्य कर—करना आवश्यक है, परन्तु इस प्रतीक उपासना का उद्देश्य केवल प्रारम्भिक अवस्था में मन को एकाग्र करने के अभ्यास तक ही परिमित रहना चाहिए; न कि जन्म भर इसी में लगे रहने के लिए यदि इसी को सच्ची अर्थात् पराकाष्ठा की ईश्वर भक्ति मान कर सारी आयु इसी में बिता दी जाय तो—यह मिथ्या ईश्वर भक्ति है।

पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञान नाना भावान्पृथग्विधान् ।
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञान विद्धि राजसम ॥
—गी० अ० १८ २१

यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन्कार्ये सक्तमहैतुकम् ।
अतत्त्वार्थवदल्प च तत्तामसमुदाहृतम् ॥
—गी० अ० १८ २२

अर्थ—जिस पृथकता के ज्ञान से सम्पूर्ण भूत प्राणियों में भिन्न-भिन्न प्रकार के नानात्व को (लोग) सत्य मानते हैं—उस ज्ञान को तू राजस जान।

और जिस ज्ञान से किसी एक ही कार्य को सब कुछ मान कर (लोग) उस में आसक्त रहते हैं तथा जो युक्ति अथवा तात्विक विचार से सर्वथा रहित हैं—वह तुच्छ ज्ञान तामस कहा गया है।

तात्पर्य यह कि ईश्वर को किसी स्थान, मूर्ति, चित्र, चिन्ह अथवा किसी नाम व गुण विशेष ही में सीमाबद्ध मान कर तथा इन्हीं की उपासना को ईश्वर-भक्ति की परमावधि समझ कर, जन्म भर उसी में लगे रहना

और इनके अतिरिक्त दूसरे भूत प्राणियों में ईश्वर की सर्वव्यापकता की उपेक्षा करके अथवा उनको ईश्वर से भिन्न मान कर, उनसे ईर्षा, द्वेष, घृणा, तिरस्कार आदि के व्यवहार करते रहना; इस तरह की उपासना में निरन्तर लगे रह कर अपने कर्त्तव्यों की अवहेलना करना, लोगों के साथ विपरीत व्यवहार करना; किसी को कष्ट देना, किसी की हानि करना; अपने व्यक्तिगत भोग विलास की कामना से अथवा लोगों में कीर्ति, प्रतिष्ठा आदि प्राप्त करने के लिए दम्भ से पूजा-पाठ आदि में लगे रह कर ईश्वर-भक्त होने का अहङ्कार करना; अथवा नाना ईश्वर मान कर उनमें भेद भाव की कल्पना करके झगड़े टंटे करते रहना अथवा किसी स्थान विशेष या काल विशेष में रहने वाले किसी विशेष शक्ति सम्पन्न एवं विशेष गुणों वाले व्यक्ति में ईश्वर की कल्पना करके, अपने बुरे कर्मों के दुष्परिणामों एवं विपत्तियों से बचने तथा किसी प्रकार की अर्थसिद्धि के लिए, उसकी खुशामद (प्रार्थना स्तुति आदि) करना और अपनी शरीर-यात्रा का सब बोझ उसके सिर लाद कर आप निरुद्यमी, आलसी एवं प्रमादी बन जाना—यह ईश्वर भक्ति नहीं किन्तु ईश्वर का तिरस्कार अर्थात् नास्तिकता है।

राज्य-भक्ति

नराणां च नराधिपम्।

—गी० अ० १० २७

अर्थ—मनुष्यों में राजा मैं हूँ। क्योंकि राजा या राज्यसत्ता, बहु-संख्यक लोगों की एकता, भलाई और प्रेम का केन्द्र होने से समष्टि आत्मा-परमात्मा की एक विशेष विभूति (जगत् का धारण करने वाली शक्ति) है।

राज्य व्यवस्था का एक मात्र प्रयोजन जन समाज को परस्पर में प्रेम सहित एक सूत्रबद्ध एवं सुव्यवस्थित रूप कर उसका वास्तविक हित करना है, अतः इस उद्देश्य की पूर्ति के निमित्त जो राज्यसत्ता जिस समय प्राप्त हो—चाहे वह वंश परम्परागत हो या प्रजा द्वारा निर्वाचित, एक व्यक्ति

की हो या अनेकों की सम्मिलित शक्ति की—उसमें श्रद्धा विश्वास रखना, उसके साथ प्रेमयुक्त सहानुभूति रखना तथा सहयोग देना; उसके बनाये हुए नियमों (कानून) के अनुसार आचरण करना; सबके हित के लिए उसको सुव्यवस्थित रूप से चलाने में सहायक होना; उसकी त्रुटियों, भूलों असावधानियों तथा दुर्गुणों को उचित रीति से बताना और सुधरवाना अपनी अपनी योग्यतानुसार उचित सम्मति देना, यदि किसी समय की प्रचलित राज्य-सत्ता उस समय के लोगों की परिस्थिति के अनुकूल न हो तथा उसमें इतने दुर्गुण आ गए हों कि उससे लोगों की भलाई न होकर, हानि होती हो और प्रयत्न करने पर भी वह सुधर न सकती हो तो—किसी प्रकार की द्वेष-बुद्धि के बिना—सब के हित के लिए, प्रेमपूर्ण एकता के भाव से, उसको बदल कर उसके स्थान में—उस समय की परिस्थिति के उपयुक्त लोक हितकारी दूसरी राज्यसत्ता स्थापित करने का उद्योग करना, यह सच्ची राज्य भक्ति है। परन्तु यदि किसी राज्य-सत्ता के नियम (कानून) लोगों को कष्ट पहुँचाने वाले तथा आपस में अनैक्य उत्पन्न करने वाले हों तो उनका भी विरोध न करना; राज्य के अनुचित कार्य्यों में भी अपने व्यक्तिगत स्वार्थ के लिए सम्मति दे देना तथा उनसे सहानुभूति रख कर सहयोग देना; अत्याचारों को चुप चाप सहन किए जाना, हानिकर नियमों को बदलवाने का प्रयत्न ही न करना; राज्य-सञ्चालन के विषय में सर्वथा उदासीन एवं अनजान रहना एवं अन्ध विश्वास से राजा और राज्य सत्ताधारियों के स्थूल शरीर ही को ईश्वर की विभूति मान कर जो कुछ वे करते रहें उसी को अच्छा मानना, अथवा बिना समुचित कारण के, व्यक्तिगत स्वार्थ के लिए अथवा ईर्षा द्वेष से किसी राज्य सत्ता को बदलने का प्रयत्न करना तथा उसकी अवहेलना करना, यह राज्य भक्ति नहीं—राज्यद्रोह है।

वर्तमान समय में राज्य भक्ति के विषय में बहुत ही खींचा-तानी चलती है। एक तरफ तो सत्ताधारी लोग निरङ्कुश सत्ता को ही प्रचलित रख कर अपना मनमाना शासन रखना चाहते हैं और लोगों के उचित अधिकारों

की माँग को भी राज्य विद्रोह समझते हैं, और दूसरी तरफ सर्वथा स्वाधीनतावादी लोग राज्य सत्ता मात्र ही का विरोध करते हैं; वे किसी के भी शासन में रह कर, किसी भी नियम और कानून की पाबन्दी रखना नहीं चाहते और कोई किसी के अधीन न रह कर सब कोई पूर्ण रूप से स्वतन्त्र होना अपना जन्म सिद्ध अधिकार समझते हैं। वास्तव में सूक्ष्म दृष्टि से विचार कर देखा जाय तो दोनों ही पक्ष अपने अपने व्यक्तित्व के अहंकार और व्यक्तिगत स्वार्थों ही को प्रधानता देते हैं। यद्यपि जगत के व्यवहार अच्छी तरह नियम बद्ध सुव्यवस्थित रूप से चलाने के लिए राज्य सत्ता का होना आवश्यक है, परन्तु वही राज्य सत्ता सबके लिए हितकर हो सकती है जिसकी प्रजा के साथ एकता हो अर्थात् जिसने अपने व्यक्तित्व को प्रजा के व्यक्तित्व में मिला दिया हो और अपने स्वार्थों को प्रजा के स्वार्थों में अन्तर्गत कर दिया हो। जिसमें दैवी सम्पद् के गुण—बुद्धि, बल और प्रेम की अर्थात् एकतापूर्ण युक्ति और शक्ति की (केवल कल्पना Theoritical हो नहीं, किन्तु व्यावहारिक Practical) अधिकता होती है, वही शासन कर सकता है, चाहे ये गुण किसी व्यक्ति विशेष में हों या किसी जाति विशेष में अथवा किसी देश विशेष के निवासियों में, जिनमें ये सात्विक गुण अधिक होते हैं वे इन गुणों की कमी वाले लोगों पर शासन करते हैं और जिनमें इन गुणों की कमी होती है वे इन गुणों की अधिकता वाले लोगों से शासित होते हैं।

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः ।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ॥

—गी० अ० १८-७८

अर्थ—जहाँ सब की एकता का केन्द्र योगेश्वर श्रीकृष्ण है अर्थात् जहाँ सबका प्रेम है और जहाँ धनुर्धारी अर्जुन है अर्थात् जहाँ युक्ति सहित शक्ति है वहीं निश्चयपूर्वक श्री यानी राज्यलक्ष्मी, विजय, ऐश्वर्य और नीति है—यह मेरा निश्चित मत है।

- " जो लोग इन गुणों के बिना शासक बने रहना चाहें—वे कदापि सफलता नहीं प्राप्त कर सकते। जब किसी शासक में ऐक्य के प्रेम-भाव युक्त युक्ति और शक्ति की कमी आ जाती है तब वह अपनी सत्ता क़ायम रखने के लिए चाहे कितना ही प्रयत्न करे, उसकी सत्ता कदापि क़ायम नहीं रह सकती। इसी तरह जबतक शासित लोगों में इन गुणों की कमी रहती है तबतक उनको इन गुणों की अधिकता वालों के अधीन रहना ही पड़ता है चाहे वे शासक के साथ प्रेम (भक्ति) पूर्वक रहें या उससे द्वेष रखते हुए। प्रेमपूर्वक रहने से आपस की एकता के भाव उत्पन्न होकर बुद्धि और बल जल्दी सगठित हो सकते हैं जिससे पराधीनता से छुटकारा मिल सकता है। परन्तु द्वेष करने से अनैक्य (फूट) बढ़ती है जिससे बुद्धि और बल का ह्रास होता है, फलतः पराधीनता बनी रहती है।

मातृ पितृ-भक्ति।

समाज को सुव्यवस्थित रखने के लिए मातृ पितृ-भक्ति आवश्यक है; क्योंकि जिस तरह माता पिता अपनी सन्तानों का, गर्भ से लेकर बड़े होने तक पालन-पोषण, रक्षण शिक्षण आदि—एकता के प्रेम तथा निःस्वार्थ भाव से—करते हैं तभी सन्तान ससार के व्यवहार करने योग्य बनते हैं; उसी तरह, वृद्धावस्था में शरीर शिथिल हो जाने पर माता पिता की सेवा शुश्रूषा, पालन पोषण आदि एकता के प्रेम तथा नि स्वार्थ भाव से, स तान करे तभी वे लोग शान्तिपूर्वक अपना जीवन यापन कर सकते हैं और परस्पर में इस तरह व्यवहार करने से व्यक्तिगत स्वार्थों के त्याग और दूसरों के साथ एकता के प्रेम का अभ्यास होता है। अत माता-पिता की सेवा शुश्रूष' एव आदर सत्कार नि स्वार्थ भाव से, अपना कर्त्तव्य समझ कर करना; अपने सात्विक व्यवहारों से उनको सुख देना; अपने राजसी-तामसी व्यवहारों तथा विषय भोगों के लिए उनको कदापि कष्ट न देना तथा उनका कभी अपमान न करना; उनकी उचित आज्ञाओं का

पालन करना; उनको सद्गति प्राप्त होने वाले व्यवहारों में सहायक होना तथा उनकी वृद्धावस्था में आदर सहित पालन-पोषण करना—यह सच्ची मातृ पितृ-भक्ति है। परन्तु सात्विकता के विरुद्ध पड़ने वाली माता पिता की राजसी-तामसी भावों की आज्ञाओं को अन्ध श्रद्धा से केवल इसलिए मानना कि माता-पिता की आज्ञाएँ मानना हर हालत में उचित ही है; उनको उचित सम्मति न देना; उनकी रजोगुणी-तमोगुणी वृत्तियों को प्रसन्न करने के लिए आत्मिक पतन करने वाले व्यवहार करना; उनके आधिभौतिक शरीर के मोह में फँसे रह कर उनके सच्चे आत्मिक सुख पर दुर्लक्ष्य रखना अथवा उनकी जीवित-काल में उनकी अवज्ञा करते रह कर मरने के बाद उनके लिए रोना चिल्लाना, शोक करना तथा क्रियाकर्म आद्ध आदि शोक दिखाने के बड़े-बड़े राजसी-तामसी आडम्बर करके स्वयं क्लेश उठा कर मृतक को भी क्लेश पहुँचाना—यह मातृ पितृ-भक्ति नहीं मातृ पितृ मोह है।

माता-पिता का विशेष सम्बन्ध केवल स्थूल शरीर से ही है, अतः मातृ पितृ भक्ति में इतनी आसक्ति नहीं होनी चाहिए कि जिससे आत्मिक उन्नति के मार्ग में बाधा पहुँचे। भक्त प्रह्लाद का दृष्टान्त इस विषय में प्रसिद्ध है।

गुरु-भक्ति (आचार्योपासना)

विद्या पढ़ा कर सूक्ष्म विचारों में प्रवृत्त करने वाले तथा सत्य ज्ञान के देने वाले श्रेष्ठ आचरण युक्त, सद्गुरु की सेवा-शुश्रूषा, आदर-सत्कार, भरण पोषण करना तथा उसकी दी हुई विद्या तथा ज्ञान का सदुपयोग करना यह सच्ची गुरु-भक्ति है। परन्तु ऐसे सद्गुरु की सेवा शुश्रूषा, भरण-पोषण आदि न करके तथा उसके उपदेशानुसार आचरण न करके केवल उसके भौतिक शरीर को ही ईश्वर-तुल्य मान कर उसका पूजन, अर्चन और स्पर्शादि करने मात्र ही से अपने को कृतकृत्य मानना तथा मूर्ख, पाखण्डी, अज्ञानी, दुराचारी एवं धूर्त—परन्तु परम्परागत तथा साम्प्रदायिक—गुरुओं

से केवल जनेऊ, कण्ठी आदि बन्धवा कर अथवा दीक्षा लेकर, अपनी बुद्धि से कुछ भी काम न लेते हुए, केवल अन्ध विश्वास से उनकी आज्ञाओं का पालन करना; उनके मुख से निकले वचन ही प्रमाण मानना; उनके घेरे के पशु बन जाना और ऐसे कुपात्र गुरुओं का आदर सत्कार, भेंट पूजा करके उनका गौरव बढ़ाना एवं सब कुछ उनके अर्पण करके उनके दुराचारों में सहायक होना—गुरुभक्ति नहीं, गुरु द्रोह है।

सद्गुरु अपने शिष्यों को—निःस्वार्थ प्रेम भाव से उनकी आत्मिक उन्नति के लिए—सत्य ज्ञान का उपदेश देते हैं, अतः वे आधिभौतिक शरीर के अर्चन पूजन आदि से तथा आर्थिक भेंट पूजा और भोग्य सामग्रियों से सन्तुष्ट नहीं होते, किन्तु उनके उपदेशों को धारण करके उनके अनुसार आचरण करने द्वारा अपनी आत्मिक उन्नति करने से सन्तुष्ट होते हैं।

पति-भक्ति (पातिव्रत्य)

नारी अखिल विश्व को अपने गर्भ में धारण करती है, अत साधारणतया उसमें अपने जोड़े नर की अपेक्षा रजोगुण की विशेषता होना स्वाभाविक है और नर में नारी की अपेक्षा साधारणतया सतोगुण की विशेषता होना आवश्यक है; इसलिए साधारणतया पुरुष का पद स्त्री से बड़ा होता है अर्थात् वह उसका पूज्य होता है और स्त्री को ऐसे पुरुष के संरक्षण में रहना और उसकी अनुगामिनी होना उचित है। पुरुष का कर्त्तव्य स्त्री और बालकों के भरण-पोषण के लिए बाहर से आजीविका उपार्जन करके लाना है और स्त्री का कर्तव्य गृहस्थी का सब काम सम्पादन करना तथा सन्तानों का पालन-पोषण करना आदि है। दोनों के परस्पर में एकता के प्रेम-भाव से अपने अपने जिम्मे के काम बराबर करने ही से जगतका व्यवहार ठीक-ठीक चल सकता है और इसलिए स्त्री को पति-भक्त होना आवश्यक है।

अत' अपने अपने समाज के नियमानुसार सद्भावना से नियत किए

हुए योग्य पति के साथ अनन्य प्रेम रखना अर्थात् उसके सिवाय दूसरे किसी पुरुष से स्त्री पुरुष के सहवास सम्बन्धी प्रीति न रखना; अपना व्यक्तित्व उसमें जोड़ देना, तन, मन और वचन से उसका कोई अहित न करना, अपने मन की चञ्चलता से वस्त्राभूषण, विषय भोग, धर्म-पुण्य, तीर्थ व्रत आदि में समय, शक्ति और धन का इतना व्यय न कराना कि उनके लिए उसको बहुत परिश्रम करना, कष्ट उठाना तथा अनुचित कर्म करना पड़े, उसके व्यवसाय में सहायक होना; उसके सुख दुःख, सम्पत्ति-विपत्ति, हर्ष शोक, मान-अपमान, निन्दा स्तुति को अपना ही समझना; घर गृहस्थी के काम अच्छी तरह करना; सात्विक भोजन तथा सेवा शुश्रूषा से उसके शरीर की रक्षा करना; मीठे वचनों तथा नम्र और सरल व्यवहार से उसको प्रसन्न रखना; कभी उससे छल, कपट और मिथ्या व्यवहार न करना और उसके साथ एक ताल-बद्ध होकर सात्विक व्यवहार तथा आत्मोन्नति के उपाय करना—यह सच्ची पति भक्ति है। परन्तु आततायी, मूर्ख, अज्ञानी, कर्तव्य विमुख, हृदयहीन, स्वार्थी माता पिताओं आदि द्वारा नियत किए हुए मूढ़ प्रकृति के दुष्ट, दुराचारी प्रमादी, गुणहीन, अयोग्य और बेजोड़ पति से ही यावज्जीवन बँधे रह कर, आत्मा के विरुद्ध, उसकी अनुचित आज्ञाओं का अन्धविश्वास से पालन करते रहना और हृदय में प्रेम के भाव हुए बिना ही लोक दिखावे के ऊपरी प्रेम का ढोंग करके उसको प्रसन्न करने के लिये अपनी आत्मा के पतन करने वाले व्यवहार करते हुए इस दुर्लभ मनुष्य जन्म का वास्तविक लाभ न उठा कर इसे वृथा गँवा देना; पति के निरङ्कुशतायुक्त अत्याचारों को चुपचाप सहन करते रहना, पति के शरीर की सेवा शुश्रूषा, आदर सत्कार तथा उससे प्रीति आदि के पतिभक्ति के व्यवहार करते रहने और उसके विदेश गमन पर खूब शोक करने पर भी अपने रजोगुणी विषय सुख तथा वस्त्र आभूषणों आदि के लिए उससे इतना व्यय कराना कि वह जन्म भर आर्थिक कष्ट पाता रहे और मानसिक चिन्ता से ग्रस्त रहे; उसके

जीवित रहते उससे वास्तविक प्रेम न होते हुए भी उसके मरने पर उसके लिए अत्यन्त रोना चिल्लाना और शोक करते रहना तथा हठ पूर्वक भूख प्यास, शीतोष्ण आदि द्वारा कष्ट सहन करके शरीर को सुखा कर अपनी आत्मा को तथा (सर्व भूतात्मैक्य सम्बन्ध से) मृत पति की आत्मा को भी क्लेश देना और बलात् वैधव्य रख कर अपने मनुष्य जीवन के स्वभाव सिद्ध अधिकारों को भी, अप्राकृतिक पति भक्ति की अन्ध श्रद्धा से कुचल डालना एवं शरीर के प्राकृतिक वेगों के सहन न कर सकने पर—धर्मपूर्वक पुनर्विवाह न करके—गुप्त रूप से कुमार्ग में प्रवृत्त होना और जाहिर में पातिव्रत्य का ढोंग करना —यह पति भक्ति नहीं, किन्तु पति द्रोह है।

पति पत्नी का विशेष सम्बन्ध केवल स्थूल शरीरों का होता है और वह सम्बन्ध यहीं ही जोड़ा जाता है यानी स्त्री पुरुष के प्राकृतिक वेगों की मर्यादित रूप से शान्ति के लिए तथा एक दूसरे की आवश्यकताओं की पूर्ति करते हुए, एक दूसरे की सहायता से मनुष्य देह के वास्तविक ध्येय = सच्चे आत्म सुख प्राप्त करने के प्रयत्न में अग्रसर होने के लिए और साथ ही साथ समाज को सुव्यवस्थित रख कर पतन से बचाने के लिए, एक स्त्री का एक पुरुष के सहवास में जीवन यात्रा करने के नियम, प्रत्येक सभ्य समाज में अपनी अपनी परिस्थिति के अनुकूल बने हुए हैं और उन नियमों के अनुसार जो सम्बन्ध जोड़े जाते हैं—उनको विवाह कहते हैं। विवाह का दूसरा अधिक महत्व का प्रयोजन यह है कि पति पत्नी के पारस्परिक प्रेम के भाव इतने बढ़ जाते हैं कि दोनों का व्यक्तित्व एक हो जाता है और एक दूसरे के सुख दुःख आदि अपने हो जाते हैं, अतः अपने पृथक व्यक्तित्व को सबके साथ जोड़ कर सब से एकता करने के सर्वात्म भाव के अभ्यास में यह सब से बड़ा सहायक है। परन्तु यह प्रयोजन तब ही सिद्ध हो सकता है जब कि दोनों तरफ से एक समान निःस्वार्थ प्रेमयुक्त बर्ताव हो तथा विवाह के नियम ऐसे हों कि जिनमें एकतरफे स्वार्थ के भाव न हों अर्थात् जिनसे दोनों के स्वत्व और अधिकार यथायोग्य सुरक्षित रहें

एव जो दोनों की उन्नति के सहायक हों और जो देश, काल और व्यक्तियों की परिस्थिति के अनुसार सशोधित होते रहते हों। जब ऐसे नियम यथा चित रूप से पूरी तरह पालन किए जाते हैं तभी वे समाज को सुव्यव स्थित रख कर पतन से बचा सकते हैं। इसके विपरीत यदि एक के स्वार्थ के लिए दूसरे के अधिकारों को कुचलने के अन्यायपूर्ण एकतरफा नियम बनाए जाते हैं, तो उस समाज का पतन अवश्य होता है।

वर्तमान में हिन्दू समाज में विवाह के नियम एकतरफा स्वार्थ के हैं। चाहें वे पहले किसी जमाने की परिस्थिति के उपयुक्त रहे हों, परन्तु वर्त मान परिस्थिति के तो बिल्कुल ही प्रतिकूल हैं। इन नियमों के अनुसार स्वार्थी और मूर्ख अर्थलोलुप पिता, माता, भाई अथवा उनकी अनुपस्थिति में कोई भी गैरज़िम्मेवार कुटुम्बी, लड़की को—चाहे जिस अवस्था में, चाहे जैसे अयोग्य व्यक्ति को, चाहे जब तथा अपना दिल चाहे जैसी स्वार्थ सिद्धि करके—दे डाले (क्योंकि यहाँ कन्या का विवाह नहीं होता, किन्तु पशुओं और जड़ पदार्थों की तरह कन्या का दान होता है) तो उसको बिना किसी प्रकार के उज़् के उस व्यक्ति की दासी ही नहीं, किन्तु जड़ पदार्थ की तरह उसकी भोग्य वस्तु होकर रहना पड़ता है और अन्तःकरण में उस व्यक्ति से घृणा रखते हुए भी आत्मा के विरुद्ध उससे प्रीति का स्वाँग करना पड़ता है तथा उसके दासत्व में अपना अमूल्य मनुष्य-जीवन बिता देने के लिए मजबूर होना पड़ता है; सो भी उस व्यक्ति के जीवन काल तक ही नहीं, किन्तु उसके मरने के बाद भी जब तक वह स्त्री जीवित रहे तब तक उसकी मिल्कियत होती है और बिना पति के पति व्रत धर्म पालन का स्वाँग करना होता है। स्त्री के लिए तो उस पुरुष के साथ जन्म-जन्मान्तर पहिले का और जन्म-जन्मान्तर पीछे भी अनन्त काल तक का सम्बन्ध जुड़ा हुआ बताया जाता है, परन्तु पुरुष के लिए उस स्त्री के साथ इस जन्म में भी पक्का सम्बन्ध नहीं समझा जाता। उसके जीते-जी अनेक स्त्रियाँ ब्याही जा सकती हैं और अनेक बिना ब्याहे हो

रक्खी जा सकती हैं—यदि वह कुछ ऐतराज करे तो कठोर सजा पाती है। यद्यपि गुलामी की प्रथा वर्तमान कानून में नाजायज है, परन्तु स्त्रियों की यह गुलामी वर्तमान कानून में भी जायज है उनका इस गुलामी से उद्धार न तो कानून ही कर सकता है, न धार्मिक एवं सामाजिक व्यवस्थाएँ, और न देश को गुलामी से मुक्त करने का दावा करने वाले लोग ही। इस राक्षसी व्यवहार को इस समाज के लोग "पतिभक्ति" या "पाति व्रत-धर्म" कहते हैं, परन्तु वास्तव में यह पातिव्रत धर्म नहीं, किन्तु उसकी विडम्बना और घोर अन्याय है।

स्वामी-भक्ति

संसार के व्यवहार सुव्यवस्थित चलाने के लिए नौकर का मालिक के प्रति पितृ भाव और मालिक का नौकर के प्रति सन्तान भाव रहना आवश्यक है, और अपने पृथक् व्यक्तित्व को दूसरों में जोड़ कर सबसे एकता करने का अभ्यास इस सम्बन्ध से भी बढ़ता है; अतः शरीर और उसके सम्बन्धियों के पालन पोषण के लिए यदि किसी की नौकरी करना स्वीकार किया हो तो जब तक उसकी नौकरी करे, उस स्वामी के प्रति एकता के प्रेमपूर्वक आदर और श्रद्धा के भाव रखना जो सेवा स्वीकार की हो, उसको दत्तचित्त होकर प्रसन्नता और तत्परता के साथ अच्छी तरह बजाना, स्वामी का कभी अहित चिन्तन न करना उसके सुख दुःख हानि लाभ मान अपमान आदि को अपने ही तुल्य समझना उसको हानि या व्यथा पहुँचे, ऐसा कोई काम न करना—यह सच्ची स्वामि भक्ति है। परन्तु दुष्टदुराचारी, आततायी एवं मूर्ख स्वामी की आज्ञाओं का अन्ध-विश्वास से पालन किए जाना, उसके अनुचित व्यवहारों में "हाँ में हाँ" मिला कर उनका प्रतिवाद न करना अथवा उचित सम्मति न देना और उसके स्नेह के वश होकर अथवा वेतन के लोभ से आत्मिक पतन कराने वाले कार्य करना—यह स्वामि-भक्ति नहीं, किन्तु स्वामी द्रोह है।

वात्सल्य

अपनी पत्नी, सन्तान, प्रजा सेवक शिष्य आदि छोटे सम्बन्धियों से एकता का अनुभव करते हुए निःस्वार्थ भाव से, प्रेमपूर्वक उनके रक्षण शिक्षण, पालन-पोषण आदि की सुव्यवस्था करके, उनको अनिष्ट से बचाने तथा उनकी उन्नति के लिए सद्भावना युक्त प्रयत्न करते रहना; उनके सुख-दुःखों को अपने समझना; सदुपदेशों द्वारा उनका अज्ञान दूर करके उनको सन्मार्ग पर चलाना तथा उनसे अपने अपने कर्तव्य पालन करवाना और बुरे व्यवहारों, कुव्यसनों तथा विलासिता से उनको बचाना—यह सच्चा वात्सल्य है। परन्तु छोटे सम्बन्धियों के भौतिक शरीरों के प्रेम में इतना आसक्त हो जाना कि उनकी अरुचि के कारण उनको विद्याध्ययन न करवाना; सुशिक्षा न दिलाना; कुमार्गों तथा अनर्थ करने से न रोकना, राजस तामस आहार विहार की आदत डालना, प्रत्यक्ष में उनको थोड़ा शारीरिक कष्ट होने के भय से परिणाम के बहुत सुख की उपेक्षा करना; उनसे उनके कर्तव्य पालन करवाने में असावधानी करना और विपरीत आचरण करने पर उचित दण्ड न देना—यह वात्सल्य नहीं, किन्तु निष्ठुरता है।

स्नेह

अपने बराबरी के स्नेहियों से एकता का अनुभव करते हुए निःस्वार्थ भाव से, प्रेमपूर्वक उनके साथ सद्व्यवहार करना, उनकी वास्तविक आवश्यकताओं की पूर्ति तथा कष्ट निवारण में सहायक होना और अनिष्ट से बचा कर उनके सच्चे सुख तथा वास्तविक हित-साधन के लिए यत्न करना तथा उनके हित की सम्मति देना—यह सच्चा स्नेह है। परन्तु उनके स्नेह में इतना आसक्त हो जाना कि उनकी अप्रसन्नता के भय से उचित सम्मति आदि भी न देना, उनके अनुचित हानिकारक व्यवहारों में साथ देना अथवा उनके स्नेह के वश स्वयं अनुचित कार्य करना यह स्नेह नहीं, किन्तु मिथ्या मोह है।

अनुग्रह

अपने से हीन स्थिति वाले स्नेहियों के प्रति अनुग्रह के रूप में निः-स्वार्थ भव से एकता का प्रेम रखना, यथाशक्ति उनकी वास्तविक आवश्यकताओं को पूरी करने का यत्न करना; उनके दुःखों में सहायक होना और उनके वास्तविक सुखों के लिए यथासाध्य उपाय करना—यह सच्चा अनुग्रह है। परन्तु कृपा के वश होकर उनके अवगुणों को सुधारने की उपेक्षा करना अथवा उनको निरुद्यमी, प्रमादी, उद्दण्ड और अत्याचारी बना कर संसार के प्रति उनको अपने कर्त्तव्य से विमुख रखना—यह अनुग्रह नहीं, किन्तु निर्दयता है।

मैत्री

जो लोग सुखी, धनी, बुद्धिमान्, विद्वान्, ऐश्वर्यवान्, सत्तावान् और सामर्थ्यवान हों उनसे साधारणतया मित्रता के भाव द्वारा प्रेम का बर्ताव करना अर्थात् उनके सुखादि को देख कर ईर्षा, द्वेष आदि न करना—यह सच्ची मैत्री है। परन्तु उक्त सुखी, धनी, बुद्धिमान्, विद्वान्, ऐश्वर्यवान्, सत्तावान् लोग यदि दुष्ट और दुराचारी हों, जिनसे दूसरों का अहित होता हो—या दूसरों को कष्ट पहुँचता हो—उनसे मैत्री का बर्ताव करना—मैत्री नहीं, किन्तु शत्रुता है।

करुणा दया

जो लोग दुखी हों अर्थात् आधिभौतिक, आध्यात्मिक, आधिदैविक आदि किसी भी दुःख से ग्रस्त हों, अनाथ हों, असहाय हों; दीन हों या असमर्थ हों, उनके साथ; दया के भाव द्वारा, प्रेम का बर्ताव करना; यदि सामर्थ्य हों तो शक्ति के अनुसार उनके दुःखों में सहायक होना और दुःख निवृत्ति का यत्न करना; परन्तु यदि सामर्थ्य न हो तो मन से दया करके उनके दुःख निवृत्ति की कामना अवश्य करना—निष्ठुरता कदापि न करना—यह सच्ची करुणा या दया है। परन्तु दया के वश

होकर पात्रापात्र के विचार बिना धूर्तों, पाखण्डियों, दुराचारियों आलसियों, मुफ्तखोरों; खुशामदियों आदि पर दया करके, उनको सहायता देकर, उनके दुर्गुणों को बढ़ाना, जिससे उनका तथा दूसरों का अहित होता हो, अथवा जीव-दया के भाव में अत्यन्त आसक्त होकर अपने कर्त्तव्य-कर्म तथा लोक-व्यवहार करने में—किसी प्राणी को कष्ट होने की सम्भावना से—त्रुटि करना; हीन कोटि के प्राणियों पर दया करने के लिए उच्च कोटि के प्राणियों पर निर्दयता का बर्ताव करना अथवा किसी व्यक्ति विशेष के दुःखों से आर्द्र होकर निरन्तर उसी की चिन्ता करते रहना और उसके मोह में उलझ कर लोक-हित के व्यवहारों की अवहेलना करना तथा अपने सात्विक आचरण बिगाड़ कर आत्मविमुख होना—यह दया नहीं, किन्तु मानसिक दुर्बलता है।

मुदिता

जो लोग शुभ काम करते हों, अच्छे आचरण वाले हों, ज्ञानी, दानी, भक्त या परोपकारी हों—जिनसे उनकी कीर्ति होती हो—उनसे मन में मोद करना अर्थात् जिस तरह अपने तथा अपने आत्मीयों के सत्कार्यों की शोभा सुनकर प्रसन्नता होती है उसी तरह प्रसन्न होना; अन्य लोगों के सत्कर्मों की शोभा सुनकर मन में न कुढ़ना—यह सच्ची मुदिता है। परन्तु आसुरी स्वभाव वाले अभिमानी धनाढ्यों के राजसी तामसी आडम्बरों से प्रसन्न होकर उनके लिए उनकी तारीफ करना—मुदिता नहीं, किन्तु चापलूसी है।

उपेक्षा

अज्ञानी, मूर्ख तथा दुष्ट प्रकृति के प्राणी—जिनकी मूर्खता एवं दुष्टता से स्वयं उनका तथा दूसरों का अहित एवं कष्ट होता हो—उनके प्रति द्वेष न रखते हुए, प्रेमपूर्वक उनकी मूर्खता एवं दुष्टता छुड़ाने का यत्न करना, समझाने या शिक्षा देने से यदि उनकी मूर्खता तथा दुष्ट भाव

न छूटे—और यदि अपने में सामर्थ्य हो—तो उनको डराना, दण्ड देना और अत्यन्त आवश्यकता आ पड़ने पर उनके तथा जगत के हित की दृष्टि से उनको प्राण दण्ड तक दे देना—इसमें उनके प्रत्यक्ष के शारीरिक कष्ट या शरीर नाश की परवाह न करना अर्थात् उपेक्षा करना, और यदि सामर्थ्य न हो तो उनसे उदासीन रहना अर्थात् उन शरीरों का सङ्ग न करना—यह सच्ची उपेक्षा है। परन्तु मूर्खों एवं दुष्टों की मूर्खता एवं दुष्टता को छुड़ाने की सामर्थ्य होते हुए भी उदासीन रह कर उपेक्षा करना—यह उपेक्षा नहीं, किन्तु दुष्टों को सहयोग देना है।

ज्ञान

स्वयं अपने में, दूसरों में तथा संसार के सब जड़ एवं चेतन पदार्थों में एक ही परमात्मा एक समान व्यापक है, जो अपने में है वही दूसरों में है, एक परमात्मा के सिवाय अन्य कुछ भी नहीं है, जगत प्रपञ्च उस एक ही परमात्मा का अनेक प्रकार का रूप है, ऐसा ज्ञान निरन्तर रखते हुए संसार के व्यवहार करना और निजानन्द में मस्त रहते हुए संसार के पदार्थों और विषयों की इच्छा न रखना—यह सच्चा ज्ञान है। परन्तु मुँह से तो उक्त ज्ञान की बातें बनाना तथा शास्त्रार्थ करना, किन्तु व्यवहार उसके अनुसार कुछ भी न करना अर्थात् मुँह से अपने शरीर को "ब्रह्म" कहना और दूसरों को भिन्न समझ कर उनसे राग, द्वेष, घृणा, तिरस्कार आदि व भेद भाव रखना तथा सांसारिक पदार्थों और विषयों में आसक्त होकर अनर्थ और कुकर्म करना—यह ज्ञान नहीं, किन्तु दम्भ और पाखण्ड है।

त्याग—वैराग्य

अपने कर्त्तव्य-कर्म, अपनी व्यक्तिगत स्वार्थ सिद्धि के भाव न रखकर तथा उनमें "मैं करता हूं" "मेरे काम हैं" "इस कर्म का मुझे यह फल मिलेगा"—इस तरह की ममता और सङ्ग से रहित होकर करना; गृहस्थ

में रहते हुए, शारीरिक एवं कौटुम्बिक आदि संसार के सब व्यवहार करते हुए, द्रव्यादि पदार्थ रखते हुए तथा नियमित भोग भोगते हुए भी, उनमें आसक्ति नहीं रखना अर्थात् उनमें ऐसा लिप्त न होना कि अपने असली स्वरूप = आत्मा को भूल जाय, पदार्थों के प्राप्त होने एवं रहने में हर्ष और उनके जाने में शोक नहीं करना तथा लोक-संग्रह के लिए ही पदार्थों का संग्रह और लोक-संग्रह के लिए ही उनका त्याग करना—यह सच्चा त्याग या वैराग्य है। परन्तु उपरोक्त सांसारिक व्यवहार करने में दुःख और शारीरिक कष्ट होने के भय से अथवा आलस्य और प्रमाद से, उसको इस तामसी अहङ्कारयुक्त छोड़ देना कि "मैं त्यागी हूँ, वैरागी हूँ, मैंने घर-गृहस्थ, द्रव्यादि सब त्याग दिए, मेरी किसी में प्रीति नहीं, मैं बड़ा विरक्त हूँ" अथवा सब विषय भोग छोड़ कर मन में उनका चिन्तन करते रहना—यह त्याग नहीं, किन्तु राग और संग्रह है। क्योंकि जबतक त्यागने का व्यक्तिगत अहङ्कार रहता है तबतक वस्तुतः कुछ भी त्यागा नहीं गया।

वर्तमान समय में वैराग्य का व्यतिक्रम इतना हो गया है कि जिस का जी चाहे वह संसार के व्यवहारों से विमुख होकर साधु, फकीर, यति ब्रह्मचारी और वैष्णव-वैरागी आदि का भेष ले लेता है। यही नहीं, किन्तु बहुत से बालकों को बाल्यावस्था ही में साधु आदि के बाने (स्वाँग) दे दिए जाते हैं और कइयों को तो जन्मते ही उनके माता पिता, साधु आदि नामधारियों को भेंट कर देते हैं। इनमें लड़के लड़की दोनों ही होते हैं। भला उस अवस्था में वे लोग त्याग-वैराग्य का प्रयोजन क्या जान सकते हैं? इन नामधारी साधु, फकीर, यति, ब्रह्मचारियों, वैष्णव-वैरागियों आदि की संख्या इतनी बढ़ गई है कि इन लोगों की अगणित सम्प्रदायें बन गई हैं। इनमें वास्तविक त्याग-वैराग्य का तत्त्व जानने वाले तो विरले ही महात्मा होते हैं, शेष जगत-व्यवहार से विमुख होकर प्रमाद, आलस्य और दुराचार में आयु बिताते हुए समाज पर बोझ-रूप हो रहे हैं और

वे स्वयं भी बहुत दुःख पाते हैं। ये लोग संसार में लोगों का कुछ भी हित किए बिना दूसरों की सेवा पर निर्भर रहते हुए शरीर यात्रा करते हैं, और अज्ञानी लोग अन्ध विश्वास से केवल भेष आदि आडम्बर ही के कारण इनको महात्मा मान कर इन निरुद्यमियों की पूजा, सेवा-शुश्रूषा, भरण पोषण आदि करते हैं। वास्तव में जो व्यक्ति लोगों की कुछ भी सेवा किए बिना मुफ्त में दूसरों से सेवा करवाते हैं वे त्यागी या सन्यासी नहीं होते, किन्तु आलसी, प्रमादी, कर्त्तव्य चोर होते हैं। इनमें से बहुत से तो साधु आदि के भेष में, बड़े धूर्त, ठग, विषय-लम्पट और नशेबाज होते हैं और आसुरी सम्पद के अनेक दुर्गुण इन लोगों में भरे रहते हैं। इन लोगों से जगत के अहित के सिवाय और कुछ भी नहीं होता।

समता

सत् चित् आनन्द स्वरूप आत्मा = परमात्मा जगत् में सर्वत्र, सर्वदा, एक समान ओत प्रोत भरा हुआ है; उसके सिवाय अन्य कुछ भी नहीं है स्थूल जगत् का दृश्य प्रपञ्च उसकी माया-शक्ति का खेल मात्र है; वह भी उससे भिन्न नहीं; उसकी सच्ची और स्थायी सूक्ष्म सत्ता पर ही—क्षण क्षण में परिवर्तन होने वाले स्थूल जगत की दिखावटी सत्ता निर्भर है और स्थावर जङ्गम सब देहों में एक परमात्मा समान रूप से व्यापक है—यह साम्य भाव चित्त में रखते हुए जगत् के सब व्यवहार करना, सुख दुख, हानि लाभ, मान अपमान, निन्दा-स्तुति, जय पराजय, सिद्धि असिद्धि, शुभ-अशुभ, प्रिय अप्रिय, इष्ट अनिष्ट, आदि द्वन्द्वों में हर्ष, शोक, राग और द्वेष की वृत्तियों से मन में विक्षेप उत्पन्न नहीं करना अर्थात् अनुकूलता में अत्यन्त आल्हाद और प्रतिकूलता में विषाद न करना; ये द्वन्द्व भी आत्मा परमात्मा के अर्थात् अपनी आत्मा की माया-शक्ति के प्रतिक्षण परिवर्तन होने वाले खेल हैं—अपने से भिन्न कुछ भी नहीं है—ऐसा निश्चय करके एकरस रहना; तथा छोटे बड़े, स्त्री पुरुष, पशु-पक्षी, ऊँच-नीच, अच्छे-बुरे

शत्रु मित्र, अपने पराए—सबको एक परमात्मा के अनेक रूप समझ कर (गी० अ० ५।१८) उनसे राग, द्वेष, घृणा, तिरस्कार आदि भेद उत्पन्न करने वाले भाव न रखना, किन्तु सबके साथ एकता का अनुभव करते हुए यथायोग्य प्रेम * का व्यवहार करना।

> समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चन ।
> तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुति ॥
>
> —गी० अ० १४-२४
>
> मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयो ।
> सर्वारम्भ परित्यागी गुणातीत स उच्यते ॥
>
> —गी० अ० १४-२५

अर्थ—जो अपने आप में स्थित होकर अर्थात् अपना आत्मा ही में सबका समावेश जान कर, सुख दु ख, माटी, पत्थर, सोना, प्रिय, अप्रिय, निन्दा, स्तुति, मान, अपमान, शत्रु, मित्र आदि द्वन्द्वों में सम अर्थात् एक समान रह कर विचलित नहीं होता और जिसने (विषमता के) सब आरम्भ (व्यवहार) छोड़ दिए हैं उस धीर पुरुष को गुणातीत कहते हैं।

और संसार चक्र को चलाने में भिन्न भिन्न शरीरों की योग्यतानुसार, उनके नाना भाँति के व्यवहारों का एक समान महत्त्व और एक समान आवश्यकता है—ऐसा समझ कर सबके साथ सहयोग रखते हुए अपना अपना कर्त्तव्य पालन करते रहना; दूसरों के सुख दु ख को अपने समान मान कर (गी० अ० ६ ३२) परस्पर में सहायता देना और सबके हित का यथायोग्य ध्यान रखना—यह सच्ची समता है। परन्तु समता का यह अर्थ नहीं है कि जगत् के व्यवहार में छोटा, बड़ा, स्त्री, पुरुष, पशु नरी अच्छा, बुरा, बुद्धिमान और मूर्ख सब एक ही प्रकार के कार्य करें और एक

* प्रेम का खुलासा इसके पहले देखिए।

ही प्रकार के भोग भोगें, क्योंकि जगत प्रकृति के सत्व, और तम रज तीनों गुणों के तारतम्य का खेल है अर्थात् गुण-वैचित्र्य ही जगत है, अतएव यदि गुणों के तारतम्य के अनुसार भाँति भाँति के कर्म न किए जायँ और भाँति-भाँति के ऊँचे नीचे, अच्छे-बुरे भोग न भोगे जायँ तो कर्मों (प्रकृति) की साम्यावस्था में जगत के खेल का प्रलय हो जाय। अतः कर्म करने तथा उनके फल भोगने में समता होना प्रकृति के विरुद्ध है—इसलिए यह समता नहीं विषमता है। जिस शरीर के गुणों की जैसी योग्यता हो उसीके अनुसार कर्म करना और उन कर्मों के परिणाम स्वरूप भाँति भाँति के भोग भोगना ही सच्ची समता या साम्य-भाव है।

वर्तमान काल में साम्यवाद को लेकर सभ्य समाज में बहुत विशृङ्खलता उत्पन्न हो गई है। एक तरफ तो बढ़े हुए विचारों के साम्यवादी, मनुष्य मात्र के लिए एक समान कर्म करने और एक समान भोग भोगने का अधिकार स्थापित करने के अप्राकृतिक प्रयत्न में जी-जान से लगे हुए हैं और वे पूँजीपतियों तथा सत्ताधारियों से द्वेष तथा घृणा करते हैं और दूसरी तरफ पूँजीपति तथा सत्ताधारी लोग स्वयं अपनी आवश्यकताओं से बहुत अधिक भोग भोगते हुए तथा आडम्बरों एवं अनाचारों में बेहिसाब पदार्थों का अपव्यय करते हुए साधारण लोगों तथा श्रमजीवियों के मनुष्योचित अधिकारों को कुचलते रहते हैं और (मनुष्य) जीवन के लिए उपयुक्त एवं आवश्यक भोग्य सामग्रियों से भी उनको वञ्चित रखने पर तुले हुए हैं। इन सम्पत्तिमानों के अतिरिक्त कट्टरधार्मिक विचारों के लोग, साम्प्रदायिकता की रूढ़ियों में जकड़े हुए—विषमता के व्यवहारों में हद दर्जे तक पहुँच गए हैं। मनुष्य-जगत के आधे अङ्ग स्त्री जाति को, पुरुषों ने अपने भोग की जड़-सामग्री की तरह मान कर, उसको मनुष्यता के अधिकारों ही से वञ्चित कर रक्खा है। पुरुष, संसार का सब ज्ञान—सब प्रकार की विद्याएँ पढ़कर-प्राप्त कर सकता है, परन्तु स्त्रियों को किसी भी विद्या के पढ़ने का कोई अधिकार नहीं। पुरुष, संसार

में चाहे जहाँ स्वतन्त्रतापूर्वक खुला विचर सकता है, परन्तु स्त्री को घर से बाहिर निकलने तथा अपना मुँह खोलने तक का भी अधिकार नहीं। संसार की सब सम्पत्ति और सब भोग्य पदार्थ तो एक मात्र पुरुषों की मौरूसी जायदाद ही है—यहाँ तक कि स्त्री का अपना व्यक्तित्व ही नहीं माना जाता, वह भी पुरुष का ही हो जाता है। किन्तु परमात्मा की प्राप्ति भी पुरुष समाज ने एकमात्र अपने लिए रिजर्व रख कर स्त्रियों को उससे भी वञ्चित कर रक्खा है। जब अपने आधे अङ्ग स्त्री-जाति के साथ भी इतनी विषमता है तो इतर प्राणियों की तो गिनती ही क्या? पशु पक्षी तो न केवल पुरुषों के खाद्य पदार्थ ही हैं, किन्तु उनके आमोद प्रमोद के लिए भी बेचारों के प्राणों तक का हरण किया जाता है और पुरुषों के अदृष्ट स्वार्थों की सिद्धि के लिए कल्पित देवताओं के नाम पर इनका बलिदान किया जाता है।

मनुष्यों का मनुष्यों के साथ परस्पर में इतनी विषमता का बर्ताव है कि कई निम्न श्रेणी के माने जाने वाले मनुष्यों को उच्च श्रेणी के अहङ्कार वाले मनुष्य छूना भी पाप समझते हैं और उनके साथ पशुओं से भी हीनता का व्यवहार करते हैं एवं उनपर पशुओं से भी अधिक अत्याचार करते हैं। उच्च-जाति वालों में आपस में भी इतना भेद भाव है कि समान गुण-कर्म तथा सामान आचार विचार वाले लोग भी आपस में खान पान और विवाह सम्बन्ध के व्यवहार नहीं करते। एक दूसरे को नीचा और अपवित्र मान कर आपस में परहेज करते हैं। यह विषमता यहाँ तक बढ़ी हुई है कि कहीं कहीं तो सगे भाई (सहोदर) भी एक दूसरे का छुआ नहीं खाते और पत्नी पति का छुआ नहीं खाती।

जिस तरह इस प्रकार की विषमता अप्राकृतिक तथा सर्वनाश करने वाली है, उसी तरह कर्म करने तथा भोग भोगने में एकाकार समता होना भी अप्राकृतिक तथा नाशकारी है। यह बात पहिले कही जा चुकी है कि जगत्, परमात्मा की त्रिगुणात्मक प्रकृति का खेल है और गुणों का तारतम्य

होने ही से यह खेल बनता है; गुण-वैचित्र्य ही संसार है। गुणों की साम्यावस्था में संसार ही नहीं रहता, इसलिए गुणों की पूर्ण समता हो ही नहीं सकती। अत जब तक संसार है, तबतक गुणों की विषमता रहनी अनिवार्य है। परन्तु वह विषमता गुण वैचित्र्य तक ही सीमाबद्ध रहनी चाहिए। इससे बढ़कर, जो जाति या समाज अपने स्वार्थ तथा अहकार से जबरदस्ती अपने मनमानी विषमता उत्पन्न करता है, वह प्रकृति के विरुद्ध पड़ता है, अत उसका विनाश होता है।

जगत के स्थावर—पाषाण आदि—पदार्थों में तमोगुण की अधिकता होती है; उनमें सत्व, रज बहुत ही अल्प होते हैं; वृक्षादिकों में क्रमश पाषाण आदि से तमोगुण कुछ कम होता है, और सत-रज का कुछ उत्कर्ष होता है, इसी तरह पशुपक्षियों में क्रमश वृक्षादिकों से गुणोत्कर्ष है और मनुष्यों में आपस में क्रमश पशु आदिकों से गुणोत्कर्ष है। मनुष्यों में भी गुणों का अनन्त तारतम्य है, परन्तु सामाजिक सुव्यवस्था के लिहाज से साधारणतया उनके चार प्रधान भेद किये जाते हैं। कइयों में तमोगुण की अधिकता होती है और सत्व की न्यूनता; कइयों में रज की अधिकता और सत्व की न्यूनता, कइयों में रज की अधिकता और तम की न्यूनता एव कइयों में सत्व की अधिकता और रज-तम की न्यूनता होती है। जिनमें तम की अधिकता और सत्व की न्यूनता होती है, उनमें बुद्धि का विकाश बहुत कम होता है, अत उनमें बुद्धि द्वारा सूक्ष्म विचार करने की योग्यता नहीं होती; किन्तु दूसरों के आदेशानुसार स्थूल शरीर से काम करने की (शारीरिक श्रम की) योग्यता अधिक होती है। जिनमें रजोगुण की अधिकता और सत्व कम होता है, उनमें अपनी बुद्धि की प्रेरणा और क्रिया शक्ति से व्यवसाय आदि करने की योग्यता पहिले वालों से अधिक होती है। जिनमें रज की अधिकता और तम की न्यूनता होती है, उनमें उपरोक्त दोनों की अपेक्षा बुद्धि का विकाश और क्रिया अधिक होती है और अपनी प्रेरणा से काम करने की शक्ति विशेष योग्यता रहती है, अत उनमें दूसरों का शासन और

रक्षण करने की योग्यता होती है; और जिनमें सत्वगुण की अधिकता और तमोगुण की न्यूनता होती है, उनकी बुद्धि बहुत विकसित हो जाती है, अत उनमें सब प्रकार के सूक्ष्म ज्ञान सम्पादन करने तथा उनके प्रचार करने की विशेष योग्यता होती है। अतः गुणोत्कर्ष के अनुसार जिनमें बुद्धि का विकाश कम होता है—शारीरिक श्रम की योग्यता विशेष होती है—वे शारीरिक श्रम ही कर सकते हैं, बुद्धि का कार्य उनसे नहीं हो सकता, और उनको शारीरिक श्रम—जिनकी बुद्धि विकसित हुई है, उनके आदेशानुसार—करना होता है, क्योंकि स्थूल कर्म से सूक्ष्म बुद्धि श्रेष्ठ होती है। इसलिए केवल शारीरिक श्रम करने वाले तम प्रधान लोगों के लिए सत्व, रज प्रधान लोगों की शिक्षा, रक्षा तथा व्यवसाय के आश्रय में अपना व्यवसाय करना आवश्यक है। और सत्व प्रधान लोग रज-तम प्रधान लोगों के रक्षण, व्यवसाय तथा श्रम के आश्रय से ही अपनी विद्या तथा ज्ञान का व्यवसाय कर सकते हैं। इसी तरह मध्य श्रेणी के गुण विकास वाले लोगों का परस्पर सम्बन्ध रहता है और एक को दूसरों पर निर्भर रहना पड़ता है। सब को अपने अपने गुणों के तारतम्य के अनुसार भिन्न भिन्न काम करने होते हैं और उनके अनुसार ही खान पान, रहन-सहन तथा दूसरे भोग भी भिन्न भिन्न श्रेणी के उनके उपयुक्त होते हैं। सत्व गुण प्रधान लोगों के खान-पान, रहन सहन आदि तमोगुण प्रधान लोगों के अनुकूल नहीं पड़ते और तमोगुण वालों के खान पान रहन सहन आदि सत्व-गुण वालों के अनुकूल नहीं पड़ते। इसी तरह दूसरों के समझना चाहिए।

स्त्रियों में साधारणतया अपने समान गुणों के पुरुषों की अपेक्षा स्वभाव से ही कुछ रजोगुण की विशेषता रहती है। अत उनमें साधारणतया अपने-अपने गृहस्थी के और अपने अपने समाज के भीतरी काम काज करने की ही विशेष योग्यता रहती है। इसलिए द्रव्योपार्जन आदि के बाहरी सब काम काज के लिए पुरुषों के आश्रय में रह कर गृह के

भीतरी सब कामों की यह स्वामिनी होती है। और पुरुषों को गृहस्थ के कामों के लिए स्त्रियों पर निर्भर रहते हुए बाहरी काम करने होते हैं। दोनों ही को एक दूसरे की एक समान अपेक्षा रहती है। तात्पर्य यह है कि स्त्री पुरुषों के कर्तव्य-कर्म यद्यपि बटे हुए हैं, परन्तु हैं वे एक ही श्रेणी के; अत समान गुणों के स्त्री-पुरुषों के खान पान रहन सहन आदि प्राय समान श्रेणी के होने चाहिए।

सारांश यह कि गुणों के तारतम्य के आधार पर अपनी अपनी योग्यतानुसार भिन्न भिन्न कर्म करना तथा भिन्न भिन्न भोग भोगना—यही सच्ची समता है। गुणों की उपेक्षा करके सबके एक समान कर्म और एक समान भोग अथवा गुणों के विपरीत कर्म और भोग—समता नहीं किन्तु विषमता है।

पाषाण, वृक्ष, पशु-पक्षी आदि सब जड़ और चेतन पदार्थों के साथ भी उनके गुणानुसार यथायोग्य व्यवहार करना ही समता है।

सूक्ष्म विचार से देखा जाय तो गुणों के तारतम्य के अनुसार भिन्न भिन्न कर्म और भिन्न भिन्न भोगों की उपरोक्त विषमता भी केवल समष्टि आत्मा परमात्मा की माया के खेल—इस ससार चक्र को यथावत् चलाने के लिए है, अत यह विषमता भी केवल दिखावटी खेल मात्र ही है, क्योंकि ऊँच-नीचे कर्म और भोगों से होने वाले सुख दुःख भी अस्थायी—क्षण क्षण में परिवर्तनशील होते हैं। स्थायी और वास्तविक सुख या दुःख किसी भी कर्म या भोग में नहीं है। साँसारिक विषय भोग—बड़े छोटे, अमीर-गरीब—सब ही के लिए दुःख परिणाम वाले होते हैं अधिक भोगों से अधिक और थोड़े से थोड़ा दुःख होता है। अत वास्तव में भिन्नता कुछ है नहीं, क्योंकि कर्म और भोग तथा उनके उपयुक्त सब सामग्री एव सब शरीर एक ही परमात्मा के अनेक मायिक रूप हैं। उससे पृथक कुछ है नहीं। जो परमात्मा पण्डितों तथा उनके शास्त्र ग्रन्थों में है, जो हवन करने वालों तथा हवन-कुण्ड में है ज्ञानियों तथा

उनके ज्ञान में है; साधुओं तथा उनके भेष में है योगियों तथा उनकी समाधि में है, मन्दिरों, पुजारियों तथा मूर्तियों में है और जो परमात्मा कर्मकाण्डियों तथा उनके कर्मों में है—वही परमात्मा शासक क्षत्रियों और उनकी तलवारों में; वही वैश्यों और उनकी कलम में, शिल्पकार और उसकी शिल्प कला में; लोहार और उसकी भट्टी में; कुम्हार और उसके चाक में, सुथार और उसके वसोले में; जुलाहा और उसके कर्घे में, कारखानों और मशीनों में; इञ्जन और यायलरों में, मेहतर और उसके झाडू में चमार और उसके चमड़े में तथा कसाई और उसके छुरे में है और वही परमात्मा पुरुषों और उनके द्रव्योपार्जन के उद्योगों में और वही स्त्रियों तथा उनके गृहस्थ के काम-काज में है।

मत्त परतर नान्यत्किंचिदस्तिधनञ्जय ।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥

—गी० अ० ७-७

अर्थ—हे धनञ्जय ! मुझसे परे अर्थात् मुझसे भिन्न कुछ भी नहीं है, यह सब संसार धागे में पिरोए हुए (धागे ही की) मणियों की तरह मुझमें गुँथा है।

सारांश यह कि वास्तव में बड़े, छोटे, ऊँच, नीच, पवित्र, अपवित्र आदि का भेद कुछ भी नहीं है। अपनी अपनी योग्यतानुसार सभी काम एकसार उपयोगी और आवश्यक हैं और संसार चक्र को अच्छी तरह चलाने के लिए अपने अपने स्थान में सब के कर्म अच्छे हैं; क्योंकि सब कर्म तथा उनके कर्त्ता सभी परमात्मा के व्यक्त-स्वरूप हैं। इसलिए किसी से द्वेष, घृणा या तिरस्कार न करके सब से एकता का साम्य भाव रखते हुए तथा दूसरों के उचित अधिकारों पर आघात पहुँचाये बिना—गुणों के तारतम्य के अनुसार—अपने अपने व्यवहार करने तथा उनके अनुसार ही भोग भोगने में सन्तुष्ट रहना—यही वास्तविक समता है।

सन्तोष ।

अपने कर्त्तव्य-कर्म खूब अच्छी तरह पूर्ण शक्ति एवं युक्ति के साथ—करने पर जो सुख-दुःख, हानि-लाभ, कीर्ति-अकीर्ति आदि प्राप्त हो जाय उसी में सन्तुष्ट रहना और चित्त को शान्त रखना ही सच्चा सन्तोष है। परन्तु सन्तोष का यह तात्पर्य नहीं कि प्रारब्ध, दैव, भाग्य या ईश्वर के भरोसे पर बैठ कर उद्यम ही न करना, अपने तथा दूसरे लोगों की आवश्यकताओं की पूर्ति तथा इहलौकिक सुख-समृद्धि एवं पारलौकिक श्रेय साधन के लिए उद्यम ही न करना—यह सन्तोष नहीं, किन्तु आलस्य एवं प्रमाद है। सात्विक आचरण एवं शुभ व्यवहारों में निरन्तर दत्त चित्त होकर उद्यम करते रहना चाहिए।

शम ।

मन को अपने वश में रख कर सांसारिक विषयों में आसक्त न होने देना; सङ्कल्प विकल्पों से निग्रह कर उसे आत्मा अर्थात् एकता में जोड़ना और अपने कर्तव्य-कर्म जिस समय जो उपस्थित हों उनमें लगाना तथा उन कर्तव्य-कर्मों के करने में एकाग्र रखना—यह सच्चा शम है। परन्तु मन को सर्वथा मार डालने का उद्योग करना या उसे संसार के व्यवहारों से सर्वथा हटा देना—यह शम नहीं, दुराग्रह है; क्योंकि संसार के व्यवहार मन से ही चलते हैं और जबतक संसार है तबतक मन का नाश नहीं हो सकता। अत मनको सदा वश में रख कर साम्य भाव से व्यवहार करना ही सच्चा शम है।

दम

इन्द्रियों के विषय मर्यादित रूप से, मन को वश में रखते हुए—आसक्ति एवं राग द्वेष रहित होकर—जैसे प्राप्त हो जायँ, भोग कर परम सन्तुष्ट रहना; विषयों के भोगने में इतना आसक्त न होना कि रात दिन उन्हीं में लगे रह कर लोक व्यवहार बिगाड़ दिए जाय तथा सात्विक आच

रण छूट कर विपरीत व्यवहारों में प्रवृत्ति हो जाय अर्थात् इन्द्रियों के अधीन न होकर उनको अपने अधीन रखते हुए विषय भोगना—यह सच्चा दम है।

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति॥
—गी० अ० २ ६४

अर्थ—राग द्वेष को छोड़ कर, अपने अधीन की हुई इन्द्रियों से विषयों को भोग करके भी, अपना अन्त करण वश में रखता हुआ मनुष्य प्रसन्नता को प्राप्त होता है।

परन्तु हठ से इन्द्रियों को अपने विषयों से सर्वथा हटाकर मन से उनका चिन्तन करते रहना तथा शारीरिक वेगों से मन को विक्षिप्त रखना—दम नहीं, किन्तु मिथ्याचार है।

श्रद्धा विश्वास-आस्तिकता

जो पदार्थ वस्तुत जैसा है उसको वैसा ही मानना अर्थात् प्रत्यक्ष प्रतीत होने वाले—इन्द्रिय गोचर स्थूल जगत् के नाना भाँति के दिखाव को—प्रतिक्षण परिवर्तनशील तथा उत्पत्ति विनाश वाला होने के कारण झूठा, और उसके एकत्व भाव के अस्तित्व को सदा एकरस रहने वाला, समझ कर सच्चा मानना; और उस एकत्वभाव यानी असली सूक्ष्म तत्त्व—सत् चित् आनन्द-स्वरूप आत्मा-परमात्मा—को यथावत् जानने का श्रद्धापूर्वक प्रयत्न करना, आत्मा परमात्मा इन्द्रियातीत है अर्थात् इन्द्रियों, मन और स्थूल-बुद्धि से यह जाना नहीं जा सकता यह तो अपरोक्ष ज्ञान अर्थात् अनुभव का ही विषय है और यह अपरोक्ष ज्ञान अर्थात् आत्मानुभव—अनेक जन्मों तक सात्त्विक व्यवहार करते-करते बहुत दीर्घकाल के अभ्यास के बाद सर्वभूतात्मैक्य बुद्धि होने पर—विरले ही सज्जनों को होता है, साधारण व्यक्तियों को केवल पढ़ने सुनने मात्र से

उसका प्रत्यक्ष अनुभव नहीं हो सकता, अत उस अव्यक्त, अविनाशी, सबके हृदय में स्थित आत्मा-परमात्मा के अस्तित्व और उसकी सर्वव्याप कता के विषय में, जिन ज्ञानी महात्माओं ने उसका प्रत्यक्ष अनुभव किया है उनके वचनों में श्रद्धा विश्वास रखना तथा उक्त अपरोक्ष ज्ञान यानी आत्मानुभव प्राप्त करने के लिए उक्त ज्ञानी महात्माओं के उपदेशानुसार सात्विक आचरण श्रद्धापूर्वक करना; सत्शास्त्रों के अध्ययन में तथा जिनमें दैवी सम्पद् के गुण अधिक हों और जो देवताओं की तरह सर्वभूत प्राणियों के हित में लगे हों, उनके वाक्यों तथा उपदेशों में और जिस विषय का जिसको यथार्थ ज्ञान हो उस विषय में उसकी बातों में श्रद्धा रखना और प्रत्येक उद्योग में अपनी और सबकी आत्मा (परमात्मा) पर सबसे अधिक भरोसा रखना—यह सच्ची श्रद्धा, विश्वास अथवा आस्तिकता है। आत्मविश्वास रूपी सच्ची श्रद्धा के बिना ससार का कोई भी व्यवहार ठीक-ठीक चल नहीं सकता और न आत्मविश्वास के बिना किसी प्रकार की सफलता ही हो सकती है। इसी तरह लौकिक या पारमार्थिक, किसी भी प्रकार के व्यवहार में पहिले दूसरों के किए हुए अनुभव पर श्रद्धा करके ही प्रवृत्ति होती है और एक दूसरे पर कुछ न-कुछ विश्वास करना ही पड़ता है। श्रद्धा के बिना सशययुक्त चित्त से किया हुआ कोई भी काम सिद्ध नहीं हो सकता।

> अश्रद्धयाहुत दत्त तपस्तप्त कृत च यत् ।
> असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह ॥
>
> —गी० अ० १७-२८

अर्थ—अश्रद्धा से जो यज्ञ किया हो, दान दिया हो, तप किया हो या जो कुछ कर्म किया हो, वह "असत्" कहा जाता है। हे पार्थ ! वह (मरने पर) परलोक और (जीवित रहते) इस लोक दोनों में ही निरर्थक है।

यहाँ तक कि सबका जीवन ही श्रद्धामय है।

सत्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत ।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः ॥

—गी० अ० १७ ३

अर्थ—हे भारत ! सब लोगों की श्रद्धा अपने अपने सत्व अर्थात् प्रकृति (स्वभाव) के अनुसार होती है। मनुष्य श्रद्धामय ही है। जिसकी जैसी श्रद्धा होती है वह वैसा ही होता है।

परन्तु श्रद्धा सात्विक होनी चाहिए।

यजन्ते सात्विका देवान्यक्षरक्षांसि राजसाः।
प्रेतान्भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः ॥

—गी० अ० १७ ४

अर्थ—सात्विक लोगों की देवों में अर्थात् जिनमें दैवी सम्पद् के गुण भरे हों, अथवा जो दैवी शक्तियों की तरह सबके साथ एकता के भाव रखते हों—उनमें श्रद्धा होती है, रजोगुणी लोगों की यक्षों और राक्षसों में अर्थात् व्यक्तिगत स्वार्थ यानी धन, मान और कीर्ति आदि के। अथ) लोलुप व्यक्तियों अथवा धनाढ्यों में तथा राक्षसी प्रकृति के आततायियों (अत्याचारियों) में श्रद्धा होती है और तमोगुणी लोगों की प्रेत अर्थात् मरे हुओं में और भूत अर्थात् जड़ पदार्थों तथा जड़ प्रकृति के लोगों में श्रद्धा होती है।

परन्तु सात्विकी श्रद्धा भी पहिले किसी कार्य में प्रवृत्त होने तक ही रहनी चाहिए। जब किसी कार्य में प्रवृत्त होकर उसका कुछ अनुभव कर लिया जाय तब उसमें अन्धश्रद्धा नहीं रखनी चाहिए, किन्तु फिर अपनी बुद्धि से काम लेना चाहिए अर्थात् आत्म विश्वास एवं स्वावलम्बन का आश्रय लेना चाहिए। किसी भी कार्य में बुद्धि से कुछ भी काम न लेकर तथा अपनी आत्मा अर्थात् स्वावलम्बन पर भरोसा न करके सदा दूसरों पर अन्ध श्रद्धा रख कर और दूसरों पर निर्भर रह कर परावलम्बी बने रहना—यह श्रद्धा या आस्तिकता नहीं, किन्तु नास्तिकता है। जिस तरह

भेद-बुद्धि से एक परमात्मा से भिन्न अनेक परोक्ष देवी-देवता, भूत प्रेत, पीर-पैगम्बर आदि की कल्पना करके अन्धविश्वास से उनका पूजन अर्चन करना; उनकी अप्रसन्नता से विपत्तियों की उत्पत्ति मानना और उनके प्रसन्न होने से विपत्तियों से छुटकारा पाने तथा पुत्र-कलत्र, धन धान्य, मान प्रतिष्ठा आदि प्राप्त होने का विश्वास रखना तथा उनको प्रसन्न करने के लिए न्याय या अन्याय से पदार्थ संग्रह करके उनके नाम पर भेंट करना और पशु तथा अन्य प्राणियों की बलि देना, अज्ञानी, मूर्ख, दम्भी, स्वार्थी तथा वाक्पटु धूर्तों की बातों तथा ऐसे लोगों के रचे हुए शास्त्रों में अन्ध विश्वास रखना, जिसको जिस विषय का यथार्थ ज्ञान नहीं उस विषय में उसकी बातें मानना, अपनी बुद्धि से काम न लेकर पुराने ग्रन्थों में लिखी हुई होने से अथवा नए जमाने की पुस्तकों के प्रमाण ही से अथवा पूर्वजों की प्रचलित की हुई होने से अथवा नई रोशनी के लोगों के स्वीकार कर लेने ही से किसी व्यवस्था पर अन्ध विश्वास की श्रद्धा कर लेना—यह राजसी-तामसी श्रद्धा है।

सरलता

साधारणतया स्वभाव सरल अर्थात सीधा रखना; अपनी तरफ से किसी के साथ छल, कपट, टेढ़ापन, ऐंठन रुखाई तथा कूट नीति के भाव चित्त में न रखना तथा वाणी और शरीर से ऐसे व्यवहार न करना—सच्ची सरलता है। परन्तु दम्भियों, ठगों, धूर्तों तथा दुष्टों के साथ सरलता तथा सीधेपन का भाव रख कर उनके फन्दे में फँस जाना और अपने कर्तव्य बिगाड़ देना सरलता नहीं, भोंदूपन है।

धैर्य

सुख-दुःख, हानि-लाभ, हर्ष शोक, मानापमान, निन्दा-स्तुति आदि द्वन्द्वों एवं शारीरिक कष्ट से व्याकुल होकर धीरज न छोड़ना और अपने कर्तव्य कर्म पर दृढ़ रहना—सच्चा धैर्य है। परन्तु अनर्थ को टालने की सामर्थ्य

होते हुए भी चुप होकर बैठे रहना तथा जिस काम में अनर्थ के सिवाय और कोई शुभ होने की सम्भावना दीखे तो भी वह करते ही जाना, उसे बदलने की चेष्टा करने में विलम्ब करना—धैर्य नहीं किन्तु प्रमाद है।

उत्साह

अपने कर्तव्य-सम्पादन करने में प्रफुल्ल चित्त से उद्योग करते हुए अग्रसर होते रहना, हताश न होना—सच्चा उत्साह है। परन्तु अपनी शक्ति और परिणाम को सोचे विचारे बिना किसी भी कार्य में कूद पड़ना तथा विपरीत व्यवहारों में उत्साह दिखाना—उत्साह नहीं किन्तु चपलता है।

उदारता

दूसरों के विचारों, विश्वासों, सत्कार्यों तथा गुणों को उचित महत्व देना, दूसरों के सुख दुःख, हानि-लाभ, मानापमान, निन्दा स्तुति आदि में हमदर्दी रखना, केवल अपने ही स्वार्थ पर लक्ष्य न रख कर दूसरों के स्वार्थों को भी स्थान देना, लोगों की वास्तविक आवश्यकताएँ पूरी करने के लिए सुपात्रों को द्रव्यादिक दान देना; देश और काल की परिस्थिति तथा आवश्यकतानुसार अपने विचारों में परिवर्तन करना—सच्ची उदारता है। परन्तु निरर्थक फिजूल खर्च करना, अन्ध विश्वास से दम्भियों का आदर व पूजन करके उनको बेसमझी से दान देकर उनका महत्व बढ़ाना; ठगों तथा खुशामदियों की बातों में आकर अपव्यय करना तथा हर एक आदमी की बात मान कर अपने विचारों का परिवर्तन करते रहना—उदारता नहीं किन्तु भोंदूपन है।

प्रसन्नता

दुःख, हानि, रोग, विपत्ति, वृद्धावस्था, प्रियजनों तथा प्रिय वस्तुओं के बिछुड़ने आदि अनिष्ट की प्राप्ति होने पर भी शोक न करना, किन्तु चित्त प्रसन्न रखना—सच्ची प्रसन्नता है। परन्तु दूसरों के अनिष्ट, दुःख,

हानि, पीड़ा, अपमान व निन्दा से खुश होना—यह प्रसन्नता नहीं किन्तु निर्दयता और नीचता है।

अभय—वीरता

सात्विक व्यवहारों में तथा अपने कर्तव्य-पालन में किसी प्रकार का ऐहिलौकिक व पारलौकि, दृष्ट व अदृष्ट, भय न रखना; आत्मा अजर अमर है—यह शास्त्रों से कट नहीं सकता, अग्नि से जल नहीं सकता, पानी में गल नहीं सकता, इसको कोई किसी प्रकार की हानि नहीं पहुँचा सकता, अतः इसके विषय में कोई भय नहीं हो सकता।

न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं
भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो,
न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥

—गी० अ० २ २०

अर्थ—यह (आत्मा) न तो कभी जन्मता और न मरता ही है। ऐसा भी नहीं है कि वह (एक बार) होकर फिर होने का नहीं। यह अज, नित्य, शाश्वत और पुरातन है। शरीर के वध हो जाने पर भी यह नहीं मरता।

अतएव सब भूत प्राणियों में एकात्म बुद्धि रखते हुए संसार के व्यवहार में अपने कर्तव्य कर्म निडर होकर करना; यदि अपने कर्तव्य पालन करने में शरीर की मृत्यु होने की भी आशङ्का हो तो भी नहीं डरना; युद्धादि में शरीर की कुछ भी परवाह न करके वीरतापूर्वक लड़ना; लोकहित के कार्मो में निर्भय होकर शरीर तक भी अर्पण कर देना, आत्मिक उन्नति के उद्योग में राज, समाज, बड़े-छोटे किसी से भी न डरना तथा दूसरों को भी इस प्रकार के व्यवहार करने में सहायता देकर और इसी तरह की शिक्षा देकर अभय करना—यह अभय अर्थात् सच्ची वीरता है। परन्तु

अपने शरीर को अजर, अमर समझ कर राजसी तामसी बुरे काम करने में निर्भय हो जाना तथा दुराचारियों को कुकर्म करने में अभय कर देना यह अभय या वीरता नहीं, किन्तु कायरता है।

निरहङ्कार

संसार के व्यवहार "मैं करता हूँ मैं त्यागता हूँ, मैं सुखी हूँ मैं दुखी हूँ, मैं बड़ा हूँ, मैं छोटा हूँ, मेरा अमुक वर्ण तथा अमुक आश्रम है" इत्यादि देहाभिमान जन्य मलिन अहङ्कार, के भाव चित्त में न रखना, "मैं यह प्रति क्षण बदलने तथा उत्पत्ति नाश वाला शरीर नहीं, किन्तु शरीर के अन्दर रहने वाला सच्चिदानन्द अविनाशी आत्मा हूँ; शरीर तो मेरे रहने का स्थान है, जिस में रह कर मैं जगत का खेल किया करता हूँ; सत् चित्-आनन्द-स्वरूप आत्मा अकर्त्ता होने से उसमें सुख दु:खादि द्वन्द्व धर्म नहीं होते, ये सब मेरी प्रकृति के खेल हैं, (मैं आत्मा) इन खेलों में केवल साधारण सत्ता एवं स्फूर्ति देने वाला हूँ, सब कुछ करता हुआ भी मैं वास्तव में कर्त्ता भोक्ता नहीं—"इस तरह के भाव अन्तःकरण में रखते हुए संसार के सब व्यवहार करना—यह सच्चा निरहङ्कार है। परन्तु निरहङ्कार का यथार्थ तत्व न समझ कर व्यवहार में अपने कर्त्तव्य पालन करने की जिम्मेवारी को भूल जाना और कुछ भी न करना यह निरहङ्कार नहीं—जड़ता है। क्योंकि व्यवहार त्यागने का भाव भी तामसी अहङ्कार है इसलिए अपने अन्तःकरण पर किसी प्रकार के शारीरिक अहङ्कार का अभिनिवेश न रखते हुए यथायोग्य संसार के सब व्यवहार करना ही वास्तविक निरहङ्कार है।

सत्य बोलना

सत्य, मधुर और लोक हितकर वचन बोलना—सच्चा सत्य है। परन्तु जिन सत्य वचनों से दूसरों को बिना प्रयोजन उद्वेग उत्पन्न होता हो अथवा कठोरता से दूसरों के चित्त पर आघात पहुँचता हो अथवा जिन

सत्य वचनों से लोगों का अहित होता हो, ऐसे वचन केवल सत्यवादीपन के अहङ्कार और हठ से बोलना—यह सत्य नहीं किन्तु असत्य है। जो सत्य हित का विरोधी हो वह वास्तव में सत्य नहीं होता, क्योंकि हित की बात किसी समय सत्य या प्रिय न भी हो तो उससे किसी की कोई हानि नहीं होती, परन्तु अहित की बात यदि सत्य और प्रिय भी हो तो उससे हानि के सिवाय लाभ नहीं होता—अतएव प्रधान लक्ष्य हित पर ही रखना चाहिए। सबके लिए हितकर वाक्य अन्त में सत्य हो ही जाते हैं। केवल मुख से उच्चारण कर देने मात्र से कोई वाक्य सत्य या झूठ नहीं होता; वचनों की सत्यता या असत्यता, बोलने वाले के भाव और उससे होने वाले परिणाम पर निर्भर है।

शौच (पवित्रता)

अन्तःकरण को राग, द्वेष, ईर्षा लोभ, कपट, घृणा आदि आत्म विमुख करने वाले मलिन भावों से शुद्ध रखना तथा इन्द्रियों के व्यवहार शुद्ध रखना अर्थात् आँखों से ऐसे दृश्य न देखना, कानों से ऐसे शब्द न सुनना, जिह्वा से ऐसे पदार्थ न खाना, नासिका से ऐसे पदार्थ न सूँघना, त्वचा से ऐसी वस्तुओं का स्पर्श न करना, जिनसे चित्त की चञ्चलता बढ़े और मन मलिन होकर आत्मिक पतन कराने वाले व्यवहारों में प्रवृत्ति हो; इसी तरह कर्मेन्द्रियों के व्यवहार भी शुद्ध रखना और शरीर को स्नान, मज्जन, स्वच्छ वस्त्र आदि से स्वच्छ रखना—यह सच्चा शौच है। परन्तु अन्तःकरण के तथा इन्द्रियों के व्यवहारों को शुद्ध न रखकर केवल स्थूल शरीर को छुआछात, चौका चूल्हा, कच्ची-पक्की आदि में ही पवित्रता की इतिश्री समझना और स्पर्शास्पर्श के सङ्कुचित भावों से दूसरों का तिरस्कार तथा घृणा करना—यह शौच (पवित्रता) नहीं किन्तु मलिनता है। वास्तव में यह स्थूल शरीर तो मलों का खजाना ही है—केवल ऊपरी छुआछात से यह शुद्ध नहीं हो सकता। जीवात्मा के संयोग से ही यह पवित्र रहता है। जिस क्षण उससे इसका विछोह होता है उसी क्षण से यह छूने योग्य भी

नहीं रहता—अतः एकमात्र आत्मिक उन्नति के सात्विक व्यवहारों से ही वह पवित्र होता है।

अहिंसा

प्राणीमात्र एक ही परमात्मा के अनेक रूप होने के निश्चय से मन, वाणी तथा शरीर से किसी भी जीवधारी को अपनी तरफ से शारीरिक एवं मानसिक कष्ट न पहुँचाना, अपने स्वार्थ एवं विनोद के लिए अथवा प्रमादवश किसी के शरीर से प्राणों का विछोह न करना न करवाना तथा किसी की वृत्ति में बाधा न देना—यह सच्ची अहिंसा है। परन्तु किसी को किसी बड़े कष्ट से बचाने के लिए, थोड़ा कष्ट भी न देना तथा किसी बड़ी हिंसा को रोकने के लिए थोड़ी हिंसा न करना अथवा किसी श्रेष्ठ की रक्षा के लिये दुष्ट को दण्ड न देना, यदि कोई दुराचारी अपनी आर्थिक शक्ति से दूसरों पर अत्याचार करता हो तो उसकी आर्थिक वृत्ति न छीनना अथवा उच्च कोटि के प्राणियों की रक्षा के लिए हीन-कोटि के जीवों को न मारना अथवा लोक हित के लिए कोई किसी अहितकर प्राणी को दण्ड देता हो तो मिथ्या दया के वश होकर उसको सहन न कर सकना और उसको रोकने का प्रयत्न करना—यह अहिंसा नहीं किन्तु हिंसा है।

अहिंसा के विषय में जन-साधारण में—केवल आधि भौतिक दृष्टि से ही विचार करने के कारण—बड़ा भ्रम फैला हुआ है और इस अहिंसा तथा दया के दुरुपयोग से प्रतिदिन महान अनर्थ हो रहे हैं। विषैले जन्तु और क्रूर जानवर मनुष्य समाज तथा उपयोगी पशुओं की हानि करते रहें तो भी उन्हें मारना, अहिंसा धर्म के विरुद्ध समझा जाता है, डाकुओं, दुष्ट दुराचारी—समाज द्रोहियों तथा खूनियों को प्राण-दण्ड देकर उनको कुकर्म करने से बचाना तथा उनसे समाज की रक्षा करना और चोरों, पाखण्डियों, कुकर्मियों की वृत्ति छीनने में सहायक होना तथा उनको उचित दण्ड दिलाना भी अहिंसा धर्म के विमुख होना समझा जाता है; इसी तरह दुष्ट दुराचारियों (जालिमों) से भले मनुष्यों की तथा अबलाओं

गरीबों की रक्षा करने के लिए उनको मारना या दण्ड देना भी अहिंसा-धर्म के विरुद्ध समझा जाता है। वास्तव में यदि सूक्ष्म दृष्टि से विचार कर देखा जाय—तो बिना कसूर तथा बिना उचित कारण के, किसी निरपराध प्राणी का प्राण शरीर से अलग कर देना या उसको कष्ट देना या उसकी वृत्ति छीनना अवश्य ही हिंसा है; परन्तु जिन प्राणियों से दूसरों को कष्ट होता हो या हानि पहुँचती हो तथा जिनसे समाज का तथा स्वयं उनका अहित के सिवाय और कुछ नहीं होता हो—उनको मार डालना अथवा दण्ड देना अथवा उनकी वृत्ति छीनना वस्तुतः अहिंसा है। यह बात अवश्य है कि इस प्रकार की अहिंसा का यथार्थ तत्त्व सूक्ष्मदर्शी, आत्मज्ञानी महान् पुरुष ही जान सकते हैं और वे ही उसका उचित निर्णय कर सकते हैं। अतः इसका उपयोग ऐसे महान् पुरुषों की आज्ञा से होना चाहिए।

वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम्।
कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम्॥

—गी० अ० २ २१

अर्थ—हे अर्जुन! जो यह जानता है कि यह आत्मा अविनाशी, नित्य अज और अव्यय है, वह किसी को कैसे मारे और कैसे मरवावे अर्थात् वह न किसी को मारता है और न किसी को मरवाता है।

तात्पर्य यह है कि आत्मा तो सदा इकसार रहता है; इसमें मरना, घटना, बढ़ना अथवा सुख दुःख कुछ है नहीं। शेष रहा शरीर से प्राणों का विछोह होना या शरीर का कष्ट पाना, सो जिस तरह शरीर पर के वस्त्र मैले होने पर पछाड़ कर धोए जाते हैं और जीर्ण अथवा अनुपयोगी एवं दुखदायक होने पर उतार दिये जाते हैं, उसी तरह जीवात्मा का शरीर के साथ सम्बन्ध है, अतः यदि किसी के प्राण विछोह से या कष्ट पाने से ही उसका तथा औरों का वास्तविक हित होता हो और सूक्ष्मदर्शी तत्त्वज्ञानी ऐसा कर दें तो वह हिंसा नहीं, किन्तु सच्ची अहिंसा है।

ब्रह्मचर्य

अपने लिए नियत स्त्री अथवा अपने लिए नियत पुरुष के अतिरिक्त पराई स्त्री अथवा पुरुष के साथ आठ प्रकार में से किसी भी प्रकार का सङ्ग—मन, वाणी व कर्म से न करना तथा अपनी स्त्री अथवा अपने पुरुष के साथ भी नियमित रूप से ही सङ्ग करना यानी वीर्य का अपव्यय न करना—यह सच्चा ब्रह्मचर्य है। परन्तु हठ करके, अपनी स्त्री या पुरुष से भी योग्यकाल में नियमानुसार सङ्ग न करना और शरीर से विषय न करके मन से उसका चिन्तन करते हुए सदा व्याकुल रहना अथवा ज़बरदस्ती अप्राकृतिक रूप से अपने जोड़े के सहवास से वञ्चित रहना या दूसरों को वञ्चित रखना अथवा दुनिया में सत्कार, मान, पूजा पाने की कामना से गृहस्थ न करके, जन्म भर ब्रह्मचारी ही बने रहने का ढोंग करके लोक-मर्यादा नष्ट करना एवं लोकसंग्रह में बाधक होना—यह ब्रह्मचर्य नहीं किन्तु मिथ्याचार है।

> कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
> इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते॥
>
> —गी० अ० ३।६

अर्थ—जो मूढ़ कर्मेन्द्रियों को रोक कर मन से इन्द्रियों के विषयों का चिन्तन किया करता है—वह मिथ्याचारी अर्थात् दम्भी कहा जाता है।

देवपूजन

जगत् को धारण करने वाली परमात्मा की समष्टि दैवी शक्तियाँ रूपी देवताओं के साथ अपनी व्यष्टि शक्तियों की एकता करने रूपी देवपूजन करना अर्थात् अपनी सब प्रकार की व्यक्तिगत शक्तियों का समष्टि जगत के लिए उपयोग करना; माता पिता, स्त्री के लिए पति तथा जिनमें दैवी-सम्पदा के गुण तथा सात्विकता की विशेषता हो, ऐसे प्रत्यक्ष और चेतन देवों की सेवा शुश्रूषा एवं आदर सत्कार द्वारा, निःस्वार्थ

भाव से पूजा करना—यह सच्चा देव पूजन है। देव पूजन भी अपने पृथक् व्यक्तित्व को दूसरों के साथ जोड़ने का साधन है। परन्तु किसी स्थान विशेष पर बैठे हुए किसी रूप विशेष के देवताओं को कल्पित कर, उनसे किसी फल प्राप्ति के प्रयोजन से अथवा दूसरों को पीड़ा देने एवं हानि पहुँचाने के भाव से, उनपर रजोगुणी-तमोगुणी पदार्थ चढ़ाना तथा उनके निमित्त पशुओं एवं अन्य सामग्रियों की बलि आदि देना अथवा भौतिक पदार्थों—धातु, मृत्तिका, पाषाण आदि—को ही देवता मान कर, उनपर जड़ पदार्थ चढ़ाने की पूजा करना और उन, अपनी कल्पना के माने हुए देवताओं से डर कर या कष्ट में उनसे सहायता पाने अथवा भोग्य पदार्थों की प्राप्ति के लिए जड़ पदार्थों द्वारा उनका अर्चन करना, इसी तरह प्रत्यक्ष चेतन देव माता पिता आदिकों को, उनके जीवन काल में सेवा शुश्रूषा आदि न करके, उनके मरने के बाद अपनी कीर्ति और मान के लिए श्राद्ध आदि पितृ-कर्म के बड़े-बड़े आडम्बर करना तथा उनकी चिता समाधि आदि पर बड़े-बड़े मकबरे बनाकर उनका पूजना और मृतकों की याद करके रहना—यह देवपूजन नहीं, किन्तु प्रेत और भूतपूजन है।

द्विज—ब्राह्मण पूजन

मन और इन्द्रियों को वश में रखने वाले, अन्दर बाहिर से पवित्र रहने वाले, तपस्वी अर्थात् गी० अ० १७ श्लोक १४ से १७ तक में वर्णित मन, वाणी और शरीर से सात्विक तप करने वाले, क्षमाशील, सरल स्वभाव वाले, ज्ञानी (आत्म ज्ञानी), विज्ञानी (सांसारिक पदार्थों तथा व्यवहारों का विशेष ज्ञान रखने वाले और आस्तिक अर्थात् आत्मा=परमात्मा को सर्वव्यापक मान कर साम्य भाव से संसार के व्यवहार करके निरन्तर लोक हित में लगे रहने वाले ब्राह्मणों का आदर सत्कार, भरण पोषण, सेवा-शुश्रूषा आदि करना—यह सच्ची ब्राह्मण पूजा है। परन्तु उपरोक्त गुणों के बिना ही केवल ब्राह्मण नामधारी के घर में जन्म लेने ही से ब्राह्मण मान कर अन्धविश्वास से उनको खिलाना पिलाना, सेवा शुश्रूषा करना तथा

दान देना; उनकी आज्ञा मानना अथवा अपने मरे कुटुम्ब सम्बन्धियों के पास भोग्य सामग्री पहुँचाने के मिथ्या विश्वास से उनको पदार्थ देना तथा अपने इस लोक और परलोक के फल की इच्छा से उनका पूजन करना—यह ब्राह्मण पूजन नहीं, किन्तु ब्राह्मणों की अवज्ञा है। जहाँ अपूज्यों की पूजा होती है, वहाँ दुःख, मृत्यु और भय के सिवाय और कुछ नहीं होता।

प्राज्ञ—बुद्धिमानों का पूजन

विशेष बुद्धिमान व्यक्ति—चाहे वे पुरुष हों या स्त्री अथवा वे किसी श्रेणी, वर्ण या जाति के हों—जिनकी बुद्धि की विचक्षणता से लोगों का हित होता हो, उनका आदर-सत्कार, सेवा शुश्रूषा करना तथा उनकी आवश्यकताएँ पूरी करने में सहायक होना—यह सच्ची प्राज्ञ पूजा है। परन्तु जो बुद्धिमान व्यक्ति अपनी विचक्षणता का दुरुपयोग करके लोगों को हानि पहुँचाते हों, या कष्ट देते हों ऐसे बुद्धिमानों का आदर-सत्कार, सेवा शुश्रूषा करना तथा उनकी आवश्यकताएँ पूरी करने में सहायक होना—यह मिथ्या प्राज्ञ पूजा है।

सत्संग

श्रेष्ठ आचरणों वाले ज्ञानवान, बुद्धिमान तथा विद्वान व्यक्तियों के तथा जिनमें दैवी-सम्पद की अधिकता हो, ऐसे सात्विक व्यवहार करने वाले सज्जनों के साथ रहना; ऐसे सज्जनों के समाज में तथा सम्मेलनों में समय-समय पर सम्मिलित होना, जहाँ आत्मा = परमात्मा के सच्चे ज्ञान, सद्विद्याओं तथा सात्विक व्यवहारों की कथा या उपदेश होते हों वहाँ जाना और उन उपदेशों को धारण करके उनके अनुसार व्यवहार करने का प्रयत्न करना—यह सच्चा सत्सङ्ग है। परन्तु लोगों में सत्सङ्गी कहलाकर सत्कार, मान, पूजा प्राप्त करने तथा इसके द्वारा लोगों को ठगने अथवा और किसी प्रकार की स्वार्थ सिद्धि करने के दम्भयुक्त भावों से उपरोक्त श्रे पुरुषों के साथ रहना अथवा ऐसे सज्जनों की सभा, समाज, सम्मेलनों

तथा कथा-उपदेशों में जाना और वहाँ जाकर कोई सद्‌गुण धारण न करके, केवल वाद विवाद करना अथवा उनमें छिद्र ढूँढने का प्रयत्न करना—यह सत्सङ्ग नहीं, किन्तु दम्भ है।

स्वाध्याय

ज्ञान-वृद्धि तथा बुद्धि तीक्ष्ण करने के लिए वेद शास्त्रों तथा अन्य प्राचीन एवं नवीन अनेक प्रकार की विद्याओं तथा भाषाओं का पठन पाठन करके उनका लोकहित के लिए उपयोग एवं प्रचार करना—यह सच्चा स्वाध्याय है। परन्तु केवल ग्रन्थों को रट कर कण्ठ कर लेना अथवा अनेक ग्रन्थ पढ़ते ही जाना और बुद्धि से उसका कुछ भी उपयोग न करना अर्थात् बुद्धि को ग्रन्थों के गिरवी रख कर केवल शास्त्रों के कीड़े बन जाना अथवा शास्त्रों की केवल प्रक्रियाओं को याद करके वाद विवाद करना पढ़ी हुई विद्या के वास्तविक तत्त्व की तरफ बुद्धि को न लगा कर उनके सूखे कलेवर ही का अध्ययन करके बहुत शास्त्रों के ज्ञाता—पण्डित होने का अभिमान करना—यह स्वाध्याय नहीं किन्तु मूर्खता है।

जप और ध्यान

समष्टि-आत्मा = परमात्मा में जुड़ने के लिए उसके अविनाशी, सर्व व्यापक, सर्वान्तर्यामी, सदा एकरस रहने वाले, अनादि, अनन्त, नित्य, निर्मल, अद्वितीय भाव का तथा सत् चित् आनन्द स्वरूप का बार-बार चिन्तन करना उस स्वरूप के द्योतक "ॐ" एकाक्षर मन्त्र का उच्चारण करते रहना और परमात्मा के इस स्वरूप में मन को निरन्तर जोड़ना, यदि ऐसे स्वरूप के चिन्तन आदि में पहिले मन न लग सके तो प्रारम्भिक अवस्था में इस स्वरूप पर लक्ष्य रखते हुए उसके द्योतक किसी नाम का चिन्तन और उच्चारण करना तथा उस स्वरूप के द्योतक किसी रूप पर ध्यान लगाना—यह सच्चा जप और ध्यान है। परन्तु परमात्मा के उपरोक्त भाव तथा स्वरूप पर लक्ष्य रखे बिना केवल किसी नाम के जप की माला फेरते रहने में तथा किसी भौतिक रूप पर मन को लगाए रखने में समय

और शक्ति का अपव्यय करना—यह मिथ्या जप और ध्यान है। नाम और रूप चाहे कितने ही सुन्दर और उच्चकोटि के क्यों न प्रतीत हों, वस्तुतः ये कल्पित माया के खेल ही हैं। इनका जप और ध्यान प्रारम्भिक अवस्था में केवल मन को एकाग्र करने की आदत डालने मात्र के लिए करना ठीक है; पीछे इनको छोड़ कर समष्टि आत्मा परमात्मा के उपरोक्त सच्चिदानन्द स्वरूप में स्थिति करनी चाहिए और नाम तथा रूप से छुटकारा पाए बिना उस स्वरूप में स्थिति हो नहीं सकती—अतः नाम और रूप को ही सब कुछ मान कर सर्वदा उन्हीं में निमग्न रहना—मनुष्य देह के अमूल्य समय को निरर्थक गवाना है।

परोपकार—लोकहित

आधिभौतिक और और आधिदैविक विषमता के कारण ही प्राणियों को अनेक प्रकार के क्लेश होते हैं और वे समता के उपचार से शान्त होते हैं। जिस तरह वात, पित्त, कफ आदि दोषों की विषमता से शरीर में जो भूख प्यास तथा नाना भाँति के रोगादि होते हैं, वे उन विषम दोषों को सम करने की चिकित्सा से शान्त होते हैं तथा पृथ्वी, जल, तेज, वायु आदि महाभूतों की विषमता से अनावृष्टि, अतिवृष्टि, बाढ़, महामारी, दावानल, भूकम्प आदि भौतिक उपद्रवों से लोगों को जो अनेक प्रकार के कष्ट होते हैं, वे भौतिक समता के उपचार से शान्त होते हैं; और भेद-बुद्धि जन्य मानसिक विषमता से राग, द्वेष, काम, क्रोध, लोभ, मोह, शोक, भय आदि विकार उत्पन्न होकर उनसे जो अनेक प्रकार के मानसिक क्लेश होते हैं, वे सर्व-भूतात्मैक्य ज्ञान के उपदेशादि से मन को साम्यभाव में स्थित करने अर्थात् शम से शान्त होते हैं। इस तरह समता के उपचार से लोगों के आधिभौतिक और आधिदैविक क्लेश मिटाना—सच्चा परोपकार अथवा लोकहित है। परन्तु इसके विपरीत परोपकार या लोकहित के नाम से लोगों में उलटी विषमता उत्पन्न करने वाले उपचार करना—जिस तरह जिनकी सादगी से रहने की आदत हो अर्थात् जो मोटा खाते, मोटा पहनते और सब

शारीरिक विषयादिकों में संयम रखते हों तथा जिनकी आवश्यकताएँ इतनी कम हों कि उनकी पूर्ति के लिए उन्हें परावलम्बी न बनना पड़े, उनके लिए राजसी भोग्य पदार्थ सुलभ करने द्वारा भोग विलास में उनकी प्रीति उत्पन्न करके उनको विषयी एवं अल्पप्राण बनाने की विषमता उत्पन्न करना और उन भोग्य पदार्थों की प्राप्ति के लिए परावलम्बी बनाना अथवा एक तरफ तो लोगों को अपनी अपनी प्रकृति के विरुद्ध आहार विहारों में प्रवृत्त करके शारीरिक विषमता उत्पन्न कर, रोगी बनाना और दूसरी तरफ उनकी चिकित्सा आदि के बड़े बड़े आयोजन करके, लोगों को उन पर निर्भर रख कर, पूरे परावलम्बी और उद्यमहीन बनाना, इसी तरह मानसिक विकार मिटाने के नाम पर भेद प्रतिपादक शास्त्रों के व्याख्यान एवं उपदेश देकर उल्टी मानसिक विषमता बढ़ाना—यह परोपकार या लोकहित नहीं, किन्तु पर-पीड़न और लोगों का महान् अनिष्ट करना है।

अस्तेय (चोरी न करना)

अपने स्वार्थ तथा भोग के लिए दूसरों के भोग्य पदार्थ—चाहे वे सचेतन हों या जड़—हरण करने की इच्छा भी न करना; बिना हक़ के कोई पदार्थ न लेना अर्थात् अपने परिश्रम द्वारा उपार्जन किए हुए पदार्थों पर ही अपना स्वत्व समझना, दूसरों के परिश्रम से उपार्जन किये हुए पदार्थों के पाने की आशा रखकर आलसी और निरुद्यमी न हो जाना; अकेले ही भोग्य पदार्थों का इस तरह संग्रह न करना कि दूसरे उनके उपयोग से वञ्चित रह जायँ; अपनी आवश्यकताओं को इतनी अधिक न बढ़ाना कि उनमें धनादि पदार्थों का इतना अनुचित खर्च हो कि दूसरों से धन छीनने का प्रयत्न करना पड़े तथा दूसरों की वास्तविक आवश्यकताएँ पूरी होने में बाधा पड़े तथा सट्टे, फाटके, जुए जैसे धन्धे न करना कि जिनसे कुछ भी लोक-सेवा हुए बिना ही द्रव्य प्राप्त होने के भाव रहें—यह सच्चा अस्तेय है। परन्तु पूर्व कर्मों के फल से पैतृक सम्पत्ति आदि बिना परिश्रम किए तथा बिना दूसरों के हक़ छीने,

प्राप्त होने वाली सम्पत्ति को त्याज्य मान कर छोड़ बैठना अथवा अपने कर्त्तव्य कर्म यथावत् करने पर उसके पुरस्कार में जो द्रव्यादि तथा भोग्य पदार्थों की प्राप्ति हो उसको यह समझ कर छोड़ देना कि ये पदार्थ किसी दूसरे के परिश्रम से उत्पन्न हुए हैं, इन पर मेरा हक नहीं है—यह मिथ्या अस्तेय है।

तेज

किसी से दब कर आत्मा के विरुद्ध, कोई अनुचित काम न करना तथा अपने कर्त्तव्य को न छोड़ना; जो अपने मातहत हों उनसे उनके कर्त्तव्य कर्म समुचित रूप से कराने तथा पत्नी, सन्तान, शिष्य, प्रजा आदि जो अपने संरक्षण में हों उनको विपरीत आचरणों से रोकने के निमित्त उन पर उचित प्रभाव रखना—सच्चा तेज है। परन्तु अपने रोब के अभिमान में दूसरों को अनुचित रूप से दबाना—यह तेज नहीं, अत्याचार है।

कार्य-कुशलता

जो अपने कर्त्तव्य-कर्म और पेशे हों उनके ज्ञान, विज्ञान तथा क्रिया की पूरी जानकारी रख कर अपने अपने कार्य करने में सब प्रकार से प्रवीण होना—यह सच्ची दक्षता या कार्य-कुशलता है। परन्तु प्रमाद के विषयों में—जिनसे अपने कर्त्तव्य में हानि पहुँचती हो—कुशलता रखना तथा अपने कर्त्तव्यों पर ध्यान न देकर दूसरों के कर्त्तव्यों में कुशलता प्राप्त करने में लगे रहना—यह दक्षता या कार्य-कुशलता नहीं, किन्तु चपलता है।

लज्जा ग्लानि

अपने कर्त्तव्य के विरुद्ध अनुचित और बुरे काम करने में लज्जा या ग्लानि होना—सच्ची लज्जा या ग्लानि है। परन्तु अपने कर्त्तव्यों के पालन करने में तथा सात्विक (लोकहित के) व्यवहारों में अज्ञ लोगों की टीका के भय से ग्लानि करना अथवा अपने कर्त्तव्य कर्मों को नीच दर्जे का अथवा हीन कोटि का समझ कर उनसे ग्लानि करके उपेक्षा करना—यह लज्जा या ग्लानि नहीं, किन्तु कर्त्तव्य विमुखता है।

तितिक्षा—सहनशीलता

किसी कारण से शरीर में गर्मी, सर्दी, भूख, प्यास, रोग, आघात आदि किसी प्रकार की पीड़ा उपस्थित हो जाय तो उसको शान्तिपूर्वक सहन करना, मन में क्षोभ न करना तथा शरीर को इस तरह के कष्ट सहने योग्य बनाना—सच्ची तितिक्षा है। परन्तु मूर्खता से हठ करके शरीर को पीड़ा देते रहना, शीत, ताप, भूख, प्यास आदि से शरीर को कष्ट देना—तितिक्षा नहीं किन्तु दुराग्रह है।

राजसी-तामसी व्यवहार

काम (इच्छा)

दूसरों के हित और स्वार्थ पर दुर्लक्ष्य करके तथा उनमें बाधा देकर केवल अपनी व्यक्तिगत स्वार्थ सिद्धि की इच्छा रखना, केवल अपने शरीर तथा उनके सम्बन्धियों के लिए ही आधिभौतिक विषय-सुखों तथा मान-कीर्ति आदि की निरन्तर अभिलाषा करते रहना और इन विषय-सुखों के लिए अप्राप्त पदार्थों की प्राप्ति की लालसा रखना तथा कर्त्तव्याकर्त्तव्य, उचित अनुचित का कुछ भी विचार न करके सदा कामोपभोग में ही आसक्त रहना—यह काम का राजस तामस स्वरूप है। इस तरह के व्यक्तिगत स्वार्थ की कामना से दूसरों से भिन्न अपने व्यक्तित्व के द्वैत भाव की दृढ़ता होती है और सर्वभूतात्मैक्य साम्य भाव प्राप्त होने में यह काम ही सब से अधिक बाधक है। सब सुखों का भण्डार तो स्वयं अपना आप अर्थात् आत्मा है, इसीके प्रतिबिम्ब से विषयादिकों में सुखों का क्षणिक आभास प्रतीत होता है। अतः आत्मा से भिन्न नाशवान् भौतिक पदार्थों में सुख मान कर उनकी कामना करते रहने से पतन होता है। परन्तु इन व्यक्तिगत स्वार्थों और विषय भोगों की अभिलाषाओं से ऊँचे उठने की सदिच्छा रखना; सर्वात्म साम्य भाव में स्थित होने की अभिलाषा करना; समष्टि-आत्मा-परमात्मा के साथ अपनी एकता के अनुभव करने की

लालसा रखना तथा किसी भी प्राणी को हानि पहुँचाए बिना तथा किसी का अहित किये बिना—सबके साथ एकता का प्रेम भाव रखते हुए—लोकसंग्रह के लिए, मर्यादानुसार जो कामोपभोग, बिना अधिक प्रयास के प्राप्त हो जायँ उनको अनासक्त बुद्धि से, चित्त की शान्ति भङ्ग किए बिना भोग—यह सात्विक काम है। जगत् का व्यवहार यथावत् चलाने के लिए काम की भी अत्यन्त आवश्यकता है।

धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ।

गी० अ० ७।१०

अर्थ—हे भरतश्रेष्ठ ! धर्म के विरुद्ध न जाने वाला भूत प्राणियों में काम भी मैं हूँ अर्थात् जिस काम से भूत प्राणियों का अहित न होता हो वह—लोक-संग्रह के विरुद्ध न जाने वाला—काम भी परमात्मा की जगत् को धारण करने वाली एक विभूति है।

क्रोध

अपनेको किसी से हानि या दुःख पहुँचने या किसी से अपने स्वार्थ और सुख में बाधा लगने या किसी से अपना अपमान होने आदि के अनुमान से अथवा अपने मन के अनुकूल कोई काम न होने से क्रोध का आवेश उत्पन्न कर चित्त को क्षुब्ध करना और अनेकता की विषम बुद्धि से उस हानि या दुःख पहुँचाने वाले को बदले में दुःख या हानि पहुँचाने में प्रवृत्त होना—यह क्रोध का राजस तामस स्वरूप है। परन्तु क्रोध को अपने अधीन करके मूर्ख, अज्ञानियों तथा कुमार्ग गामियों को सुधारने और अपने अधीन व्यक्तियों को कर्तव्य विमुख होने से बचाने के लिए उचित मात्रा में उसका उपयोग करना, अज्ञानी तथा बालक किसी हानिकर व्यवहार का दुराग्रह करे तो उनको क्रोध दिखा कर डाँट देना और किसी दुराचारी का दुराचार छुड़ाने के लिए क्रोध के उपयोग से उसको धमका देना—यह सात्विक क्रोध है

ऐसे अवसरों पर क्रोध के उपयोग से कोई अनर्थ नहीं होता, किन्तु

क्रोध करना आवश्यक हो जाता है। उसके न करने से अनर्थ और लोगों का अहित होता है—क्योंकि रजोगुणी तमोगुणी लोग उनकी प्रकृति के अनुकूल क्रिया से ही सुधरते हैं। अतः उनके तथा दूसरों के हित के लिए प्रेम भाव से ऐसे अवसरों पर उन पर क्रोध करना चाहिए। जैसे अपनी सन्तान को कुमार्ग से बचाने के लिए उसके हित की दृष्टि से क्रोध किया जाता है, वास्तव में वह क्रोध नहीं प्रेम होता है; उसी तरह दूसरों को सुधारने के लिए एकता के भाव से उनको ताड़ना देनी चाहिए; परन्तु ऐसा करने में क्रोध से अपने मन को तपाना नहीं चाहिए और न उसके वश में होकर क्रोध करने की आदत ही डालनी चाहिए।

लोभ तृष्णा कृपणता

सांसारिक पदार्थों में—आत्मा से भिन्न—सुख समझ कर, अपने अपने व्यक्तिगत भोग विलास के लिए, उनका संग्रह करने में सन्तोष न करना, किन्तु आवश्यकता से भी अधिक पदार्थों का येन केन प्रकार से संग्रह करने में तन-मन से लगे रहना और संग्रह किये हुए पदार्थों का अपने तथा दूसरों के हित के लिए एवं आवश्यक कामों में त्याग न करना यह लोभ, तृष्णा कृपणता का राजस तामस स्वरूप है। परन्तु आत्म ज्ञान प्राप्ति की तृष्णा करना, संसार से प्रेम, सबकी भलाई और अपना कर्तव्य पालन करने में सन्तोष न करना तथा लोकहित के कामों में उपयोग करने के लिए पदार्थों का संग्रह करना और अनावश्यक एवं अयोग्य व्यवहारों में उनका व्यय न करना—यह लोभादि का सात्विक स्वरूप है।

शोक—चिन्ता—पश्चात्ताप

गए हुए तथा अप्राप्त सांसारिक धनादि पदार्थों, कुटुम्बियों सम्बन्धियों, मित्रों तथा विषय सुखों का चिन्तन करके उनके लिए शोक करना तथा उपस्थित पदार्थों के रक्षण आदि के लिए उचित उपाय न करके केवल उनकी चिन्ता ही करते रहना तथा उनके बिछुड़ने पर या हानि होने पर

अपनी मूर्खता असावधानी आदि कारणों के लिए पश्चात्ताप करते रहना और उस शोक, चिन्ता पश्चाताप आदि में डूब कर अपने कर्त्तव्य-कर्मों को भूल जाना अथवा उनमें त्रुटि करना—शोक, चिन्ता, पश्चात्ताप का राजस तामस-स्वरूप है। परन्तु अपने कर्त्तव्यों को पूरा करने के लिए सदा सावधान और चिन्तित रह कर प्रयत्न करते रहना; अपने भीतर आत्म विमुख करने वाले रजोगुणी तमोगुणी भावों से होने वाले अनर्थों का चिन्तन करके उनको सुधारने में यत्नशील रहना तथा अपने किए हुए अनर्थों, असावधानियों तथा त्रुटियों का पश्चाताप करके न करने के लिए सावधान रहना—यह सब शोकादि का सात्विक स्वरूप है।

मोह-ममता

सांसारिक पदार्थों ही को सत्य मान कर, उनमें ममता बढ़ा कर उनके लिए अपने असली आप = आत्मा को भूल जाना शरीर तथा उसके सम्बन्धियों के मोह में फँस कर अनर्थ करना तथा कर्त्तव्याकर्त्तव्य का सात्विकी बुद्धि से निर्णय न करके अन्धविश्वास में पड़ कर अपने कर्त्तव्यों को भूल जाना—यह मोह ममता का राजस-तामस स्वरूप है। परन्तु अपने कर्त्तव्य के अनुसार जिन सांसारिक सम्बन्धियों, पदार्थों या व्यवहारों का भार अपने ऊपर हो अथवा जो व्यवहार स्वयम् स्वीकार किए हों उन—अपनी जिम्मेदारी में आये हुए—सम्बन्धियों एवं पदार्थों के प्रति अपना कर्त्तव्य स्नेहपूर्वक अच्छी तरह पालन करना और अपने आश्रितों का प्रेम पूर्वक भरण-पोषण, रक्षण शिक्षण करना, उनके दुःखों में स्नेहपूर्वक सहायता करना तथा उनके हित के लिए उद्योग करना—यह मोह-ममता का सात्विक स्वरूप है।

भय

लोगों को अपनी विद्या, बुद्धि, बल, दर, धन, सत्ता और सामर्थ्य का भय दिखाकर दबाना तथा दुःख देना; मिथ्या बातों का भय बताकर लोगों को भुलाना, ठगना तथा मिथ्या ज्ञान की शिक्षा से लोगों को अज्ञान में

रख कर अपने अधीन रखना, अपने कर्तव्य पालन करने में तथा सात्विक व्यवहारों और कल्याण के प्रयत्न में रजोगुणी तमोगुणी प्रकृति के पुरुषों की निन्दादि का भय करना तथा कल्पित देवी-देवता भूत प्रेत आदि से न डरना न डराना—यह भय का राजस-तामस स्वरूप है। जो दूसरों को भय देते हैं वे स्वयं भयभीत रहते हैं, क्योंकि आत्मा सब में एक है। परन्तु बुरे कर्मों के करने में सबके आत्मा-परमात्मा का भय करना तथा अपने से अधिक ज्ञानी, बुद्धिमान्, बलवान्, धनवान्, सत्तावान् आदि विशेष विभूति-सम्पन्न व्यक्तियों का भय करके बिना समुचित कारण के उनका सामना न करना—भय का सात्विक स्वरूप है।

राग—प्रीति—आसक्ति

भौतिक पदार्थों में अति प्रीति करके मन को निरन्तर उनमें उलझाए रखना और धन, कुटुम्ब आदि में आसक्त होकर अपने कर्तव्यों में त्रुटि करना तथा अपने असली कर्तव्य सवभूतात्मैक्य से विमुख रहना—राग का राजस तामस स्वरूप है। भेद-बुद्धि से विशेष पदार्थों में राग करने से उसकी प्रतिक्रिया स्वरूप दूसरे पदार्थों में द्वेष स्वतः उत्पन्न हो जाता है। परन्तु आत्मज्ञान तथा उसके साधन सात्विक व्यवहारों में राग और एक आत्मा में आसक्ति रखना—राग का सात्विक स्वरूप है।

द्वेष

अपनी प्रकृति के प्रतिकूल होनेवाले पदार्थों से तथा अपने से प्रतिकूल दीखने वाले व्यक्तियों के साथ अथवा बिना कारण ही किसी को अपने से भिन्न (बेगाना) मान कर उनसे द्वेष करके उनको हानि पहुँचाने या उनका अनिष्ट करने व गिराने का भाव रखना—यह द्वेष का राजस-तामस स्वरूप है। परन्तु दूसरों से द्वेष उत्पन्न कराने वाले अनेकता के भेद भाव

का राजस-तामस स्वरूप है। परन्तु परिणाम के बड़े सुख या बड़े लाभ पहुँचाने के भाव से अथवा बड़ी हिंसा रोकने के लिए एक बार थोड़ी देर के लिए किसी को कष्ट दिया जाय या थोड़ी हिंसा की जाय तो वह हिंसा नहीं, दया है। जिस तरह फोड़ा मिटाने के लिए चिरा देने की पीड़ा करना भयानक रोग से बचाने के लिए टीका देना, अजीर्ण के बीमार का भोजन छीन लेना इत्यादि। इसी तरह कभी ऐसे अवसर आते हैं कि उच्चकोटि के जीवों की रक्षा के लिए हीनकोटि के जीवों को मारना आवश्यक हो जाता है। जैसे कि सिंह या पागल कुत्ते आदि से मनुष्यों के प्राण बचाने के लिए उनको मारना; कोई हत्यारा भले आदमियों की हत्या करने को उद्यत हो और अन्य उपायों से निवृत्त न हो तो उन भले आदमियों की प्राण-रक्षा के लिए हत्यारे को मार देना अथवा किसी हत्यारे को प्राण-दण्ड देकर अनेक हत्याएँ बचाना—यह हिंसा का सात्विक स्वरूप है।

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्म संस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥

गी० अ० ४ ९

अर्थ—भले आदमियों की रक्षा तथा दुराचारियों के विनाश के हेतु तथा धर्म की स्थापना के लिए मैं युग-युग में अवतार लेता हूँ।

इसी तरह चोर, डाकू, अन्यायी, आततायी, दुराचारी को उचित दण्ड देना भी हिंसा नहीं, किन्तु अहिंसा है।

दण्डोदमयतास्मि।

—गी० अ० १० ३८

अर्थ—शासन करने वालों का दण्ड मैं हूँ अर्थात् दुष्ट प्रवृत्ति के लोगों को सन्मार्ग पर लाने के लिए, "दण्ड" भी समष्टि आत्मा परमात्मा की (जगत् को धारण करने वाली) एक विभूति है।

संशय

परमात्मा यानी अपने असली स्वरूप के सत्‌शास्त्रोक्त सत्य ज्ञान में, अपने कर्तव्य कर्म करने में तथा अपने निश्चय में संशय या शङ्का करते रहना; किसी भी विषय में निश्चयात्मक न हो कर सङ्कल्प विकल्प करते रहना—संशय का राजस-तामस स्वरूप है। परन्तु बिना जाँच किए हुए व्यक्तियों के वाक्यों, आचरणों तथा व्यवहारों की सत्यता के विषय में शङ्का करके उनकी अच्छी तरह जाँच करने के बाद निर्णय करना तथा अपनी बुद्धि के उपयोग बिना किसी विषय में निश्चयात्मक न होना—संशय नहीं, किन्तु सावधानी है।

हठ—दुराग्रह

किसी बात अथवा क्रिया को मूढ़ता से पकड़ कर नहीं छोड़ना, उससे अपनेको तथा दूसरों को दुःख अथवा पीड़ा होती हो अथवा अपनी तथा दूसरों की हानि होती हो तो भी उसे कट्टरता से पकड़े रहना, पतन होने वाले व्यवहारों में अन्ध विश्वास रखकर उन्हें किए ही जाना, देश, काल और परिस्थिति की आवश्यकतानुसार विचारों तथा व्यवहारों में परिवर्तन न करना; किसी विषय के विचार में युक्ति और न्याय की अवहेलना कर कोरा ज़िद किए जाना तथा भय, शोक और मद के भावों में अन्ध श्रद्धा करके उन पर अत्यन्त आग्रह करना—यह हठ अथवा दुराग्रह का राजस तामस स्वरूप है। परन्तु सबके साथ एकता के भाव से अपने कर्तव्य-कर्म करने में दृढ़ रहना, अच्छी तरह युक्ति और विचारपूर्वक जो सिद्धान्त स्थिर किये हों उनके विषय में संशय रहित रहना—उनसे विचलित न होना तथा जो काम अच्छी तरह सोच विचार कर करना स्वीकार किया हो, उसे यथाशक्य पूरा करने के लिए जी-जान से प्रयत्न करना—यह हठ और दुराग्रह नहीं, किन्तु सात्विक दृढ़ निश्चय है।

चतुर्थ प्रकरण

चतुर्थ प्रकरण

उपसंहार

इस ग्रन्थ में परतन्त्रता अर्थात् बन्धन से स्वतन्त्रता यानी मुक्ति पाने के उपाय का निरूपण किया गया है और वह उपाय, ग्रन्थ के मुख पृष्ठ पर ही "दैवी सम्पद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता" (दैवी सम्पद् से मोक्ष और आसुरी से बन्धन होता है) का मूल मन्त्र देकर वहीं बता दिया गया है, फिर सारे ग्रन्थ में उसीकी व्याख्या की गई है। जगत की अनन्त प्रकार की अनेकता (नानात्व) को सच्ची मान कर, राग द्वेष के भावयुक्त संसार के व्यवहार करना="आसुरी सम्पद्"— और उक्त नानात्व को झूठा—माया का खेल—जान कर उसके एकत्व भाव को सच्चा जानना और उस सच्चे ज्ञान के आधार पर सबके साथ प्रेम* का व्यवहार करना="दैवी सम्पद्"—श्रीमद्भगवद्गीता के श्लोकों से प्रमाणित किया गया है।

यह भी कहा गया है कि केवल आध्यात्मिक दृष्टि से ही नहीं, किन्तु आधिभौतिक और आधिदैविक दृष्टि से भी जगत की एकता सच्ची और अनेकता झूठी है। पुस्तक के प्रथम तीन प्रकरणों में उक्त विषय की विस्तृत व्याख्या करके अब उपसंहार में उसका निष्कर्ष दिया जाता है।

यह नाना भाँति का स्थूल (भौतिक) जगत जो प्रत्यक्ष इन्द्रिय गोचर हो रहा है अर्थात् जो आँखों से दीखता है, कानों से सुना जाता है, नाक से सूँघा जाता है, जिह्वा से चक्खा जाता है, त्वचा से स्पर्श किया

---

* प्रेम का खुलासा पीछे तृतीय प्रकरण में देखिए।

जाता है—यह सब, उन्हीं पञ्चतत्त्वों (अथवा जो अन्य दार्शनिक एव वैज्ञानिक लोग पाँच से अधिक तत्त्व मानते हैं, उनके मतानुसार उतने तत्त्वों) के सम्मिश्रण का अनन्त प्रकार का बनाव है; अर्थात् जिन पञ्चतत्त्वों का, एक राजा, महाराजा, विद्वान्, आचार्य, ज्ञानी, महात्मा का शरीर होता है, उन्हीं का एक छोटे से-छोटे व्यक्ति, अछूत, चाण्डाल और पशु पक्षी, वनस्पति आदि का शरीर होता है। स्थावर-जङ्गम जितनी सृष्टि है यह सब उन्हीं पञ्चतत्त्वों के सम्मिश्रण का बनाव है और सभी एक दूसरे के उपकारी, उपकार्य हैं तथा एक दूसरे पर निर्भर (अन्योन्याश्रित) हैं। इसलिए भौतिक (स्थूल) जगत की एकता सच्ची है और इसमें जो अनन्त प्रकार की भिन्नता का बनाव दीखता है, उसका प्रतिक्षण परिवर्तन होता रहता है—कोई भी वस्तु सदा एक-सी नहीं रहती—इसलिए वह असत् है। किसी भी प्राणी का शरीर लीजिए—गर्भाधान से लेकर ज्यों ज्यों वह बढ़ता है, उसकी अवस्था प्रतिक्षण बदलती रहती है। गर्भ में अनन्त प्रकार के रूप बदलता हुआ, विशेष अवधि में पूरा शरीर बन कर गर्भ से बाहर आता है और बाहर भी वही परिवर्तन की क्रिया निरन्तर जारी रहती है। कितने ही परमाणु प्रतिक्षण शरीर में से निकलते और कितने ही प्रवेश करते रहते हैं। शनैः-शनैः बाल्यावस्था से युवावस्था, प्रौढ़ावस्था और फिर वृद्धावस्था हो जाती है। इन अवस्थाओं का परिवर्तन किसी विशेष समय में ही एकदम नहीं होता, किन्तु प्रतिक्षण निरन्तर होता रहता है और घटा-बढ़ी की क्रिया निरन्तर जारी रहती है। शरीर का विनाश, यद्यपि किसी विशेष समय में एकदम होता प्रतीत होता है, परन्तु वास्तव में वह भी पहले निरन्तर होता रहता है और मरने के समय, उस एकत्र परिवर्तन की प्रतीति एक साथ होती है। इसी तरह स्थावर पदार्थों का भी प्रतिक्षण परिवर्तन होता रहता है। वनस्पति (वृक्ष-लता आदि) किसी विशेष समय में एकदम नहीं उगते और न एकदम सूखते ही हैं, किन्तु उनके बढ़ने घटने की क्रिया प्रतिक्षण निरन्तर

जारी रहती है। खनिज पदार्थ—हीरा, पन्ना, माणिक, मोती, सोना चाँदी, पत्थर, मट्टी आदि—भी निरन्तर परिवर्तन की क्रिया में से गुजरते हुए अपने अपने प्रकृत रूप में आते हैं और फिर भी उनका परिवर्तन एवं वृद्धि, ह्रास जारी रहता है। काल (समय) का भी निरन्तर परिवर्तन होता है। सूर्योदय से लेकर सूर्यास्त तक तथा शाम से लेकर सुबह तक समय निरन्तर बदलता रहता है। इसी तरह ऋतु भी प्रतिक्षण बदलती रहती है। सुबहके सुहावने शीतल समय को हटा कर उसके स्थान में दुपहर का कड़ा धूप एकदम नहीं आ जाता और दिन के प्रकाश को हटा कर रात्रि का अन्धकार भी हठात् पृथ्वी-मण्डल को आच्छादित नहीं कर लेता, न जाड़े की सर्दी सहसा ग्रीष्म में परिणत होती है, किन्तु समय परिवर्तन प्रतिक्षण निरन्तर होता रहता है। इसी तरह वस्तु और काल के साथ साथ देश का भी निरन्तर परिवर्तन होता रहता है। इसके अतिरिक्त देश काल और वस्तु यानी संसार का कोई भी पदार्थ सबको सदा एक सा प्रतीत भी नहीं होता। किसी को कोई वस्तु किसी अवस्था में एक प्रकार की प्रतीत होती है, दूसरी अवस्था में तथा दूसरे व्यक्ति को वही वस्तु दूसरी तरह भान होती है; किसी को कोई वस्तु किसी अवस्था में अनुकूल प्रतीत होती है, दूसरी अवस्था में अथवा दूसरे व्यक्ति को वही प्रतिकूल प्रतीत होती है। दिनचरों को सूर्य्य प्रकाश रूप दीखता है—निशाचरों को अन्धकार रूप; सूखे में वृष्टि सुहावनी लगती है—अति वृष्टि के समय वर्षा भयानक प्रतीत होती है; भारतवर्ष में ग्रीष्म ऋतु में सूर्य्य का तेज असह्य होता है—विलायत में सूर्य के दर्शन को लोग तरसते हैं; प्यास से मरते हुए का जल जीवनदाता है—जलोदर के रोगी तथा डूबने वाले का प्राण हरता है; सुख-शान्ति के समय जो देश प्रिय लगता है—अशान्ति और विपत्ति के समय उसको छोड़ भागना हितकर प्रतीत होता है; सुख का दीर्घ-काल भी बहुत अल्प मालूम देता है—दुःख का एक क्षण भी वर्ष के बराबर भान होता है; धन-धान्य आदि

का समूह एवं सत्ता तथा मान-प्रतिष्ठा शान्ति के समय एवं योग्य व्यक्तियों के पास हो तो सुखदायक होवें हैं—विप्लव के समय अथवा अयोग्य व्यक्तियों के पास वे ही महान् दुखदायक होते हैं; सदाचारी व्यक्तियों की विद्या सबको लाभदायक होती है—दुराचारियों की विद्या से सबको हानि होती है, पुत्र हीन गृहस्थी पुत्र जन्म पर बड़ा हर्ष मानता है—विधवा स्त्री गर्भ में ही उसे मार डालना चाहती है; पतिव्रता स्त्री, पति को और स्नेह करने वाला पति, पत्नी को एवं सुपुत्र, पिता को प्यारा लगता है—इनके विपरीत गुणों वाले पति, पत्नी और पुत्र, शत्रु प्रतीत होते हैं, सर्दी में जो गर्म कपड़े तथा गर्म आहार विहार अच्छे लगते हैं—गर्मी में वे ही बुरे प्रतीत होते हैं; भूखे को भोजन बहुत स्वादु लगता है—अघाए हुए को उससे ग्लानि होती है तेज अग्नि वाले को युक्ति से खाने पर दूध, घृतादि पौष्टिक पदार्थ बलवर्द्धक होते हैं—मन्दाग्नि की दशा में अथवा अयुक्ति से खाने पर रोग उत्पन्न करते हैं मनुष्य के लिए आक विष है—वही बकरी की खुराक है मनुष्य को शहद मीठी लगती है—कुत्ते को कड़वी हिन्दू लोग गङ्गा-स्नान से पुण्य मानते हैं—जैनी पाप, हिन्दू मूर्ति पूजा और गौरक्षा धर्म मानते हैं—मुसलमान मूर्ति तोड़ना और गौहिंसा धर्म मानते हैं, भारतवासी स्त्रियों को पद्दलित रखना हितकर समझते हैं—पश्चिमी लोग उनको पूरी स्वतन्त्र रखना श्रेयस्कर मानते हैं, भारतवर्ष में पुरुष का स्त्री को विवाह कर अपने घर ले जाना श्रेष्ठाचार है—बर्मा में स्त्री का पुरुष को विवाह कर अपने घर लाने की रिवाज अच्छी गिनी जाती है। कहाँ तक गिनाया जाय, जगत का कोई भी व्यवहार सदा-सर्वदा एकसा नहीं रहता। अतः जो वस्तु निरन्तर परिवर्तनशील है—एक क्षण के लिए भी स्थिर नहीं रहती—उसके किस रूप को सत्य माना जाय। सत्यता के ठहरने के लिए कोई स्थिर बिन्दु भी तो चाहिए। किन्तु जगत के नाना भाँति के बनाव में जरा भी स्थिरता (स्थिर बिन्दु) नहीं है—इसलिए वह सत्य नहीं कहा जा सकता। परन्तु एकत्व भाव में, जगत

अवश्य ही सत्य है; क्योंकि उसका अस्तित्व यानी होना प्रत्यक्ष है, उसमें हलचल (चेतनता) प्रत्यक्ष है और वह प्यारा (सुहावना) भी लगता है—इसलिए अस्ति-भाति प्रिय रूप से सदा एकसा रहने वाले एकत्व भाव में यह स्थूल जगत सत् है और प्रतिक्षण बदलने वाले नानात्व भाव में असत् ।

अब सूक्ष्म आधिदैविक दृष्टि से विचार कर देखा जाय तो भौतिक जगत के मूल तत्त्व अपने सूक्ष्म भाव में घनीभूत होकर ही स्थूल बनते हैं और सत्त्व, रज, तम तीनों गुणों के संयोग के तारतम्यानुसार अनन्त प्रकार के दृश्य उत्पन्न करते हैं; साथ ही प्राणियों के अन्त करण की सूक्ष्म वृत्तियाँ, अपनी घनता से स्थूल इन्द्रिय रूप हो कर, उक्त तीनों गुणों के तारतम्य से, जगत के उपरोक्त नाना प्रकार के दृश्यों के साथ सम्बन्धित होकर भांति भांति के व्यवहार करती हैं । सारांश यह कि स्थूल जगत का का कारण सूक्ष्म जगत है । किसी भी घटना अथवा कार्य्य का पहिले (सूक्ष्म) मन में सङ्कल्प उठता है और वह सङ्कल्प जब दृढ़ होकर घनीभूत हो जाता है, तब कार्य्य रूप में परिणत होता है । मन में जब देखने का सङ्कल्प उठता है तो वह तेजात्मक होकर चक्षु रूप से नाना प्रकार के रूप देखता है; सुनने का सङ्कल्प उठता है तो आकाशात्मक होकर कर्ण रूप से शब्द सुनता है, सूँघने का सङ्कल्प उठता है तब पृथ्व्यात्मक होकर नासिका रूप से गन्ध लेता है; रसास्वादन का सङ्कल्प उठता है तो जला-त्मक होकर रसना रूप से सब रसों का स्वाद लेता है और स्पर्श करने का सङ्कल्प उठता है तो वाय्वात्मक होकर त्वचा रूप से सब प्रकार के स्पर्श करता है । एक तरफ तो (सबके) समष्टि मन के सङ्कल्प से सूक्ष्म प सत्त्व स्थूल होकर समष्टि जगत क सब पदार्थ रूप बनते हैं और दू तरफ प्रत्येक शरीर धारी के व्यष्टि मन के सङ्कल्प से उक्त पञ्चतत्त्व व्यष्टि भाव से इन्द्रिय रूप होकर जगत के पदार्थों के साथ सब प्रकार व्यवहार करते हैं । अतः स्थूल आधिभौतिक जगत की सत्ता सूक्ष्म आधिदै

जगत पर ही निर्भर है। परन्तु सूक्ष्म आधिदैविक जगत का नानात्व भी परिवर्तनशील है अर्थात् वह मन का सङ्कल्प रूप होने से प्रतिक्षण निरन्तर बदलता रहता है; क्योंकि मन के सङ्कल्प एक क्षण भी एकसार स्थिर नहीं रहते, किन्तु क्षण-क्षण में उठते और लय होते रहते हैं; अत सूक्ष्म जगत का नानात्व भी झूठा है। परन्तु चित्त जब एकाग्र होता है तब सब सङ्कल्प मिट जाने पर भी एकाग्रावस्था का अस्तित्व, उसका अनुभव और उसका आनन्द समान रूप से सब में रहता है, अत सूक्ष्म जगत की भी एकता सच्ची है।

उपरोक्त विषय का प्रत्यक्ष अनुभव नित्य प्रति—जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति (स्वप्न रहित गाढ़ निद्रा) की अवस्थाओं में—सब लोगों को होता रहता है। जाग्रत अवस्था में स्थूल शरीर से स्थूल व्यवहार होते हैं। स्वप्न अवस्था में सूक्ष्म=सङ्कल्पमय शरीर से केवल मानसिक व्यवहार होते हैं और सुषुप्ति (गाढ़ निद्रा) की अवस्था में जाग्रत और स्वप्न (स्थूल और सूक्ष्म दोनों शरीरों) के व्यवहार अपने कारण=प्रकृति में लय होकर कारण (बीज) रूप से रहते हैं और फिर उसी कारण=प्रकृति से पुन: इनका प्रादुर्भाव होता है। जिस तरह जाग्रत स्वप्न और सुषुप्ति—तीन अवस्थाएँ प्रति दिन सबको अनुभव होती है, उसी तरह मनुष्य-शरीर की आयु में भी उक्त तीनों अवस्थाएँ होती हैं, प्रत्येक शरीर अपनी उत्पत्ति से पहले बीज रूप से पिता माता के गर्भ में सुषुप्त अवस्था में रहता है, फिर शैशव में मनोराज्य की स्वप्न अवस्था में से होकर स्थूल जगत का अनुभव करने वाली बाल, युवा एव वृद्धावस्था रूपी जाग्रत को क्रमश प्राप्त करता है और शरीर के नाश होने पर उक्त स्थूल (जाग्रत) और सूक्ष्म (स्वप्न मनोराज्य की अवस्था) दोनों सुषुप्ति (कारण) में लय हो जाते हैं और समय पाकर जब मन के सङ्कल्प उदय होते हैं, तब फिर सुषुप्ति (कारण) से स्वप्न (सूक्ष्म) और जाग्रत (स्थूल) निकल आते हैं। इसी तरह यह स्थूल और सूक्ष्म जगत भी अपने कारण रूप

प्रकृति से उत्पन्न होता है और पीछे प्रकृति में ही लय हो जाता है। सारांश यह कि जाग्रत = स्थूल का आधार स्वप्न = सूक्ष्म है और जाग्रत = स्थूल और स्वप्न = सूक्ष्म दोनों का आधार सुषुप्ति = कारण है। जाग्रत = स्थूल में, स्वप्न = सूक्ष्म अवस्था यानी मन के सङ्कल्प और सुषुप्ति = कारण अवस्था यानी प्रकृति, दोनों बनी रहती हैं और स्वप्न = सूक्ष्म अवस्था में सुषुप्ति = कारण यानी प्राकृत अवस्था बनी रहती है और जाग्रत, स्वप्न एवं सुषुप्ति तीनों अवस्थाओं का अनुभव करने वाला अपना आप (आत्मा) सब अवस्थाओं में इकसार रहता है। जाग्रत अवस्था में जो अपना आप "मैं" रूप से सब स्थूल व्यवहार करता है वही अपना आप स्वप्न अवस्था में सूक्ष्म मानसिक व्यवहार करता है और जब जागता है, तब अपने स्वप्न के अनुभव स्मरण करता है। सुषुप्त अवस्था में वही अपना आप गाढ़ निद्रा का आनन्द लेता है और जब जागता है तब अपनी सुषुप्ति के आनन्द, और कुछ भी न जानने रूपी अज्ञान, का स्मरण करता है। यद्यपि शरीर की जाग्रत (स्थूल), स्वप्न (सूक्ष्म) और सुषुप्ति (कारण)—तीनों अवस्थाओं की भिन्नता बदलती रहती है, परन्तु इन तीनों अवस्थाओं में एकता रूप अपना आप यानी सत् चित् आनन्द स्वरूप, सर्वव्यापक, ब्रह्म, अविनाशी आत्मा सदा एकरस रहता हुआ सबका अनुभव करता रहता है। जिस तरह व्यष्टि शरीर की तीन अवस्थाएँ हैं उसी तरह समष्टि जगत की भी स्थूल, सूक्ष्म और कारण तीन अवस्थाएँ हैं और जो सत्-चित् आनन्द-स्वरूप आत्मा व्यष्टि शरीर में सदा इकसार रहता है, वही समष्टि जगत की तीनों अवस्थाओं में भी सदा इकसार बना रहता है और साथ ही साथ यह इन अवस्थाओं से परे अर्थात् इनसे अलिप्त रहता है। जिस तरह बाइस्कोप के दिखाव में सफेद पर्दा सबका आधार होता है—उस सफेद पर्दे पर पहिले अँधेरे का प्रतिबिम्ब पड़ता है और फिर उस अँधेरे के बीच में एक गोल प्रकाश पड़ता है और उस गोल प्रकाश में नाना प्रकार के दृश्यों का प्रतिबिम्ब पड़ता है; उसी तरह एक

शुद्ध स्वरूप आत्मा में पहिले उसकी चित् शक्ति अर्थात् प्रकृति (माया) के आवरण की सुषुप्त अवस्था आती है, फिर उस सुषुप्ति में मानसिक सङ्कल्प रूपी स्वप्नावस्था का गोल प्रकाश पड़ता है और उस स्वप्नावस्था रूपी प्रकाश में नाना भाँति के स्थूल जगत का बनाव बनता है। जिस तरह बाइस्कोप के दिखाव में उस अन्धकार, प्रकाश और नाना भाँति के दृश्यों का आधार जो सफेद पर्दा होता है वह एक और सत्य होता है तथा उस पर भाँति-भाँति के जो प्रतिबिम्ब पड़ते हैं वे सब मिथ्या दिखाव मात्र होते हैं, उन दिखावों से पर्दे का कुछ बनता बिगड़ता नहीं, उन नाना प्रकार के दृश्यों के दिखाई देते समय, उससे पहिले तथा पीछे वह ज्यों का त्यों निर्लेप बना रहता है, इसी तरह जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति अर्थात् स्थूल, सूक्ष्म और कारण सबका आधार—अपना आप अर्थात् आत्मा—एक है तथा सदा एकरस रहने वाला एवं सत्य है और स्थूल, सूक्ष्म व कारण—तीनों अवस्थाओं के भिन्न-भिन्न परिवर्तनशील, कल्पित एवं मिथ्या बनावों का उस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता वह सदा निर्लेप रहता है।

जगत की एकता अर्थात् नाना भाँति के नाम रूपात्मक बनाव में जो एकत्व भाव है वही आत्मा = परमात्मा अथवा ईश्वर है और उस एकता रूपी ईश्वर में किसी प्रकार का क्लेश, बन्धन व पराधीनता आदि नहीं है, किन्तु वह पूर्ण सुख-स्वरूप, सदा स्वतन्त्र अर्थात् मुक्त है। उस एकता रूपी ईश्वर को सब जगत में निरन्तर एक समान व्यापक देखते हुए, अपने व्यक्तित्व को उसमें जोड़ कर तथा अपने व्यक्तिगत स्वार्थों को उसके अर्पण करके अर्थात् सारे जगत से अपनी एकता करके तथा अपने स्वार्थों को सबके स्वार्थों के अन्तर्गत करके सबके साथ प्रेम* पूर्वक समता* का व्यवहार करने से कोई क्लेश, बन्धन या पराधीनता शेष नहीं रहती।

इसलिए संसार में जितने भूतप्राणी हैं, उनसे अपनी एकता का अनुभव करते हुए, समत्व* भाव से सबके साथ, उनके प्राकृतिक गुण तथा

*प्रेम व समता का खुलासा पीछे तृतीय प्रकरण में देखिए।

अपने-अपने सम्बन्ध के अनुसार यथायोग्य प्रेम* का व्यवहार करना चाहिए। चाहे कोई व्यक्ति किसी भी मज़हब, धर्म, सम्प्रदाय अथवा मत का अनुयायी हो, किसी भी देश का निवासी हो, किसी भी जाति या समाज का हो अथवा किसी भी परिस्थिति में हो—यहाँ तक कि ब्रह्मा आदि देवता एवं पृथ्वी के सम्राट से लेकर पशु, पक्षी, वनस्पति आदि ही क्यों न हो—सब से एकता का अनुभव करते हुए, सबके प्राकृत गुणों की योग्यता तथा परस्पर के सम्बन्ध के अनुसार यथायोग्य साम्य* भाव से प्रेम* का व्यवहार करना चाहिए। किसी के साथ भी राग*, घृणा*, तिरस्कार* का भाव नहीं रखना चाहिए। परन्तु यह प्रेमयुक्त समता का व्यवहार, एकता रूप ईश्वर के लिए होना चाहिए, पृथकता रूप पिशाच के लिए नहीं। अर्थात् जो सात्विक प्रकृति के लोग, एकता रूप ईश्वर के उपासक हों, उनके साथ सतोगुणी बर्ताव द्वारा सहयोग करना और उनके सात्विक आचरणों में सहायक होना चाहिए और जो राजस-तामस प्रकृति के लोग पृथकता (भेद-बुद्धि) रूपी पिशाच के दास बन कर संसार के लोगों के प्रति राग द्वेष आदि भावों के कारण एकता रूपी ईश्वर से विमुख रहते हैं—उनको पृथकता (भेद-बुद्धि) रूपी पिशाच से छुड़ाने के लिए—उनसे उनके प्राकृत गुणों के अनुकूल व्यवहार करना चाहिए। इस तरह व्यवहार करने से किसी व्यक्ति को मानसिक अथवा शारीरिक व्यथा हो अथवा किसी की आर्थिक हानि हो अथवा किसी का प्रिय पदार्थों से वियोग हो जाय अथवा किसी का शरीर भी चला जाय तो कुछ भी परवाह न करनी चाहिए अर्थात् उपेक्षा कर देनी चाहिए, परन्तु इस बात का हरदम ध्यान रखना चाहिए कि ऐसा करते समय अपने चित्त में कभी एकता के प्रेमयुक्त साम्य भाव का अभाव न हो। अपने शरीर के रोगी अङ्ग को स्वस्थ बनाने के लिए जिस तरह काट-छाँट, पुल्टिस, सिकताव, मरहम-पट्टी आदि का उपचार किया जाता है, उसी तरह भेद-बुद्धि रूपी रोग ग्रस्त

*राग, द्वेष, घृणा, तिरस्कार का खुलासा तृतीय प्रकरण में देखिए।

व्यक्तियों को एकता रूपी आरोग्यता प्राप्त कराने के लिए—उनके हित के उद्देश्य से—उनसे उनके उपयुक्त बर्ताव करना चाहिए, द्वेष तथा घृणा के भाव से नहीं। जिन लोगों के चित्त में एकता के प्रेम भाव की दृढ़ता नहीं हो गई हो अर्थात् जिन्होंने अपने व्यक्तित्व की एवं व्यक्तिगत स्वार्थों की दूसरों के साथ एकता न कर दी हो एवं जिनका हृदय राग, द्वेष तथा घृणा के भावों से दूषित बना हुआ हो, उनको—दूसरों के राजस-तामस भाव छुड़ाने के लिए—किसी को शारीरिक कष्ट देने तथा किसी प्रकार की हानि पहुँचाने का कोई अधिकार नहीं है। उन्हें पहिले अपने भाव शुद्ध करने चाहिए। जो धार्मिक,साम्प्रदायिक, सामाजिक एवं राजनैतिक सिद्धान्त अथवा नियम, सर्वत्र एकता के समत्व भाव के विरुद्ध, राग द्वेष से भेदोत्पादक विषमता उत्पन्न करने का समर्थन करते हों—वे चाहे कितने ही प्राचीन अथवा प्रतिष्ठित क्यों न हों—उनकी अवहेलना कर देनी चाहिए।

कोई सतोगुण प्रधान व्यक्ति या समाज अपने श्रेष्ठ गुणों के कारण ऊँचे दर्जे के कर्म करे और उनके फलस्वरूप ऊँचे दर्जे के भोग भोगे; तथा रज-तम प्रधान व्यक्ति या समाज अपने उक्त गुणों के कारण नीची श्रेणी के कर्म करे और उनके फलस्वरूप निम्न श्रेणी के भोग भोगे, तो आपस में एक दूसरे के प्रति घृणा, तिरस्कार अथवा ईर्षा द्वेष के भाव रखने का कोई कारण नहीं है अर्थात् ऊँचे दर्जे के कर्म करने और भोग भोगने वालों को निम्न श्रेणी वालों से घृणा और तिरस्कार न करना चाहिए तथा निम्न-श्रेणीवालों को उच्च श्रेणी वालों से ईर्षा-द्वेष न करना चाहिए, क्योंकि गुणों के अनुसार कर्म करना और भोग भोगना ही सच्ची समता है। निम्न श्रेणीवाले लोगों को उच्च श्रेणी वालों से मैत्री का बर्ताव करना और उच्च श्रेणीवालों को निम्न-श्रेणीवालों के प्रति करुणा और अनुग्रह का बर्ताव करना चाहिए। (आपस के भिन्न भिन्न प्रकार के प्रेमके बर्तावका विस्तृत खुलासा इस पुस्तक के तीसरे प्रकरण में देखिए।)

वास्तव में कर्म और भोग स्वयं ऊँचे नीचे अथवा अच्छे-बुरे नहीं होते, किन्तु सभी अपने अपने स्थान में एक समान आवश्यक और आपस में एक-दूसरे के एक समान उपकारी हैं। सभी एक-दूसरे पर निर्भर रहते हैं। बड़े-छोटे सभी एक-दूसरे के भोक्ता भोग्य हैं—चाहे वे किसी जाति, वर्ण, समाज व देश के हों। यदि स्त्रीपुरुष की दासी है तो पुरुष स्त्री का गुलाम है, पुत्र पिता का आज्ञाकारी है तो पिता पुत्र का टहलुआ है, शिष्य गुरु का अनुचर है तो गुरु शिष्य का सेवक है, सेवक स्वामी का दास है तो स्वामी सेवक के वशवर्ती है और प्रजा राजा की भक्त है तो राजा प्रजा का नौकर है। अपनी अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए सभी एक दूसरे की सेवा पर निर्भर रहते हैं, अतः एक-दूसरे के सेवक सेव्य हैं। किसान स्वयं अपनी तथा दूसरों की अन्न की आवश्यकता पूरी करता है, परन्तु वस्त्र के लिए जुलाहा के अधीन रहना पड़ता है; औजारों के लिए जुलाहा तथा किसान आदि को सुथार और लुहार के अधीन रहना पड़ता है; चमड़े के सामान के लिए सबको चमार के और सफाई के लिए मेहतर के अधीन रहना पड़ता है। इसी तरह एक ग्राम, नगर, प्रान्त अथवा देश के लोग अपनी सारी आवश्यकताएँ अपने ही ग्राम, नगर, प्रान्त अथवा देश में पूरी नहीं कर सकते, किन्तु अपनी अपनी विशेष योग्यतानुसार अपने यहाँ उत्पन्न होने वाले पदार्थों से दूसरे ग्राम, नगर, प्रान्त एवं देश की आवश्यकताएँ पूरा करते हुए उनके बदले में दूसरों की विशेष योग्यता से उत्पन्न होने वाले पदार्थों के लिए उनके अधीन रहते हैं। चाहे वे पदार्थ विद्या और ज्ञान के रूप में हों अथवा विज्ञान, कला कौशल, मेहनत मजदूरी के रूप में अथवा संगृहीत पूँजी एवं सैनिक शक्ति की सहायता के रूप में अथवा आवश्यकीय भोग सामग्रियों के रूप में हों। सारांश यह कि अपनी सारी इच्छाएँ और आवश्यकताएँ कोई भी व्यक्ति और कोई भी देश स्वयं अपने आप पूरी नहीं कर सकता, किन्तु किसी न किसी रूप में

एक-दूसरे का आश्रय लेना ही पड़ता है। जिसकी आवश्यकताएँ और आकांक्षाएँ जितनी अधिक होती हैं, उतना ही अधिक वह दूसरों के अधीन रहता है और जिसकी आवश्यकताएँ तथा आकांक्षाएँ जितनी कम होती हैं, उतना ही वह कम पराधीन रहता है। परन्तु अपनी बढ़ी हुई आवश्यकताओं और आकांक्षाओं की पूर्ति के लिए यदि कोई दूसरों की प्राकृतिक आवश्यकताओं और आकांक्षाओं को अस्वाभाविक रूप से कुचल कर उनको दबाना या बन्धन में रखना चाहे तो वह स्वयं दबता और बँधता है। रस्सी किसी के हाथ पैर बाँधती है तो वह स्वयं बँधती है, अत्याचारी पुरुष किसी को किसी स्थान में कैद करता है तो उसकी पहरेदारी में वह स्वयं कैद हो जाता है, सर्प छछुन्दर को अपने मुँह में दबाए रखता है तो वह स्वयं उसके अधीन हो जाता है—यही दशा जगत् में सर्वत्र प्रत्यक्ष देखने में आती है, क्योंकि क्रिया की प्रतिक्रिया अवश्य हुआ करती है।

तात्पर्य्य यह कि ऊँचा-नीचापन, सुख-दुःख, स्वाधीनता पराधीनता आदि कोई स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है—ये केवल व्यक्तियों और समाज के मन के भावों से उत्पन्न होते हैं। इसलिए ऊँचे-नीचे कर्म करने और भोग भोगने तथा स्वाधीनता पराधीनता के भेद भाव से, आपस में लड़ना झगड़ना मूर्खता है और इसी से सब क्लेश और बन्धन होते हैं। सच्चा निरद्वन्द्व सुख और स्वाधीनता, सबके साथ एकता का प्रेम रखने और अपनी आवश्यकताओं एवं आकांक्षाओं को कम करके उनको सर्वथा अपने वश में रखने में है।

किसी व्यक्ति या समाज में जब तक सतोगुण की प्रधानता रहती है तब तक वह राजस-तामस लोगों की अपेक्षा ऊँचा, सुखी और स्वतन्त्र ही रहता है; चाहे राजस-तामस प्रकृति के लोग उससे कितनी ही ईर्षा द्वेष करके लड़ें झगड़ें। और जिनमें रज-तम की प्रधानता होती है वे अपने राजस तामस भावों के रहते सात्विक लोगों की अपेक्षा नीचे, दुखी और

पराधीन ही रहते हैं। योग्यतम लोग ही संसार में (अयोग्य लोगों की अपेक्षा) अधिक टिक सकते हैं और जिनमें सतोगुण की प्रधानता है वे ही योग्यतम हैं। निर्बल सबल की खुराक है, यह प्राकृतिक नियम प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होता है और जिनके हृदय में एकता रूपी ईश्वर का जितना ही अधिक निवास है अर्थात् जिनमें आत्मशक्ति का जितना ही अधिक विकास है, उतने ही वे अधिक सबल हैं तथा जो एकता रूपी ईश्वर से जितने ही अधिक विमुख हैं अर्थात् जिनमें आत्मबल की जितनी ही कमी है वे उतने ही अधिक निर्बल हैं। इसलिए सुख शान्ति पूर्वक जीवित रहने की इच्छा रखने वालों को सात्विक आचरणों द्वारा एकता रूपी आत्मबल को बढ़ाना चाहिए।

जिस तरह गणित की इकाई (Unit) के योग (एकता से) दहाई बनती है, दहाई के योग से सैकड़ा, सैकड़ा के योग से सहस्र, सहस्र के योग से लक्ष, इसी तरह उत्तरोत्तर योग के बढ़ते-बढ़ते अनन्तता होकर सर्वत्र एकता हो जाती है—एक के योग से अनन्त और अनन्त में एक होता है—उसी तरह अखिल जगत की एकता प्राप्त करने के लिए एक व्यक्ति अपने स्त्री पुत्रादि नजदीकी सम्बन्ध के व्यक्तियों की एकता के योग से कौटुम्बिक एकता करे; एक एक कुटुम्ब दूसरे कुटुम्बों से एकता में जुड़कर सामाजिक एकता करे, एक-एक समाज दूसरे समाजों से एकता में जुड़कर देश की एकता करे और एक-एक देश दूसरे देशों से एकता में जुड़कर विश्व की एकता करे। इस तरह एकता के योग की बढ़ती हुई क्रिया द्वारा प्रत्येक व्यक्ति सारे विश्व से एकता करके अनन्तता को प्राप्त हो सकता है अर्थात् परम सुखी और पूर्ण स्वाधीन = जीवन मुक्त हो सकता है।

संसार के सारे झगड़े-रगड़े और नाना प्रकार के क्लेश मिटा कर वास्तविक सुख-शान्ति स्थापित करने एवं सच्ची स्वतन्त्रता प्राप्त करने का एक मात्र अचूक उपाय यही है।

ॐ तत् सत्

गायन

गीता सार

(राग भैरवी ताल कवाली)

मिल रहो सबों से यार, मजा येही जिन्दगानी का ॥ टेक ॥
बड़े भाग मानुष देह पाई, राग द्वेष में अगर गँवाई,
लख चौरासी बीच हाल होगा हैरानी का ।। मिल रहो० ॥१॥
एक ही राम जगत सारी में, पशु-पक्षी और नर-नारी में ।
छोड़ो रस्ता बैर भाव और खेंचा-तानी का ॥ मिल रहो० ॥२॥
दुखियों ऊपर दया जो रखता, सुखी जनों को मित्र समझता ।
मोद करे मन में सुनके यश हरिजन दानी का ॥ मिल रहो० ॥३॥
खल दुष्टों से करे किनारा, जो होवे भगवत को प्यारा ।
समता बुद्धि रखे, भला करता सब प्राणी का ॥ मिल रहो० ॥४॥
बोले सत्य वचन प्रिय हित के निर्मल सरल भाव हों चित के
हिंसा छल अभिमान करे नहीं काम गिलानी का ॥ मिल रहो ॥५॥
काम क्रोध के रहे न वश में, हर्ष शोक नहीं यश अपयश में ।
जीते ममता लोभ चिह्न यह सच्चे ज्ञानी का ॥ मिल रहो० ॥५॥
कारतब समस्त कर्म शुभ करना, अहङ्कार का दम नहीं भरना ।
जग में रहो निसङ्ग सार भगवत की बानी* का ॥ मिल रहो० ॥७॥
हर दम ध्यान प्रभू का धरिये, सब कुछ उसके अर्पण करिये ।
दूर करे दुःख द्वन्द्व पति लक्ष्मी † महारानी का ॥
मिल रहो सबों से यार, मजा यही जिन्दगानी का ॥८॥

ॐ तत् सत्

---

* श्रीमद्भगवद्गीता † प्रकृति

शुद्धि-पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
४	११	गु	गुं
५	१	तां	ता
"	१४	जिस तरह	जिस तरह कोई
"	२४	से नहीं	से ही नहीं
११	१३	व्यक्तित्व	व्यक्तिगत
१२	११	इन से	इनमें से
"	१८	पैर	पर
"	१९	पर	पैर
१८	५	सश्य	सशय
"	२१	ार	ङ्कार
"	"	व्यक्तित्व	व्यक्तिगत
२०	१६	बत तक	तबतक
"	१८	सक्त'	सक्ता
२८	१५	६९	५९
"	२४	करने इच्छा	करने की इच्छा
२९	१७	आधकार	अधिकार
३०	१४	कुर्त्तव्य	कर्त्तव्य
"	१९	आमय सव	आमयन्सर्वं
३१	१२	पो	परो
३२	१९	समम	समय
३३	५	से	में

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३२	१२	विद्यार्थों को	विद्यार्थों का
,,	,,	श्रेष्ठ	सबसे श्रेष्ठ
,,	१७	गुह्म	गुह्य
३६	२१	साध्य	साम्य
,,	२४	पुस्तक	पुस्तकें
४२	५	इनका	इनका कोई
४८	२४	युवकों	पुस्तकों
४९	४	आपस	आपस
४३	१८	किसने	जिसने
५८	२५	स्वामी में	स्वामी में
५६	२१	शरीर ही	इसी को
६४	७	शिक्षण	रक्षण-शिक्षण
६८	५	से	पर
,,	१२	अपस्था	व्यवस्था
७२	१८	स्थात	स्थित
७३	१३	के	से
७३	१३	हु	हुए
७४	४	हीती है	होती है
७४	१२	रिथर	स्थित
७५	१२	आत्मा में	आत्मा-परमात्मामें
,,	१५	याग	योग
८३	८	येतों	दहों
८७	३	प्रमाद	प्रसाद
,,	८	प्रसन्न और	प्रसन्न रखना और

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
८७	१५	वस्त्र सहित	वस्त्र रहित
८८	१५	काम	गर्व, काम
८६	१	विविध	त्रिविध
,,	२	स	स्
९१	११	स्त्री की	स्त्री को
९४	२५	वात्यसत्य	वात्सल्य
९५	२४	दहे के	दहेज के
१००	१८	मकर्डो	मकोड़ों
१०६	१३	शौकनी	शौकीनी
११६	१५	दूसरे की दबाने	दूसरे को दबाने
११९	११	बाकी नहीं रहती	बाकी रहती
१२०	२	आर	और
१२५	१७	स्याग्नि	स्यात्रि
१२८	१०	वृद्धि	बुद्धि
१३०	१०	आदि	आधि
१३२	११	३	१९
१३६	४	सच	सत्
,,	१४	अपेक्षा	उपेक्षा
१३८	२३	वर्ग	वर्ण
१४०	२५	विर्वाचित	निर्वाचित
१४२	१७	व	वे
,,	२४	वही	वहीं
१४४	९	उनकी अवज्ञा	अवज्ञा
१४५	१४	जोड़े नर	जोड़े के नर

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१५४	९	उसको	उनको
१५६	११	सय	सम
१५७	१	और तम रज	रज और तम
१५९	१२	मनुष्यों में आपस में	मनुष्यों में
,,	,,	मनुष्यों में भी	मनुष्यों में आपस में भी
,,	२६	करने की शक्तिविशेष	करने की विशेष
१६३	१६	सार	ससार
१६४	४	वियुक्तेसु	वियुक्तेसु
,,	,,	विषयान्द्रियैश्वरन्	विषयानिन्द्रियैश्वरन्
१६८	२	सभावना दीखे	सभावना न दीखे
१७०	१३	सभा	सत्ता
१७५	१४	करके	करते
१७६	२५	थे	श्रेष्ठ
१७८	१०	और और	और
१८२	१६	विषय	विषम
१८५	२४	न डरना न डराना	डरना डराना
१८६	१	द्वेष-का	द्वेष-का द्वेष
,,	१६	सदृश	उनके सदृश
१८९	२२	सवया	सधाय

सस्ता-साहित्य-मण्डल, अजमेर के

प्रकाशन

१–दिव्य-जीवन	।=)
२–जीवन-साहित्य (दोनों भाग)	१=)
३–तामिलवेद	॥।)
४–शैतान की लकड़ी	॥।=)
५–सामाजिक कुरीतियाँ	॥।)
६–भारत के स्त्री-रत्न (दोनों भाग)	१॥।–)
७–अनोखा !	१।=)
८–ब्रह्मचर्य विज्ञान	॥।–)
९–यूरोप का इतिहास (तीनों भाग)	२)
१०–समाज विज्ञान	१॥)
११–खद्दर का सम्पत्ति शास्त्र	॥।≡)
१२–गोरों का प्रभुत्व	॥।=
१३–चीन की आवाज़	।–)
१४–दक्षिण अफ्रिका का सत्याग्रह (दो भाग)	१।)
१५–विजयी बारडोली	२)
१६–अनीति की राह पर	।≡)
१७–सीताजी की अग्नि परीक्षा	।–)
१८–कन्या शिक्षा	।)
१९–कर्मयोग	।=)
२०–कलवार की करतूत	=)
२१–व्यावहारिक सभ्यता	।)॥
२२–अँधेरे में उजाला	।≡)
२३–स्वामीजी का बलिदान	।–)
२४–हमारे जमाने की गुलामी	।)
२५–स्त्री और पुरुष	॥)
२६–घरों की सफाई (अप्राप्य)	।)
२७–क्या करें ? (दो भाग)	१॥=)
२८–हाथ की कताई बुनाई (अप्राप्य)	॥=)
२९–आत्मोपदेश	।)

३०—यथार्थ आदर्श जीवन (अप्राप्य) ॥-)

३१—जब अंग्रेज नहीं आये थे— ।)

३२—गंगा गोविन्दसिंह (अप्राप्य) ॥=)

३३—श्रीरामचरित्र १।)

३४—आश्रम-हरिणी ।)

३५—हिन्दी-मराठी-कोष २)

३६—स्वाधीनता के सिद्धांत ॥)

३७—महान् मातृत्व की ओर— ।॥=)

३८—शिवाजी की योग्यता ।=) (अप्राप्य)

३९—तरंगित हृदय ॥)

४०—नरमेध ! १॥)

४१—दुखी दुनिया ॥)

४२—जिन्दा लाश ॥)

४३—आत्म-कथा (दो खण्ड) १)

४४—जब अंग्रेज आये (जप्त) १।=)

४५—जीवन-विकास अजिल्द १।) सजिल्द १॥)

४६—किसानों का बिगुल =) (जप्त)

४७—फाँसी ! ॥)

४८—अनासक्तियोग तथा गीता बोध ।)

४९—स्वर्ण-विहान (नाटिका) (जप्त) ।=)

५०—मराठों का उत्थान और पतन २॥)

५१—भाइ के पत्र— अजिल्द १॥) सजिल्द २)

५२—स्व-गत— ।=)

५३—युग-धर्म—ज़प्त १=)

५४—स्त्री-समस्या अजिल्द १॥।) सजिल्द २)

५५—विदेशी कपड़े का मुक़ाबला ॥=)

५६—चित्रपट ।=)

५७—राष्ट्रवाणी ॥=)

५८—इंग्लैण्डमें महात्माजी १)

५९—रोटी का

६०—दैवीसम्पद् ।=)

सस्ता-साहित्य मण्डल

के

मनन-योग्य ग्रंथ

1—दिव्य-जीवन
2—जीवन-साहित्य
3—तामिल वेद
4—अनीति की राह पर
5—कर्मयोग
6—स्त्री और पुरुष
7—आत्मोपदेश
8—स्वाधीनता के सिद्धान्त
9—आत्म-कथा
10—अनासक्तियोग
11—राष्ट्र-वाणी
12—रोटी का सवाल

मूल्य अन्दर देखें

तरुण-भारत-ग्रन्थावली—सं० १

अपना सुधार

"उद्धरेदात्मनाऽऽत्मान"
भ० गी० ५-६

"साहित्य-शास्त्री"
नर्मदाप्रसाद मिश्र बी० ए०,
"विशारद"

तरुण भारत ग्रन्थावली सं० १

अपना सुधार

[जान स्टुअर्ट ब्लैकी के "सेल्फकल्चर" के आधार पर]

लेखक

पं० नर्मदाप्रसाद मिश्र, विशारद, बी० ए०

प्रकाशक

तरुण-भारत-ग्रन्थावली-कार्यालय,

दारागञ्ज, प्रयाग।

चतुर्थ आवृत्ति] सं० १९८९ [मूल्य ॥=)
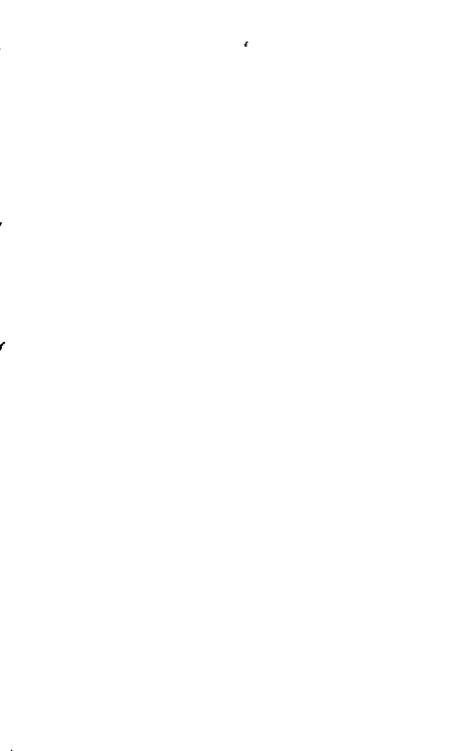
समर्पण

विद्वद्वर श्रीमान् प० मधुमङ्गल जी मिश्र

बी० ए० को,

उनके अनेक उपकार-भारों से अवनत लेखक-द्वारा

यह ग्रन्थ

सादर और सप्रेम

समर्पित

चार शब्द

प्यारे नवयुवकों, आप की "तरुणभारत-ग्रन्थावली" का पहला ग्रन्थ यह आप के हाथ में है। इस ग्रन्थ में आप को रिझानेवाली बहुतसी चटकीली-मटकीली बातें या अलौकिक घटनाएं नहीं मिलेंगी और नहीं आपकी ग्रन्थावली का यह उद्देश्य है। जैसा कि इस पुस्तक के नाम ही से प्रकट है, इसमें यह बतलाया गया है कि हम "अपना सुधार" कैसे करें।

यह तो आप जानते ही हैं कि बिना पहले "अपना सुधार" किये हम देश का सुधार, या समाज का सुधार, कैसे कर सकते हैं। और जो मनुष्य स्वय शुद्ध नहीं है उसको मानता कौन है— उसके उपदेश या आदेश को सुनता कौन है। महात्मा तुलसीदास के कथनानुसार —

पर-उपदेश कुशल बहुतेरे।
जे आचरहिं ते नर न घनेरे॥

अथवा, बकौल किसी फारसी कवि के कि "खुदरा फ़जीहत दीगरा नसीहत" वाली बात होगी। इस लिये पहले "अपना सुधार" आवश्यक है।

इस छोटे से ग्रन्थ मे प्रोफेसर ब्लैकी साहब ने, बड़े अच्छे ढग से, सिलसिलेवार, इस बात का विवेचन किया है कि एक नवयुवक "अपना सुधार" करके किस प्रकार अपनी मातृभूमि के लिये उपयोगी सिद्ध हो सकता है। उन्होंने बतलाया है कि

पहले 'मनुष्य' का मन, जिसके कारण उसका नाम 'मनुष्य' पड़ा है, शुद्ध और सस्कृत होना चाहिये। मन को, अपनी बुद्धि को, शुद्ध और परिपक्व करने के कौन कौन साधन हैं, सो उन्होंने पहले अध्याय में बतला दिये हैं। दूसरे में उन्होंने शरीर को लिया है। वास्तव में शरीर की ही स्वस्थता पर मन का भी स्वास्थ्य अवलम्बित है, क्योंकि जब तक मनुष्य में शारीरिक बल नहीं—उसकी आरोग्यता ठीक नहीं—तब तक उसमें मानसिक बल रहेगा कहा ? इसलिए मानसिक सुधार के बाद, ब्लैकी साहब ने शारीरिक सुधार के साधन, तथा उसका महत्त्व बतलाया है। बाद को उन्होंने आचार लिया है। प्यारे नवयुवको, बस सारी बातें इसी "आचार" पर अवलम्बित हैं। मनुष्य में चाहे जितना मानसिक बल हो, चाहे जितना शारीरिक बल हो, पर यदि उसके आचरण में गड़बड़ आया—वह आचार से गिरने लगा—तो समझो उसका सारा बल मिट्टी में मिला ! आचरण के ठीक रहे बिना कोई बल रह ही नहीं सकता। इसीलिये ब्लैकी साहब ने मानसिक सुधार और शारीरिक सुधार से अधिक आचार-विषयक सुधार को तरजीह दी है, अधिक महत्व दिया है। क्योंकि इसी पर मनुष्य का मानसिक और शारीरिक सुधार अवलम्बित है। आचरण को ठीक रखने के जो साधन प्रोफसर ब्लैकी ने बतलाये हैं वे भी यथार्थ में उपयोगी हैं।

अन्त में इतना कहना कम होगा कि इस पुस्तक में अपने सुधार के जो साधन बतलाये गये हैं वे अनुभव-सिद्ध हैं—अर्थात् ब्लैकी साहब ने स्वयं पहले उन पर अमल किया है तब उनको बतलाया है। इस लिये हम विश्वास है कि यदि हमारे नवयुवक इस पुस्तक के एक एक साधन को लेकर, उनका अभ्यास करेंगे

तो उन्हें सफलता अवश्य प्राप्त होगी और संसार में, आज जो जीवित रहने के लिए, घोर संग्राम हो रहा है उसमें विजय प्राप्त करने की शक्ति उनमें अवश्य आ जायगी।

नवयुवकों, पहले "अपना सुधार" करके अपनी माता की सेवा करने के लिए अपने को तैयार करो और तब फिर कार्य-क्षेत्र में कूदो।

आगरा,
श्रावण शुक्ला ७ सं० १९७२ } लक्ष्मीधर वाजपेयी

अनुक्रमणिका ।

—०—

जान स्टुअर्ट ब्लैकी

का

संक्षिप्त जीवनचरित्र

स्काटलेंड देश में ग्लासगो नाम का एक प्रसिद्ध शहर है। हमारे चरित्रनायक का जन्म वहीं पर, २८ जुलाई, सन् १८०९ ई० में, हुआ था। इनके पिता एबरडीन में गुमाश्ता थे। इसलिये इनकी प्रारम्भिक शिक्षा यहीं आरम्भ हुई। कुछ दिनों तक वहीं शिक्षा पाकर, दो वर्षों तक देश देश पर्यटन करते रहे। इसके पश्चात् इन्होंने कानून पढना शुरू किया, परन्तु पिता के आज्ञानुसार इस अभ्यास से इन्हे विवश होकर विरत होना पड़ा। इस समय इनका मन साहित्य की ओर झुका। साहित्य-सेवा में प्रसिद्धि प्राप्त करना इनके भाग्य में बदा था। १८३४ ई० में, इनका किया हुआ, जर्मन कवि गेटी के फास्ट (Faust) का अनुवाद प्रकाशित हुआ। यह अनुवाद बड़ी योग्यता से किया गया था। लोगों ने इसका खूब आदर किया। बस, फिर क्या था, इनका उत्साह बढने लगा। एक दो वर्षों तक ये सामयिक पत्रों में लेख आदि भेजते रहे। १८३९ ई० में ये एबरडीन के मेरीशल कालिज में लेटिन भाषा के अध्यापक नियुक्त हुए। १८५० ई० में एशीलस का अनुवाद इन्होंने प्रकाशित किया। इससे इनकी खूब वाहवाह होने लगी। दो वर्षों के बाद, ये एडिनबरा के विश्वविद्यालय में ग्रीक भाषा के अध्यापक नियत हुए। ३० वर्ष ये इस पद पर बड़ी योग्यता से काम करते रहे। ग्रीक भाषा के ये बड़े पक्षपाती थे। इस विषय पर इन्होंने कई लेख "वेस्टमिनिस्टर-रिव्यू" में प्रकाशित कराये। इनका कहना था कि इंगलेंड और स्काटलेंड के विश्वविद्यालयों

मे यह भाषा अवश्य ही पढाई जानी चाहिये । एथेंस जा कर इसे सीखने के लिये विद्यार्थियों को छात्रवृत्ति भी देना इन्होंने आरम्भ किया ।

आजन्म ये साहित्य-सेवा करते रहे । कई एक ग्रन्थ लिखे, कई कवितायें लिखीं, कई गीत बनाये । अन्तिम समय तक इन्होंने साहित्य-सेवा से मुँह नहीं मोडा । १८७३ ई० में इन्होंने "सेल्फकल्चर" ग्रन्थ की रचना की । ७ मई, सन १८९५ ई० में इनकी ससार-यात्रा पूरी हुई । एडिनबरा वालों के देखते देखते ये इस ससार से चल बसे । नश्वर शरीर पचतत्वों में जहा का तहा मिल गया ।

इनके लिखे ग्रन्थों में "सेल्फ-कल्चर" अर्थात्

"अपना सुधार"

का बहुत आदर है । इसे इन्होंने ६४ वर्ष की अवस्था में, जब इन्हें ससार का पूर्ण अनुभव हो गया था, लिखा था । नवयुवकों के लाभार्थ ही इसकी रचना हुई थी । इसका मुख्य उद्देश्य नवयुवकों के आचरण को सुधारना तथा कुमार्गगामी पथिकों को उचित मार्ग पर लाना ही है । इस उद्देश्य की पूर्ति में ग्रन्थकर्त्ता को कहा तक सफलता हुई है—इसके विषय में कुछ कहने की आवश्यकता नहीं है ।

बहुधा नीति-विषयक ग्रन्थ रूखे पाये जाते हैं, परन्तु इस ग्रन्थ में एक यह भी विशेषता है कि इसमें रूखेपन की झलक तक नहीं है । मन, शरीर तथा आत्मा से सम्बन्ध रखने वाले, व्यवहार में लाये जाने योग्य, उपदेशों के विवेचन से इस ग्रन्थ की उपयोगिता बहुत बढ गई है । हमारी समझ मे, इस ग्रन्थ को "नवयुवक-सखा" कहना कुछ अनुचित न होगा ।

अपना सुधार

मानसिक सुधार

"कुछ न कुछ ज्ञान प्राप्त करते रहना सदैव अच्छा होता है"

गेटा

(१) पुस्तकावलोकन

वर्त्तमान समय में शिक्षा विशेष करके पुस्तकों ही के द्वारा दी जाती है। इसमें किंचित् मात्र भी सन्देह नहीं कि ज्ञान-सम्पादन करने के लिये पुस्तकों से उपयुक्त सहायता मिलती है। उपयोगी कलाओं के अभ्यास करने में भी उनसे बहुत कुछ सहायता मिलती है। जैसे शिल्पकार आदि तद्विषयक पुस्तकों का ज्ञान रखकर अपनी कला में बहुत कुछ निपुणता दिखाते हैं। पुस्तकें इतनी उपयोगी होने पर भी, आत्म-सुधार का मौलिक एवं स्वाभाविक साधन नहीं कही जा सकतीं। और, मेरी समझ में तो, विद्या की उस शाखा में भी, जहाँ कि उनकी नितान्त आवश्यकता है, उन्हें 'ज्ञान-सम्पादन के मूल साधन' की उपाधि से विभूषित करना अतिशयोक्ति ही है। जो हो, पुस्तकें नवीन और मौलिक विचारों का स्वाभाविक स्रोत बहानेवाली शक्ति कदापि नहीं हैं। वे तो ज्ञान-सम्पादन के लिये केवल सहायक-मात्र हैं—कृत्रिम शस्त्र हैं। जिस प्रकार शस्त्र तब तक निरुपयोगी ही है जब तक वह वस्तु—वह

सामान, जिस पर शस्त्र चलाना है, पास में न हो—वह योग्यत जिसके द्वारा शस्त्र चलाना है, अपने में न हो। बस, ठी उसी प्रकार पुस्तकों को निरुपयोगी ही समझना चाहिये, ज तक कि मन पुस्तकों के द्वारा शिक्षा ग्रहण करने की योग्य न प्राप्त कर लेवे। पुस्तकें उस दूरदर्शक यन्त्र के समान जिसकी सहायता से अनेक अकल्पनीय एवं आश्चर्यजन अनुसन्धान किये जा सकते हैं, परन्तु इन यन्त्रों की शक्ति भरोसे पर चक्षु आदि ईश्वरदत्त यन्त्रों को निरुद्यम न बना देन चाहिये। पुस्तकें ज्ञान प्राप्ति का मूल और उपयुक्त मार्ग नह हैं। मूल मार्ग तो कुछ और ही है—अर्थात् जीवन, अनुभव मनन, भावना और कर्म। जब मनुष्य इन पर अपना लक्ष्य स्थिर करके ज्ञान-सम्पादन के मार्ग में पैर रखता है, तब पुस्तकें उसे बहुत कुछ सहायता पहुँचाती हैं, कई एक अभावो की पूर्ति करती हैं, बहुत सी त्रुटियों को दूर करती हैं। परन्तु व्यवहारिक ज्ञान के बिना, केवल पुस्तकों ही का आश्रय लेकर, उपर्युक्त मार्ग में दौड़ लगाना कठोर चट्टान पर सूर्य किरणों के गिरने तथा पानी बरसने के समान निष्फल है।

ज्ञान-सरोवर नीर अथाह अमित अति पावन।
एक बूँद का पान तृप्त कर सकै कभी मन?
फिरै नीर हिय बीच प्यास पूरी तब होवै।
करके वह अति अमल, मैल पल भर में धोवै॥

इस पद्य के अन्तर्गत विचार यद्यपि अलंकार से आच्छादित हैं, तथापि सर्वव्यापक सत्यता इसमें स्पष्ट रूप से झलक रही है। जिस प्रकार उस मनुष्य को, जिसने कभी किसी धातु का स्वप्न में भी दर्शन नहीं

किया है, केवल धातु विद्या विषयक ग्रन्थ पढ़ने से कुछ भी वैज्ञानिक और यथार्थ ज्ञान नहीं प्राप्त हो सकता है, उसी प्रकार उस मनुष्य को भी, जिसने अपना समस्त ज्ञान केवल पुस्तकावलोकन द्वारा ही उपार्जित किया है और जिसे इस प्रत्यक्ष संसार का कुछ भी अनुभव नहीं, केवल साहित्य एवं काव्य द्वारा, अथवा उसको, जिसने संगीत के मधुर एवं सुखद स्वरों का कभी रसास्वादन नहीं किया है, केवल संगीत-विद्या-विषयक व्याख्यानों द्वारा अथवा जिसको अपनी आत्मा पर श्रद्धा नहीं और जिसका जीवन स्वयं पवित्र नहीं, उसको केवल धर्मोपदेश-द्वारा कुछ भी यथार्थ ज्ञान नहीं प्राप्त हो सकता है। पुस्तकों के द्वारा जितना ज्ञान सम्पादित किया जाता है वह सब वक्र मार्ग से, अर्थात् प्रतिध्वनि और परावर्तन से किया जाता है। यथार्थ ज्ञान तो चिन्तन और मनन द्वारा ही होता है। बाह्य उपायों के अवलम्बन से जो कुछ ज्ञान प्राप्त होता है उसकी वृद्धि, विचार और मनन से, उसी प्रकार होती है जिस प्रकार वृक्ष अपनी जड़ों के द्वारा भूमि से खाद्य आदि खींचकर और पश्चात् उसका पूर्ण परिपाक करके वृद्धि पाता है।

(२) निरीक्षण

अत मैं सब नवयुवक विद्यार्थियों को दृढतापूर्वक परामर्श देता हूँ कि तुम लोग केवल पुस्तकों के वर्णन पर ही विश्वास न करके यथासम्भव वास्तविक निरीक्षण द्वारा अपना अभ्यास करो। वही पुस्तक वास्तव में उपयोगी है जिसके द्वारा निरीक्षण करना ज्ञात हो। निरीक्षण हमारी महत्वपूर्ण प्राथमिक शिक्षा का पथ प्रदर्शक होना चाहिये। परन्तु खेद है, इस ओर बहुत ही कम ध्यान दिया जाता है। प्राकृतिक विज्ञान (उदाहरणार्थ—रसायन-

शास्त्र, वैद्यक शास्त्र इत्यादि) विशेष उपयोगी हैं, क्योंकि इनसे, विविध उपयोगी एव मनोरञ्जक बातों के ज्ञान के सिवा, मनुष्यों को अवलोकन करने की शिक्षा मिलती है। बड़े आश्चर्य का विषय है कि हममें से अधिकाश लोगों को, ससार में जो वस्तुए मिलती हैं उनमें से बहुत सी, आखें खुली रहने पर भी, नहीं दिखाई देती हैं। इसका कारण यही है कि अन्य इन्द्रियों के सदृश, चक्षुरिन्द्रिय के भी सुधार की आवश्यकता रहती है। इस सुधार के अभाव से, और पुस्तकों का अत्यधिक आश्रय लने के कारण, यह इन्द्रिय मन्द हो जाती है, और अन्त में बिलकुल निकम्मी हो जाती है। अतएव विद्यालय और महाविद्यालय में वही शिक्षा मुख्य समझी जानी चाहिये जिससे नवयुवक प्रत्येक पदार्थ को विचारपूर्वक अवलोकन करना सीख सकें। इसी कारण वनस्पति-शास्त्र, प्राणि शास्त्र, खनिज-शास्त्र, भूगर्भ-शास्त्र, रसायन शास्त्र, स्थापत्य-विद्या और ललित कलायें बहुत ही उपयोगी हैं। देश भ्रमण करने से मनुष्य का ज्ञान भाण्डार, बहुत कुछ बढ़ सकता है। परन्तु जब तक मनुष्य को 'निरीक्षण-शास्त्र' के तत्वों का ज्ञान नहीं है, तब तक प्राकृतिक सौन्दर्य के भाण्डार, काश्मीर सदृश प्रदेशों, पहाड़ों, अथवा विदेशों में भ्रमण करने से विशेष लाभ नहीं हो सकता। पुस्तकों का अपरिमित ज्ञान, देश भ्रमण करते समय, 'अवलोकन-शास्त्र' के नियमों के ज्ञान के बिना, किसी काम का नहीं है।

(३) वर्गीकरण

अवलोकन करना अच्छा काम है। यथार्थ एव सूक्ष्म अवलोकन करना और भी अच्छा है। परन्तु ससार में विविध

भाति के अगणित पदार्थ हैं, और यदि कहीं वर्गीकरण—एक श्रेणी के समस्त पदार्थों को एक समूह में लाने का नियम—न ज्ञात होता, तो निरीक्षक शक्तियों की बड़ी दुर्गति होती। किस पदार्थ का अवलोकन करना और किसका न करना—इसका निर्णय करना बहुत ही कठिन हो जाता। परन्तु सौभाग्यवश यह अड़चन नहीं झेलनी पड़ती है। वर्गीकरण-नियम के ज्ञात होने से, प्रत्येक पदार्थ समूह, अथवा विद्या की प्रत्येक शाखा की उपयोगिता, सहज ही में मालूम हो सकती है। इस व्यवस्थापक नियम का आविष्कार करना मानवी बुद्धि के हाथ में है। और इसलिये ससार में सभी जगह वह वर्त्तमान है। सब पदार्थों के तत्व एक दूसरे से सादृश्य रखते हैं, परन्तु किसी पदार्थ में कोई तत्व अधिक है और कोई न्यून, इसीलिये प्रत्येक पदार्थ के गुण एक दूसरे से भिन्न हैं, और इसी तत्व परिमाण के द्वारा वस्तु-विभाग किया जाता है। अब विद्यार्थी को उचित है कि जब वह किसी पदार्थ को देखे तो सब से पहले वह एक दूसरे से पारस्परिक सादृश्य और भिन्नता का मिलान करे, क्योंकि जिस प्रकार प्रकाश के साथ छाया रहती है, उसी प्रकार प्रत्येक पदार्थ में सादृश्य के साथ भिन्नता भी अवश्य रहती है और यद्यपि सादृश्य और भिन्नता का वास्तविक मान कुछ भी नहीं है, तथापि स्मरण रहे कि, इन्हीं के आधार पर वर्गीकरण किया जाता है—इन्हीं के द्वारा पारस्परिक भिन्नता और सादृश्य की जाच की जाती है। समस्त पदार्थों का वर्गीकरण करना एक स्वाभाविक क्रम है। स्वाभाविक कहने से यह अभिप्राय है कि प्रत्येक पदार्थ अपनी वास्तविक उपयोगिता के अनुसार रखे जाते हैं। 'स्वाभाविक'

के विपरीत 'कृत्रिम' है। वर्णमाला के सब वर्ण, सुभीते के लिये, इसी क्रम में रखे जाते हैं। यह क्रम नये विद्यार्थियों को, जिन्होंने ज्ञान-सम्पादन के मार्ग में अभी हाल में पैर रखा है, चाहे भले ही उपयोगी हो, परन्तु सर्वथैव उसी पर अवलम्बित रहना यथार्थ-ज्ञान-प्राप्ति में बाधक है। नवयुवक को उचित है कि वह पदार्थों के सामान्य गुणों के अनुसार वस्तु विभाग करने का अभ्यास करे। पदार्थों के विशिष्ट गुणों का सूक्ष्मतया निर्णय करके, और उनके सामान्य गुणों का ज्ञान प्राप्त करके, उपरोक्त विभाग किया जा सकता है। साधारण जन फूलों का नाम-करण, उनके आभ्यन्तर सादृश्य को देखकर, करते हैं, उनके विभान्श्य पर ध्यान नहीं देते हैं। 'वाटर लिली' के नाम से स्पष्ट मालूम होता है कि वह 'लिली' का कोई न कोई प्रकार अवश्य होगा, परन्तु वास्तव में इससे उसका कुछ भी सादृश्य नहीं, इसमें एक भी सामान्य गुण नहीं। वनस्पति-शास्त्र-वेत्ता, जिसने वनस्पतियों के स्वभाव एवं उनके अङ्ग आदि का शुद्ध रीति से ध्यानपूर्वक निरीक्षण किया है, 'वाटर लिली' को एक अन्य ही वर्ग के फूलों में बतलावेगा और इसके लिये सन्तोषप्रदायक कारण भी बतलावेगा। रेल आदि का निर्माण होने से, आजकल देश भ्रमण करने मे बहुत सुविधा हो गई है, इसलिये मैं नवयुवकों को सलाह दूंगा कि जब कभी तुम किसी अन्य स्थान को जाओ, तो वहा का अद्भुतालय (अजायबघर) जितने बार हो सके, अवश्य ही देखो; और उस स्थान की प्रसिद्ध वस्तु को विशेष ध्यानपूर्वक देखो। बहुत से पदार्थों को अधूरा देखना उन्हें बिलकुल न देखने के बराबर है। अधूरा ज्ञान किसी काम

का नहीं। ऐसा ज्ञान रखने की अपेक्षा बिलकुल अज्ञान रहना अच्छा है।

(४) तर्कना

ज्ञान भवन की, वस्तु निरीक्षण एव वस्तु-वर्गीकरणरूपी नींव को खूब दृढ बनाकर, बुद्धि के द्वारा, पदार्थ के कार्यकारण-अनुसधानरूपी अन्य अङ्गों की वृद्धि की जाती है। उस समय हमें यह जानने की आवश्यकता पडती है कि अमुक वस्तु अमुक स्वरूप में क्यों और किस लिए है। सृष्टि-रचयिता एक है। उसी ने समस्त चराचर जीवों को उत्पन्न किया है। इसी लिए पदार्थों के रूप, वृद्धिक्रम, एव वर्ग विभाग में कुछ न कुछ सादृश्य अवश्य है। मनुष्य भी, ईश्वर-निर्मित होने के कारण, इस सादृश्य पर कुछ न कुछ विचार अवश्य करता है। जिस प्रकार ईश्वरीय शक्ति सारे विश्व को नियमित रूप से चलाती है, उसी प्रकार हमारी बुद्धि सब सासारिक कामों को मेल मिलाप से और पारस्परिक सहारा लकर, करने के लिए हमारे जीवन को, स्वभाव ही से, आदेश करती है। मन के उसी गुण को, जिसके कारण वह पदार्थों के सामान्य गुणों को अथवा सादृश्य को खोजता है, मानसशास्त्र जाननेवाले कार्य-कारण अनुसधान कहते हैं। साधारण जन किसी घटना के असगत सयोग को ही उस घटना का कारण समझते हैं। ऐसे बहुत कम लोग मिलेंगे जो केवल कार्य ही से सतुष्ट हो जाते हों—उसका कारण जानने की जिज्ञासा न रखते हों। इससे प्रतिपादित होता है कि किसी कार्य का कारण जानना, अथवा उसकी जिज्ञासा रखना, मनुष्यमात्र में स्वाभाविक है। इस सम्बन्ध में नवयुवकों को उचित है कि वे किसी असगत अथवा

अनुगत सयोग को ही यथार्थ कारण समझकर धोखा न खावें। भारतवर्ष के पश्चिमी किनारे पर अधिक पानी क्यों गिरता है, अथवा राजपूताने की मरुभूमि में कम क्यों बरसता है— इत्यादि बातों के कारणो को समझना कुछ बहुत कठिन काम नहीं है। परन्तु, आचारनीति, राजनीति आदि गहन विषयो के कारणों का अनुसन्धान करना बहुत कठिन है। इन विषयों की उलझन में पडकर, कभी कभी उनके कार्य और कारणों की सत्यता का पूर्ण निर्णय किये बिना ही कई बातों को स्वयसिद्ध मान लेना पडता है, क्योंकि ऐसे अवसर पर मनोविकारों की प्रबलता से विवेक-शक्ति निर्बल हो जाती है। इसीलिये मैं नवयुवकों को दृढतापूर्वक सलाह देता हूं कि यदि तुम लोग विवेक-शक्ति प्राप्त करना चाहते हो, तो कुछ काल तक प्लेटो के सिद्धान्तों के अनुसार अभ्यास करो। इससे यह लाभ होगा कि चित्त की स्थिरता बढ़ेगी। इस स्थिरता की आवश्यकता सब प्रकार के तर्क-वितर्क में पडती है। दूसरा लाभ यह होगा कि अनुभव-हीन पुरुषों को कार्य-कारण का ज्ञान प्राप्त होगा। परन्तु उन्हे केवल इतने ही ज्ञान से सतुष्ट न होकर उत्तरोत्तर ज्ञान-वृद्धि करनी चाहिये। क्योंकि गणितशास्त्र के सब सिद्धान्त कल्पना और अबाध्योपक्रम के आधार पर निर्धारित हैं। जो सिद्धान्त एक बार निकल चुका, फिर उसमें परिवर्तन नहीं हो सकता। इसी लिए गणित के अध्ययन द्वारा मनुष्य इतनी उन्नति नहीं कर सकता है कि वह विज्ञान, धर्म, राजनीति, आचारनीति आदि विषयों से सम्बन्ध रखनेवाले अपने नित्यनैमित्तिक कार्यों का भली भाति सम्पादन कर सके। ये कार्य एक दूसरे पर अवलम्बित रहते हैं और इनमें सदैव परि

वर्तन होते रहते हैं, जिनके यथार्थ कारण जानने मे बुद्धिमान लोगों की भी बुद्धि भ्रम भँवर में पडकर चक्कर खाती है। राजनीति, आचारनीति एव समाज-सम्बन्धी प्रश्नों के हल करने में हमारी विवेचना-शक्ति कुछ कम विश्वसनीय नहीं है। परन्तु यथार्थ बात तो यह है कि ये प्रश्न अधिक कठिन और व्यापक हैं। इनको यथार्थ रूप से हल करने के लिये मनुष्य को उचित है कि वह समदृष्टि से उन पर पूर्ण विचार करे, परिणाम निकालने में शीघ्रता न करे, और स्वार्थ आदि मनोविकारों के प्रबल वेग से अपनी बुद्धि को डवाडोल न होने दे। राजनीति-सम्बन्धी प्रश्नों के हल करने मे किसी के सफल न होने का कारण राजनीति के सिद्धान्तों की अस्थिरता नहीं है, किन्तु उसका यथार्थ कारण यही है कि इसमे या तो उसका यथार्थ ज्ञान नहीं अथवा स्वार्थ के वश होकर ठीक निर्णय नहीं कर सकता है।

तर्कशास्त्र और आत्म-विद्या

मैं अनुमान करता हूँ कि शायद अब कोई नवयुवक मुझसे पूछेगा कि विवेचना-शक्ति को परिपक्व बनाने के लिये, क्या तर्कशास्त्र और आत्मविद्या का व्यवस्था-पूर्वक अध्ययन करना चाहिये। इसके उत्तर में निवेदन है कि यदि तुमने ज्ञान प्राप्ति के स्वाभाविक मार्ग पर चलकर विचार करने और कारण अनुसधान करने का अभ्यास किया है, तो उपरोक्त शास्त्रों का प्रसन्नतापूर्वक अध्ययन करो। मनुष्य को 'चलना' तभी आता है जब कि प्रथम उसके पास पैर हों और तत्पश्चात् वह उनका यथोचित उपयोग करे। 'चलना' सीखने के बाद वह 'ड्रिल'-मास्टर के पास जाकर फौजी कवायद (जैसे, 'मार्च करना' आदि) सीख सकता है। शिक्षा पाये बिना केवल स्वाभाविक

चलने द्वारा उपर्युक्त बातें कभी नहीं सीखी जा सकती हैं यह कथन, यह रूपक, विचार करने के विषय में भी लागू है। सबसे पहिले विचारशक्ति पास में होनी चाहिये। इसके पश्चात यथोचित विचार करने की पद्धति सीखनी चाहिये। जब विचार करना आ जावे, तब किसी न्याय शास्त्र-निपुण पुरुष के पास जाकर सूक्ष्म और यथार्थ विचार करना सीखना चाहिये। यदि इस प्रकार अभ्यास किया जावे, तो इसमें सदेह नहीं, तर्कशास्त्र का अध्ययन बहुत उपयोगी हो सकता है। गणित के सदृश, यह शास्त्र भी निरी कल्पना के आधार पर स्थित है। और इसीलिये यदि कोई मनुष्य केवल तर्कशास्त्र ही का अध्ययन करके यह आशा करे कि जीवन के घोर समाम में सफलता प्राप्त करने में उसे इससे बहुत सहायता मिलेगी, तो उसकी यह आशा निस्सन्देह बिलकुल ही व्यर्थ है। जिस प्रकार केवल शस्त्रशास्त्र में निपुण होने से कोई मनुष्य प्रताप अथवा शिवाजी के समान देश-भक्त नहीं हो सकता, उसी प्रकार केवल तर्कशास्त्र के सिद्धान्तों से भली भाँति अभिज्ञ होने से विचारवान् होना असम्भव है। वास्तव में यही हाल समस्त प्रकार के शास्त्रों का है। केवल व्याकरण जानकर ही कोई मनुष्य व्यास के समान सुलेखक नहीं हो सकता है और न छन्दशास्त्र जान लेने ही से कालिदास के समान सुकवि हो सकता है। सृष्टि निरीक्षण, अनुभव आदि के द्वारा ज्ञान-भंडार प्रपूर्ण होने के पश्चात् व्याकरण, छन्द निरूपण अथवा न्याय-शास्त्र आदि के अध्ययन-द्वारा कुछ लाभ हो सकता है। अन्यथा नहीं। केवल इन्हीं के अध्ययन-द्वारा कोई मनुष्य सुविचारवान् नहीं हो सकता और न सकीर्ण हृदय उदार ही हो सकता है। प्रचण्ड मानसिक शक्ति, सार्व

जनिक सहृदयता, सूक्ष्म निरीक्षण और विविध भांति का अनुभव तर्कशास्त्र से कई गुणा बढ़कर उपयोगी है, परन्तु इस से यह न समझना चाहिये कि तर्कशास्त्र नितान्त निरुपयोगी है। नहीं, वह उपयोगी अवश्य है—इसमें सन्देह नहीं। तर्कशास्त्र सुविचार-नद के प्रवाह को उत्पन्न करनेवाली शक्ति नहीं है, वह तो प्रवाह को केवल उचित मार्ग पर लानेवाली शक्ति है। विचार करने में तर्कशास्त्र उतना ही उपयोगी है जितनी शरीर-संस्थान विद्या, चित्रविद्या में है। तर्क-शास्त्र के जानने से वाद-विवाद विषयक भूल-चूक शीघ्र पकड़ में आ जाती है। परन्तु, जिस प्रकार पनचक्की जल-प्रवाह-द्वारा चलती है, ठीक उसी प्रकार यथार्थ ज्ञान-प्राप्ति आन्तरिक विचार शक्ति-द्वारा होती है, न कि तर्कशास्त्र द्वारा।

आत्मविद्या का भी यही हाल है। इससे दो लाभ हैं। पहला लाभ मानवी शक्तियों की सीमा का ज्ञात होना है, जिससे घमण्ड पास नहीं फटकता है। उससे यह भी ज्ञात होता है कि यह संसार विशाल भूमि है, जिसके विस्तार का हमें पहले कभी स्वप्न में भी ध्यान नहीं था। हमारी शक्तियाँ परिमित हैं। सब बातों का पता लगाना हमारी शक्ति से बाहर है। इसी लिये हमें उचित है कि हम इन बातों की उलझनों में न पड़कर अपने को कर्तव्य-परायण बनावें। पक्षियों की भाँति हवा में उड़ने की अपेक्षा पृथ्वी पर पैदल चलना अच्छा है। नहीं तो वही दशा होगी जो इकारस (Icarus)* की हुई थी। दूसरे जीवों का अनुकरण करने तथा अपनी शक्ति के बाहर कामों को करने से यही दशा होती है। अत उचित है कि मनुष्य

* मानस (Minos) की क्रोधाग्नि से जीवित बच भागने के लिये

अपने सामर्थ्य के बाहर कामों को न करके सासारिक कामों के करने तथा अपने कर्तव्य के पालन में तत्पर हो। आत्मविद्या से दूसरा लाभ यह है कि उससे सत्यता का, जो सब विद्याओं का मूल है, यथार्थ ज्ञान प्राप्त होता और उसकी वृद्धि होती है। तर्कशास्त्र की उपयोगिता के विरुद्ध, आत्म विद्या एक ऐसी विद्या है जिसकी आवश्यकता ससार के व्यवहारिक कार्य्यों में होती है और जिसके द्वारा निर्विकार, अविनाशी एव सर्वव्यापक तत्व का बोध होता है। प्रत्येक शास्त्र में किसी एक विषय का वर्णन रहता है, उदाहरणार्थ—वनस्पति-शास्त्र में वनस्पतियों, धातु विद्या में धातुओं, पदार्थ-विज्ञान में पदार्थों और उनके गुण, धर्म, आदि से सम्बन्ध रखनेवाली अन्य बातों का। परन्तु, आत्म विद्या एक ऐसी विद्या है जो किसी एक विद्या-विशेष से सम्बन्ध न रख कर, सब विद्याओं के सिद्धान्तों के मौलिक और सामान्य तत्व का प्रतिपादन करती है। इसीलिए आत्मविद्या ब्रह्म-विद्या से विशेष सम्बन्ध रखती है। अरस्तू के कथनानुसार आत्मविद्या और ब्रह्म-विद्या सहचरी हैं। निरपेक्ष, स्वयस्थित, स्वयशक्तिमान् एव स्वतन्त्र ईश्वर पर विश्वास रखने से कठिन से कठिन प्रश्न भी हल हो जाते हैं। इस पर सब तत्ववेत्ताओं का अब तक अटल विश्वास चला आ रहा है। वर्तमान समय को देखकर कहना पड़ता है कि आत्म-विद्या का अध्ययन नितान्त आवश्यक है,

---

वह प ख लगाकर पक्षियों की भाँति उड़ा। उड़ता उड़ता वह बहुत ऊँचा चढ़ गया; परन्तु दुर्भाग्य स सूर्य की गर्मी के कारण, मोम, जिसस पख चिपकाये गये थे, पिघल गया, पङ्ख अलग हो गये और वह इकेरियन समुद्र में गिर पड़ा। तभी से उस समुद्र का नाम 'इकारियन सी' पड़ गया है।

क्योंकि पदार्थ विज्ञान-विषयक अनेक आश्चर्यजनक आविष्कारों को देखकर आजकल बहुत से मनुष्यों के मन में यह विश्वास जमने लगा है कि पदार्थविज्ञान आदि अनात्मीय विद्याओं में ही सारा ज्ञान कूटकूटकर भरा है, इन्हीं के अध्ययन से हम सांसारिक समृद्धि की सामग्री एकत्रित कर सकेंगे। और इस भ्रमयुक्त विश्वास के भरोसे पर ही कई मनुष्यो की प्रवृत्ति उपर्युक्त विद्याओं के अध्ययन की ओर ही गई है। परन्तु, स्मरण रहे कि किसी पदार्थ के बाह्यरूप को देखकर, उसकी उपयोगिता का निर्णय करना भ्रममूलक है, क्योंकि कार्य-कारण-अनुसधान, तथा प्रकृति की एकरूपता आदि के मूल सिद्धान्तो से, जिनके आधार पर सब विद्याएँ खडी हुई हैं, मालूम होता है कि मनुष्य ने पहले इन्हीं सिद्धान्तों को सीखा था। और दूसरी बात यह है कि अनात्मीय विद्याओं के द्वारा केवल कार्य-क्रम ही मालूम होता है —कारण का कुछ पता नहीं लगता है। इसलिये सम्भव है कि कोई मनुष्य अग्रगामी कार्य ही को अनुगामी कार्य का कारण समझ बैठे। इस प्रतिपादन से यह बात घटित होती है कि पदार्थ-विज्ञान आदि के नियम वास्तव में नियम न होकर केवल कार्य-क्रम-सूचक हैं। ऊपर कहा जा चुका है कि पदार्थविज्ञान से कार्य का कारण नहीं मालूम होता है, परन्तु याथार्थ में, आदि-कारण का अनुसधान करना इन विद्याओं के लिये केवल अनधिकार चर्चा है। यह काम किसी अन्य विद्या (अर्थात् आत्मविद्या) का है। इसमें विश्वनिर्माता एव सर्वव्यापी परमेश्वर को सब कार्यों का कर्ता मानना पडता है। सब से उत्तम उपाय यह है कि नवयुवक पाठ-शाला में पदार्थविज्ञान और ब्रह्मविद्या दोनों का अध्ययन करें।

इनकी सत्यता एव तद्विपयक निज योग्यता का प्रमाण उसे आगे मिलेगा। तब फिर उसे सर्वशक्तिमान ईश्वर पर वैसा विश्वास हो जायगा जैसा शिशु का जननी के प्रति।

(६) कल्पना-शक्ति

मन का एक और व्यापार, जिसके लिये विशेष सुधार की आवश्यकता है, 'कल्पनाशक्ति' है। मैं विश्वासपूर्वक कह सकता हूं कि शिक्षक और विद्यार्थी दोनों ही इस शक्ति के सुधार के महत्व को नहीं जानते। केवल यही नहीं, कोई कोई मनुष्य तो ऐसे भी मिलेंगे जो इसे नितान्त तुच्छ समझते हैं। वे समझते हैं कि कल्पना का सम्बन्ध केवल कल्पित बातों ही से है, सत्य बातों से उसका कुछ सम्बन्ध ही नहीं। और इसी लिये विद्यार्थी को, जिसका मुख्य उद्देश्य यथार्थ ज्ञान सम्पादन करना है, यह शक्ति नितान्त निरुपयोग जान पड़ती है। परन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है। इस बात को सभी कोई जानते हैं कि बड़े बड़े तत्व-वेत्ताओं ने अपनी प्रखर कल्पना शक्ति के द्वारा ही नवीन वैज्ञानिक बातें ढूँढ़ निकाली हैं। गेटी* के वनस्पति शास्त्र एव अस्थि विद्या विषयक नवकल्पित आविष्कार इस कथन की पुष्टि के लिये प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। बुद्धि और तर्क के बताये हुए उचित मार्ग पर न चलकर, स्वेच्छानुसार चलने से ही कल्पनाशक्ति विज्ञान की विरोधिका होती है। अन्यथा, न्यायोचित मार्ग पर चलने से वह विज्ञान की विरोधिका नहीं, वरन अच्छी सहायका सखी है। इस शक्ति से केवल कवि ही को सहायता नहीं

---

* गेटी जर्मनी देश के १८ वीं शताब्दीवाले लेखकों में सब से श्रेष्ठ माना जाता है। वह महान् शक्तिसम्पन्न था। समालोचक, कवि तत्ववेत्ता, नाटककार—सभी की हैसियत से उसने बड़ा नाम कमाया है।

मिलती है, किन्तु इतिहासलेखक और व्यावहारिक विद्याओं के आचार्यों को भी बहुत सहायता मिलती है। इतिहास-लेखक इतिहास-सम्बन्धिनी समस्त घटनाओं का पूरा पता नहीं पा सकता है और इसी लिये वह कुछ घटनाओं को जानकर कल्पनाशक्ति की शरण लेता है और उसकी सहायता से सम्पूर्ण इतिहास को बड़ी सुन्दरता के साथ गढ़ता है। सभी प्रकार की कल्पित आख्यायिकाओं और गल्पों में, निस्सन्देह, कुछ न कुछ उपयोगिता अवश्य है। कल्पनाशक्ति को उन्नत बनाने मे इनसे बहुत कुछ सहायता मिलती है, परन्तु यदि कहीं ये कपोल-कल्पित आख्यायिकाएँ न पढी जाकर ऐतिहासिक उपन्यास आदि पढे जावें, तो फिर लाभ का पूछना ही क्या है। किसी कल्पित उपन्यास को इस आशा से पढना, कि उसके द्वारा हमें कुलीन पुरुषो के पवित्र आचरण का उदाहरण मिलेगा, हमारा आचरण सुधरेगा, अथवा उसके पढ़ने मे हमें आनन्द प्राप्त होगा, व्यर्थ है। पृथ्वीराज, दुर्गावती, शकराचार्य, हरिश्चन्द्र, बेन्जमिन फ्रेंकलिन, आदि महापुरुषों के—जिन्हों ने अपने समय के इतिहास को विभूषित किया है, जिनके कारण इतिहास को गौरव प्राप्त हुआ है, उनके जीवनचरित्र पढने से जितना लाभ और विनोद होता है उतना अत्युत्तम उपन्यास अथवा मनोहारिणी, मनो मुकुल-विकासिनी कविता के पढने से नहीं होता है। कविता के पाठ स सभी मनुष्यों के हृदय की कली विकसित नहीं होती है, परन्तु इतिहास-सम्बन्धिनी असाधारण घटना प्रत्येक मनुष्य के रोम रोम को प्रफुल्लित करने की सामर्थ्य रखती है। पहला लाभ तो यह है कि इसके द्वारा हमें इतिहास का ज्ञान प्राप्त होता है, और दूसरा लाभ यह है कि हमें अपना आचरण किस तरह बनाना चाहिये, जीवन-

यात्रा किस पथ पर चलकर करनी चाहिये, इसका ज्ञान प्राप्त होता है। कल्पनाशक्ति की यथेष्ट उन्नति चाहनेवालों को कोई उपन्यास अथवा जीवनचरित्र केवल आनन्द ही के लिये न पढ़ना चाहिये; किन्तु उसे इस प्रकार पढना चाहिये—हृदय पर उसका इतना प्रभाव बैठना चाहिए—कि वह दृश्य स्वेच्छानुसार आँखों के सामने फिर उपस्थित किया जा सके। इस प्रकार पढने ही से इस शक्ति की उन्नति हो सकती है, अन्यथा नहीं। जब तक किसी पुस्तक का वर्णन अथवा दृश्य आँखों के सामने, सविस्तर, ज्यों का त्यों, न झूलने लगे, तब तक उसका पिंड न छोड़ना चाहिये, उसे फिर फिर पढ़ना चाहिये। कई मनुष्य बड़ी डींग हाँका करते हैं, "हम विलायत गये थे, हमने काश्मीर देखा है, हमने अमुक वस्तु देखी है, इत्यादि।" परन्तु खेद है, ये लोग एक सडी सी वस्तु अथवा दृश्य का वर्णन नहीं कर सकते हैं। दूसरों से वर्णन करने की कौन कहे, वे स्वय अपने को ही उसका वर्णन नहीं सुना सकते हैं—वह दृश्य अपनी आँखों के सामने नहीं ला सकते हैं—इसी तरह कई मनुष्य ऐसे भी मिलते हैं जिन्होंने अनेक पुस्तकों को आद्योपान्त पढ़ डाला है, केवल पढ़ ही नहीं डाला है, कई वाक्या को तोते की तरह रट डाला है, परन्तु वे एक भी मनोहर दृश्य को, जिसे उन्होंने पुस्तक रूपी मैदान में एक बार देख लिया है, अवकाश के समय, पुन ध्यान में लाकर अपना मनोरञ्जन नहीं कर सकते, और न विपत्ति के समय किसी महात्मा की सहनशीलता का स्मरण कर धैर्य धारण कर सकते हैं। इसलिये नवयुवको। जब कभी तुम किसी प्रसिद्ध पुस्तक का एक परिच्छेद, अथवा कुछ पृष्ठ, पढ़ चुको, तब इस बात की जाच करो कि इन पृष्ठों के पढ़ने

से हमारे हृदय-पटल पर कितना प्रभाव जमा है, हमारे मन में किन किन संस्कारों की सृष्टि हुई है, हमने क्या क्या शिक्षा ग्रहण की है, हमारे ध्यान भवन में जिन पदार्थों ने प्रवेश किया है वे सब सुघड़ और सजीव हैं या नहीं। जब तुम इतना स्मरण कर सको कि अमुक घटना अमुक प्रकार हुई थी, तभी समझना चाहिये कि तुमने पुस्तकावलोकन-द्वारा अपने ज्ञान-भण्डार की कुछ वृद्धि की है।

(७) सौन्दर्य-निरीक्षण-शक्ति

थोडी बहुत कल्पनाशक्ति सभी लोगों को प्राप्त रहती है, परन्तु यथार्थ में कल्पनाशक्ति वह शक्ति है जिसके द्वारा हमें सौन्दर्य्य का बोध अथवा अनुभव होता है। जिस प्रकार किसी कुरूप, परन्तु दृढ, मकान में रहकर मनुष्य अपने दिन काट सकता है, उसी प्रकार इस शक्ति से पूर्णत सम्पन्न न रह कर भी, सौन्दर्य्य की ओर प्रवृत्ति न रखकर भी, मनुष्य अपना सांसारिक काम भली भांति चला सकता है, परन्तु सुन्दर तथा सुथरे घर के मिलने पर कोई मनुष्य कुरूप तथा गन्दे घर में रहना नहीं पसन्द करता है। अत यदि मनुष्य संसारक्षेत्र में अवतीर्ण होने का वास्तविक लाभ उठाना चाहता है—यदि ईश्वरदत्त समस्त शक्तियों का पूर्ण विकास किया चाहता है—तो उसे चाहिये कि वह सौन्दर्य्य-देवी की उपासना करे। इन्हीं महारानी की अनुकम्पा से कल्पनाशक्ति पूर्ण रूप से विकसित होगी। यदि हमारा यह कथन, कि केवल पुस्तकाध्ययन-द्वारा बुद्धि पूर्णतया उन्नत नहीं हो सकती, सत्य है, तो हम निश्चयपूर्वक कह सकते हैं कि केवल ज्ञानप्राप्ति द्वारा मनुष्य इस संसार में आने का बड़ा उद्देश्य पूर्ण नहीं कर सकता है।

इस उद्देश की पूर्ति करने के निमित्त अन्य उपायों का अवलम्बन करना भी आवश्यक है। प्रसिद्ध जर्मन कवि गेटी का कथन है, "कुछ न कुछ ज्ञान प्राप्त करते रहना सदैव अच्छा होता है।" इसका यह मतलब नहीं है कि किसी भी प्रकार का ज्ञान क्यों न हो, उसका सम्पादन करना अच्छा ही होता है। नहीं, केवल उसी ज्ञान का सम्पादन करना बुद्धिमानों का काम है, जिसके भविष्य में उपयोगी होने की सम्भावना हो और जो सहज ही प्राप्त हो जाय, क्योंकि सदैव "अत्युत्तम" ज्ञान अलभ्य है। और जिसे हम बुरा कहते हैं और जो हमेशा हमारी पहुँच के भीतर रहता है, स्मरण रखना चाहिये, वह नितान्त निस्सार नहीं है, उसमें "उत्तमता" का कुछ न कुछ अंश अवश्य है। अत उससे घृणा करना उचित नहीं। नवयुवक को चाहिये कि वह नाना प्रकार के ज्ञान की प्राप्ति की ओर पहिले अपना लक्ष्य न ले जाय। यदि वह चाहता है कि प्राकृतिक सौन्दर्य्यरूपी आदर्श यात्री उसके स्मृति-पथ पर आवागमन का अधिकार प्राप्त कर लेवे, तो उसे स्वयं उस प्रकार का यात्री बनने का प्रयत्न करना चाहिये। इसीलिये कविता, चित्रविद्या, संगीत और ललित कलाओं का, जिनका मुख्य कार्य्य उदारता एवं सुन्दरता की मूर्त्ति का यथार्थ स्वरूप दिखलाना है, अभ्यास करना सभीके लिये आवश्यक है। जिस मनुष्य ने अपनी बुद्धि और इच्छा शक्ति की उन्नति कर ली है, वह निस्सन्देह संसार के कई कार्य्यों को— यथा, सैनिक, जेलर, पुलीस आदि के कर्त्तव्यों को, सफलतापूर्वक कर सकता है, परन्तु ऐसे कठोर, रूखे, दुराग्रही, हठीले, लड़ाकू, निर्लज्ज गर्वित मनुष्य को कोई प्यार की दृष्टि से नहीं देखता है, परन्तु यदि वही मनुष्य अन्य शक्तियों के समान, सौन्दर्य्य

निरीक्षण शक्ति की भी उन्नति कर ले, तो वह उपर्युक्त विशेषणों को अलग कर लोकप्रिय बन सकता है और समाज को अकथनीय लाभ पहुँचाता हुआ चारों ओर से निर्भय होकर, जीवन यात्रा कर सकता है। इस शक्ति के सुधार के निमित्त उसे प्रत्येक रमणीक पदार्थ को अवलोकन करते हुए सामग्री एकत्रित करना उचित है। यदि शहर में कोई नवीन भवन निर्माण किया गया है, तो वहा जाकर उसे देखना चाहिए। यदि सुन्दर चित्रों को देखने का अवसर मिले, तो अपने काम-काज में निमग्न रहकर उस अवसर को हाथ से न जाने देना चाहिये। यदि अधिक समय न मिल सके, तो थोड़े ही समय के लिये जाकर देखे, पर देखे अवश्य। और न सही, तो उनकी मनोहारिणी झलक ही देख ले। "सरकस" को केवल बच्चों के मनोविनोद की सामग्री न समझकर उसे भी देखे। असाधारण शक्ति, मानवी अवस्था का आश्चर्यजनक लचीलापन आदि भी देखे। मानसिक शक्तियों को पूर्णरूप से उन्नत करने के लिये मनुष्य को सुन्दर और महान् वस्तुओं की प्रशंसा करने की आदत डालनी चाहिये। इसी प्रशंसा के द्वारा अपने को प्रशंसनीय बनाया जा सकता है। यदि कोई मनुष्य प्रशंसनीय पदार्थों की प्रशंसा नहीं करता तो इससे यह न समझना चाहिये कि विश्व में वैसे पदार्थों का अभाव है, किन्तु इससे उसके हृदय की संकीर्णता और बुद्धि की अल्पता का पता लगता है। उत्तम रत्नों के संग्रह द्वारा अपने ज्ञान भाण्डार को विभूषित करने के इच्छुक नवयुवक को दो दोषों से बचना चाहिये। पहिले तो, उसे परछिद्रान्वेषण से दूर रहना चाहिये। और दूसरे, उसे किसी भी पदार्थ की, चाहे वह कितना ही प्रशंसनीय क्यों न हो, कभी बड़ाई न

करने की शपथ न खा लेनी चाहिये। वृद्ध विश्वविरोधी के मुँह से, जिससे चिता मुँह फाड़कर कहती है कि—"बहुत जा चुके बूढ़े बाबा, चलिये मौत बुलाती है। छोड़ सोच अब मिला मौत से जो सब सोच मिटाती है"—जिसका पेशा दूसरों का निन्दा करना ही है, जो दो दिन के बाद चिता पर जानेवाला है. उसमें पर-निन्दा के शब्द सुनना उतना नहीं खटकता है जित होनहार नवयुवक के मुँह से "छोटे मुँह बड़ी बात" सुनकर ये शब्द अक्षम्य हैं; इनके लिये कभी क्षमा प्रदान नहीं की ज सकती। हमारे कहने का यह मतलब कदापि नहीं है कि दो का वर्णन करना सर्वथा बुरा है, उससे कुछ लाभ ही नहीं नहीं, योग्य एव अनुभवी समालोचकों का दोष प्रदर्शि करना बहुत लाभदायक है, परन्तु अनुभव-हीन नवयुवकों वे जिन्होंने समार हित कुछ भी नहीं किया, दोष-कथन कुछ भी लाभ नहीं। नवयुवक, कुरूपता और दोष को देखकर, सब से पहिले सुन्दरता और गुण को देखना सीखे सच्ची समालोचना करना बड़ी बुद्धि और अनुभव का काम है युद्ध करने की रीति अनुभवी योद्धा को छोड़कर और को नहीं बता सकता है। प्रत्येक विषय पर मनुष्यों की भिन्न भिन सम्मति रहती है। किसी की सम्मति कुछ और किसी का कुछ। अपनी अपनी अलग सम्मति रखना कुछ बुरी बात नहीं है, परन्तु अनुभवहीन नवयुवकों को अपनी सम्मति दूसरों पर प्रगट करना उचित नहीं है। इससे लाभ होना तो एक ओर रहा, प्रत्युत हानि होने की सम्भावना है। सम्भव है, ऐसा करने से सर्वसाधारण धोखे में आ जायँ और वह नवयुवक समालोचक अभिमानी हो जाय।

ऊपर कहा जा चुका है, प्रकृति की सुन्दर और महान वस्तुएँ और विविध कलाएँ कल्पना-शक्ति-वर्धक हैं। हास्य-जनक पदार्थों से भी इस काम मे बहुत कुछ सहायता मिल सकती है। हँसने से बहुत लाभ होत हैं। चित्त का दु:ख, चिन्ता आदि मल, हँसी के रूप में बाहर निकलता है। मुसकराने से भी वही लाभ होता है, परन्तु इसमें इतनी बात अवश्य है कि चिन्ता आदि धीरे धीरे दूर होती है। अतएव जो मनुष्य हँस नहीं सकता, जिसे 'न हँसने' का रोग हुआ है, समझना चाहिये वह बड़ा अभागा है। ससार-सागर गम्भीरतारूपी जल से भरा हुआ है। अहर्निश हँसी द्वारा भी कोई पुरुष उसके पास नहीं जा सकता—बड़प्पन नही प्राप्त कर सकता। 'अकबर और बीरबल' के चुटकुले समय समय पर पढने से वही आनन्द आता है जो भोजन में मसाला पड़ने से। परन्तु बहुत मसाला डालने से अथवा मसाला ही ममाला खाने से सारा मजा चौपट हो जाता है। नवयुवक को चाहिये कि वह अपने ज्ञान-भाण्डर में सौन्दर्य की विविध मूर्तियों का सग्रह करे। दिन-रात हँसी-मजाक की बातों में पड़ना उचित नहीं है। सभी पदार्थों में ऐब ढूँढना—सभी को देखकर हँसना—इससे बढकर हृदय की और क्या सकीर्णता हो सकती है! दोषों को देखने की अपेक्षा गुणों को देखना अधिकतर कठिन होता है; उदाहरणार्थ, किसी लँगड़े मनुष्य को देखते ही विदित हो जायगा कि उसमें एक अवयव का अभाव है, परन्तु उसके गुणों की जाँच करने के लिए बुद्धि और समय की आवश्यकता है। कौतूहलवर्धक उपन्यास, हास्यजनक चुटकुलों आदि को, अवकाश के समय, मनोरञ्जन के लिये पढ़ना कुछ बुरा नहीं है, परन्तु ललित कलाओं का अभ्यास

इसके याद करने में कृत्रिम सम्बन्ध बहुत उपयोगी है, क्योंकि एबीसडोस और एशिया दोनों नाम 'ए' वर्ण से आरम्भ होते हैं। पर केवल कच्चे गुरु ही इस शिक्षापद्धति का अनुकरण करेंगे। विज्ञ गुरुजन स्वाभाविक सम्बन्ध से काम लेंगे। कृत्रिम सम्बन्ध सिखाने से विद्यार्थियों का मन व्यर्थ चिह्नों से भर जाता है, जिससे अन्य शक्तियों की उन्नति में बाधा पड़ती है। इतिहास में घटनाओं का तिथि-काल स्मरण रखने का सबसे उत्तम उपाय यही है कि महान् पुरुषों का सम्बन्ध और समय याद कर लिया जावे। उदाहरणार्थ —जब सुकरात (साक्रेटीस) को विषपान कराया गया था तब प्लेटो (अफलातून) की अवस्था १६ वर्ष की थी और प्लेटो का शिष्य अरस्तू (अरिस्टाटल) मेसिडन (मकदूनिया) के राजा फिलिप,, जिसने भारत के एक भाग को अपने अधीन करके अपनी और यहा की भाषा को एक कर दिया था, उसके सुविख्यात लडके का शिक्षक था। (६) मनुष्यकी स्मरणशक्ति चाहे कितनी ही तीव्र क्यों न हो, उसे उचित है कि वह स्मरणीय बातों को एक नोट-बुक में अवश्य लिख लेवे। इसमें सन्देह नहीं, कागज पर लिखी हुई बातों के पढ़ने से स्मरण शक्ति निर्बल हो जाती है, परन्तु ऐसा करने से एक बड़ा भारी लाभ यह है कि आवश्यक बातें, समय पर, विना कठिनाई के मिल सकती हैं। अतएव विद्यार्थियों को पुस्तकों के बीच बीच कोरे पन्ने लगा लेने चाहिए और स्मरणीय बातों की एक सूची तैयार कर रखना चाहिए, ताकि प्रयोजनीय बातें समय पर विना अड़चन के मिल जावें। यदि रामायण तथा महाभारत की कथाएँ सुनानेवाले पण्डित लोग अपनी पोथियों के प्रत्येक पत्र के बाद एक कोरा कागज लगा लें और उस पर प्रसङ्ग के दृष्टान्त

आदि सक्षेप में लिख लें, तो श्रोताओं को मनोरंजन के साथ ही बहुत कुछ लाभ हो सकता है। ऐसा करने से पाठक की स्मरणशक्ति निर्बल होने पर भी श्रोताओं का बहुत कुछ मनोरञ्जन हो सकता है। इसी प्रकार अन्य विषयों के ग्रन्थों में भी कोरे पत्रों पर टिप्पणियां लगा लेने से बहुत लाभ हो सकता है।

(९) लेखन और भाषण शक्ति

अब मैं एक अति आवश्यक विषय पर—सुन्दर, मनोरञ्जक और प्रभावोत्पादक वचनों के लिखने और बोलने पर—यहां कुछ लिखना चाहता हूँ। खेद है, स्कूल आदि में इस विषय की ओर बहुत कम ध्यान दिया जाता है। मनुष्य स्वभाव ही से बोलनेवाला जीव है। मनुष्य और पशु में इसी का भेद है। इस ईश्वरदत्त भाषणशक्ति को अच्छी तरह उन्नत करके मनुष्य 'अच्छा लिखना' सीख सकता है। इसका सब से सरल उपाय यही है कि मनुष्य अच्छे वक्ताओं की ओजस्विनी वक्तृता सुना करे, उनकी सत्सगति किया करे, अच्छे लेखकों के ग्रन्थों को पढा करे। मनुष्य विशेष कर बचपन में जैसे मनुष्यों के बीच में रहता है, जिस प्रकार की पुस्तकें पढा करता है, उसी प्रकार के शब्द बहुधा उसके मुँह से निकलते रहते हैं, इसलिये उच्च विचारवाले मनुष्यों के उत्तम ग्रन्थों को हमेशा पढ़ा करो। सदैव इस प्रकार के ग्रन्थ पढते रहने से तदन्तर्गत विचारों का कुछ न कुछ प्रभाव तुम पर अवश्य पडेगा; परन्तु किसी भी ग्रन्थकार की लेखन-शैली का सर्व्वथा, आँख बन्द करके, अनुकरण मत करो। जिस प्रकार प्रत्येक मनुष्य की आकृति में भिन्नता रहती है, उसी प्रकार उसकी

लेखनशैली में भी कुछ न कुछ भिन्नता होना सम्भव है। एक बात और याद रक्खो। वह यही है कि विचारों की अपेक्षा लेखन-प्रणाली की, अर्थात् उत्तम शब्दों की, भरमार करने का अधिक परवाह मत करो। 'सारहीन बातों को मनोहर शब्दों में' कहने की अपेक्षा 'सारगर्भित एव प्रसङ्गानुकूल बातों को सरल भाषा में, कहने का अधिकतर ध्यान रक्खो। इस विषय में सुकरात का यह कथन कि "जो मनुष्य कुछ कहना चाहेगा वह भली भाँति जान लेगा कि उसे किस प्रकार कहना चाहिये," (अर्थात् उत्तम विचारों को उत्तम शब्द, बिना अधिक प्रयास के, मिल जाते हैं) बहुत ही सत्य है। महात्मा पाल ने भी कारिंथ में रहनेवाले ईसाइयों को यही उपदेश दिया है। चतुर शिरोमणि गेटी ने भी जर्मन विद्यार्थियों से यही कहा है —

सत्य ज्ञान की प्राप्ति-हेतु निज लक्ष्य लगाओ,
शब्दाडम्बर व्यर्थ सदा ही दूर भगाओ।
सुविचारों का स्रोत अगर है अपने अन्दर,
तो स्वभाव से शब्द निकलते हैं अति सुन्दर।
एक रूप है हृदय और यदि सभी वाणी,
तो शब्दों के लिए भटकना व्यर्थ कहानी।

इस लक्ष्य को सम्मुख रखकर, तुम्हें अपने विचारों को अच्छे क्रम से, सरलता और पूर्ण अर्थ के साथ, प्रकट करने का आप ही अभ्यास हो जायगा। प्राय सब सुशिक्षित मनुष्यों के विषय में यह कहा जा सकता है कि अच्छा वक्ता होने के पहले अच्छा लेखक होना आवश्यक है। वकील, बैरिस्टर, धर्मोपदेशक, राजकीय कर्म्मचारी, राजनीति-वेत्ता आदि लोगों

को तो बड़ी बड़ी सभाओं के बीच में भाषण-द्वारा अपने विचार प्रकट करने ही पड़ते हैं; परन्तु स्वतंत्र देशों में प्रत्येक मनुष्य को सभा-समाजों में अपना मत प्रकट करने का अवसर कभी न कभी आता ही रहता है। और यदि बचपन ही से इसकी शिक्षा उन्हें न दी गई, तो वय प्राप्त होने पर, इसे सीखना कठिन हो जाता है। उस समय इसका अभ्यास करने में सकोच और लज्जा मालूम पडने लगती है। अतएव छात्रावस्था से ही इसका अभ्यास किया जावे। जहां तक बन सके, कागज पर नोट आदि कुछ भी न लिखकर वक्तृता देने का अभ्यास किया जावे, क्योंकि नोट लिखकर बोलने से भाषण में अस्वाभाविकता आ जाती है और उसका प्रवाह मन्द हो जाता है। नवयुवकों को अपने विचार इस क्रम से रखना चाहिये कि बिना नोट की सहायता के वे उन्हें स्मरण रख सकें। काग़ज़ के छोटे से टुकड़े पर भाषण के मुख्य मुख्य खण्डों के आरम्भ के दो-चार शब्द लिख लेने से स्मृति को बहुत सहायता मिलती है, परन्तु इस सहायता के बिना अभ्यास करना और भी अच्छा है। भाषण देते समय वक्ता को सीधे खड़े रहकर श्रोताओं के सन्मुख देखना चाहिये। यह तभी सम्भव हो सकता है जब कि वह बिना नोट की सहायता के बोले। भषण देने का ढग सीखने का सब से अच्छा उपाय यही है कि विद्यार्थी अपने सहपाठियों की एक सभा बना लें और उसमें जाकर भाषण दिया करें। इससे उनका अभ्यास बढने से दक्षता प्राप्त होगी, दक्षता प्राप्त होने से उन्हें विश्वास होगा और इस प्रकार सकोच और भीरुता, जो नवयुवकों के प्रथम भाषण में बहुधा पाई जाती है, धीरे धीरे यदि

पूर्ण रीति से नहीं, तो कुछ तो अवश्य, दूर हो जायगी। बहुधा देखा जाता है कि वे लोग, जिन्हें इस प्रकार की शिक्षा नहीं मिली है, सकोच के कारण वक्तृता के बीच में रुक जाते हैं, आगे उनसे नहीं बढा जाता, देह से पसीना छूटने लगता है। उस समय ऐसा ज्ञात होता है, मानों हमारी नाक कट गई है, परन्तु ऊपर लिखे अनुसार अभ्यास करने से यह दोष बहुत कुछ दूर हो जायगा। नवयुवकों के भाषण में धृष्टता और चपलता, सकोच और लज्जा की अपेक्षा, गुरुतर दोष हैं। वक्ता के सिर पर बड़ी जिम्मेदारी रहती है। उसको स्मरण रखना चाहिये कि उसकी वक्तृता से—उसके मुँह से निकले प्रत्येक शब्द से—श्रोताओं को लाभ अवश्य पहुँचे, कुछ न कुछ ज्ञान वृद्धि अवश्य हो। अत बहुत सँभल कर और खूब सोच विचार कर उसे बोलना चाहिये, परन्तु शब्दों की गढ़न के पीछे पड़कर चिन्ता की मूर्ति ही न बन जाना चाहिये। इस लिये वक्तृताओं के प्रति मेरी यही सम्मति है कि जिस विषय पर तुम्हें बोलना है, सभा में खड़े होने के पूर्व उस पर खूब विचार कर लो, फिर सभा में खड़े हो, किसी तरह की चिंता मत करो, निर्भय होकर वक्तृता दो, परन्तु अपने भाषण से श्रोताओं को लाभ पहुँचाने का ध्यान अवश्य रखो और इसी के निमित्त ईश्वर से प्रार्थना करो। हमारे कहने का यह अभिप्राय कदापि नहीं है कि उत्तम और उत्कृष्ट बोलना सीखने के लिये गुरु की शिक्षा की कुछ आवश्यकता ही नहीं है। नहीं,हमारा अभिप्राय यही है कि स्पष्ट बोलना—अपने विचारों को सरल भाषा में प्रगट करना—स्वाभाविक है, परन्तु उत्कृष्ट बोलना कवायद करने और नाचने के समान, एक ऐसी विद्या है जिस के लिये गुरुदेव की पूर्ण शिक्षा और कृपा की आवश्यकता है।

(१०) पुस्तकें

मैं पहले ही कह आया हूँ कि पुस्तकें सच्चे ज्ञान का स्वाभाविक स्रोत नहीं हैं। कुछ भी हो, आज कल पुस्तकें शिक्षा प्राप्त करने में बहुत उपयोगी हो रही हैं और भविष्य में भी ऐसी ही बनी रहेंगी। इस लिए पुस्तकों के समह करने और उन्हें पढने के विषय में मैं यहा कुछ नियम विस्तार पूर्वक लिखना चाहता हूँ। स्मरण रखना चाहिये कि विद्या की प्रत्येक शाखा के सहस्रों मथ पुस्तकालय में भरे पडे हैं; परन्तु इन मे सभी मथ मुख्य नहीं। इनमें कुछ थोड़े ही मथ ऐसे हैं जिन्हें मुख्य मथ कह सकते हैं। अवशिष्ट मथ केवल सहायक-मात्र ही हैं। जिस प्रकार वृक्ष की वृद्धि म लता कुठार-सदृश होती है, उसी प्रकार सहायक ग्रन्थ मूल मथो के लिये हानिकारक हैं। ईसाई धर्म्म की उत्पत्ति के समय से लेकर आज तक न मालूम कितनी पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं, पर इन सब में मूल धर्म्म-पुस्तक (बाइबिल) के सिवाय कोई भी पुस्तक उत्तम नहीं, किसी में उससे अधिक विशेषता नहीं। उसमें जो कुछ लिखा है उससे अधिक अन्य किसी पुस्तक में नहीं लिखा है। और यदि आज मूल धर्म पुस्तक को छोड़कर तत्सम्बन्धिनी अन्य सब पुस्तकें अग्नि-कुण्ड में डाल दी जाय, तो ईसाई धर्म्म को कुछ हानि न पहुँचेगी, प्रत्युत किसी अश में लाभ होने की सम्भावना है। बहुत सी पाण्डित्य प्रदर्शक पुस्तको में, जिनकी अपने समय में खूब धूम मच चुकी है, निरी गप्पाष्टक भरी है। कई एक में निष्प्रयोजनीय बातों का जमा-खर्च है—मतलब की बात कुछ भी नहीं। इस लिये जब कभी तुम्हें किसी विषय का

अध्ययन करना हो तो तद्विषयक मूल ग्रंथों का अध्ययन करो। उनकी समालोचना पढने की कुछ आवश्यकता नहीं है, क्योंकि इन समालोचनाओं में गुण की अपेक्षा दोष अधिकतर दिखाई देते हैं। ईसाई धर्म्म के जिज्ञासु विद्यार्थी को डाक्टर कर अथवा स्टफर्ड ब्रुक के ग्रंथों को पढने की अपेक्षा यूनानी धर्म्म-पुस्तक का अध्ययन करना अधिकतर उपयोगी है। डाक्टर कर आदि के ग्रंथ उत्तम रहने पर भी, उनके बिना काम चल सकता है, परन्तु बाइबिल के अध्ययन बिना ईसाई धर्म्म का यथार्थ ज्ञान नहीं हो सकता है। इसलिये केवल उन्हीं ग्रंथों को पढा करो जिनसे मनुष्य की ज्ञानवृद्धि का पता चलता है—इतिहास की महान् घटनाएं विदित होती हैं। राजनीति में चाणक्य, विष्णुशर्म्मा, गणित में भास्कराचार्य्य, वराह-मिहिर; दर्शन में गौतम, व्याकरण में पाणिनि, कविता में कालिदास, वैद्यक में चरक आदि के आदर्श ग्रंथों का अध्ययन करो। साथ ही, उन विख्यात महात्माओं की ओर भी दृष्टि डालो, जिन्होंने यद्यपि विचार और कल्पना का आश्रय लेकर कोई नवीन आविष्कार नहीं किया, तथापि प्रचलित दोषों को दूर किया, आलसी पुरुषों के आलस्य को दूर भगाकर उन्हें जागृति के मार्ग पर लाये और उनके विचार और कर्म्मों को शुद्ध किया। ऐसे लोगों में महात्मा बुद्ध, शंकराचार्य्य, दयानन्द आदि की गणना है। जब तुम्हारे मन में इन महात्माओं के ग्रंथों के अध्ययन करने की अभिलाषा उत्पन्न होगी, तब तुम्हें यह देख कर अवश्य ही दुःख होगा कि तुम आरम्भ में, उन ग्रंथों को नहीं समझ सकते हो। धीरे धीरे और क्रमपूर्वक सीढ़ियों पर चलने से तुम्हें वह योग्यता प्राप्त होगी। ये सीढ़ियाँ

छोटी छोटी पुस्तकें हैं। अतएव उन्हें तुच्छ न समझना चाहिये। ज्ञान-मन्दिर में पहुँचने के लिये छोटी छोटी पुस्तकें सीढ़ियों के सदृश हैं। इन सीढियों पर चढे बिना उपर्युक्त मन्दिर पर पहुँचना दुर्लभ है। जब कोई भाषा सीखना आरम्भ करो, तब पहले उसका बड़ा भारी व्याकरण न लेकर, एक छोटा सा लो और उसके मुख्य नियमों से अभिज्ञ हो जाओ। इसी प्रकार शारीरशास्त्र को सीखते समय पहले देह-संस्थान-विद्या तथा आकृति आदि का ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है। चाहे तुम्हें यह बात भले ही अच्छी न लगे, परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि यदि इस प्रकार तुम अभ्यास करोगे, तो पीछे अनेक कष्टों से बचोगे। छोटे व्याकरण को पढते समय, उसके नियमों को, बिना अच्छी तरह से समझे हुए तोते की तरह रटने से बचे रहो। इसमें सन्देह नहीं—कई एक बातें ऐसी हैं जिन्हें रट कर सीखना पड़ता है, परन्तु इस रीति के द्वारा मानसिक शक्तियाँ वृद्धि नहीं पा सकती हैं और इसीलिये कोई भी समझ-दार आदमी इस रीति को अच्छा नहीं कहेगा। इस रीति का अनुकरण केवल वे ही लोग करते हैं जिन में बुद्धि का अभाव है—जिनमे विचार-शक्ति नहीं है अथवा जो उसे खर्च नहीं करना चाहते। मेरी तो यह सम्मति है कि किसी पुस्तक को पढने के पूर्व, यथासम्भव, इस बात का विचार कर लिया करो कि उसमें तुम्हें क्या क्या पढने को मिलेगा, अथवा पढते हुए विचार करते जाओ। यदि तुम थोड़ा सा कष्ट उठाकर, बिना किसी की सहायता के, केवल इतना जान सको कि त्रिभुज के तीनों कोनों का योग दो समकोन के बराबर क्यों होता है, तो उससे वह लाभ होगा जो तुम्हें रेखागणित के

सब साध्यों को बिना समझे कठाग्र करने से होता है। पुस्तक पढ़ने के सम्बन्ध में मेरी दूसरी सम्मति यह है कि जो कुछ तुम पढो उसे क्रम और प्रबन्ध के साथ पढो। क्रम के बिना पढने स कुछ भी स्मरण नहीं रह सकता है। सब से अच्छा और स्वाभाविक क्रम यह है कि आदि, मध्य और अन्त को क्रमपूर्वक पढ़ो। केवल महाभारत के पढने से प्राचीन भारतवर्ष का उतना इतिहास मालूम हो सकता है जितना छोटे छोटे पचासों इतिहास-ग्रन्थ पढने से होगा। परन्तु यह नियम सब जगह लागू नहीं है, क्योंकि प्रत्येक नियम के अपवाद होते ही हैं। यदि तुम इतिहास के किसी विशेष समय का वृत्तान्त पढ़ना चाहते हो, तो समूचा इतिहास पढ़ना आवश्यक नहीं है—केवल उसी वृत्तात को पढ़ो, परन्तु शुद्ध और पूर्ण रूप से पढ़ो। जंजीर की एक कड़ी को अच्छी तरह पकड़ लेन से वही अर्थ सिद्ध होता है जो समस्त जजीर को पकड़ने से। जब कभी तुम इतिहास के किसी एक वृत्तात को पढना चाहो, तो तुम्हें उसके पहले का वृत्तात अवश्य ही पढना पडेगा। उदाहरणार्थ—अकबर के राज्य का हाल जानने के लिये तुम्हें हुमायू का भी कुछ हाल जानना पड़ेगा, हुमायू का हाल जानने के लिये बाबर का, और इसी प्रकार और भी। कहने का मतलब यही है कि इतिहास के सब वृत्तात जञ्जीर की कड़ियों के समान परस्पर सम्बद्ध हैं। जानकारी बढ़ाने के लिये इधर-उधर के वृत्तात पढे जा सकते हैं। आज कल लोगों की प्रवृत्ति बहुधा इसी प्रकार पढ़ने की ओर है, परन्तु इसमे कुछ विशेष लाभ नहीं। हाँ, इससे मनोरञ्जन अवश्य होता है, पर ध्यान से और मनोनिवेशपूर्वक पढने की आदत बिगड़ जाती है। १६वीं और १७वीं

शताब्दी में पुस्तकों की संख्या इतनी अधिक नहीं थी जितनी आजकल है, परन्तु थोड़ी पुस्तकें रहने पर भी, उस समय के विद्वान् उनका सम्यक् उपयोग करते थे। विविध विषयों की पुस्तकों को यत्र तत्र पढना ठीक वैसे ही है जैसे कोई कुत्ता मैदान में यहा वहा सूघता जाता है, परन्तु पाता कुछ भी नहीं। उपयोगी पुस्तकों के पढ़ने वालों की उपमा जेकब से दी जा सकती है, जो रात भर स्वर्गीय दूत के साथ, उसकी चोटें सहता हुआ भी, लडता रहा, परन्तु अन्त में अपना काम पूरा करके ही छोडा *।

(११) निज-व्यवसाय-सम्बन्धिनी पुस्तकें।

व्यापक शिक्षा प्राप्त करने के लिये विविध विषयों की पुस्तकों के अध्ययन करने के विपरीत, अब मैं यहा पर निज उद्यम-सम्बन्धिनी पुस्तकों के पढने के विषय में कुछ लिखना उचित समझता हूँ। अपने व्यवसाय या उद्यम से शीघ्र ही अभिज्ञ हो जाने की अभिलाषा होना नवयुवकों मे स्वाभाविक है। पर इसमें बड़ी भारी भूल होती है। उद्यम-सम्बन्धिनी शिक्षा प्राप्त करने के पूर्व, कुछ साधारण शिक्षा की आवश्यकता

---

*बाइबिल में इसका वर्णन है। जेकब अपने कुटुम्ब के साथ किसी नदी के पार जाना चाहता था। कुटुम्ब को तो उसने पहले ही उस पार भेज दिया, पर आप इस पार रह गया। यहा एक बड़ी आश्चर्यजनक घटना घटी। स्वर्गीय दूत मनुष्य का वेष धारण कर बीच में आ कूदा। जेकब उसके साथ लड़ने लगा। दूत के नाखून लग जाने से उसकी जांघ में कुछ चोट लग गई, परन्तु वह रात भर लड़ता ही रहा। अन्त में उसे ईश्वर का आशीर्वाद मिला और तभी से उसका नाम इज़राइल राजकुमार हुआ।

सब साध्यों को बिना समझे कठाग्र करने से होता है। पुस्तक पढ़ने के सम्बन्ध में मेरी दूसरी सम्मति यह है कि जो कुछ तुम पढ़ो उसे क्रम और प्रबन्ध के साथ पढ़ो। क्रम के बिना पढ़ने से कुछ भी स्मरण नहीं रह सकता है। सब से अच्छा और स्वाभाविक क्रम यह है कि आदि, मध्य और अन्त को क्रमपूर्वक पढ़ो। केवल *महाभारत* के पढ़ने से प्राचीन भारतवर्ष का उतना इतिहास मालूम हो सकता है जितना छोटे छोटे पचासों इतिहास-ग्रन्थ पढ़ने से होगा। परन्तु यह नियम सब जगह लागू नहीं है, क्योंकि प्रत्येक नियम के अपवाद होते ही हैं। यदि तुम इतिहास के किसी विशेष समय का वृत्तान्त पढ़ना चाहते हो, तो समूचा इतिहास पढ़ना आवश्यक नहीं है—केवल उसी वृत्तांत को पढ़ो, परन्तु शुद्ध और पूर्ण रूप से पढ़ो। जंजीर की एक कड़ी को अच्छी तरह पकड़ लेने से वही अर्थ सिद्ध होता है जो समस्त जंजीर को पकड़ने से। जब कभी तुम इतिहास के किसी एक वृत्तांत को पढ़ना चाहो, तो तुम्हें उसके पहले का वृत्तांत अवश्य ही पढ़ना पड़ेगा। उदाहरणार्थ—अकबर के राज्य का हाल जानने के लिये तुम्हें हुमायूं का भी कुछ हाल जानना पड़ेगा, हुमायूं का हाल जानने के लिये बाबर का, और इसी प्रकार और भी। कहने का सारांश यही है कि इतिहास के सब वृत्तांत जञ्जीर की कड़ियों के समान परस्पर सम्बद्ध हैं। जानकारी बढ़ाने के लिये इधर-उधर के वृत्तांत पढ़े जा सकते हैं। आज कल लोगों की प्रवृत्ति बहुधा इसी प्रकार पढ़ने की ओर है, परन्तु इससे कुछ विशेष लाभ नहीं। हाँ, इसमें मनोरञ्जन अवश्य होता है, पर ध्यान से और मनोनिवेशपूर्वक पढ़ने की आदत बिगड़ जाती है। १६वीं और १७वीं

शताब्दी में पुस्तको की सख्या इतनी अधिक नहीं थी जितनी आजकल है, परन्तु थोडी पुस्तकें रहने पर भी, उस समय के विद्वान् उनका सम्यक् उपयोग करते थे। विविध विषयों की पुस्तको को यत्र तत्र पढना ठीक वैसे ही है जैसे कोई कुत्ता मैदान में यहा वहा सूंघता जाता है, परन्तु पाता कुछ भी नहीं। उपयोगी पुस्तकों को पढ़ने वालों की उपमा जेकब से दी जा सकती है, जो रात भर स्वर्गीय दूत के साथ, उसकी चोटें सहता हुआ भी, लडता रहा, परन्तु अन्त में अपना काम पूरा करके ही छोडा *।

(११) निज-व्यवसाय-सम्बन्धिनी पुस्तकें।

व्यापक शिक्षा प्राप्त करने के लिये विविध विषयों की पुस्तको के अध्ययन करने के विपरीत, अब मैं यहा पर निज उद्यम-सम्बन्धिनी पुस्तकों के पढ़ने के विषय में कुछ लिखना उचित समझता हूँ। अपने व्यवसाय या उद्यम से शीघ्र ही अभिज्ञ हो जाने की अभिलाषा होना नवयुवकों में स्वाभाविक है। पर इसमें बडी भारी भूल होती है। उद्यम-सम्बन्धिनी शिक्षा प्राप्त करने के पूर्व, कुछ साधारण शिक्षा की आवश्यकता

*बाइबिल में इसका वर्णन है। जेकब अपने कुटुम्ब के साथ किसी नदी के पार जाना चाहता था। कुटुम्ब को तो उसने पहले ही उस पार भेज दिया, पर आप इस पार रह गया। यहा एक बड़ी आश्चर्यजनक घटना घटी। स्वर्गीय दूत मनुष्य का वेष धारण कर बीच में आ कूदा। जेकब उसके साथ लड़ने लगा। दूत के नाखून लग जाने से उसकी जांघ में कुछ चोट लग गई, परन्तु वह रात भर लड़ता ही रहा। अन्त में उसे ईश्वर का आशीर्वाद मिला और तभी से उसका नाम इज़राइल राजकुमार हुआ।

होती है। एकाएक अपने व्यवसाय को सीखने लगना ठीक नहीं। जिन लोगों को इस कार्य में अनुभव है वे स्वयं इस बात को स्वीकार करते हैं—वे ही इस प्रकार की सम्मति देते हैं। केवल व्यवसाय-सम्बन्धिनी बातों ही को जानकर आज तक किसी मनुष्य ने पूर्ण सफलता और ख्याति-लाभ नहीं किया। विचारशील नवयुवकों को तनिक विचार करने से ज्ञात हो जायगा कि जिन बातों को वे अभी तुच्छ समझते हैं—जिन्हें बिलकुल निरुपयोगी गिनते हैं—आगे उन्हीं की आवश्यकता पड़ती है, बिना उनके काम नहीं चलता। यह कथन अन्य भाषाओं के सीखने में भी लागू हो सकता है। पहल पहल व्यापारी अपनी मातृभाषा को छोड़कर अन्य भाषाओं का सीखना निरर्थक समझते हैं। इनके सीखने में अपने अमूल्य समय और शक्ति का अपव्यय समझते हैं, परन्तु कुछ काल के बाद, ज्यों ज्यों उनका अनुभव बढ़ता जाता है, त्यों त्यों उनकी आँखें खुलती जाती हैं—अपनी भूल समझ में आने लगती है। तब उन्हें ज्ञात होता है कि अपने व्यवसाय में जानकारी बढ़ाने के लिये, व्यवसाय-सम्बन्धी ज्ञान विस्तृत करने के लिये, भाषाओं का सीखना आवश्यक है। भाषा के द्वारा हम अपने विचार दूसरों पर प्रकट कर सकते और उनके विचार जान सकते हैं। केवल इतना ही नहीं, भाषाओं को जानने से पुस्तकान्तर्गत अमूल्य ज्ञान भांडार की तालिका कर तल-गत हो जाती है, अतएव उनकी उपयोगिता और महत्त्व बहुत अधिक है। भाषाओं के यथार्थ स्वरूप को पहचाननेवाले विचारशील मनुष्य के लिये इनकी उपयोगिता और भी अधिक है। केवल अपने उद्यम ही को जाननेवाला मनुष्य बहुधा

सकीर्ण हृदय होता है, चाहे वह अपने काम में कितना ही निपुण क्यों न हो। वह मित्रों और सज्जनों की सुखद सगति के लाभ से वञ्चित रहता है। वह सासारिक व्यवहार के लिये किसी काम का नहीं। जहा वह जायगा वहाँ अपने व्यवसाय की ही चर्चा चलावेगा, क्योंकि अन्य विषयों का तो उसे ज्ञान है ही नहीं। ऐसा मनुष्य मनुष्यत्व से हीन है। समाज में उसका रहना न रहने के बराबर है। वहा उसे अपनी बोलती बन्द करनी पड़ेगी। वह उस चमार के समान है जो चमड़े के रूप, रङ्ग, उपयोग आदि के सिवा और कुछ नहीं जानता। जहा वह जायगा, उन्हीं की बात छेड़ेगा। तमाखू पीने वाले मनुष्य भी, जिनके मुँह से दिन-रात एञ्जिन के समान धुआँ निकला करता है, जहाँ जायँगे वहा धुएँ के बादलों से दूसरों का दिमाग भरेंगे। अतएव नवयुवकों को उचित है कि वे सदैव अपने धन्धे ही से सम्बन्ध न रक्खें—अपने विचारों को विस्तृत और उदार बनावें। अपनी सकीर्ण दूकान की बात-चीत की हवा को छोडकर ससार की और और बातें, जो खुले मैदान की स्वच्छ और स्वास्थ्यप्रद वायु के समान हैं, उनका सेवन करें। अपने उद्यम को सीखने के पूर्व साधारण ज्ञान—कुछ सासारिक और व्यावहारिक ज्ञान—प्राप्त करें। यदि कोई विद्यार्थी अन्य विषयों को न सीखकर केवल अपने उद्यम को ही सीखना चाहता है, तो उसे यह बात ध्यान में रखनी चाहिये कि केवल निज उद्यम में दक्षता प्राप्त करने ही से कोई जन पूर्णत चतुर नहीं हो सकता। इसके द्वारा दया, उदारता, मिलनसारी आदि दिव्य गुण, जिनकी ससार-यात्रा में पग पग पर आवश्यकता पड़ती है, उसके हृदय में कभी वास नहीं

कर सकते। इसका सब से अच्छा उदाहरण 'धर्मशास्त्रज्ञाता' अर्थात् कानून जाननेवाला, जज या वकील है। धर्मशास्त्र का मुख्य उद्देश्य मनुष्य के अधिकार, सम्पत्ति और स्वतन्त्रता का रक्षा करना है। इसके कई ऐसे विभाग हैं, जहां दया आदि में कुछ काम नहीं चलता। न्यायाधीश अपने इच्छानुसार कुछ नहीं कर सकता - धर्मशास्त्र के इच्छानुसार उसे चलना पड़ता है। परन्तु कई विभाग ऐसे हैं जहाँ न्यायाधीश का धार्मिक, दयालु, सहृदय और दूरदर्शी होना पड़ता है। जब तक न्यायाधीश इन गुणों से सम्पन्न न हो, तब तक वह अपना काम सुचारु रूप से नहीं चला सकता है। इसी प्रकार वैद्य को अपनी विविध औषधियों के गुण-दोष जानने के सिवा, मानवी प्रकृति और आत्मा का ज्ञान होना चाहिये। और ब्रह्मविद्या का यथार्थ ज्ञाता वही है, जो अपना उद्यम जानने के साथ ही अन्य बातों को भी जानता हो और जिसके हृदय में सहृदयता, उदारता और मिलनसारी आदि गुण विद्यमान हों। अनुभव से देखा गया है कि बहुत सा बाहरी बातों का ज्ञान रखनेवाला मनुष्य पहले कुछ निर्बल सा दिखाई देता है, परन्तु अन्त में केवल एक मात्र निजउद्यम को जाननेवाले मनुष्य से कई गुणा बढ़कर निकलता है, क्योंकि केवल उद्यम को जाननेवाला उन सिद्धान्तों को नहीं जानता, जिन पर उसके उद्यम की नीव खड़ी हुई है और न उन उद्यमों को ही जानता है जिनका उसके उद्यम से विशेष सम्बन्ध है। इन दोषों से बचने का सर्वोत्तम उपाय यही है कि नवयुवक सब प्रकार के मनुष्यों और समाज से मिला जुला करें, देश-यात्रा किया करें और बड़े बड़े लग्नकों के, विशेष

कर कवि और इतिहास-लेखकों के, ग्रंथों का पाठ किया करें। इन उपायों के अनुकरण करने से आचरण सुधरेगा, और सकीर्णता दूर होकर मन उदार और निर्मल होगा।

(१२) भाषाओं के अभ्यास की विधि

भाषाएँ सीखने के विषय में दो चार बातें लिखकर अब मैं इस अध्याय को समाप्त करूँगा। भाषाओं का अध्यापक होने और कई वर्षों का अनुभव रखने के कारण, (प्रोफेसर ब्लेकी कहते हैं) आशा है कि, लोग मेरी इस सम्मति को प्रमाण-स्वरूप मानेंगे। निम्नलिखित संक्षिप्त नियमों का व्यवहार करने से विद्यार्थियों को निस्सन्देह बड़ा लाभ होगा —

१—जहाँ तक सम्भव हो, किसी अच्छे शिक्षक के पास सीखो। इससे दो लाभ होंगे। एक तो यह कि वे कठिनाइयाँ, जिनसे विद्यार्थियों का धीरज छूट जाता है, दूर होंगी और दूसरा यह कि अशुद्ध उच्चारण की आदत न पड़ने पावेगी। यह आदत ऐसी है कि जहाँ एक बार पड़ गई, फिर बड़ी कठिनाई से दूर होती है। अच्छे शिक्षक के पास जाने से, ये दो कठिनाइयाँ दूर होकर तुम्हारा बहुत कुछ समय बचेगा।

२—दूसरी बात यह है कि जिस भाषा को सीखते हो उसका ज़ोर से उच्चारण किया करो। जितने पदार्थ दिखाई पड़ें उन सब का नाम उसी भाषा में लो। अपनी मातृभाषा के शब्द न आने दो। अथवा ऐसा करो कि जिस भाषा को तुम सीख रहे हो उसी में, आरम्भ ही से, विचार करने और बोलने का अभ्यास करो। और इस बात को गाँठ बाँध रक्खो कि कोई भी भाषा जितनी जल्द बोलने और सुनने से आती

भापा के मुहाविरों में जो अन्तर है, उसे सावधानी पूर्वक नोट करते जाओ। मातृभापा के मुहाविरों के नीचे, पेंसिल स लकीर खींचते जाओ। कुछ काल उपरान्त, इनका अनुवाद फिर उसी भापा में करो, ताकि दोनों भापाओं के मुहाविरों का अन्तर अच्छी तरह मालूम हो जाय।

१४—जो कुछ तुमने पढा है उसे क्रम में रखने और शुद्ध करने के लिये, जब तक आवश्यकता हो तभी तक, किसी अच्छे और क्रमपूर्वक लिखे गये व्याकरण को पढ़ो, परन्तु जहा तक हो सके, व्याकरण को, भापा का अच्छा ज्ञान होने के बाद पढ़ो।

१५—व्याकरण के केवल नियमों ही को जान कर मत सन्तुष्ट हो जाओ। नियमों के मूल सिद्धान्तों को भी जानने का प्रयत्न करना चाहिये। अमुक नियम किस प्रकार है—केवल इसी को न जानकर, उस नियम के इस प्रकार होने के कारण का अनुसधान करना चाहिये।

१६—भापा-तत्व का भी अभ्यास करो। इसके जानने से कई कठिन बातें सरल हो जायँगी और उन्हें भली भाति जान कर कठाग्र कर सकोगे।

१७—अभ्यास सब से मुख्य है। सब से पूर्व भापा का अच्छा ज्ञान होना चाहिये—शब्द-भाण्डार अच्छा रहना चाहिये। यह उस भापा के ग्रंथों के सदैव पढ़ते रहने और उसमें वार्तालाप करते रहने से प्राप्त होता है। जब वार्तालाप करने के लिये कोई न रहे, तब, अपने आप ही, अपने लिए बोलना चाहिये। परन्तु कानों और जीभ को भी यथोचित शिक्षा देनी चाहिये, केवल नेत्र और बुद्धि को ही नहीं। ज्यों ही तुम शुद्ध सुनो, त्योंही उसका अर्थ समझ में आ जाय। शब्द का आकार

देखते ही उसका अर्थ समझ जाना चाहिये। जब इन इन्द्रियों को इस प्रकार का अभ्यास हो जाय, तभी समझना चाहिये कि उन्हें पूर्ण शिक्षा मिली है, अन्यथा नहीं। भाषा सीखने के सम्बन्ध में, मनुष्य को केवल उस भाषा के आदर्श ग्रथों को ही नहीं पढ़ना चाहिये, किन्तु जो पुस्तक हाथ मे लग जाय, उसी को पढना चाहिये। भाषा सीखने के लिये किसी विशेष पुस्तक का भली भाति अध्ययन करना कुछ आवश्यक नहीं है। हां, परीक्षा आदि के लिये उसका अध्ययन करना एक दूसरी बात है। हमारे कहने का यह अभिप्राय है कि बहुधा उस भाषा के बोलनेवालों के साथ स्वतत्रता-पूर्वक मिला-जुला करो, ताकि उनकी रीति, व्यवहार, आदि का ज्ञान हो और भाषा विशुद्ध हो। जब तक वह भाषा पढते, धड़ाके के साथ बोलते, और सरलता-पूर्वक लिखते न बनने लगे, तब तक विद्यार्थी व्याकरण के कठिन नियम, मुहाविरों, आदि को न सीखे।

१८—बोलने, पढने, और अनुवाद करने आदि का, जिन का वर्णन ऊपर किया जा चुका है, मुख्य अभिप्राय वाक्य-रचना का अभ्यास प्राप्त करना है। इसके लिये सब से उत्तम उपाय यही है कि किसी एक ग्रथकार को आदर्श मानकर उस के नमूने के अनुसार अपना अभ्यास आरम्भ करो। उस समय कोष अथवा मुहाविरे की किताब को देख कर न लिखो। राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द, ठाकुर जगमोहनसिंह, राजा लक्ष्मणसिंह, बाबू बालमुकुन्द गुप्त आदि हिन्दी-लेखकों में से किसी एक की लेखन प्रणाली के अनुसार लिखने का अभ्यास करो, परन्तु सर्वथा किसी का अनुसरण मत करो। किसी ग्रन्थकार के विचारों को मत चुराओ। लेखन प्रणाली चाहे किसी की हो,

परन्तु विचार तुम्हारे निज के हों। इस प्रकार अभ्यास करते करते एक समय वह आवेगा जब तुम शुद्धता और सरलतापूर्वक लिख सकोगे। जब तक अच्छी तरह अभ्यास न हो जाय, तब तक अनुवाद करने के कठिन काम में हाथ मत लगाओ, क्योंकि अभी तुम इस कार्य को सफलता-पूर्वक न कर सकोगे।

शारीरिक सुधार।

नवयुवक की विशेषता उसका बल है।

सालमन

(१) शारीरिक सुधार का महत्त्व।

यह बात स्पष्ट रूप से प्रकट ही है कि प्रत्येक वस्तु का कुछ न कुछ आधार अवश्य ही होना चाहिये, जिसके सहारे वह खडी रहे, प्रत्येक वृक्ष में जड़ अवश्य होना चाहिये जिसके बल पर वह बढे। इसी तरह किवाड़ में गुड़रू होना चाहिये। इसी पर वह घूमेगा। चाहे यह आधार कितना ही क्षुद्र क्यों न हो, परन्तु सारा दारमदार इसी पर निर्भर है। बिना नींव के कोई घर नहीं टिक सकता है—टिकने की बात दूर है, खड़ा ही नहीं हो सकता। चाहे यह नींव घर बन चुकने पर भले ही न दिखाई पड़े—भले ही पृथ्वी के गर्भ में गुप्त रहे—परन्तु उसका महत्व बहुत बढा चढा है। इसी पर सारी इमारत खडी हुई है, यही उसका आधार है। बस जो सम्बन्ध नींव और घर के बीच में है, ठीक वही सम्बन्ध मनुष्य के मन और शारीरिक स्वास्थ्य के बीच में है। और, यदि यह सम्बन्ध ठीक है तो स्पष्ट है कि मनुष्य को स्वास्थ्य की ओर बहुत ध्यान देना चाहिये। परन्तु बहुधा और भली भांति देखा जाता है कि विद्यार्थी इस ओर बहुत ही कम ध्यान देते हैं। जितने ही अधिक वे विद्याव्यसनी होते हैं, पढने की रुचि रखते हैं, उतने ही कम स्वास्थ्य की ओर ध्यान देते हैं। वे भावी अनिष्ट परिणाम की परवा न करते हुए और अमूल्य स्वास्थ्य की आहुति देते हुए विद्योपार्जन के लिए दिन-रात कठिन परिश्रम करते जाते हैं, परन्तु जब वे भयंकर रोगों से आक्रान्त होते हैं, तब सब

चौकड़ी भूल जाती है, कुछ करते नहीं बनता है और अन्त में उनकी वही दशा होती है जो भयसूचक संकेत (सिगनल) को न देख कर धड़ाके के साथ चलती हुई रेलगाड़ी की होती है। इसलिये इस बात को ब्रह्म-वाक्य समझ कर—क्योंकि अनुभव से देखा गया है—स्मरण रखना चाहिये कि आठों पहर बैठे रहना अथवा बैठे बैठे लगातार कठिन मानसिक परिश्रम करना स्वास्थ्य के लिये हानिकारक है। जो लोग जन्म से दुर्बल शरीर के हैं, उनके लिये तो यह अभ्यास विशेष हानिकारक है, क्योंकि दुर्बल होने के कारण, खेल कूद आदि में योग देने से बहुधा असमर्थ होकर वे पुस्तकों के रसास्वादन द्वारा ही मनोरंजन किया करते हैं। ऐसा करने से मस्तिष्क निर्बल हो जाता है और शरीर को भी बड़ा धक्का बैठता है। यदि सिपाही बन्दूक चलाने के लिये बारूद को सूखा न रक्खे अथवा कारीगर अपने औजारों को साफ न रक्खे, तो ठीक समय पर वह अपना काम कदापि नहीं कर सकता है, इसी प्रकार यदि विद्यार्थी अपने स्वास्थ्य को ठीक न रक्खे, तो वह अध्ययन कभी नहीं कर सकता है। आशा है, मेरी इतनी चेतावनी बस होगी। नवयुवको, यदि तुम अपने स्वास्थ्य को ठीक न रखोगे, तो उससे होनेवाले भयंकर परिणामों के उत्तरदाता तुम होगे। उपदेश देना मेरा काम है, मानना न मानना तुम्हारा काम है। अस्तु, अब मैं नित्य व्यवहार में लाई जाने योग्य दो चार बातों को, जो ६४ वर्षों के अनुभव-द्वारा ज्ञात हुई हैं, नीचे लिखता हूं—

(१) व्यायाम या कसरत करना।

शरीर के सब अवयव तभी दृढ़ बन सकते और बलिष्ट रह सकते

हैं, जब कि उनसे नित्य कुछ न कुछ काम लेते रहे। ससार में हाथ पैर चलाना ही पडता है, पूर्ण विश्राम का नाम कहीं नहीं। वह तो केवल कब्रिस्तान में अथवा उस धाम में ही मिल सकता है।

मनुष्य की शक्ति उसके काम पर से नापी जाती है। जितना अधिक काम वह कर सकेगा, उतना ही अधिक शक्तिवान् समझा जायगा। जब शरीर में सब शक्तियाँ और उनके व्यापार ठीक रीति से हों और इन्द्रियाँ अपना काम सम्यक् रीति से करती रहें, तभी समझना चाहिये, कि 'हम आरोग्य' हैं। शक्ति सम्पन्न रह कर आरोग्य रहना 'बलवान्' रहना कहलाता है। मनुष्य बलवान् न रहकर भी आरोग्य रह सकता है, परतु आरोग्यता में कुछ न कुछ बल अवश्य है और रोग निर्बलता है। प्रकृति को देखने से मालूम होता है कि कोई भी पदार्थ अथवा पौधा 'बढ़कर ही बडा होता है, अथवा यों कहना चाहिए 'बढ़ना' पदार्थ और पौधे का स्वाभाविक गुण है। जब तक उनकी बाढ प्रचण्ड वायु अथवा पाला आदि कारणों से न मारी जाय तब तक वे बढते ही जायँगे। इसलिये स्मरण रखना चाहिये कि कुर्सी पर बैठे रहने, मेज पर झुके रहने अथवा किताब में दृष्टि गड़ाये रहने से शरीर कभी नहीं बढ सकता है। परिश्रम और कसरत करते रहने मे ही, शरीर में रुधिर का सञ्चार होता है और पुट्ठे पिंडिकाएँ हिल डुल सकती हैं। यदि परिश्रम न किया जाय, तो आरोग्यता कभी ठीक नहीं रह सकती है—यह प्रकृति का नियम है। जो मनुष्य प्रकृति के नियम का पालन नहीं करता उसे दण्ड अवश्य मिलता है, क्योंकि प्रकृति को दया-मया, कुछ भी नहीं। अपराधी को दण्ड दिये बिना

छोड़ना वह जानती ही नहीं। विद्यार्थी को अटल प्रतिज्ञा कर लेनी चाहिये कि मैं प्रतिदिन कम से कम दो घण्टे खुली हवा में अवश्य घूमा करूँगा। यदि वह ऐसा न करेगा तो शरीर के सब भागों में रुधिर का प्रवाह न हो सकेगा और पेट में दर्द, भारीपन आदि विकार हो जायँगे। इनके होने से उसे मालूम हो जायगा कि मैं प्रकृति के नियमों के विरुद्ध चल रहा हूँ। इतने पर भी यदि वह न चेतेगा और उसकी आँखें न खुलेंगी तो उसे दण्ड अवश्य मिलेगा, क्योंकि प्रकृति, जैसे कई कोमल हृदय-वाले स्वामी हुआ करते हैं, उस प्रकार, दयालु नहीं है। वह अपराधी को उचित दण्ड दिये बिना छोड़ना नहीं जानती—उसे मानो इसकी शिक्षा ही नहीं दी गई है। जो हो, यह बात समझ में नहीं आती है कि विद्यार्थी हमेशा बैठे ही बैठे क्यों पढ़ा करें। क्या खड़े होकर पढ़ने से काम नहीं चल सकता है? मैं तो समझता हूँ, सोचने-विचारने का काम—मानसिक कार्य—बैठे बैठे करने की अपेक्षा खड़े होकर किसी अंश में अधिक अच्छी रीति से किया जा सकता है। पर करे कौन? हाँ, एक बात और भी है। आजकल बड़ी बड़ी पुस्तकें हलके कागज पर छपती हैं। इसलिये यह कुछ आवश्यक नहीं कि विद्यार्थी पीठ को झुकाकर अथवा अपने शरीर को हँसिया बनाकर, बैठे बैठे पढ़ा करें। इस तरह बैठकर ऊँघते हुए पढ़ने की अपेक्षा नाटक और काव्य-ग्रंथों को कमरे में या बाहर टहलते हुए पढ़ने में विशेष आनन्द आता है। बैठे बैठे सभी काम करना वास्तव में बुरी आदत है, अतएव इसे न डालना चाहिये। यदि बैठ कर ही पढ़ना हो तो छाती को सीधा करके बैठना चाहिये। प्रकाश पीछे से आवे, ताकि आँखों को चकाचौंधी न लगे। किसी भाषा को सीखते अथवा कवित

को पढ़ते समय ज़ोर से पढ़ना चाहिये। इससे दो लाभ होते हैं। एक तो यह कि फेफड़े, जिनका शुद्ध होना स्वास्थ्य के लिये आवश्यक है, दृढ होते हैं, और दूसरा यह कि कर्णेन्द्रिय की शक्ति बढ़ती है, जिससे वह भिन्न भिन्न स्वरों के अन्तर जानने में समर्थ होती है। खेद है, अपने यहाँ के स्कूलों में इसकी ओर बहुत ही कम ध्यान दिया जाता है। ज्ञान प्राप्ति के लिये यह आवश्यक नहीं है कि बैठे बैठे ही पढ़ना चाहिये।

कभी कभी बैठ कर अवश्य पढ़ना पड़ता है। उदाहरणार्थ — यदि हम महाकवि कालिदास, सूरदास अथवा होमर के काव्य का अच्छी तरह अध्ययन करना चाहते हैं, तो कोष, व्याकरण आदि को बार बार देखना पड़ेगा। और, यह काम खड़े खड़े नहीं किया जा सकता है, परन्तु जब शब्दार्थ आदि अच्छी तरह ज्ञात हो जायँ, तब हम उस काव्य को कहीं भी ले जाकर पढ़ सकते हैं—हिमालय की चोटी पर, तिब्बत की उच्चसम भूमि पर अथवा ऊलर झील के किनारे। काव्य, नाटक आदि को एकान्त स्थान में, कोठरी के भीतर घुसकर, पढ़ने से विशेष आनन्द नहीं आता है। पवन की मधुर सुगन्धि से और झरने आदि के मनोहर कलरव सुनने से यह आनन्द कई गुणा अधिक बढ़ जाता है। कठिन शब्दों से पूर्ण ग्रन्थों को पढ़ने की सब से सुगम रीति यह है कि एक बार शब्दार्थों को कोष से खोज कर जान लो। फिर उन ग्रंथों को दुबारा पढ़ने और समझने में अधिक कठिनाई न पड़ेगी। अपने स्वास्थ्य को अच्छा रखने और अपनी सङ्गति से दूसरों को आनन्द देने का एक उपाय यह भी है कि जिस तरह तमाखू पीनेवाले जहाँ जाते हैं वहाँ तमाखू-गुड़ाखू की ही चर्चा छेड़ते फिरते

हैं, उसी प्रकार विद्यार्थी भी सदैव अपने साथ पुस्तकें लेकर न चला करें—उनकी ही चर्चा न किया करें। किताबों का कीड़ा न बनने के लिये विद्यार्थी को 'वालंटियर' अर्थात् स्वयंसेवक* बनना उचित है। इससे यह लाभ होगा कि उसका विद्याभिमान दूर होगा, स्वास्थ्य सुधरेगा और अपने कर्त्तव्य को वह पुरुषार्थ के साथ पाल सकेगा। स्वयंसेवक के वास्तविक महत्त्व को ग्रीस देश के प्राचीन निवासी जानते थे। आजकल जर्मनी देशवाले भी ग्रीसवालों का अनुकरण करते हैं। उन्होंने एक ऐसा नियम कर दिया है कि जिसके अनुसार उसके प्रत्येक मनुष्य को, चाहे वह अपने घर का कितना ही धनी क्यों न हो, तीन वर्ष तक बादशाह की फौज में काम करना पड़ता है। ऐसा करने से उनका बल, तेज, और प्रताप बढ़ता है। इसके विरुद्ध, स्काटलेण्ड देश के अधिकांश निवासी बचपन ही से पेट के धन्धे में फँस जाते हैं। यही कारण है कि वे लोग देश के प्रति अपना कर्त्तव्य यथोचित रीति से नहीं पाल सकते हैं। आज कल, अग्निबोट आदि के होने से यात्रा करने में बड़ा सुभीता हो

* वालंटियर उसे कहते हैं जो देश की भलाई के लिये बिना कुछ वेतन लिये फौज में भरती होता है, कवायद सीखता और समय आने पर राजा के प्रार्थना करने पर, शत्रु से लड़ता है। यूरप के प्रायः सब देशों में स्वयंसेवक की प्रथा प्रचलित है। भारतवर्ष में भी ईसाई स्वयंसेवक हैं, पर अन्य धर्मों के लोग नहीं हो सकते अतएव यह सम्मान उनको नहीं दी जा सकती। इस समय यूरप के महायुद्ध में फ्रांस-जर्मनी, इङ्गलैंड इत्यादि देशों में 'वालंटियर' का अच्छा उपयोग हो रहा है।

गया है—खर्च कम पडता है और समय बहुत बचता है। इस लिये विद्यार्थी को उचित है कि वह दिन-रात किताबों का कीडा न बना रहकर कुछ यात्रा करे—प्रकृति की छवि देखकर अपने विचारों को उन्नत करे, एकान्त नदी अथवा झील के किनारे की स्वास्थ्यप्रद वायु का सेवन करे। यदि आवश्यक हो, तो किताब पाकेट में रक्खी जा सकती है, परन्तु जहा तक बन सके, बिना पुस्तकों के घूमना चाहिये और अपने विचारों को शुद्ध और उच्च बनाकर ज्ञान-वृद्धि और बुद्धि को परिपक्व करना चाहिये। यह आवश्यक नहीं कि विद्यार्थी वर्डस्वर्थ* के समान विक्षिप्त की तरह सदैव जङ्गलों में घूमा करे, और तभी उसे कुछ लाभ हो। साधारण लोग भी समय समय पर यात्रा करके बहुत कुछ ज्ञान-उपार्जन कर सकते और आरोग्यता बढा सकते हैं। प्राकृतिक सृष्टि से सम्बन्ध रखनेवाली भूगर्भ विद्या, वनस्पतिविद्या, प्राणिविद्या आदि विद्याए खुले मैदानों में भली भाति सीखी जा सकती हैं। इसलिये इन विद्याओं का अभ्यास अच्छी तरह करने के लिये विद्यार्थी को उचित है कि वह बाहर पैदल घूमा करे और प्रकृति का निरीक्षण किया करे। इतिहास और शिल्पविद्या का बहुत कुछ ज्ञान पुराने खडहरों में घूमने से प्राप्त हो सकता है। वर्तमान काल में, जब कि सब मनुष्य थोडा-बहुत घूमा-फिरा

*यह प्रसिद्ध अंग्रेज़ी कवि सन् १७७० में पैदा हुआ था। यह प्रकृति-सौन्दर्य का बड़ा उपासक था, अत सदैव जङ्गलों में घूमा करता था। उसकी प्राय सब कविताओं में प्रकृति का वर्णन है। इसी लिये लोग इसे "प्रकृति का कवि" Poet of nature कहते हैं। सौदी के बाद 'राजकवि' का स्थान, सन् १८४३ में, उसे मिला था।

करते हैं, यदि कोई विद्यार्थी यहाँ-वहाँ न घूम कर घर में बैठा बैठा केवल पुस्तकों द्वारा ज्ञान उपार्जन किया करे, तो उसका स्वास्थ्य बिगड़ जायगा, जीवन भारस्वरूप ज्ञात होगा और वह अकालमृत्यु का ग्रास बन बैठेगा। इसके सिवा, स्वास्थ्य-सम्पन्न समझदार लोग उसे 'पिंडरोगी' और 'विचित्र जीव' की उपाधि से विभूषित करेंगे।

इस शरीर-यन्त्र को दृढ़ और अच्छी स्थिति में बनाये रखने के लिये व्यायाम करना बहुत आवश्यक है। भोजन करने के पूर्व, थोड़ी देर तक टहलना आरोग्यप्रद है, परन्तु जिन लोगों को इसमें आनन्द न आता हो, जो इसे करना केवल 'बेगार' समझते हों, वे मित्रों के समागम का आनन्द लेते हुए क्रिकेट, फुटबाल, टेनिस आदि खेला करें। लड़कों को क्रिकेट और धीर एवं शान्त पुरुषों को बाउल्स (एक प्रकार का गेंद का खेल) खेलना ठीक है। स्काटलैण्ड वालों का गोल्फ* खेल सब के लिये अच्छा है। "नाव-सवारिया" खेलना, नाव का खेना (यदि बहुत अधिक, जैसा कि आक्सफर्ड और केम्ब्रिज में होता है, न खेना जाय, तो बहुत अच्छा) पुरुषोचित, और साहसी खेल है। सोच विचार करनेवाले मनुष्यों और कवियों के लिये बंसी-द्वारा मछली मारना बहुत प्रिय होता है। वर्षाऋतु में अण्टा-गोला (Billiards) का खेल बहुत अच्छा होता है।

---

*यह खेल गोली और पैर से खेला जाता है। धरती में एक साथ में कई छेद बनाये जाते हैं। जो मनुष्य पैर से कम ठोकरें मारता हुआ हर एक छेद में पहुँचा कर गोली को आखिरी छेद में पहुँचा देता है उसी की जीत होती है। 'गाल्फ' का खेल बहुत कुछ ऐसा ही है।

इसके द्वारा नेत्रों की ज्योति, छूने की स्फूर्ति और जोड़ने तथा गिनने की दक्षता बढती है। इस खेल के सामने ताश और शतरञ्ज के खेल अच्छे नहीं हैं। इसमें सन्देह नहीं कि इनसे स्मरण-शक्ति बढती है, परन्तु, साथ ही, बुद्धि को बहुत परिश्रम पडता है, और इसी लिये उस मनुष्य को, जो मानसिक परिश्रम करते करते थक गया है, इनसे कदापि मनोरञ्जन नहीं हो सकता।

(२) खान पान

अब हम खान-पान के विषय मे दो चार बातें लिखना चाहते हैं। यद्यपि यह एक साधारण विषय है, तथापि इसमें नियमानुसार और बुद्धिमानी से न चलने से, बहुत कुछ हानि की सम्भावना रहती है। एबरनेथी* कहा करते थे कि ससार में दो वस्तुएँ बहुत प्राणघातक हैं—एक तो, बहुत अधिक खाना; और दूसरी चिन्ता। इसमें से पहली के विषय में हमें कुछ वक्तव्य नहीं है, क्योंकि हिन्दुस्तान में जो सैकडों बालक अकाल ही काल के गाल में समा जाते हैं सो अधिक खाने से नहीं, वरन् कम खाने मे।

सब से पहले यह आवश्यक है कि कुछ न कुछ खाने को मिले। जब वह मिल जाय, तब यह आवश्यक है कि वह पुष्टि-कारक और बलवर्द्धक हो। इस विषय का विशेष विवरण

*यह एक प्रसिद्ध अंग्रेज़ी डाक्टर हो गया है। १७६४ ई० में इसका जन्म हुआ और १८३१ में मृत्यु हुई। इसने कई वैद्यक ग्रन्थ लिखे हैं। उनमें से "Observation on the origin and treatment of local diseases" बहुत प्रसिद्ध है।

विज्ञ वैद्य कर सकता है, परन्तु इतना हम अवश्य कहेंगे—और सभी लोगों का मत है—कि, सादा भोजन ही सर्वोत्कृष्ट भोजन है। मस्तिष्क की शक्ति और शरीर का रुधिर बढ़ाने के लिये, अनुभव के द्वारा मालूम हुआ है कि, दाल, रोटी और हरी तरकारी से बढ़कर लाभदायक दूसरा भोजन नहीं है। वर्ड्स्वर्थ कवि का भी यही कहना है।

पुष्टिकारक और बलवर्द्धक भोजन मिलने पर भी, लोग उसके उपयोग करने में कई तरह की भूलें करते हैं। कई लोग ऐसे हैं जो दौड़ने के सिवा, धीरे धीरे चलना जानते ही नहीं। शान्तिपूर्वक काम करना किसे कहते हैं—यह वे जानते ही नहीं। इसीलिये भोजन भी बड़ी ही फुर्ती से करते हैं। दो चार पेड़े बड़े कौर डालकर उसे निपटा लेते हैं।* इस तरह भोजन करने की आदत साधारण रीति से और वैज्ञानिक रीति से भी बहुत बुरी है। उससे एक तो भोजन का यथार्थ स्वाद ही नहीं मिल सकता, और दूसरे उसका पचाना कठिन हो जाता है। बड़े बड़े शहरों के व्यापारी, जिन्हें दिन-रात व्यापार की धुन समाई रहती है, अथवा शिवाजी या प्रताप के समान पुरुषों, जो शत्रुओं के भय से सदैव चिन्तित रहा करते हैं, अपना भोजन शीघ्रतापूर्वक किया करते हैं। विद्यार्थी और किताब के कीड़े भी इस पथ का अनुसरण करते हैं। कई महाशय इतने पुस्तक-प्रेमी होते हैं कि जल्दी भोजन तो करते ही हैं, परन्तु वे खाते हुए पढ़ते भी जाते हैं। इस प्रकार

---

* हिन्दी में कहावत है:— "स्त्री का स्नान और पुरुष का भोजन" दोनों शीघ्र चाहिये।

मस्तिष्क और आमाशय—दोनों से एक साथ काम लिया जाता है, जिसका परिणाम यह होता है कि दोनो निर्बल और निकम्मे हो जाते हैं। हाँ, बीरबल के चुटकुलों या किसी विनोदी लेखक की विनोदपूर्ण कहानियो को पढते हुए चाय पीना मनोरञ्जक और लाभदायक भले ही हो, परन्तु चाय पीना बात और है, और भोजन करना कुछ और ही। जिसे यथार्थ मे भोजन करना कहते हैं वह इतना सरल काम नहीं है, जितना की चाय पीना। भोजन करते समय चित्त एकाग्र रहना चाहिये। विभक्त नहीं होना चाहिए। हाँ, मित्रों के साथ हँसी दिल्लगी करते हुए भोजन करना लाभदायक है, क्योंकि इस से पाचनशक्ति बढती है। परन्तु गम्भीर और पेचीले विषयों की ओर मन को कभी न ले जाना चाहिये। इसी सिद्धान्त पर, इङ्गलेंड और जर्मनी के विद्यार्थी एक साथ बैठकर भोजन करते हैं, परन्तु स्काटलेंड के बेचारे दरिद्र विद्यार्थी ऐसा नहीं कर सकते। वे अपने अपने घरों में अकेले बैठकर ही भोजन करते हैं। इस अभाव की पूर्ति करने लिए वहाँ के फ्री चर्च ने, और बहुत से प्रशसनीय कार्य करने के सिवा, अभी हाल में एक अनुकरणीय कार्य करके दिखाया है। उसने एक बड़ा भारी कमरा स्वास्थ्यप्रद स्थान पर बनवाया है और धर्मशास्त्र पढ़नेवाले विद्यार्थी पौष्टिक, सादा और सस्ता भोजन एक साथ बैठकर करते हैं।

भोजन अच्छा होने के सिवा, कई प्रकार का होना चाहिये। कई प्रकार का होने से कुछ नवीनता आती है, और नवीनता आने से भोजन में रुचि बढती और भूख खुल कर लगती है। इसके सिवा, प्रकृति की ओर दृष्टि डालने से भी यही बात

मालूम होती है। उसकी सभी वस्तुएँ भिन्न भिन्न रंग और प्रकार की हैं। ऐसी भिन्नता रखकर मानो वह यही उपदेश करती है कि तुम्हारी भोजन की वस्तुएँ भी कई प्रकार की होनी चाहिएँ। एक बात और भी है। वह यह, कि सदैव एक प्रकार का भोजन करके उसके आदी हो जाना—दास बन जाना—बुद्धिमानी का काम नहीं है। दशा के बदलने पर, धनहीन हो जाने पर, वही भोजन, जो हमें प्रिय है और जिसे हम नित्य खाते हैं, सदैव नहीं मिल सकता है। इस प्रकार के पेटू लोग यात्रा करने के भी काम के नहीं हैं, क्योंकि यात्रा करने में एकसा भोजन मिलना कठिन होता है। यदि कहीं वही भोजन न मिला, तो उन्हें भूखों मरना पड़ेगा। इसी लिये उन्हें एक स्थान में रहकर अपना प्रिय भोजन चुगते रहना चाहिए।

अब रहा मसाले के अर्क या शर्बत आदि पीना। सो वे एक प्रकार से आरोग्यदायक ही हैं। उनसे पाचनशक्ति बढ़ती है, परन्तु हट्टे-कट्टे और तन्दुरुस्त लोगों के लिये इसकी कोई आवश्यकता नहीं है। विद्यार्थी ऐसी बातों में पैसा न खर्च करके जितनी बचत कर सकें, उतना अच्छा है। शुद्ध पानी में यह गुण है कि उससे मनुष्य की प्रकृति कभी नहीं बिगड़ सकती है। मदिरा-पान के सम्बन्ध में कहा जाता है कि यद्यपि इंगलैंड और ठंडे देशों में उसका नियमानुसार या औषधि के तौर पर पीना लाभदायक होता है, परन्तु उसके पीने से कोई सुन्दर या मोटा-ताजा होते आज तक नहीं देखा गया। जो मनुष्य उससे बचेगा वह अपमान-मृत्यु से बचेगा; चार पैसे अपनी गाँठ में रखेगा और समय पड़ने पर अपनी और अपने मित्र की सहायता कर सकेगा।

(४) हवादार मकान

छोटे और कम हवादार कमरों में रहने से जो बुराइया पैदा होती हैं उनको विद्यार्थियो को बता देना मैं अन्य बातो की अपेक्षा अधिक उपयोगी समझता हू। अशुद्ध वायु के सेवन से रक्त शुद्ध नहीं हो सकता है और रक्त-शुद्धि न होने से अस्थि-चर्म्म-निर्मित यह शरीर बिगड़ जाता है। बडी भारी कठिनाई तो यह है कि अशुद्ध वायु मे सास लेते रहने से वे बुराइया एकाएक प्रकट नहीं होती हैं, इसीलिये बहुत से असावधान और मूर्ख मनुष्य उसी का सेवन करते जाते हैं और उन्हें कभी यह ध्यान ही नहीं होता है कि हम वायु नहीं, विष सेवन कर रहे हैं। परन्तु स्मरण रखना चाहिये, उसकी बुराइया एकदम प्रकट होती हैं और बहुधा धोखा दे देती हैं। फिर उस समय कुछ भी करते-धरते नहीं बनता है। इसीलिये विद्यार्थियों को उचित है कि जब कभी वे बाहर जाया करें, तो अपने छोटे कमरे की खिडकिया खोल जाया करें और यदि उनके सोने के कमरे की खिड़किया ऐसे स्थान पर न हों कि उनके खुले रखने से हवा का झोका ठीक सोनेवाले पर आता हो, तो उन्हे दिन-रात, चाहे जाड़ा हो या गर्मी, खुला रखना चाहिये। हा, यदि किसी मनुष्य की प्रकृति इतनी नाजुक हो कि जरा सी हवा लगने से सन्निपात होने का डर हो, तो इस नियम पर चलना ठीक नहीं है। गरम देश में भी, जहा रात को अस्वास्थ्यकर वायु जमीन से निकला करती है, खिडकियों का बन्द रहना ही ठीक है।

(५) सोना

अब मैं सोने के विषय में भी दो-चार शब्द लिख देना

उचित और आवश्यक समझता हूँ। कई लोग सोचते होंगे कि भला सोने के विषय में कुछ लिखने की क्या आवश्यकता है। मानवी प्रकृति के अनुसार चलना ही सब से अच्छा नियम है—अर्थात् जब नींद आने लगे, तब सो जाना चाहिये और सवेरे ज्योंही मुर्गा कुकड़ूँ करे या सूर्य का प्रकाश दिखाई पड़े, त्योंही उठ बैठना चाहिये। बहुत ठीक है। जब सब काम प्रकृति के अनुसार किये जायँ, तब सोने के विषय में भी उसी के अनुसार चलना चाहिये, परन्तु हम लोग बहुधा ऐसा नहीं करते हैं। देखा जाता है कि जब नींद आने लगती है तब लोग बहुधा आँखों में पानी के छींटे या सरसों का तेल लगाकर या अन्य कई उपायों से उसे भगाने का प्रयत्न करते हैं, इसीलिये यह उपदेश देना कि, "प्रकृति के अनुसार चला करो," व्यर्थ है। इस विषय में विशेष कर विद्यार्थी बड़े अपराधी हैं, यहाँ तक कि उनके सभी कार्य शान्ति के नियमों के विरुद्ध हैं। इस लिये, जिस प्रकार परधन हरण करनेवालों को दण्ड दिया जाता है, उसी प्रकार नींद को चुराकर—सोने के समय—पढ़नेवाले विद्यार्थियों को भी कठोर दण्ड मिलना चाहिये। सोने के समय में कठिन मानसिक परिश्रम करने से नींद उचट जाती है। इसलिये समय विभाग इस प्रकार किया जाय कि जिसमें कठिन और मानसिक परिश्रम के काम शुरू में और सहल और हल्के काम आखीर में रहें। हल्के काम करने की अपेक्षा, सोने के एक घंटा पूर्व, टहलना या मित्र से मनोरंजक वार्तालाप करना और भी अच्छा है। इस प्रकार चलने से नींद आप ही आप, बिना किसी उपाय के, आ जायगी।

अब रहा कितने समय तक सोना। इसके लिये कोई निश्चित नियम नहीं दिया जा सकता है। साधारण रीति से, छै घण्टों से कम और आठ घण्टों से अधिक न सोना चाहिये। जो मनुष्य दो घण्टे टहला करता है और ८। ९ घण्टे मानसिक परिश्रम किया करता है, सहज ही में जान सकता है कि कितना सोना उसके स्वास्थ्य के लिये, काम करते रहने की थकावट दूर करने के लिये, लाभदायक होगा।

प्रातःकाल सोकर जल्दी उठना एक ऐसी आदत है—ऐसा सद्गुण है—जिसके कारण कई महापुरुषों ने ख्याति लाभ की है। इसमें किञ्चित् मात्र भी सन्देह नहीं कि जहाँ पर इसका स्वाभाविक रीति से और सरलतापूर्वक अभ्यास किया जाता है वहां आरोग्य और स्वास्थ्य सदैव वास करता है। सबेरे का समय ऐसा सुहावना समय है जब परमात्मा का ध्यान और अधिक विचार और खोज के काम किये जा सकते हैं। बंकिम बाबू के विषय में कहा जाता है कि सरकारी कार्य की अधिकता रहने पर भी वे प्रातःकाल उठकर उपन्यास लिखा करते थे।

(६) स्नान

स्नान और जल की उपयोगिता के विषय में, मैं विश्वासपूर्वक कह सकता हूं कि, ये स्वास्थ्य के बढ़ानेवाले हैं। मैंने कई जल-चिकित्सालय देखे हैं और जलचिकित्सा* के मूल सिद्धान्तों और अभ्यास पर भली भांति विचार किया है। स्नान करना भी एक प्रकार की जल चिकित्सा है, जिसके नाम

---

* आग्निय कृष्णस्वरूप बी० ए० एल० एल० बी० वकील मुरादाबाद ने इस विषय पर उत्तम पुस्तक लिखी है।

से ही स्पष्ट प्रकट होता है कि इसमें जल-द्वारा चिकित्सा की जाती होगी। इसकी ऐसी विधि है कि इससे परिश्रम, विश्राम, भोजन, मनोरंजन, संगति और जल इन्हें बारी बारी से देकर रोगी की देह पर स्वाभाविक पसीना लाया जाता है। इन सब के योग से शरीर पर जो प्रभाव पड़ता है वह बड़ा ही स्वास्थ्यप्रद होता है। प्रत्येक मनुष्य इसका अनुभव कर सकता है। जो हो, यहां पर विद्यार्थियों को यह बतला देना आवश्यक है कि जल चिकित्सालयों में जो चिकित्सा बड़े अनुभवी डाक्टरों के द्वारा, बहुत खर्च के साथ, की जाती है वही चिकित्सा किसी अंश में, घर पर ही, अकेले और बिना कुछ खर्च के, की जा सकती है। वह चिकित्सा यही है कि प्रतिदिन प्रातःकाल ताजे पानी से स्नान करना चाहिये। यदि मनुष्य बहुत ही सुकुमार या रोगी न हुआ, तो इस स्नान का बड़ा प्रभाव पड़ता है। जहां यथेष्ट पानी नहीं मिल सकता है वहां गीले और तर कपड़े के द्वारा देह को रगड़कर पोंछ डालने से भी वही प्रयोजन सिद्ध हो सकता है। स्नान करने के बाद सूखे कपड़े से देह अँगोछ डालना चाहिये। ऐसा करने से शरीर निर्मल होकर उसकी कान्ति बढ़ती है और चर्म सम्बन्धी कोई विकार नहीं होने पाते हैं। गीले कपड़े से शरीर पर लपेटकर विशेष विशेष रोगों के लिये जो चिकित्सा की जाती है, और जो जल-चिकित्सा का एक प्रसिद्ध उपाय है, उसे अकेले न करके किसी निपुण वैद्य के सम्मुख करना चाहिये। स्नान करने के बाद शरीर में गर्मी का जो पुनरावर्तन होता है वह बहुत मुख्य है। इस पुनरावर्तन की शक्ति नवयुवकों में, जो खुली हवा में घूमा करते और अच्छे हवादार मकान में रहा करते हैं, सदैव रहा करती है, परन्तु निर्बल मनुष्यों में यह शक्ति

उतनी नहीं रहती है। इसलिये उन्हें बिना किसी निपुण वैद्य की सलाह के, यह चिकित्सा नहीं करनी चाहिये।

(७) शरीर और मन का सम्बन्ध

आरोग्यता के विषय में हमें जो कुछ और कहना है वह आगे के भाग में लिखा जायगा। केवल नियमानुसार भोजन करने से ही कोई मनुष्य आरोग्य नहीं रह सकता, मन को स्थिर रखना भी आवश्यक है। शरीर का मन से बहुत कुछ वही सम्बन्ध है जो एंजिन का भाफ़ से है। यदि कहीं एंजिन में भाफ नियमित रूप से न चलाई जाय, तो सम्भव है कि वह क्षण भर में सारे एंजिन का सत्यानाश करके धूल में मिला दे। यदि मन पूर्ण रूप से वश में न हो, तो शरीर का कोई भी व्यापार निर्विघ्नतापूर्वक, थोड़े समय तक भी, नहीं चल सकता है। यदि इन्द्रियों का राजा मन सब इन्द्रियों को अपने वश मे न रखे तो वे सदैव बलवा मचाने के लिये कमर कसे खडी रहती हैं। मन के नियमित उत्साह से शरीर-रूपी सितार के सब तार ठीक स्वर से बजा करते हैं और यदि इन्द्रियों का राजा मन, उन्हें अन्धाधुन्ध वेग से नहीं चलने देता तो वे हृदय में अनियमित धड़कन पैदा नहीं कर सकते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि जीवनशक्ति कम न होकर यथोचित मार्ग पर चलती रहती है। इसलिये प्यारे नवयुवको, यदि तुम आरोग्य रहना चाहते हो,तो सद्गुणी बनो। सद्गुणी होने के लिये बुद्धिमान बनो और बुद्धिमान होने के लिये ईश्वर में भक्ति रखो और गुरुजनों का आदर करो। क्योंकि हृदय में ईश्वर का प्रेम ही सब बुद्धिमानी और ज्ञान का मूल है। इस कथन का क्या अर्थ है, उसका स्पष्टीकरण आगामी अध्याय में किया जायगा।

आचार-सुधार

"आचार परमोधर्म"

मनु।

(१) आचार-सुधार का महत्व

अब हम आत्म-सुधार के सब से अधिक महत्वपूर्ण विषय का विवेचन करते हैं। आचार-शास्त्र को जानकर ही मनुष्य अपने विचारों को यथाक्रम रख सकता और कर्त्तव्य-परायण बन सकता है। आचार शास्त्र ही मनुष्य का शासन-कर्त्ता है। वही उसका स्वामी है—वही उसका अधिकारी है। अतएव आचार शास्त्र का जानना तथा उसके अनुसार चलना उन्नति के उच्च शिखर पर पहुँचने के लिये अत्यन्त आवश्यक है। मनुष्य चाहे कितना ही प्रतापवान्, बुद्धिमान्, बलवान और उदारचेता क्यों न हो, परन्तु यदि उसका आचरण ठीक न हुआ, यदि वह धर्मिष्ठ न हुआ, तो वह घृणा किये जाने योग्य है। वह अपने परिश्रम आदि के द्वारा जिस उच्च पद पर—कीर्ति गिरि के सर्वोच्च शिखर पर—पहुँचना चाहता है वह सब बे-मजा है। नेपोलियन* बोनापार्ट, जिसका प्रताप समस्त

---

*इस महापुरुष के नाम से कौन इतिहास प्रेमी परिचित न होगा? यह वही मनुष्य है जिसने समस्त यूरप को कँपा डाला था। १७६९ ई० में इसका जन्म हुआ, १८०४ में बादशाह बना, १८०५ में इटली का राजा बना और आस्ट्रिया-वालों को पराजित किया। १८०६ में प्रशिया वालों को हराया। १८०८ ई० में अपने भाई को स्पेन की गद्दी पर बैठाया। १८१० ई० में हालैण्ड और रोम को एक कर दिया। १८१५ में बेलजियम में वाटरलू की लड़ाई में हार खाया। जो पकड़ कर यह यूरप से भागा और सन में १८२१ ई० में परलोक को सिधारा।

यूरुप महाद्वीप में छाया रहा, एक ऐसा उदाहरण हो गया है कि जो अमानुपिक-शक्ति-सम्पन्न रहने पर भी आचार से च्युत होने के कारण, यथार्थ महत्व नहीं प्राप्त कर सका, क्योंकि मनुष्य का वास्तविक महत्व उसके आचरण के साथ रहता है। हमारे कहने का यह अभिप्राय नहीं है कि वह बिलकुल बुरा आदमी था। नहीं, परन्तु स्वार्थ के वश होकर उसने अपना समस्त जीवन विजय लाभ करने और अपनी प्रभुता स्थापित करने में ही व्यतीत कर डाला। यहा तक कि परमार्थ और परोपकार सदृश सर्वोपरि सद्गुणों के अभ्यास करने का उसे बिलकुल अवसर ही न मिला और इसलिये आचार शास्त्र से विहीन होने पर आचार के सम्बन्ध में वह परम दरिद्री रहकर मरा। यह बात नहीं कि शुद्ध और यथोचित आचरण न होने से केवल देश विजेता और राजनीतिवेत्ता ही वास्तविक महत्व नहीं प्राप्त कर सकते हैं, किन्तु सभी का यह हाल है। हार्टली साहब का तो कहना है कि "अभिमान, ईर्षा, द्वेष आदि मनोविकार गणित, प्रकृति विज्ञान, दर्शन शास्त्र आदि के पण्डितो में जितने पाये जाते हैं उतने और किसी में नहीं—और लोगों की कौन कहे, ब्रह्मविद्या के आचार्य्यों में भी इन दुर्गुणो की दुर्गंधि पाई जाती है।" इसमें आश्चर्य करने की कोई बात नहीं है, क्योंकि और और बातों के समान, अपने आचरण को भी सुधारने के लिये—सदाचार प्राप्त करने के लिये—विशेष सुधार की आवश्यकता पडती है। मनोविकारों को रोकना कुछ ऐसा-वैसा काम नहीं है। हवा को वश में करना जितना कठिन है उतना ही कठिन इन्द्रियों को वश मे करना है। जो कुछ आचरण मनुष्य करता है वह सब इन्द्रियों

ही के द्वारा किया जाता है, अत आचरण को उच्च, पवित्र और निष्कलंक बनाना कुछ बच्चों का खेल नहीं है। इसके लिये बहुत अभ्यास और शिक्षा की आवश्यकता है। कवि होना लार्ड बायरन* के लिये एक बहुत सहल काम था। कवित्व-शक्ति उसे जन्म ही से प्राप्त थी। जिस प्रकार गाय के बछड़े को पैदा होते ही खड़े होने में कुछ कठिनाई नहीं पड़ती, उसी प्रकार बायरन को कवि होने में कठिनाई नहीं पड़ी, परन्तु हठीलेपन और चिड़चिड़ेपन को हृदय में स्थान न देना तथा विवेकी तथा सभ्य पुरुषों के समान आचरण करना उसके लिये बहुत कठिन था। इसी कारण, इन दोषों को दूर करने के लिये, शायद उसने कभी तन-मन से प्रयत्न ही नहीं किया। इसका परिणाम यह हुआ कि अमित प्रतिभा शक्ति-सम्पन्न होने तथा एकाध बहुत अच्छा काम करने पर भी, केवल आचार-धर्म से च्युत होने के कारण, वह आजन्म दुःखी रहा और

---

*१९ वीं शताब्दी के प्रसिद्ध कवियों में इस कवि का आसन बहुत ऊँचा है। यह स्वाभाविक कवि था। बहुत प्रतिभाशाली था। परन्तु उसका आचरण ठीक नहीं था। इटाली के एक 'काउन्ट' की स्त्री के प्रेम पाश में यह बद्ध था। इसका यह हाल देख, इसकी विवाहिता स्त्री ने इसे छोड़ दिया। लड़कियाँ भी अलग हो गईं; और अन्त में यह देश से भी निकाला गया। व्यभिचारी होने के सिवा, यह शराबी भी पहले दरजे का था। इन सब का परिणाम यह हुआ कि इसका जीवन समुद्र विषमय हो गया। एक एक हाथ तैरना इसके लिये कठिन हो गया। तरुणावस्था में ही इसका स्वास्थ्य बिगड़ गया। लक्ष्मी ने भी इसके पास रहने से इस्तीफा दे दिया। ३० वर्ष की अवस्था में इसके केश सफेद हो गए और अन्त में थोड़े समय के बाद मृत्यु ने उसे उठाकर उसके पाप भार से इस पृथ्वी को हलका कर दिया।

जीवन का कुछ लाभ नहीं उठा सका। इस कवि के चरित्र से यदि कोई शिक्षा ग्रहण करना चाहे, तो यह शिक्षा मिल सकती है कि आचरण ठीक न होने से बडे बडे प्रतिभाशाली पुरुषों की भी दुर्दशा होती है। वाल्टर सेवेज लेंडर* का भी उदाहरण बहुत कुछ ऐसा ही है। यह बड़ा भारी लेखक था। अँग्रेजी भाषा का इसके बराबर दूसरा निपुण ग्रन्थकार शायद ही होगा, परन्तु यह भी इतना दुराग्रही और चिड चिड़े स्वभाव का था कि सदैव विक्षिप्त सा रहा करता था।

अतएव यदि कोई मनुष्य यह अभिलाषा रखता है कि जीवन के समस्त कार्यों को वह सफलतापूर्वक चला सके, जीवन-संग्राम में जय-लाभ कर सके, तो उसे उचित है कि वह एक बात को गांठ में बांध रक्खे। वह यही है कि जितनी आवश्यकता शुद्ध आचरण और शुभ संकल्प की है उतनी न धन की है, न शक्ति की, न चतुराई की, न कीर्ति की, न स्वतन्त्रता की और न स्वास्थ्य की है। केवल आचरण के द्वारा ही रक्षा हो सकती है, और यदि इसके द्वारा रक्षा नहीं हो सकती तो और किसी उपाय से भी नहीं हो सकती। जो मनुष्य अपना आचरण नहीं सुधार सकता वह बिना बिगड़े कभी न रहेगा, क्योंकि उसे सुधारे बिना निस्तार नहीं। यदि परोपकार, दया, उदारता, सत्यता आदि सद्गुणों का अभ्यास नित्य न किया जाय, तो वे धीरे धीरे निर्बल होते जायँगे और सम्भवतः एक दिन ऐसा आवेगा जब कि वे बिलकुल लुप्त हो

* यह प्रसिद्ध ग्रंथकार सन् १७७५ में पैदा हुआ और १८६४ में मरा। इसकी भाषा में अपूर्व सरलता और विचारों में विचित्र नवीनता पाई जाती है।

जायँगे, उनका नाम-निशान भी बाकी न रहेगा। प्यारे नवयुवको, यह जीवन बड़े सौभाग्य से प्राप्त हुआ है। बार बार ऐसा शुभ अवसर न मिलेगा। इसलिये आलस्य को दूर भगाकर चैतन्यता ग्रहण करो और कर्त्तव्य-परायण होने का प्रयत्न करो।

(२) आचार और धर्म

प्रस्तुत विषय पर कुछ अधिक लिखने के पूर्व यह उचित है कि आचार और धर्म का सम्बन्ध संक्षेप में बता दिया जाय; क्योंकि इसके भली भांति समझने में सदैव भूल हुआ करती है। जेरेमी बैनथम* के समय से लेकर आज तक के अँग्रेज आचार शास्त्रियों ने आचार का इस ढङ्ग से वर्णन किया है, मानों उसका धर्म से कुछ सम्बन्ध ही नहीं। यह सर्वथा अनुचित है। इसमें उनकी तथा उनके मतानुयायियों की अल्पज्ञता तथा संकीर्ण-हृदयता झलकती है। इसमें सन्देह नहीं, एपीक्यूरस ‡ के समान विद्वान फिलासफर, दर्शन शास्त्रज्ञ, जिनका मत है कि सृष्टि आप ही आप पैदा हुई है, संसार में 'भले आदमी' कहे जा सकते और अपना जीवन पवित्रता के साथ व्यतीत कर सकते हैं। इसी प्रकार आजकल कई सद्गुणी मनुष्य ऐसे मिलते हैं जो ईश्वर को सृष्टिकर्त्ता नहीं मानते। ये लोग युक्तियों के

---

* यह एक प्रसिद्ध अंग्रेजी फिलासफर था। फिलासफी के Utilatarian School का यही जन्मदाता है। मिल, मार्टिन, स्पेन्सर बेन आदि इसी शाखा के महापण्डित हो गये हैं।

‡ यह यूनान देश का तत्ववेत्ता था। ईसा के ३४२ वर्ष पूर्व इसका जन्म हुआ। इसका मत था कि सृष्टि आप ही आप पैदा हुई है—इसका [illegible] था, परन्तु आस्तिक था।

द्वारा यह सिद्ध करने की चेष्टा करते हैं कि संसार की रचना पचतत्व-द्वारा होना स्वाभाविक है, परन्तु विचारशील तत्वज्ञ इन सिद्धान्तों को कभी न मानेंगे। वे इन्हें असम्भव और अस्वाभाविक समझेंगे। ठीक भी तो है। ईश्वर के अस्तित्व को न मानते हुए जगत् की उत्पत्ति पञ्चतत्व-द्वारा मानना ठीक वैसा ही है जैसे कोई मनुष्य बड़ा राजभक्त हो, अच्छा नागरिक हो, राज्य-कर आदि प्रसन्नता-पूर्वक देता हो, देश की सेना में काम करता रहे और देश-रक्षा के लिये वीरतापूर्वक युद्ध करता रहे, परन्तु इतना सब कुछ करने पर भी वह अपने राजा का आदर-सत्कार न करे—राजा के पास जाकर उसे प्रणाम न करे। ऐसा मनुष्य राजविद्रोही भले ही न समझा जाय; परन्तु वह उजड्ड और बे-अदब तो अवश्य ही समझा जायगा। यही हाल आचार धर्म माननेवाले नास्तिकों का है। ये लोग व्यर्थ प्रश्नों के द्वारा ईश्वर के अनस्तित्व को सिद्ध करते हैं। ये उन मूर्खों के समान हैं जो फाँसी लगाने के लिये रेशम की डोरी बनाते हैं। ऐसे तर्क वितर्क करनेवाले अज्ञानियों के चित्त में कोई उत्तम विचार पैदा नहीं हो सकते। उनके वज्र-हृदय में अच्छे भावों की सृष्टि नहीं हो सकती। इन्हें अपनी अल्प विद्या का सदैव अभिमान बना रहता है। जिनको ये अपनी आंखों से नहीं देख सकते, हाथों से नहीं छू सकते अथवा पृथक् नहीं कर सकते, उनके अस्तित्व को ये मानते ही नहीं हैं। परन्तु इन लोगों को यह जानना चाहिये कि इन्द्रिय-जनित ज्ञान तथा वैज्ञानिक युक्तियों से भी परे 'कुछ' है। वह 'कुछ' केवल जीवन' है। प्रबल ज्ञान ही जीवन है और इसी ज्ञान का दूसरा नाम 'ईश्वर' है। इसको न मानना—ईश्वर को न मानते हुए समस्त अलौकिक चमत्कारों के

विषय में विचार करना—ठीक वैसा ही उपहासास्पद है जिस प्रकार जेम्स वाट के बिना स्टीम-एञ्जिन का तैयार करना अथवा किसी शहर के पानी के नलों का चित्र खींचना; परन्तु जहा से सब नलों में पानी आता है उस स्थान का चित्र न खींचना। ईश्वर के बिना ससार वैसा ही है जैसा कि बिना शिर, के शरीर। इसलिये नवयुवक को उचित है कि वह नास्तिकों के बनाये अस्वाभाविक आचार-विषयक नियमों को पढ़कर सन्तोष न करे। आन्तरिक शक्ति-सचार अथवा विवेक ही सब आचार और कर्तव्यों का मूल है और इसका पुष्टिकर्त्ता ईश्वर है।

(३) आज्ञा-पालन

इस ईश्वरदत्त जीवन का अच्छा उपयोग करने—उसे सुखमय बनाने—की अभिलाषा रखनेवाले नवयुवकों को जो सद्‌गुण प्राप्त करना चाहिये उनका विवेचन अब हम करते हैं। जीवन के प्रत्येक अवसर और समय पर हमें कुछ न कुछ कर्तव्यों का पालन करना पड़ता है, और प्रत्येक कर्तव्य के पालन करने में सद्‌गुणों की आवश्यकता पड़ती है। जीवन-समाम में जय अथवा पराजय पाना इन्हीं सद्‌गुणों पर निर्भर रहता है। कई गुण ऐसे हैं जो केवल बचपन में प्राप्त किये जा सकते हैं। यदि उस अवस्था में वे न प्राप्त किये गये, तो फिर उन्हें प्राप्त करना दुर्लभ हो जाता है।

'आज्ञा-पालन' इन गुणों में से एक है। सभी लोग आज कल स्वतत्रता प्राप्त करने के अभिलाषी हैं, और निस्सन्देह स्वतन्त्रता एक उत्तम वस्तु है। यह एक ऐसी वस्तु है जिसका प्रत्येक विचारवान् पुरुष आदर करता है, परन्तु स्वतन्त्रता का असल मतलब क्या है, इसे जान लेना हमें उचित है। इसका

असल मतलब केवल यही है कि मनुष्य अपनी स्वाभाविक शक्तियों का विकास अपने इच्छानुसार कर सकता है। इस विषय में समाज, कुटुम्ब आदि को अकारण हस्तक्षेप करने का अधिकार नहीं है। निस्सन्देह ऐसी स्वतंत्रता से लाभ होता है, परन्तु इसके द्वारा मनुष्य अपनी बहुत उन्नति नहीं कर सकता है। स्वतन्त्रता के द्वारा मनुष्य को केवल इतना ही मालूम होता है कि जीवन की दौड़ कहा से शुरू करनी चाहिये। जीवन-नाटक किस नाट्यशाला में खेलना चाहिये; परन्तु कौन सा दृश्य खेला जायगा या किस प्रकार खेला जायगा—इस विषय में कुछ भी नहीं मालूम हो सकता है। स्वतन्त्रता की भी सीमा है। जब तुम किसी एक पथ पर चलकर जीवन-यात्रा आरम्भ करोगे, तो कई आपत्तियां और बाधाएँ सामने उपस्थित होंगी। मनुष्य एक सामाजिक जीव है। इसके प्रत्येक काम से समाज का थोड़ा-बहुत सम्बन्ध अवश्य है। अतएव बुद्धिमान मनुष्य को उचित है कि वह अपने सब काम अपनी इच्छा के अनुसार न करके समाज के नियमों के अनुसार करे, जिससे समाज के अन्य अङ्गों की स्वतन्त्रता मे बाधा न पड़े। इन नियमों को बनानेवाले पुरुषों ने इन्हें केवल अपने ही आनन्द के लिये नहीं, वरन् समस्त समाज के—समस्त मनुष्य-जाति के—सुख और लाभ के लिये बनाया है। इसलिये उस मनुष्य को, जो किसी समाज का अच्छा सभासद बनना चाहता है, उचित है कि वह उस समाज के नियमों का पालन करे, उनके आज्ञानुसार चले। जीवन के सब कार्य इसी सिद्धान्त के प्रत्यक्ष उदाहरण हैं। व्यक्ति को पूर्ण स्वतन्त्रता केवल उन्हीं कार्यों में है जिनका सम्बन्ध केवल उसी से है—दूसरों से नहीं। मनुष्य को बिलकुल स्वतन्त्रता न देना, उसे कठपुतली बनाकर

उसके मनुष्यत्व को नष्ट करना है, परन्तु जब वह समाज में है—जब उसका सम्बन्ध समाज से है—तब वह निस्सदेह समाज के बन्धनों से जकड़ा हुआ है। सभी मनुष्य चाहे वे ऊँचे पद पर हों या नीचे पर—सामाजिक बन्धनों से बँधे हुए हैं। केवल इतना ही नहीं, जितना ही ऊँचा पद होगा उतना ही दृढ़ उसका बन्धन होगा। इन बन्धनों से जकड़े रहना ही उसका परम कर्तव्य है। इसी से उसकी रक्षा होती है। महात्मा पाल ने इसी सिद्धान्त को बड़ी गम्भीरता और बुद्धिमानी से समझाया है—"सामाजिक नियमों के उल्लघन करने की जब कभी तुम्हें इच्छा हो, तो मैं सलाह देता हूँ कि तुम किसी धर्म-पुस्तक को—गीता के कर्म-योग को ही सही—विचार-पूर्वक पढ़ने लगो।" यदि कहीं मनुष्य स्वेच्छानुसार चलने लगे, तो थोड़े समय में ही उसका आचरण बिगड़ जायगा और समाज में बड़ी हलचल मच जायगी। इटाली के एक प्रसिद्ध इतिहास-लेखक लिवी (Livy) ने अपने रोम के इतिहास में हेनीबाल सेनापति की बड़ी प्रशसा करते हुए लिखा है कि वह आज्ञा देना और आज्ञा पालन करना—दोनों जानता था। आज्ञा पालन करना, और आज्ञा देना—ये दोनों गुण परस्पर-विरोधी हैं, परन्तु पहले को भली भाँति सीखने से दूसरा आप ही आप आ जाता है। जिस मनुष्य को केवल आज्ञा देने की आदत है वह यह नहीं जान सकता कि आज्ञा देने से काम नहीं चल सकता—कभी कभी इससे हानि भी हो जाती है। इसलिए नवयुवकों को चाहिये कि प्राचीन रोमन लोगों की भाँति वे, इस अवस्था में जब कि मनोविकार बहुत प्रबल रहते हैं, आज्ञा पालन करना सीखें। यदि गुरुजन कोई आज्ञा दें, तो उसमें ध्यानहीन न करके

"गुरो आज्ञा ह्यविचारणीया" जान उसका तुरन्त पालन करें। गुरुजन नवयुवकों से और किसी बात में इतने प्रसन्न नहीं होते हैं जितने कि वे उन्हें किसी काम को नियत समय पर शुद्धता-पूर्वक करते देखकर। इसमें कोई आश्चर्य भी नहीं है। अपने अपने काम को नियत समय पर, अपनी शक्ति भर अच्छी तरह, करने से ही समाज में आनन्द और सुख-चैन रह सकता है। यदि ऐसे किसी कठिन काम के करने की आज्ञा दी जाय, जो एक आदमी से नहीं किया जा सकता है, तो भी उसे यथाशक्ति और यथामति करना उचित है। घड़ी के ठीक ठीक चलने से ही ठीक समय जाना जाता है। समय ठीक जानने के लिये हमें घड़ी पर विश्वास करना पड़ता है। अर्थात् घड़ी के ठीक चलने पर समय-परिज्ञान निर्भर है। इसी प्रकार यदि तुम्हारे किसी कार्य के नियत समय में करने पर किसी दूसरे का कार्य निर्भर है तो तुम उसके लिये घड़ी-स्वरूप हो—उसे तुम्हारा आसरा है, और तुम्हारा धर्म है कि तुम उस काम को ठीक समय पर करो। किसी मनुष्य के लिये इन शब्दों से बढ़कर प्रशंसा नहीं हो सकती कि "वह मनुष्य अपना काम नियत समय पर करता है और जब उसकी आवश्यकता रहती है, तब वह उपस्थित रहता है।"

(४) सत्य-शीलता

दूसरा बड़ा सद्गुण, जिसे नवयुवकों को अवश्य प्राप्त करना चाहिए, "सत्यशीलता" है। प्लेटो का यह कहना, कि 'असत्य से देवता और मनुष्य दोनों स्वाभाविक घृणा करते हैं', बहुत ठीक है। बालक, स्वभाव ही से, सत्यवादी होते हैं; परन्तु भय, अभिमान तथा ऐसे ही अन्य प्रभावों के कारण यह

गुण छुपसा हो जाता है, जिसका परिणाम यह होता है कि बड़े होने पर वे कपटी और निकम्मे निकल जाते हैं। जान स्टुअर्ट मिल* ने अपनी *राजनीति विषयक* एक पुस्तक में लिखा है कि '*इंगलैंड के प्राय सभी मजदूर* असत्यवादी हैं, परन्तु साथ ही वे असत्य भाषण से आन्तरिक घृणा करते हैं'। नवयुवक को यह बात अपने हृदय में जमा लेनी चाहिये कि संसार में असत्य और बनावटी बातें बहुत समय तक नहीं छिपी रह सकती हैं। एक न एक दिन अवश्य भण्डा फूट जाता है। अपनी योग्यता दूसरो पर, बढ़ाकर प्रगट करने की अपेक्षा योग्यता ही को बढाना अच्छा है। अपनी योग्यता को बढाकर बताना भी एक प्रकार का असत्य भाषण है। इस प्रकार के असत्य भाषण से एकाध बार चाहे भले ही काम निकल जाय—भले ही लाभ हो जाय, परन्तु अन्त में सब कलई खुल जाती है। विश्वास रक्खो, कलई चढ़े बर्तन का रूप रङ्ग, और सौंदर्य सदैव एक सा नहीं बना रहेगा। थोड़े ही समय में सब कलई खुल जायगी और असल धातु दिखने लगेगी। यही हाल असत्य-भाषण का है। व्यापारी लोग तो लाभ उठाने के लालच से झूठ बोला करते हैं, परन्तु नवयुवक, जिनके लिये हम इस समय लिख रहे हैं, आलस्य, अहङ्कार या कायरता के कारण झूठ बोलते हैं। अतएव नवयुवकों को इनसे विशेष सावधान रहना चाहिए। आलसी मनुष्य अपना

---

*यह विलायत का प्रसिद्ध विद्यावान् पुरुष था। जन्म १८०६, मृत्यु १८७३। तर्क-शास्त्र के सिद्धान्त, सम्पत्तिशास्त्र के सिद्धान्त, स्वाधीनता आदि इसके ग्रन्थ बहुत प्रसिद्ध हैं। पिछले ग्रन्थ का अनुवाद हिन्दी भाषा में हो गया है।

काम ठीक रीति से कभी नहीं करता और इसी लिये जब उसकी आवश्यकता पडती है, तब उसे झूठ-मूठ करके दिखा देता है। उदाहरणार्थ —किसी विद्यार्थी से कहा जाय कि तुम संस्कृत या अँग्रेजी का अनुवाद करो, परन्तु वह अपने मन से उसका अनुवाद न करके किसी दूसरे के किये हुए अनुवाद को पढता जाय। यह असत्य भाषण नहीं, तो और क्या है ? शिक्षक तो यह जानना चाहता है कि तुम कहा तक योग्यता रखते हो, परन्तु तुम दूसरे की योग्यता को अपनी योग्यता बनाते हो। याद रक्खो, सब बनावटी काम करना एक प्रकार का असत्य भाषण करना है। इससे प्रत्येक मनुष्य को लज्जित होना चाहिये। दम्भ और पाखण्ड के कारण भी मनुष्य कभी कभी झूठ बोलने लगते हैं। दूसरों के सन्मुख अपने को अच्छा दिखाने की अभिलाषा से नवयुवक, जो स्वभाव ही से अज्ञान और अनुभवहीन होते हैं, बहुधा अपने को ऊपर से ऐसा दिखाते हैं जैसे वे यथार्थ म नहीं हैं। इस प्रकार अपने अल्पज्ञान को सरस्वती-भाण्डार बनाकर धोखा देते हैं। अतएव मनुष्य को बचपन ही मे अपना दोष स्वीकार करना सीखना चाहिये। ऐसा करने से अन्त मे उसे कुछ लाभ ही होगा, अन्यथा जिस छल से वह अपने अज्ञान को दूसरो से छिपाता है उसी से वह स्वय छला जाने लगता है और इस प्रकार अज्ञानान्धकार में रहकर, आजीवन, भटकता फिरता है। दम्भ और अहकार से मनुष्य को उतनी हानि नहीं होती है जितनी हानि सत्य-भाषण करने के साहस के अभाव में होती है। गर्व और अहकार, मनुष्य में बचपन ही से रहता है, कालान्तर में अवश्य कम हो जाता है, क्योंकि मनुष्यों का ऐसा स्वभाव होता है कि वे दूसरे के गर्व और दम्भ को देखकर ठट्ठे जी कदापि

नहीं रह सकते हैं और इसी लिये वे गर्वित मनुष्य के गर्व को चूर चूर करने का सदैव प्रयत्न किया करते हैं। परन्तु कभी कभी थोड़ी कायरता से भी काम निकल जाता है। जो मनुष्य सत्य कहने में—अपने मत को निडरता से प्रकट करने में—डरते हैं वे सत्यभाषण कभी न कर सकेंगे और एक समय ऐसा आवेगा, जब वे सत्य का विचार भी न कर सकेंगे। सत्य को, अथवा जिसे हम सत्य समझते हैं उसे, निर्भयता-पूर्वक कहना निस्सन्देह बड़ी वीरता का काम है और एक उत्कृष्ट सामाजिक गुण है। कई अवसर ऐसे आ जाते हैं कि जब सत्य भाषण करने से प्राचीन नीति, रीति, व्यवहार आदि के विरुद्ध जाना पड़ता है और ऐसा करने से कभी इष्ट-मित्रों तथा सम्बन्धियों से विरोध भी हो जाता है। ऐसे अवसरों पर सत्य बोलने के लिये मानसिक साहस तथा दृढ़ता की आवश्यकता पड़ती है, जो बहुत ही कम लोगों में पाई जाती है।* कई प्रसङ्ग ऐसे भी

---

* जब विद्यासागर ने विधवा विवाह का समर्थन किया, तब बहुत से लोग विरोध करने को उठ खड़े हुए। सब लोग उनसे घृणा करने लगे, उनके इष्टमित्र उनसे नाराज़ होने लगे, सम्बन्धी लोग नाक-भौं सिकोड़ने लगे। जहाँ वे जाते वहाँ उनका उपहास किया जाता, परन्तु विद्यासागर इन बाधाओं से पीछे हटनेवाले जीव नहीं थे। वे अपने कर्त्तव्य पथ पर वीरता पूर्वक डटे रहे, विधवा-विवाह के पक्ष में कई ग्रन्थ लिखे, उसे शास्त्रानुकूल सिद्ध करके दिखाया और अन्त में अपने मत का प्रचार करके ही छोड़ा।

स्वामी दयानन्द, राजा राममोहनराय आदि को भी अपने मत स्थापित करने में कई सङ्कट झेलने पड़े; परन्तु उन्होंने पैर पीछे नहीं हटाया और अन्त में जय-लाभ करके छोड़ा।

आजाते हैं जब सत्य बोलना दूसरों को अप्रिय हो जाता है। ऐसे अवसरों पर मौन धारण करना ही उचित है*। वास्तव में ऐसी यथार्थ बात का कहना, जो सब प्राणियों को हितकारी और प्रिय हो, सत्य कहलाता है। इस विषय में ईसामसीह ने अपने दूतों से कहा था कि तुम लोग सर्प† के सदृश बुद्धिमान और कबूतर के‡ सदृश सीधे और भोले हो। जो हो, कई अवसर ऐसे भी आते हैं, जब साहस-पूर्वक सत्य बोलना पड़ता है—चाहे किसी को बुरा लगे या भला। यदि ऐसे अवसर पर सत्य न बोला जायगा, तो लोग डरपोक और कायर समझेंगे—चाहे उसके समान, उसके पीछे चलनेवाले, हजारों क्यों न हों।

(५) उद्योगशीलता

"आलसी कभी मत बनो"—नवयुवक को इससे बढ़कर और क्या उपदेश दिया जा सकता है? हाँ, इसमें सन्देह नहीं कि इस प्रकार के निषेधात्मक उपदेश से मनुष्य कर्त्तव्य-परायण और उद्योगी नहीं बन सकता है, पाप करने से नहीं बच सकता है, परन्तु अच्छे कामों के करने में इससे बहुत सहायता मिल सकती है। "मैं ऐसा काम नहीं करूँगा"—इस प्रकार के नियम बनाकर मनुष्य को अपनी स्वाधीनता कम नहीं कर

*सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्।
प्रियं च नानृतं ब्रूयादेष धर्मः सनातनः ॥मनु०

†प्राचीनकाल में मिसर देश में सर्प बुद्धिमत्ता की मूर्ति माना जाता था।

‡कबूतर भोलेपन और सिधाई में आदर्श समझा जाता था।

देनी चाहिये। ये नियम बहुधा हृदय की सकीर्णता से उत्पन्न होते हैं और यदि इनके अनुसार आचरण किया जाय तो हृदय और भी सकीर्ण होता जायगा। इसलिये यह नितान्त आवश्यक है कि बाल्यावस्था से ही समय व्यर्थ न जाने देने का विचार रखा जाय। यह तभी सम्भव हो सकता है जब मनुष्य नियम के साथ उचित रीति से चले। यदि कोई अपना कुछ थोड़ा सा समय किसी काम के करने में प्रतिदिन बराबर लगाया करे, तो उससे कभी बहुत भूल-चूक नहीं हो सकती है। कितना समय इस काम में लगाना चाहिये—यह बात अवसर और दशा पर निर्भर है, पर सदैव कुछ न कुछ अवश्य ही करते रहना चाहिये। यदि प्रतिदिन एक घन्टे तक तुम किसी काम को परिश्रम-पूर्वक किया करो, तो एक वर्ष में तुम बहुत सा काम कर डालोगे। फिर, जिस काम में हाथ लगाओ उसे पूरा करके ही छोड़ो। एक काम में हाथ लगाकर उसे अधूरा छोड़ कर दूसरे काम में हाथ लगाने से, और फिर उसे भी उसी दशा में छोड़ कर किसी तीसरे काम को हाथ में लेने से, कुछ लाभ नहीं। हाँ, निठल्ले बैठे रहने से ऐसा करना भी किसी दरजे तक अच्छा ही है। आलसी मनुष्य एक ऐसे घर के समान है जिसके दरवाजे सदैव खुले रहते हैं और जिसमें पाप-रूपी चोर सदैव प्रवेश करते हैं। "व्यर्थ कामों को करने के लिये मुझे अवकाश नहीं है, व्यर्थ ही मैं अपना समय नष्ट नहीं करूँगा, बुरी पुस्तकों को, केवल आनन्द के लिये, पढ़ने की मुझे आवश्यकता नहीं है, सदैव काम में लगे रहने से मुझे बड़ी प्रसन्नता होती है, जब मेरा एक काम पूरा हो जाता है, तब किस प्रकार विश्राम करके दूसरे काम के लिये तैयार

होना, यह मैं भली भांति जानता हूँ"—इस प्रकार कहते रहने से मनुष्य कई विघ्नों से बच सकता है। संसार-संग्राम में हाथ-पैर चलाते रहना ही अपना कर्त्तव्य है—ऐसा हृदय में विश्वास करने से भी मनुष्य आलस्य से बच सकता है। संसार के विषय में मनुष्य चाहे कुछ भी कहते रहें; परन्तु यह स्थान समय व्यर्थ खोने के लिये नहीं है। जहा पर सब लोग कुछ न कुछ काम करते ही रहते हैं वहा आलसी मनुष्यों के लिये सिवाय अपने सर्वनाश के और क्या है ? "जीवन अल्प है, विद्या अनन्त है* मौका बार बार नहीं मिलता, प्रयोग अनिश्चित है, निर्णय कठिन है"—यूनान देश के प्रसिद्ध वैद्य हिपोक्रैटीस के ये सूत्र-वाक्य हैं। यद्यपि ये वाक्य वैद्य-विद्या सीखनेवाले विद्यार्थियों के लिये, लगभग २४०० वर्ष पूर्व कहे गये थे, तथापि ये ऐसे वचन हैं जो आजकल भी आदरणीय समझे जाते हैं और सब स्थितियों के लोगों के लिये एक से उपयोगी हैं।

(६) सहानुभूति और प्रेम

यदि हम संसार के चारों ओर दृष्टि डालकर देखें और लोगों में साहस और उत्साह के शोचनीय अभाव के कारण का अनुसन्धान करें, तो तुरन्त विदित हो जायगा कि हृदय की संकीर्णता ही मूल कारण है। संकीर्ण हृदय होने, पारस्परिक सहानुभूति न होने से, लोग तुम्हें अच्छे काम में भी

---

*अनन्त शास्त्रं बहुलाश्च विद्या।
अल्पश्च कालो बहुविघ्नता च ॥
यत्सारभूतं तदुपासनीयं।
हंसैर्यथा क्षीरमिवाम्बुमध्यात् ॥ —चाणक्य०

सहायता नहीं देते हैं। बहुत से मनुष्य ऐसे होते हैं जो केवल अपने ही काम से काम रखते हैं—अपने ही उद्यम में मस्त रहते हैं। दूसरों के उद्यम की चर्चा सुनकर वे नाक-भौं सिकोड़ने लगते हैं। ये मनुष्य ठीक कूप-मण्डूक के समान हैं जो अपने कूप ही को सर्वस्व समझते हैं। ऐसे मनुष्यों के बे-ढंगे और सहानुभूति रहित आचरण से यह शिक्षा मिल सकती है कि सब समाज को प्रसन्न रखते हुए—सब के कामों से सहानुभूति रखते हुए—जीवन व्यतीत करने के लिये हमारा क्या कर्त्तव्य है। जर्मन कवि गेटी* जब ८३ वर्ष की अवस्था में अपना शरीर त्याग करने लगा, तब उसने अपने अन्तिम श्वास में यही कहा—"मुझे प्रकाश और चाहिये"। इसी प्रकार नवयुवकों को, जो हृदय की सकीर्णता दूर करना चाहते हैं, उचित है कि वे ईश्वर से प्रतिदिन यही प्रार्थना किया करें कि, "हे प्रभो! मुझे अधिकाधिक प्रेम प्रदान कर।" मनुष्य बहुधा चतुर हुआ करते हैं; परन्तु अपनी चतुराई का किस प्रकार उपयोग करें—यह उनकी समझ में नहीं आता। वे लोग उन योद्धाओं के समान हैं जो शस्त्र विद्या में बहुत निपुण हैं, परन्तु जिन्हें अपने नैपुण्य के दिखाने का अवसर नहीं मिलता है। अथवा यदि अवसर भी मिलता है, तो उसका दुरुपयोग करना चाहते हैं। ऐसे मनुष्यों को 'प्रेम' की आवश्यकता है। "दुखियों के साथ दुखी और सुखियों के साथ सुखी होओ"—यदि कहीं महात्मा पाल के इस उपदेश के अनुसार उदारता-पूर्वक आचरण किया जाय,

*जर्मनी देश का यह प्रसिद्ध कवि था। अच्छा तत्त्वदर्शी भी था। मानवी प्रकृति का उसने अच्छा अध्ययन किया था।

तो मनुष्य को जीवन-यात्रा के पद पद पर स्नेह और सहानुभूति के अभ्यास करने का अवसर मिल सकता है। महाकवि कालिदास का हृदय सार्वभौमिक सहानुभूति और स्नेह से परिपूर्ण था और इसी लिये वे सब प्रकार के मनुष्यों के स्वभाव का चित्र खींचने में समर्थ हुए। यद्यपि सभी मनुष्य कवि नहीं हो सकते, तथापि थोड़ा कष्ट स्वीकार करके वे सहृदयता प्राप्त कर सकते और अपने हृदय को विस्तृत कर के, जाति भेद का कुछ भी ध्यान न करके, समस्त मानव-जाति से प्रेम रख सकते हैं। सहृदयता के बल पर कविता की जाती है—इसी पर कवि की सफलता निर्भर रहती है। कविता लिखने की अपेक्षा यह अधिक अच्छा है कि उच्च विचार, सहृदयता आदि का प्रत्येक कार्य्य में अभ्यास किया जाय। इससे एक पथ दो काज होंगे—अभ्यास करनेवाले को लाभ होगा और समाज को भी। कवि का जीवन बड़े ही आनन्द का जीवन है। सकीर्ण-हृदयता तथा स्वार्थ-परता का उसे लेश नहीं रहता है। जहा कहीं उसे कोई महान् वस्तु या सुन्दर छवि देख पड़ती है वहीं से वह उसे एकत्रित करता और अपनी कविता में वर्णित करता है। इस लिये नवयुवक को चाहिए कि वह अपने हृदय की सकीर्णता दूर कर उसे विस्तृत और उदार बनाये, सब जीवों से स्नेह तथा सहानुभूति रक्खे और व्यर्थ किसी से घृणा न करके अपने कुविचारों को दूर करे। इसमें सन्देह नहीं कि यथार्थ घृणा करनेवाला मनुष्य, कोरी हा में हा मिलानेवाला—ठकुरसुहाती कहनेवाले—"मुँह में राम राम और पेट में कसाई का काम" करनेवाले—से अच्छा है, परन्तु बिलकुल घृणा न करना और भी अच्छा है। जो भला आदमी है, वह जहा तक उससे होगा, किसी से घृणा नहीं

करेगा, किन्तु अपने विरोधी जनों के गुणों को ढूँढ़ेगा। और उनकी प्रशंसा करेगा। प्रसिद्ध तत्ववेत्ता जान स्टुअर्ट मिल में एक बड़ा भारी गुण यह था कि वे अपने कट्टर विरोधियों के भी गुणों की प्रशंसा किया करते थे। प्रत्येक श्रेणी के मनुष्यों में कुछ न कुछ भलेपन का अंश अवश्य रहता है, इसीलिये कभी किसी की निन्दा नहीं करनी चाहिए। निन्दा करने से कुछ बड़प्पन नहीं मिल जाता है प्रत्युत छिछोरापन और लड़कपन समझा जाता है। यह समझकर कि सारा संसार उसकी निन्दा करता है, अथवा वह ऐसे किसी मत या पंथ का है जिसे प्रत्येक मनुष्य तुच्छ समझता है, किसी की निन्दा नहीं करना चाहिए। कई महापुरुषों की—राममोहनराय, विद्यासागर, क्राइस्ट, दयानन्द, आदि की—पहले पहल यही दशा हुई थी। सभी लोग उनकी निन्दा करते थे, परन्तु अब ये पूज्य दृष्टि से देखे जाते हैं। जो लोग पहले उनकी निन्दा करते थे वे अब अपने किये पर पश्चात्ताप करते हैं। "सब मनुष्यों का आदर करो"—आचार धर्म का यह सर्वोपरि और पवित्र उपदेश है। किसी मनुष्य का तुम कभी आदर नहीं कर सकते जब तक कि तुम उसे जानने का प्रयत्न न करो, और किसी के गुणों को अच्छी तरह पहचानने के लिये द्वेषभाव से रहित होकर शुद्ध चित्त से देखना चाहिए। ऐसा करना ही यथार्थ आचार है। यह गुण मनुष्य की उत्तम सम्पत्ति है। इसका सम्पादन कर लेने से तुम सर्वप्रिय हो जाओगे और तुम्हारे कर्म भी तुम्हारे वचनों के अनुसार यथार्थ और सर्वप्रिय हो जायँगे।

(७) आदर-सत्कार

वर्तमान समय में कई नवयुवक ऐसे हैं जिनके चेहरे पर मानो यह लिखा हुआ है कि—"हम किसी की प्रशंसा नहीं

करेंगे।" ऐसे लोगों को कोई भी स्नेह-दृष्टि से नहीं देखता। प्रशसनीय बातो की प्रशंसा न करना—यह भी एक बुरी आदत है, जो घमण्ड के कारण पड़ जाती है और यदि यह शीघ्र ही दूर न की जाय, तो उन्नति की कुछ भी आशा रखना आकाश-पुष्पवत् है। प्लेटो के कथनानुसार 'प्रशसा करना' बुद्धि और विवेक की प्राप्ति तथा पुष्टि का साधन है। अत जितनी ही अधिक प्रशसा करें उतना ही अच्छा है, परन्तु इसका यह अभिप्राय कदापि नहीं है कि अन्धाधुन्ध प्रशसा—अप्रशसनीय पदार्थों की भी प्रशसा—की जाय। नवयुवकों में यह गुण अवश्य ही होना चाहिये, क्योंकि इससे पूर्ण ज्ञान प्राप्त होता और बुद्धि निर्मल तथा परिपक्व होती है। इससे रहित होना सकुचितपन, उदासीनता, स्वार्थ-परता, दम्भ आदि का द्योतक है। ये दोष अल्पज्ञ जनों में वहुधा पाये जाते हैं, जिनके वाह्य आडम्वर—ऊपरी चटक-मटक—को देखकर मनुष्य उनकी सच्ची योग्यता—यथार्थ गुण—मान वैठते हैं। प्रत्येक नवयुवक से हमारा तो यही कहना है कि योग्यता का सदैव आदर-सत्कार किया करो। यद्यपि सम्प्रति यथार्थ योग्यता बहुत ही कम पाई जाती है, क्योंकि आजकल लोग अपने से बड़ों को भी वरावरी का समझने लगे हैं। इसलिये कोई किसी का आदर नहीं करता है। फिर भी, यह गुण—योग्यता की प्रशसा और आदर करना—आत्मा का भूषण है। इसी के वल पर वह पतित नहीं होने पाती है। कवि वर्ड्स्वर्थ का यह कथन कि, "केवल आदर, आशा और स्नेह के वल पर हम लोग अपना जीवन सुखपूर्वक व्यतीत कर सकते हैं", बहुत ठीक है। मनुष्य चाहे कितना ही महान् और बलवान् क्यों न हो, वह इस विशाल विश्व के सम्मुख अति क्षुद्र और तुच्छ

है। यहा महत्व प्राप्त करने का एकमात्र उपाय यही है कि विश्व पर प्यार करके अपने हृदय में ऊँचे विचारों और भावों की सृष्टि की जाय। महात्मा जान ने इस तत्व को अपने प्रथम उपदेश में बहुत ही उत्तमता से समझाया है —"हम परमपिता ईश्वर के पुत्र हैं। हमें यह नहीं जान पडता कि हम आगे क्या होंगे, परन्तु, *इतना हमें मालूम है कि जब हमारा उससे साक्षात् होगा,* जब हम उसके यथार्थ स्वरूप को देखेंगे, तब उसी के साथी हो जायँगे। हमारा पाप-मल दूर हो जायगा, हमारा हृदय मन्दिर पवित्र हो जायगा और उसमें ईश्वर का प्रकाश छा जायगा।" अर्थात् जब मनुष्य पूर्ण पवित्रता और उत्तमता के सर्वोच्च आदर्श को अत्यन्त उत्साह, आदर और श्रद्धा के साथ देखता है, तब वह उसी का साथी होने की अभिलाषा करता है। ऐसी दशा में, शुद्ध और उदार चित्तवाला मनुष्य जिस वस्तु की प्रशंसा और आदर करता है उसी का वह अनुकरण करता है। मनुष्य का मुख्य लक्ष्य यही होना चाहिये कि वह "समार को देखे और उसका अनुकरण करे।" यह क्या ही उत्तम उपदेश है और कैसे अच्छे ढङ्ग से कहा गया है। जब तक आदर और श्रद्धा की दृष्टि से देखने की शक्ति मनुष्य में न हो, तब तक वह गुण-दोषों का निरीक्षण ही किस प्रकार कर सकता है और जिन गुणों को वह जानता ही नहीं है उनका वह अनुकरण किस प्रकार कर सकता है। अर्थात् दूसरों के लिये अपने को आदर्श-स्वरूप बनाने के लिये चार साधन हैं —(१) आदर और पूज्यभाव, (२) गुण-दोषों का निरीक्षण, (३) गुणों का ज्ञान, और (४) उनका अनुकरण। किसी का यथार्थ आदर और प्रशंसा करने के लिये बुद्धि और उदार भावों की आवश्यकता है। परन्तु

सभी वस्तुओं और व्यक्तियों को तुच्छ समझने की आदत बुद्धि का गला घोंटकर उदार भावों की मृत्यु ही कर डालती है।

(८) सयम

आचार शास्त्र में दो प्रकार के सिद्धान्त होते हैं, एक तो मन से सम्बन्ध रखनेवाले और दूसरे, नियम से। 'प्रेम' और 'आदर', जिनके विषय में हम अभी लिख आये हैं, मन से सम्बन्ध रखते हैं, और सयम, जिसके विषय में नीचे लिखा जाता है, सुधार-विषयक नियमों से सम्बन्ध रखता है। सयम एक ऐसा गुण है जिसका तरुणों को कुछ भी विचार नहीं रहता है, और जिसका अभाव कोई बड़ा दोष नहीं समझा जाता है, परन्तु स्मरण रहे, यह एक ऐसा गुण है जिसका पहले से विचार कर लेना नितान्त आवश्यक है, अन्यथा स्वेच्छाचार के भयङ्कर परिणामों को भोगकर, अनुभव-द्वारा, शीघ्र सीखना पड़ेगा। नवयुवक, जिनकी नस नस में उत्साह-रूपी रक्त वेगपूर्वक सचार कर रहा है, 'अति सर्वत्र वर्जयेत्' की ओर बिल्कुल कान नहीं देते हैं। परन्तु स्मरण रखना चाहिये कि असयम-जनित भयकर परिणामों की उपेक्षा करने से जीवन-सग्राम में जय-लाभ कदापि नहीं हो सकता। चमकती हुई तलवारों के बीच मे निर्भयतापूर्वक कूद पडने से वीर योद्धा को जय नहीं मिलती है। जय जब मिलती है तब सयम-जनित सावधानता तथा धैर्य आदि गुणों के अवलम्बन से ही। प्राचीनकाल के महापण्डित, परम बुद्धिमान, आचारशास्त्र के आचार्य, अरिस्टाटल (अरस्तू) का; जिनका प्रत्येक मत प्रमाणस्वरूप माना जाता है, परमोपयोगी नियम था कि—'बहुत अधिक' और 'बहुत कम' इन दोनों मार्गों को छोडकर मध्यमार्ग में चलना बुद्धिमत्ता है।

जीवन-यात्रा मे अभी हाल ही में पैर रखनेवाले नवयुवक, चाहे वे अभी अपनी रुचि और शक्ति में कितने ही बढे-चढे क्यों न हों, अपने हृदय-पटल पर इस बात को जमाए रक्खें कि ज्यों ज्यों जीवन-यात्रा की समाप्ति के दिन निकट आने लगेंगे त्यों त्यों वे ससार के व्यवहारों को देखकर अपने सब कामों को मध्यमता और परिमिति से करने लगेंगे और अपने ज्ञान-चक्षुओं से इस तत्व को स्पष्ट देखने लगेंगे कि वास्तव में वही व्यक्ति सब से अधिक बलवान् है जो अपनी समस्त शक्तियों को, यथोचित मार्ग पर, विचार-पूर्वक चलाता है। लम्पटता का कोई काम, अथवा नियम-विरुद्ध कोई काम, करने के पश्चात् जो सुस्ती मालूम पड़ती है वह इस बात की साक्षी देती है कि तुमने नियम विरुद्ध आचरण किया है, प्रकृति के नियमों को पादाक्रान्त किया है, अतएव तुम्हें दण्ड अवश्य मिलना चाहिए। जो इस प्रकार के काम करता है वह आत्म घात करता है—अपने पैरों मे अपने हाथ से कुल्हाड़ी मारता है। ऐसा मनुष्य जिस वृक्ष शाखा पर बैठा हुआ है उसी को मानो काट रहा है। नियम विरुद्ध आचरण ऐसे अनर्गल जल प्रवाह के समान है जो अपने किनारे के भवन को गला डालेगा, नीव से उखाड़ डालेगा। ठीक यही दशा दिन-रात विद्याभ्यास करने मे होती है। लगातार बहुत समय तक कठिन मानसिक परिश्रम करने से, तोते की तरह रटकर बहुत सी बातों को मस्तिष्क में ठूसकर भरने से, मस्तिष्क निर्बल हो जाता है, आमाशय में विकार हो जाता और शरीर रोगी तथा सुस्त हो जाता है। नवयुवको! पहले ही से सचेत हो जाओ, ताकि तुम्हें यह अवसर ही न आवे।

किसी बात में भी अधिकता करने का परिणाम सदैव हानिकारक होता है। नौका मे दरार होना ही बुरा है। यदि एक बार उसमें दरार होगई, फिर चाहे वह सावधानी से सुधार क्यों न ली जाय, वह अधिक बोझ लादने या स्वच्छन्दता से चलाने के काम की नहीं रहती। ठीक इसी प्रकार एक बार स्वास्थ्य के बिगड़ने पर शरीर कठिन परिश्रम करने के योग्य नहीं रह जाता है। ज्ञान अच्छी वस्तु है, परन्तु सदैव ज्ञान के ही पीछे पड़े रहना अच्छा नहीं। "अधिक ज्ञानवान् बनकर अकाल ही में, पूर्ण वयस प्राप्त करने के पहले ही, मरने की इच्छा क्यों करते हो?" सुलेमान के ये शब्द स्मरण रखे जाने योग्य हैं।

(९) द्रव्योपार्जन

यदि भारतवर्ष भूमण्डल के सब देशों में सब से अधिक सम्पत्तिशाली है, तो यहा के प्रत्येक नवयुवक को यह जान लेना आवश्यक है कि मनुष्य का वास्तविक आदर-सत्कार उसके धन धाम आदि से नहीं होता है, किन्तु उसके आचरण और गुणों से। "सुख-प्राप्ति का द्वार हृदय में है, बाहर नहीं, सारा स्वर्ग तुम्हारे भीतर है।" इसलिये धनाढ्य व्यापारियों की तरह, तुम भी किसी की असल योग्यता का अनुमान—उसके आन्तरिक गुणों और आचरण को न देखते हुए—केवल ऊपरी ठाटबाट, धन धाम आदि देखकर मत करो। बौना आदमी ऊंचे स्थान पर बैठने से निस्सन्देह नीचेवालों को देख सकता है, परन्तु उसका देखना उच्च स्थान के लाभ का फल है, नकि उसके आन्तरिक गुणों का। इसी प्रकार किसी गुणहीन मनुष्य की—जो केवल धनवान् ही है, जो अपने धन के बल से

उच्च पद पर पहुँच गया है—चाहे वह पद पार्लिमेंट की मेम्बरी का ही क्यों न हो—जब वास्तविक योग्यता का विचार किया जायगा—उसकी अखण्ड सम्पत्ति का विचार न करके उसके गुणों का विचार किया जायगा—तब वह, पवित्र आचरणवाले गुण सम्पन्न, परन्तु धनहीन, मनुष्य के सामने बिलकुल तुच्छ समझा जायगा। अतएव नवयुवको, सब में पहिले तुम इस बात को स्मरण रक्खो कि वह मनुष्य, जो केवल धन ही के मद में चूर रहा है, जो केवल धन ही के बल पर उच्च पद पर पहुँचा है, समा में जितना घृणित है उतना शायद और कोई न होगा। अब देखना चाहिए, वह घृणित क्यों है। उसने ऐसा कौनसा बुरा काम किया है? बात यह है कि जब उसने देखा कि ऊपरी ठाट-बाट और प्रचुर धन रखने के कारण ही मैं उच्च पद का अधिकारी हुआ हूँ तब फिर उसने केवल धन ही को मुख्य समझा और इसलिये अपने आचरण को सुधारने का बिलकुल प्रयत्न ही नहीं किया इसलिये, अर्थात् सुगन्ध-रहित टेसू का फूल होने के कारण, वह घृणित है। हमारे कहने का यह अभिप्राय कदापि नहीं है कि तुम धन सञ्चित ही मत करो। नहीं, धन अवश्य सञ्चित करो—इतना करो जिससे तुम किसी का मुँह ताके बिना, सुखपूर्वक निर्वाह कर सको; परन्तु लखपती होने की ओर अपना लक्ष्य मत ले जाओ। सुकरात, अरस्तू, पाल आदि सभी इस बात पर जोर देकर कहते हैं कि "मनुष्य को दिन-रात पैसे कमाने पर ही कमर कसे रहना उचित नहीं है, क्योंकि जो मनुष्य पैसे कमाने पर ही कमर बाँधेगा वह अपने आचरण की उच्चता और पवित्रता की ओर ध्यान नहीं देगा। अतएव नवयुवको, तुम अपने गुणों की योग्यता और आचरण की

पवित्रता के बल पर आदर पाने का दावा रक्खो। कालान्तर में एक समय वह आवेगा जब यथार्थ योग्यता विदित हो जायगी और करोड़पति तथा राजा-महाराजा भी तुमसे नीचे हो जायँगे।

(१०) दृढ़ता और धैर्य

हमारा यह विचार नहीं है कि हम इस थोड़े से अवकाश में सभी सद्गुणों का क्रमानुसार विवेचन करें। जो इन गुणों को जानना चाहते हैं उन्हें प्राचीन आचार शास्त्रियों के बनाये हुए ग्रंथों का पाठ करना चाहिये। फिर भी, हम एक गुण का वर्णन अवश्य करेंगे। वह है "दृढ़ता या धैर्य"। यह गुण आचार-सम्बन्धी महत्व प्राप्त करने के लिये बहुत आवश्यक है। इसी से सब कामों मे जय प्राप्त होती है। हमने आज तक किसी ऐसे मनुष्य को नहीं पाया कि जिसने दृढ़ता या धैर्य के बिना किसी कार्य में सफलता पाई हो। कवि-शिरोमणि वर्ड्सवर्थ अपनी "एक्सकर्शन" नाम्नी कविता में लिखते हैं, "पहाड़ों पर भ्रमण करते हुए जब आकाश में मुझे वर्षा-सूचक मेघ दिखाई पड़ने लगते, तब मैं पानी से भींग जाने के डर से अपने विचार का त्याग नहीं करता था, क्योंकि यद्यपि पानी में भींग जाने से मुझे थोड़ासा कष्ट अवश्य होता, परन्तु अपने विचारों को त्याग देने से मेरा दृढ़ सकल्प और धीरता जाती रहती और आचरण में धब्बा लगता, इसलिये पानी की कुछ भी परवा न करता हुआ मैं उस ओर बराबर चला जाता था, जहा जाने का विचार करके मैं घर से निकलता था"। पाठको, कैसा धैर्य है। कवि के इस कथन से कैसी बुद्धिमानी झलक रही है। यह ससार एक ऐसा कर्मक्षेत्र है

जहाँ पर छोटी छोटी आपत्तियों को देखकर हर जाने से काम न चलेगा। यहाँ पर ऐसी ऐसी कठिनाइयाँ उपस्थित हो जाती हैं जिनसे लड़ते रहना ही 'जीवित रहना है', और जिन्हें जीत लेना 'भला भाँति जीवित रहना है'। हमारा एक मित्र जब "धैंत ग्रचैन" नामक पर्वत के शिखर पर पहुँचा, तब ज्ञात हुआ कि जिस शिखर पर वह चढ़नेवाला था वह यथार्थ में वहाँ से नौ मील की दूरी पर था और वहाँ का मार्ग कँकरीला और ऊँचा-नीचा था। ऐसी अवस्था में, जब खूब थक गये हैं, वहाँ जाना बहुत ही कठिन कार्य था। भला रास्ता तो जैसा-तैसा ही था, पर सब से बड़ी आपत्ति यह थी कि वह शिखर, सन्ध्या समय होने के कारण, कुहरे से ढकता जाता था। सूर्यास्त के लिये केवल एक घण्टा शेष रह गया था। यह देखकर नीचे उतरने के लिये उसने पास की एक राह पकड़ी और धीरे धीरे नीचे उतर आया। रात भर वहीं विश्राम किया। फिर दूसरे दिन उसने "चैन" पहाड़ पर चढ़ना आरम्भ किया; और चोटी पर पहुँच वहाँ आनन्द-पूर्वक भोजन किया। अब, मित्र का कहना था कि दूसरी बार उस पहाड़ पर चढ़ने का प्रयत्न मैंने इस कारण किया कि जिसमें उस सुन्दर पहाड़ का स्मरण, पराजय और भीरुता की लज्जा के साथ, मेरे मन में न रहे॥ पाठको! विश्वास रक्खो, इस प्रकार के धैर्यवान मनुष्य जिस काम में हाथ लगावेंगे उसमें उन्हें सफलता अवश्य मिलेगी। अतएव किसी नये कार्य के आरम्भ में कठिनाई या विघ्न आते देखकर उस काम में हाथ न खींच लेना चाहिये। जर्मन भाषा में एक कहावत है कि 'सभी कार्य आरम्भ में कठिन होते हैं'। कार्य जितना ही उत्कृष्ट होगा, उसमें उतनी ही अधिक कठिनाई होगी। यथार्थ में, कठिन काम ही

किये जाने योग्य है। और इसके लिये दृढ सकल्प और परिश्रम की आवश्यकता पडती है। इस कर्मक्षेत्र में धैर्य ही परम शक्ति है। यदि विधाता वाम न हो, सब प्रसङ्ग विरोधक न हों, तो इसी शक्ति के द्वारा सब कामों में सफलता प्राप्त की जा सकती है। महापुरुषों के—बेंजमिन फ्रेंकलिन, फ्रेड्रिक दि ग्रेट, नेपोलियन, ईश्वरचन्द्र, दयानन्द, शिवाजी आदि के—जीवन चरित्र पढने से मालूम हो जायगा कि दृढ सकल्प, परिश्रम और धैर्य से कैसे कैसे बड़े काम किये जा सकते हैं। जो मनुष्य किसी काम में विघ्न आते देख उसे बीच ही में छोड़ देता है वह कभी कृतकार्य नहीं हो सकता। यदि चौपड़ के खेल मे अपने दाव के पासे पड़ते न देख कोई खिलाडी पासा फेंककर खेल छोड दे, तो क्या वह कभी खेल जीत सकता है ?

अब हम इस बात का कुछ विवेचन करके, कि वास्तविक आचार में दृढ़ता एव उत्तमता किस प्रकार प्राप्त की जा सकती है, अपने विषय को समाप्त करते हैं।

(११) पवित्र आचरण

सब से पहले इस बात पर ध्यान देना चाहिये कि नव-युवक इस बात को गाठ में बाँध रक्खे कि केवल धर्मयुक्त आचरण करना ही—न्यायान्याय का विचार रखते हुए साहस और शक्ति के साथ काम करना ही—मनुष्य-जीवन का मुख्य उद्देश्य है। इसी में उसका गौरव और महत्त्व है। इसे प्राप्त करने का सब से उत्तम उपाय यही है कि तुम प्रत्येक अवसर पर धार्मिकता और सच्चरित्रता के साथ आचरण करो। यदि तुम यह सोचते हो कि तुम्हें इस गुण के प्राप्त करने में अन्य,

तर्क, विचार और विद्वत्ता-पूर्ण व्याख्यान से बहुत सहायता मिलेगी तो यह तुम्हारी भूल है। हां, पुस्तकें पढ़ने और व्याख्यान सुनने से जागृति और उत्साह अवश्य आ सकता है, वास्तव में ये सब उस "साइनबोर्ड" (पथ प्रदर्शक चिन्ह) के समान हैं जो तुम्हे भूलने-भटकने से रोक सकते हैं, परन्तु यात्रा या मार्ग में ये तुम्हें एक डग भी नहीं चला सकते। चलना या न चलना तुम्हारे पैरों का काम है। चलकर ही यात्रा पूरी होगी। साइनबोर्ड यदि मिलते जायँ तो उन्हें देखने से कोई हानि नहीं, पर जितना शीघ्र तुम उनके सहारे बिना चलने का अभ्यास करोगे उतना ही अच्छा है। क्योंकि जब तुम यात्रा आरम्भ करोगे, तब थोड़ी ही दूर चलकर देखोगे कि तुम्हारा मार्ग दलदल, कुहरे, सघन जंगल, कटीली झाड़ियों से रुका हुआ है। इस स्थान में कोई भी साइनबोर्ड नहीं। ऐसी दशा में उस बेचारे पथिक का, जिसने केवल साइनबोर्ड और मील के पत्थरों को ही देखकर—उनके ही सहारे—चलने का अभ्यास किया है, क्या हाल होता होगा? इसलिये तुम्हें योग्य है कि अपने सब काम अपने चित्त की दृढ़ता और विवेक के अनुसार करो, अन्यथा तुम्हें अपनी सहायता के लिये, अपने ही समान भूले भटके पथिक के आसरे जंगल में पड़े पड़े सड़ना पड़ेगा। इससे बचने के लिये नवयुवको, कमर कसकर तैयार हो जाओ और लोगों को यह मुख्य तत्त्व सिद्ध करके दिखा दो कि जिस प्रकार तुम चलना चलकर सीखते हो, कूदना कूदकर और पटा चलाना पटा चला कर, उसी प्रकार सन्मार्ग पर न्यायानुसार आचरण करना प्रत्येक अवसर पर न्यायानुसार आचरण करने से ही सीखा जाता है। पहली मञ्जिल पर ही सँभलन की ज़रूरत है। यदि

तुम पहली ही मंजिल में, जहा धैर्य और पुरुषार्थ की आवश्यकता पडती है, तुम दबाकर भागोगे, तो दूसरी मंजिल में तुम और भी अधिक डरपोक हो जाओगे, और तीसरी में और भी अधिक। इस प्रकार तुम बिलकुल निकम्मे हो जाओगे। यदि मनुष्य नदी की तरंगों को रोकता हुआ उसमें तैरने का अभ्यास करता रहे, तो किसी समय वह ज्वारभाटा के समय भी तैर सकता है। यदि वह शान्त और स्थिर पानी में ही तैरने का अभ्यास करता रहे, तो वह ज्वारभाटा अथवा प्रबल लहरों में तैरने का कभी साहस न कर सकेगा। पाप और पुण्य के सिद्धान्तों ही को (पुस्तकों के द्वारा) जान लेने से कोई मनुष्य पुण्यात्मा अथवा पवित्र आचरण-वाला नहीं बन सकता, जब तक कि वह उनके अनुसार आचरण न करे। जिस प्रकार यात्रा में मनुष्य एक एक मील के पत्थरों को छोड़ता हुआ आगे बढ़ता जाता है, उसी प्रकार जीवन-यात्रा में उसे उचित है कि वह अपने एक एक दोष को छोड़ता हुआ, और अपना आचरण पवित्र और उच्च बनाता हुआ, आगे बढ़ता जाय, अन्यथा, अन्त में फिर सिवाय पश्चात्ताप करने के और कुछ हाथ नहीं लगता, क्योंकि मनुष्य-जीवन बार बार नहीं मिलता है।

(१२) स्वाध्याय

जब कभी तुम्हें मन में विषाद पैदा हो अथवा आचार-धर्म के पालन करने में कुछ आगा-पीछा हो, उस समय तुम अपने पूर्वकृत पवित्र कार्यों का स्मरण करो—रिचर साहब का यही कहना है। इस प्रकार अपने नित्य-नैमित्तिक कार्यों के समय, जब तुम्हें बहुधा कायर और अप्रामाणिक पुरुषों से

सामना करना पड़ता है, तुम्हें उचित है कि तुम किसी मर्यादा पुरुषोत्तम के आदर्श-चरित्र का ध्यान करो। युधिष्ठिर, भीष्म, हरिश्चन्द्र आदि के चरित्र का स्मरण करो। इससे तुम्हारी कायरता दूर हो जायगी—दृढ़ता बढ़ेगी। तुम्हें उचित है कि तुम अपने हृदय में महात्माओं के सदुपदेशों को धारण करो। इससे तुम्हारी वैसी ही रक्षा होगी जैसी कि राजा की रक्षा उसकी सेना से होती है, बल्कि उससे भी बढ़कर। वे उपदेश तुम्हें सभी काल के और सभी देशों के महात्माओं के ग्रन्थों में मिलेंगे। ये उपदेश बचपन ही में अपने हृदय-मन्दिर में संग्रह कर लेना बुद्धिमानी का काम है।

भारतीय लोगों के धार्मिक ग्रन्थ असंख्य हैं। और संस्कृत भाषा में हैं। इन सब का अध्ययन करना नवयुवकों के लिये बहुत कठिन है। वर्तमान समय के विद्यार्थियों को इतना समय नहीं कि वे इन सब ग्रंथों का भली भांति अध्ययन कर सकें, अतएव हम थोड़े से ग्रंथों का नाम लिखते हैं, जिन के स्वाध्याय से भारतीय नवयुवकों को नीति और धर्म का ज्ञान बहुत कुछ हो सकता है। नीति-ग्रन्थों में विदुरनीति, चाणक्य नीति, शुक्रनीति, भर्तृहरि-नीतिशतक इत्यादि के हिन्दी भाषान्तर मूल के साथ पढ़ने चाहियें। रामायण और महाभारत के संक्षिप्त अनुवाद भी पढ़ने चाहिये। धार्मिक ग्रन्थों में गीता का अध्ययन विशेष रीति से करना चाहिये। काव्य-ग्रन्थों में कालिदास और भवभूति इत्यादि के ऐतिहासिक नाटक और काव्यों के अनुवाद पढ़ने चाहिए। बुद्धि परिपक्व हो जाने पर मनुस्मृति, उपनिषद्, षट्दर्शन और वेद के उपदेशप्रद तथा मनोरञ्जक प्रकरण पढ़ने चाहियें। इनमें से अधिकांश के सरल

हिन्दी अनुवाद आर्यसमाज की ओर से हो चुके हैं। वेदों के उपदेशप्रद मन्त्रों के समह भी छपे हैं। पश्चिमी तत्ववेत्ताओं तथा प्रसिद्ध कवियों के ग्रन्थों का भी तुलनात्मक स्वाध्याय किया जा सकता है। नीति-धर्म-सम्बन्धी शिक्षा की भारतीय युवकों को बड़ी आवश्यकता है।

(१३) महात्माओं के चरित्र

आचरण को पवित्र और जीवन को उच्च बनाने के लिये धर्मग्रन्थों के पवित्र उपदेशों को हृदय में भरना तो उपयोगी है ही—इससे भी अधिक उपयोगी यह है कि महात्माओं के पवित्र चरित्रों के चारु चित्र चक्षुओं के सामने झूलते रहें अथवा यों कहिये कि महान् पद पर पहुँचने के लिये बाल्यावस्था ही से महापुरुषों का सत्सग किया जाय। जहा तक हमारा अनुभव है, हम कह सकते हैं कि महात्माओं के आदर्श से चित्त पर जितना प्रभाव पड़ता है उतना किसी भी उपदेशप्रद व्याख्यान के सुनने से नहीं, क्योंकि आदर्श के द्वारा हम उनके कर्म, जिनका हमें कभी स्वप्न में भी, ध्यान नहीं है, प्रत्यक्ष देखते हैं। ये आदर्श मानों हम से पुकार कर कहते हैं कि "यदि तुम भी इसी प्रकार होना चाहते हो तो जाओ और इनके समान आचरण करो।" और, इनके समान आचरण क्यों न करना चाहिये? इसमें सन्देह नहीं, सभी मनुष्य इनके समान नहीं कर सकते हैं—नहीं चल सकते हैं, और उन्हें प्रतिदिन वैसे अवसर भी नहीं मिलते हैं, परन्तु फिर भी यदि वे चाहें तो, बहुत कुछ वैसा कर सकते हैं। हमने माना, तुम वैसे उच्च पद पर आरूढ नहीं हो, परन्तु तुम नीचे पद पर भी रहकर, धैर्य और साहस के साथ, बहुत

कुछ वैसे ही उत्कृष्ट कार्य कर सकते हो। प्रत्येक मनुष्य, यदि वह अपनी समस्त शक्तियों का पूर्ण उपयोग करने की ठान ले और कोई अवसर अपने हाथ से न जाने दे, तो वह महात्माओं की सत्संगति से बहुत से लाभ उठा सकता है। किसी मनुष्य के गौरव का उसके उच्च पद पर से अथवा लोगों के मुँह से उसकी प्रशंसा सुनकर अनुमान करना भ्रममूलक है। एक बड़ा सेनापति किसी घोर युद्ध के आरंभ में, जिस पर उस देश की स्वतन्त्रता अवलम्बित है, बुद्धिमानी और दूरदर्शिता के साथ, जो प्रबन्ध करता है वही प्रबन्ध एक छोटे से गाँव का मुखिया, अपने गाँववालों के लिये, अल्प रूप में, करता है। छोटे छोटे कामों के करने में, जिन्हें बड़े लोग जानते भी नहीं हैं, और जिन्हें करने से बहुत प्रशंसा भी नहीं मिलती है जिस बुद्धिमत्ता और चतुराई से काम किया जाता है उसे कम न समझना चाहिये। इसलिये हमें चाहिये कि बचपन ही से हम सब प्रकार और सब देशों के महान पुरुषों के जीवनचरित्र, वर्णभेद का विचार न रखते हुए, पढ़ें और उनकी सत्संगति का कोई भी मौका न चूकें। ऐसा करने से हम उनके गुणों का अनुकरण करने में उत्साहित और दुष्कर्मों के करने में लज्जित होंगे। नवयुवको, यदि तुम धर्म के यथार्थ तत्त्व* को जानना चाहते हो, तो मतमतान्तरों की झगड़ों में न पड़कर, ईश्वर में अटल विश्वास रक्खो, और महापुरुषों के जीवनचरित्रों का अध्ययन करके, तथा उनकी सत्संगति करके, उनके दिखाये हुए मार्ग पर चलो। हम नवयुवकों को पलँग पर लेटे हुए गन्दे गन्दे उपन्यास पढ़ते हुए और चरित्र-नायकों के दोषों पर हँसते

* धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां,
महाजनो येन गतः स पन्थाः।

हुए देखते हैं, तो हमें आश्चर्य होता है कि ये लोग किस तरह धार्मिक और सज्जन हो सकेंगे, जब कि वे अपने इस अमूल्य समय को महात्माओं के जीवन-चरित्र पढने, उनसे सुशिक्षा ग्रहण करने और उनके समान सदाचारी तथा विद्वान् बनने में न लगाकर, कुत्सित उपन्यास और कहानियो के पढने में नष्ट करते हैं। उपन्यास पढने से मनोविनोद तथा कालक्षेप भले ही हो, परन्तु ऐसे उपन्यास, जिनसे कुछ शिक्षा ग्रहण की जा सके, बहुत ही थोडे, इतने थोडे कि नहीं के बराबर हैं। इसमें सन्देह नहीं, अच्छे अच्छे उपन्यास भी हिन्दी में प्रकाशित हो चुके हैं, परन्तु अधिकाश उपन्यास ऐसे हैं जिनसे चरित्र सुधरना या शिक्षा मिलना एक ओर रहकर, विपरीत परिणाम होता है। जो हो, उपन्यासों के पढने में जो समय लगाया जाता है वही समय यदि प्रसिद्ध पुरुषों के जीवन चरित्र पढने में लगाया जाय, तो मनोरजन के साथ साथ, बहुत लाभ भी हो सकता है। हिन्दी में महाभारत, रामायण, राजस्थान आदि कई ऐसे ऐसे ग्रथ हैं जिन के पढने में मनुष्य को मनुष्यत्व प्राप्त होकर अपने पूर्व पुरुषों का गौरव, धर्मभीरुता, कर्त्तव्य-परायणता आदि गुणों का बोध हो सकता है। सीतादेवी ने किस प्रकार पतिव्रत-धर्म तथा पति आज्ञा का पालन करके अपने जीवन में दो बार बनवास का दुःख सहन किया, भरत ने भ्रातृभक्ति के सन्मुख राज्य को तुच्छ समझा, हरिश्चन्द्र ने सत्यधर्म का पालन करने के लिये कितने कष्ट सहे, अनेक सकटों के सहते हुए भी प्रह्लाद ईश्वर-भक्ति पर अटल रहा, राना प्रताप, जङ्गल में भूखे रहकर, तथा अनेकों कष्ट सहते हुए, अपने देश की स्वाधीनता के लिये कैसी वीरता से लड़ते रहे—

ये सब ऐसे चरित्र हैं, जिनका हृदय पर प्रभाव अवश्य ही पड़ेगा। सत्य घटनाओं को झूठ कोई नहीं कह सकता है—उन्हें मानना ही पडता है। अच्छे से अच्छे कल्पित उपन्यास, जिनसे कुछ भी उपदेश नहीं मिलता है, उस इन्द्र धनुष के समान हैं जो देखने में तो सुन्दर है, परन्तु क्षणस्थायी है—थोड़ी देर में जिसका नाम निशान मिटनेवाला है।

(१४) सत्सगति

महात्माओं के जीवन-चरित्र पढ़ने की अपेक्षा उनके सत्सग का सौभाग्य प्राप्त करना अधिकतर उपयोगी और प्रभावोत्पादक होता है। उत्तम ग्रंथा से सद्गुणों का अभ्यास करने के लिये उत्साह और उत्तेजना अवश्य प्राप्त होती है, परन्तु यह तभी होता है जब हम उन्हे पढ़ें। यदि ये आलमारी में डाल दिये गये, या मेज पर फेंक दिये गये और न पढ़े गये, तो उन से कुछ भी लाभ नहीं। परन्तु महात्माओं के सत्सग का यह हाल नहीं है। उनके एक बार के संग से, विद्युत् की तरह, प्रभाव पड़ता है। हजार प्रयत्न करने पर भी तुम उनके उपदेशामृत के प्रवाह को नहीं रोक सकते। हाँ, मूर्ख लोगों को, जिन के ज्ञान-चक्षु नहीं, जिनमें सहृदयता का लवलेश नहीं, सत्सग से कुछ नहीं हो सकता। इनसे यदि ब्रह्मा भी आकर उपदेश देवें, तो भी कुछ लाभ न होगा। हमने माना, तुम अच्छी बातों से घृणा नहीं करते हो; परन्तु यदि तुम्हें महात्माओं के सत्सग का सौभाग्य प्राप्त हो, तो फिर इस से बढ़कर और क्या है? जितना अधिक उनका समागम हो, उतना ही अच्छा है, क्योंकि सदाचारी पुरुषों के साथ जितना अधिक सम्बन्ध होता जाता है उतने ही अधिक उनके गुण

दृष्टिगोचर होते जाते हैं। रामकृष्ण परमहंस, दयानन्द, विवेकानन्द, रामतीर्थ, आदि दिव्य आचरण और दिव्य शक्तिवाले महात्माओं के सत्सङ्ग से अपने आचरण पर जो प्रभाव पडता है, जो ज्ञान प्राप्त होता है, वह उत्तमोत्तम ग्रन्थों के अध्ययन तथा व्यावहारिक चतुराई से कहीं बढकर है। जब तुम्हारे चित्त पर उनका प्रभाव पूर्णरूप से पड जायगा, तब अल्प बुद्धिवाले लोग चाहे भले ही हँसा करें, और बुद्धिमान् जन असन्तोष प्रकट किया करें, परन्तु इसका तुम्हें कुछ भय नहीं है, क्योंकि तुम भली भाँति जानते हो कि तुमने कैसे महात्मा को अपना आदर्श माना है, और सो भी किस प्रकार—क्या आँख बन्द करके ? नहीं, उसका आचरण अच्छी तरह देख भाल करके। ज्यों ज्यों तुम बडे होते जाओगे, त्यों त्यों तुम्हारा आचरण दिव्य होता जायगा, ज्ञान और शक्ति की वृद्धि होती जायगी, क्योंकि तुम पर सदाचारी सज्जन का प्रभाव पड चुका है। यदि तुम्हें किसी नीति धर्म निपुण महात्मा के सत्सङ्ग का सौभाग्य न प्राप्त हो तो भी तुम कुसंगति से बच सकते हो। यदि नहीं बच सकते, तो तुम्हें उचित है कि, जहा तक तुम से बन सके, उसमे, जानबूझकर, अपने आप, मत पड़ो। कई प्रसङ्ग ऐसे आ जाते हैं जहा पर अपने साथी ढूँढ़ने की सामर्थ्य तुम में नहीं रहती है। स्मरण रक्खो कि कुसंगति का प्रभाव निर्बल हृदयवाले मनुष्य पर अधिक पडता है, जिस प्रकार प्लेग आदि बीमारियों का प्रभाव बलवान् मनुष्यों की अपेक्षा निर्बल मनुष्यों पर अधिकतर पडता है। यदि तुम शुकाचार्य के सदृश संयमी हो तो तुम रम्भाओं के बीच में बैठकर भी नहीं बिगड सकते। परन्तु मनुष्य का स्वभाव बहुधा ऐसा होता

है कि वह भ्रष्ट कामना के वशीभूत हो जाता है। विशेषकर तरुणावस्था में इन्द्रियों का रोकना बहुत कठिन होता है। जो हो, कुमार्ग से बचने के लिये, सब से उत्तम उपाय यही है कि तुम इस बात की प्रतिज्ञा कर लो कि चाहे कैसा ही मौका क्या न हो, हम कुमार्ग-गामी पुरुषों की संगति कभी न करेंगे; क्योंकि इनकी संगति से आचरण में धब्बा लगता है। जब हम इस धब्बे की ओर कुसंगति जनित क्षणिक आनन्द की तुलना करते हैं, तब यह आनन्द (?) पासंग में चढ़ जाता है। पाप और कुकर्म से सदैव घृणा ही करना चाहिये। कुकर्म-द्वारा आनन्द भोग करना सर्प के बिल में हाथ घुसेड़ना है। परन्तु फिर भी, पापी मनुष्य से घृणा न करके उस पर दया करनी चाहिये; क्योंकि कुछ भी हो, वह हमारा भाई ही है—वह और हम एक ही ईश्वर की सन्तान हैं। याद रक्खो, राबर्ट बर्न्स* की क्या दशा हुई थी। वह दूसरों को उपदेश देना खूब जानता था, परन्तु स्वयं उसका आचरण ठीक न था—जो उपदेश दूसरों को देता था उसके अनुसार खुद न चलता था। इस देखकर ग्रीनो की यह वक्रोक्ति स्मरण आती है कि "मनुष्य के समान अधिक अभिमानी और तुच्छ जीव दूसरा नहीं है।" नवयुवको, इस अभागे कवि का कभी अनुकरण न करना। जहाँ तक हो सके, अपने से बड़ और अच्छे लोगों की संगति करो और जब कभी अपने से नीचों की संगति में आ पड़ो, तो इस

* यह स्काटलैंड का प्रसिद्ध कवि था। बड़ा मसखरा था। उपदेश देने में तो बड़ा कुशल था; परन्तु उसका आचरण ठीक न था। फल यह हुआ कि उसका स्वास्थ्य बिगड़ गया और ३७ वर्ष की ही अवस्था में यह संसार से चल बसा।

बात का अच्छी तरह स्मरण रक्खो कि यदि तुम इन्हें अपनी बराबरी पर लाने का प्रयत्न न करोगे—जिसके लिये बुद्धिमानी और प्रेम दोनों की आवश्यकता है—तो वे निस्सन्देह तुम्हें अपनी बराबरी पर लाने में कभी न चूकेंगे।

(१५) अपनी आलोचना

कवि गेटी का कथन है, "मनुष्य चाहे किसी भी काम को करे, परन्तु जिस काम को वह करे उसे नियम-पूर्वक और किसी उद्देश्य से करे"। और, यदि तुम नियमानुसार काम करते हो तो तुम्हें आवश्यक है कि, समय समय पर, अपने किये हुए कामों पर विचार करते रहा करो। व्यापार-सम्बन्धी काम-काजों में ऋण से बचने का अच्छा उपाय यह है कि जिस वस्तु को लो उसे, जहा तक बन सके, नकद देकर लो, और यदि उधार लेना पडे तो हिसाब को बहुत समय तक बिना सुलझे हुए न पड़ा रहने दो। समय समय पर उसे सुलझा लिया करो। बस, ठीक यही दशा हमारी आत्मा और ईश्वर के विषय में है। अत्युत्तम समुद्र के नक़शे तथा कम्पास से उस मनुष्य को कुछ भी लाभ नहीं हो सकता जिसको उनके उपयोग करने का अभ्यास नहीं है। इस विषय मे पैथागोरियन लोगों का निम्न लिखित उपदेश अनुकरणीय है—"तू कभी मत सो, जब तक कि तू दिन भर के कृत्यों का स्मरण न कर ले। कहा कहा गया था, कौन कौन से अच्छे काम करने को छूट गये—जब तू इन बातों का विचार कर ले, तब बुरे कामों के लिये पश्चात्ताप करके उन्हें फिर कभी न करने की प्रतिज्ञा कर और अच्छे कामों के लिये आनन्दित हो। इतना कर चुकने पर, तू सो जा"। जब तक मनुष्य

एकान्त स्थान में बैठकर आत्मालोचन का अभ्यास न करेगा, तब तक, हम समझते हैं, वह पूर्ण महत्व और पवित्रता को कभी नहीं प्राप्त कर सकता है। डेविड का कथन है, "सोते समय अपने आचरण पर विचार करो, और फिर शान्तचित्त होकर विश्राम करो।" कवि गेटी का कथन है, "जिस मनुष्य ने ईश्वर को धन्यवाद दिये बिना भोजन किया, जिसने अपने दुष्कर्मों पर, एकान्त में बैठकर, पश्चात्ताप और अश्रुपात न किया वह मनुष्य कभी धार्मिक नहीं हो सकता, उसे आत्म-दर्शन नहीं हो सकता।" महात्मा पाल का कहना है, "अपने क्रोध को अधिक समय तक मत रक्खो, उसको बहुत जल्द दूर करो"। इन सब कथनों का अभिप्राय यही है कि अपने कृत्यों पर विचार करने के लिये कोई समय नियत करो और नियत समय पर विचार किया करो। ईसाइयों ने रविवार का दिन परमात्मा का भजन करने के लिये मान लिया है। यहूदी लोगों ने इस दिन को शरीर के विश्राम के लिये माना था। ईसाइयों को भी उचित है कि वे इतवार के दिन, सब काम को छोड़कर, शरीर को पूर्ण विश्राम दिया करें। ऐसा करना स्वास्थ्यप्रद है। इस प्रकार विश्राम करने के साथ ही, उस दिन एकान्त स्थान में बैठकर अपने पूर्व-कर्मों पर विचार भी करना चाहिए। दूसरे देशवालों ने इंगलैण्ड-देश-वासियों की इस बात में अनेक दोष दिखाये हैं कि ये लोग रविवार के दिन काम-सम्बन्धी कार्यों को छोड़कर और कुछ भी नहीं करते हैं, परन्तु इन समालोचकों को यह देखना उचित था कि इस नियम के अनुसार चलने में उनके व्यवहार कैसे प्रामाणिक, कार्य कैसे दृढ़ और आचरण कैसे शुद्ध हो

गये हैं। फ्रांस-देशवासियों के आचरण में कई ऐसी क्षुद्र और घृणित बातें पाई जाती हैं जिन्हे दूर किये बिना मनुष्य कदापि धर्मिष्ट और पवित्र नहीं हो सकता। स्काटलैंड देशवालों में एक दोष यह भी लगाया जाता है कि वे इतवार के दिन नाच-गाना तक पसन्द नहीं करते, परन्तु फ्रांसवाले उस दिन इतनी शराब पीते हैं कि जिसके कारण वे दूसरे दिन, अर्थात् सोमवार को भी, अपने काम सावधानी से नहीं कर सकते हैं।

(१६) ईश्वर-प्रार्थना

आत्मालोचन के सूक्ष्म विषय के बाद, इसी सिलसिले में, स्वाभाविक ही "ईश्वर-प्रार्थना" पर कुछ लिखना आवश्यक है। वर्तमान वैज्ञानिक युग में, जब कि प्रत्येक बात का विज्ञान की ही दृष्टि से विवेचन किया जाता है, लोगों का ऐसा विचार है कि विद्या ही सब से बड़ी शक्ति है, और सारी बात इसके नीचे है। परन्तु यह कथन केवल उसी दशा में ठीक है जब कि विद्या की ही विशेष आवश्यकता रहती है। अर्थात भौतिक विषयों में। ससार में कई बातें विद्या से भी अधिक श्रेष्ठ हैं—यहा और भी कई जीवित शक्तिया हैं। और निस्सन्देह मानवी जीवन में प्रेरक शक्ति विद्या नहीं, किन्तु स्फूर्ति है, जिसका साधन ईश्वर-प्रार्थना है। जहा स्फूर्ति नहीं वहा आत्मा गिरी रहती है, उन्नत नहीं होती। वह पेट के बल रेंगती रहती है, उड़कर फर्राटे नहीं भरती। यदि बहुत हुआ तो उसकी दशा उस पजरबद्ध पक्षी की सी हो जाती है जो अपने पिंजड़े के ही अन्दर, बड़े कौतूहल के साथ, इधर-उधर घूमने में व्यग्र रहता है। हमारे इस कथन का यह अभिप्राय नहीं है कि मनुष्य ईश्वरीय सृष्टि-वैभव को भूलकर, इतना स्वार्थी हो जाय कि वह ईश्वर से दिन-

रात यही प्रार्थना करता रहे कि उसके सुख और सुभीते के लिये संसार के सारे नियम बदल दिये जाँय। हम इसलिये प्रार्थना नहीं करते कि दैवी नियम ही बदल दिये जाँय, किन्तु इस लिये कि जिससे हम ईश्वरीय नियमों के अनुसार चलना सीखें। हम यह नहीं कह सकते कि मामूली सांसारिक बातों के पूर्ण करने में ईश्वर के प्रति हमारी प्रार्थना कहां तक सफल हो सकेगी। परन्तु इतना हम निश्चय-पूर्वक कह सकते हैं कि अपने आचरण को पवित्र बनाने का सब से उत्तम और स्वाभाविक उपाय यही है कि,ज्ञान प्राप्ति की पवित्र अभिलाषा रखते हुए, नित्य प्रति, बार बार, अति नम्रभाव से,हृदयपूर्वक प्रार्थना की जाय। इसी के द्वारा हम ईश्वर के निकट पहुँच सकते हैं। मनुष्य के आचरण को परखने का सर्वोत्तम और सरल उपाय यही है कि यह देखा जाय कि वह नित्य प्रति ईश्वर से प्रार्थना करता है या नहीं। जो मनुष्य पाप-कर्म करने अथवा असत्य बोलने में सहायता करने के लिये ईश्वर से प्रार्थना किया करता है उससे बढ़कर मूर्ख और कौन होगा? सांसारिक अनुभव से ऐसा निश्चित हुआ है, कि आर्द्रहृदय से की हुई असली एकान्तिक प्रार्थना, जो कि शुद्ध धार्मिक स्वभाव-वाले मनुष्य के लिए एक अति आवश्यक बात है, वही रूखे स्वभाववाले, इन्द्रिय-लोलुप, और स्वार्थ-परायण मनुष्य के लिये टेढ़ी खीर है। हां, ऊपर ऊपर से तोते के प्रार्थना-मन्त्रों को बार बार पाठ कर जाना दूसरी बात है। अतः नवयुवको, महर्षियों के इस उपदेश को गांठ में बांध रक्खो—"निरन्तर ईश्वर का स्मरण रक्खो"। अपने को भक्ति-पूर्वक उस सर्वकल्याण-प्रद परमात्मा के आश्रय में रक्खो। क्योंकि संकुचित हृदय से

प्राप्त की हुई क्षुद्र विद्या से जो खोखला आत्म विश्वास पैदा होता है उससे उत्पन्न होनेवाले गर्व को दूर करने के लिए परमात्मा का आश्रय रामबाण औषध है। हम लोगों को उचित है कि केवल भोजन करने के पहले ही नहीं, किन्तु प्रत्येक महत्व-पूर्ण कार्य के पहले, शुद्ध अंतःकरण से, ईश्वर का स्मरण किया करें। शूरवीर नवयुवको, तुम पूर्णतया धनुर्बाण से सज्जित होकर संग्राम में जाओ, पर इस बात का सदैव ध्यान रखो कि तुम्हारा युद्ध देवताओं का सा हो, असुरों का सा नहीं। तुम्हारे हाथ में खड्ग हो, अथवा लेखनी—तुम दोनों में से किसी को भी, केवल अपने दुराग्रह-पूर्ण आत्म-विश्वास अथवा आत्मश्लाघा दिखाने के लिए व्यवहार में मत लाओ। चाहे सुख में हो, चाहे दुःख में हो, चाहे निराश और उदास हो, सदैव ईश्वर से कहो, कि "हे परमपिता! मुझ सदृश महान् पापी को भी आशीर्वाद दो, मुझे पवित्र बनाओ, मेरा कल्याण करो।"

मुद्रक—बाबू शारदाप्रसाद खरे, हिन्दी-साहित्य प्रेस, प्रयाग।

हठयोग

सपादक

श्रीदुलारेलाल भार्गव

(सुधा-संपादक)

गंगा पुस्तकमाला का पच्चीसवाँ पुष्प

हठयोग

अर्थात्

शारीरिक कल्याण

(योगी रामाचारक-लिखित 'हठयोग' नामक अँगरेज़ी ग्रंथ का हिंदी रूपांतर)

अनुवादक

ठा० प्रसिद्धनारायणसिंह बी० ए०

प्रकाशक

गंगा पुस्तकमाला कार्यालय

२६ ३०, अमीनाबाद-पार्क

लखनऊ

द्वितीयावृत्ति

सजिल्द १।।=)] संवत् १९८४ [सादी १।=)

गंगा पुस्तकमाला का पचीसवाँ पुष्प

हठयोग

अर्थात्

शारीरिक कल्याण

(योगी रामाचारक-लिखित 'हठयोग'-नामक
अँगरेज़ी ग्रंथ का हिंदी रूपांतर)

अनुवादक
ठा० प्रसिद्धनारायणसिंह बी० ए०

प्रकाशक
गंगा पुस्तकमाला-कार्यालय
२९ ३०, अमीनाबाद पार्क
लखनऊ

द्वितीयावृत्ति

सजिल्द १।।।=)] सं० १९८९ [सादा १।=)

प्रकाशक
श्रीदुलारेलाल भार्गव
अध्यक्ष गंगा-पुस्तकमाला-कार्यालय
लखनऊ

मुद्रक
श्रीदुलारेलाल भार्गव
अध्यक्ष गंगा-फ़ाइनआर्ट-प्रेस
लखनऊ

समर्पण

अवध के ताल्लुकेदारों में आदर्श व्यक्ति,

वैसकुलालंकरण,

श्रद्धास्पद श्रीमान

राजा सूर्यबख्शसिंह साहब

कसमंडाधिपति के कर कमलों में ।

श्रीमन्,

भगवती सरस्वती और लक्ष्मी की लोकोत्तर विभूति से सपन्न हो श्रीमान् जिस देश की हितचिंता में अहर्निश लीन रहते हैं और अपनी जिस आदरणीया मातृभाषा हिंदी के साहित्य भांडार की वृद्धि में तन, मन, धन से लगे रहते हैं, उसी भांडार की पूर्ति के यत्नस्वरूप और उसी देश के कल्याण-साधन के प्राचीन एवं आदर्श योगनिधि से एक अंश इस पुस्तक को श्रीमान् की सेवा में हार्दिक श्रद्धा और आदर से समर्पण करता हूँ ।

श्रीमान् का कृपाभाजन,

प्रसिद्धनारायण

भूमिका

योगी रामाचारकजी की "साइन्स ऑफ ब्रेथ" का जो मैंने अनुवाद किया, उसकी हस्तलिखित कापी हमारे कई मित्रों के हाथ में पहुँची। उसे पढ़कर लोगों ने इतनी प्रसन्नता प्रकट की कि इस हठयोग के अनुवाद करने का भी मुझे उत्साह हो गया। इसके अतिरिक्त अनेक उत्साही मित्रों ने इन क्रियाओं का अभ्यास भी प्रारम्भ कर दिया। जिन जिन लोगो ने जी लगाकर इसका अभ्यास किया, वे तो इसके गुणों पर ऐसे मुग्ध हो गए और कहने लगे कि भारतवर्ष के योगियो की जो विद्या अब तक पहाड़ों की कन्दराओं में छिपी थी, वह अब सर्वसाधारण में प्रचलित होगी और देश का असीम उपकार होगा। इन वाक्यों को सुन-सुनकर मैं विचार करने लगा कि जब केवल श्वास क्रियाओं ही का प्रभाव लोगों को इतना उत्साहित कर रहा है, तो उन क्रियाओं के साथ यदि खान, पान रहन, सहन इत्यादि सभी बातों में हठयोग के नियमों का अनुसरण होने लगेगा, तो और भी कितना लाभ होगा। इसी विचार से योगी रामाचारकजी के हठयोग-नामक ग्रंथ का भी मैंने अनुवाद कर दिया।

योगी रामाचारकजी प्रत्येक विषय को अपना किताबों में इस रीति से समझाते हैं कि शिष्यों के लिय कोई कठिनाई ही नहीं रह जाती। बहुत दिनों से यह सुनते आते थे कि बिना साक्षात् गुरु क कोई साधन सिद्ध नहीं हो सकता; पर योगी रामाचारकजी के उपदेश, बिना साक्षात् गुरु के भी, साक्षात् गुरु के-से काम देते हैं। इसलिये मैंने उन्हीं के लेखा का ठीक-ठीक अनुवाद करने का यत्न किया है, अपनी ओर से कुछ भी घटाने-बढ़ाने की चेष्टा नहीं की। हाँ, एसी जगहों पर अवश्य कुछ परिवर्तन कर दिए गए हैं, जहाँ उन्होंने अपने अमेरिका निवासी शिष्यों को संबोधन करके कहा है, वहाँ मैंने अपने भारतीय भाइयों को संबोधन कर दिया है।

योगशास्त्र के पुराने ग्रंथों, जैसे पातंजल-योगशास्त्र और शिव संहिता आदि के देखने से ज्ञात होता है कि पुराने ग्रंथ इतने बड़े नहीं हैं, जितना बड़ा कि यह ग्रंथ है। इसमें बातें भी बहुत-सी नई नई हैं, जो उन पुराने ग्रंथों में नहीं मिलतीं। हमारे देश के लकीर के फकीर लोग यह शंका कर सकते हैं कि इस किताब में तो बहुत सी नई बातें आ गई हैं और पुरानी बातें भी नए ढंग से कही गई हैं, इसलिये इस शिक्षा का अनुसरण करने से तो हम नवग्राही हो जायँगे और हमारा सनातनधर्म ही बिगड़ जायगा। ऐसे सनातनियों से हमारा यह निवेदन है कि पतञ्जलि और शिवजी का जमाना दूसरा था। उस जमाने में ऊँची-सी-ऊँची शिक्षा बहुत संक्षेप में, सूत्र रूप में, दी जाती थी। वही तरीक़ा गुरु और शिष्य दोनों के अनुकूल था। पर अब तो यदि सही-से-सही सिद्धांत को आप संक्षेप में सूत्र रूप से कहेंगे, तो कोई सुनेगा ही नहीं। अब सूत्रकाल नहीं है। अब साइंस काल है। एक ही बात को कई प्रकार से समझाइए, इतना समझाइए कि सुननेवालों के मन में कोई संदेह न रह जाय, तभी आपका समझाना समझाना है। इसी को साइंस या विज्ञान कहते हैं। इसमें ग्रंथ बड़े हो ही जाते हैं। इस योगशास्त्र के सिद्धांत तो वही सनातन के हैं, पर कहने का ढंग नया है; इसलिये इसका अनुसरण करने से सनातनधर्म किसी प्रकार नहीं बिगड़ सकता, इस बात से निश्चिंत रहना चाहिए। दूसरी यह बात कि इसमें पुराने ग्रंथों की अपेक्षा बातें अधिक कही गई हैं, इसको मैं मानता हूँ कि यह बात बहुत ठीक है और इसका भी प्रबल और आवश्यक कारण है।

यह कारण तब समझ में आवेगा, जब पहले आप यह समझ लेंगे कि योग की साधन प्रणाली क्या है। योगशास्त्र पहले अपने शिष्यों को प्रकृति के मार्ग पर लाता है, फिर उनकी शक्तियों को

जगाता है। एक मनुष्य है, जो राह छोड़कर थोड़ी ही दूर कुराह पर गया है उसके लिये फिर से राह पर लाने के लिये थोड़ी ही बातें कहनी पड़ती हैं; परंतु दूसरा मनुष्य, जो असली राह छोड़कर बहुत दूर भटक गया है, उसके लिये ज़रूर बहुत भटकी हुई बातों को समझाकर ठीक मार्ग पर लाना होगा। पहले ज़माने के मनुष्य प्रकृति के मार्ग से बहुत दूर नहीं भटके थे, इसलिये थोड़े ही में कह कर उनको ठीक मार्ग पर लाते थे और उनकी शक्तियों को जगाते थे। अब के मनुष्य भटककर प्राकृतिक मार्ग से बहुत दूर हट गए हैं और मनमानी राह पकड़कर गुमराह हो रहे हैं; इसलिये भटके हुए दूर के मार्गों का दोष दिखलाना आवश्यक हो गया, तभी मनुष्य भटके मार्ग को छोड़कर असली मार्ग पर आवेंगे। इसलिये इसमें नई-नई भूलों और भ्रमों को दूर करने के लिये नई नई बातें कहनी पड़ीं।

मेरे अनुभव में यह बात आई है, और मेरे साधक मित्रों ने भी इस बात का समर्थन और अनुमोदन किया है कि योगशास्त्र की पुस्तकों को केवल एक ही बार, चाहे कितना ही ध्यानपूर्वक हो, अध्ययन करने से काम नहीं चलता। एक बार थोड़ा-थोड़ा पढ़कर अभ्यास शुरू कीजिए। ग्रंथ समाप्त हो जाने पर कुछ दिन के लिये इसका पढ़ना छोड़ दीजिए, पर अभ्यास करते जाइए। कुछ दिन के बाद फिर ध्यान से पढ़िए। इस प्रकार आपको नई बातें मालूम होती जायँगी, जो पहले अध्ययन में आपके ख़याल पर नहीं थीं। एक तो अभ्यास करने से आपके मन में नए-नए प्रश्न उठेंगे, दूसरे एक ही बार में मन सब बातों को ग्रहण नहीं कर सकता, इसलिये थोड़ा थोड़ा अंतर देकर इसे बार-बार पढ़ते रहना चाहिए, तब बड़ा लाभ होता है।

योग की क्रियाओं के करने से शरीर के अंग प्रत्यंग जग उठते हैं। अवयव-अवयव, रेशे-रेशे, कण कण में शारीरिक क्रियाएँ अच्छी तरह से होने लगती हैं। निर्बल अंगों में बल आने लगता है, निष्क्रिय

अवयव क्रिया करने लगते हैं, शरीर में, जहाँ-जहाँ त्रुटियाँ हैं, उनके दूर करने का प्रयत्न होने लगता है। वेदनाहीन अंगों में वेदना जग उठती है। शरीर में ऐसी भी त्रुटियाँ हैं, जिनकी आपको ख़बर तक नहीं है, क्योंकि वहाँ के अवयव वेदनाहीन हो गए हैं। पर जब सर्वत्र क्रिया जारी हो जाती है, तो वेदनाओं के जग जाने से त्रुटियाँ प्रकट हो जाती हैं। इसको बहुत-से लोग रोग समझ लेते हैं। हमारे मित्र साधकों में से कोई कहता है कि मेरी छाती में मीठी-मीठी पीड़ा-सी हो रही है, कोई कहता है, अँतड़ियों में कुछ अव्यवस्थिति-सी मालूम होती है इत्यादि इत्यादि। इन बातों से डरना न चाहिए; किंतु प्रसन्न होना चाहिए कि क्रिया जारी हो गई और सफ़ाई होने लगी। सबसे पहले फेफड़ों की सफ़ाई होती है। किसी-किसी को कुछ थोड़ी वेदना होती है, जुकाम तो अक्सर लोगों को हो जाता है और ख़ूब कफ़ जाता है। निश्चित रहिए, कोई बीमारी प्रबल वेग से कभी न उभरेगी, किंतु धीरे धीरे उभड़कर हमेशा के लिये दूर हो जायगी। अतएव इन सब बातों से निर्भय रहना चाहि और अपने अभ्यास को कभी न छोड़ना चाहिए। जिस मकान की सफ़ा के लिये आप झाड़ू देने लगेंगे, उसमें गर्द अवश्य उड़ेगी; तो क्या गर्द उड़ के डर से आप झाड़ू देना छोड़ देंगे? एक बार गर्द उड़कर फिर दिन-भ के लिये तो मकान साफ़ और सुथरा हो जायगा और यदि फिर क कूड़ा-करकट न आने देंगे, तो हमेशा के लिये साफ़ रहेगा।

इस किताब में कई जगहों पर तौल दी हुई है; वह अँगरेज़ी तौ है। उसके समझने के लिये हम नीचे तालिका दिए देते हैं—

६० बूँदों का	१ ड्राम।
८ ड्राम का	१ औंस।
२० औंस का	१ पाइंट।
२ पाइंट का	१ क्वार्ट।
४ क्वार्ट का	१ गैलन।

हम आशा करते हैं कि हमारे देश-वासी अपने पुराने भूले हुए इस योगमार्ग का अनुसरण करके लाभ उठावेंगे।

जिस प्रकार जापान और योरोपियन देशों में शिक्षा-दीक्षा दी जाती है, उसी प्रकार हमारे इस बूढ़े भारतवर्ष में भी दी जाती है। पर इसी शिक्षा-दीक्षा का प्रभाव जितना योरोपियन देशों में पड़ता है, हमारे देश में उतना प्रभाव नहीं पड़ता। कहाँ तो एक सूत्र के उपदेश से हमारा देश इतना ज्ञान ग्रहण करता था कि जितना अन्य देश पोथिया-की पोथियों से भी नहीं ग्रहण कर पाते थे। अब वही हमारा देश है कि जिन किताबों को पढ़कर एक योरोपियन, अमेरिकन व जापानी क्रिया निपुण और व्यवसायी होकर बड़े-बड़े व्यवसाय करके अपने को और अपने देश को सब भाँति से सपन्न बनाता है उन्हीं किताबों को पढ़कर हम मुहर्रिरी ढूँढ़ा करते हैं। कारण क्या है? हममें न तो जीवट है न शक्ति। योगशास्त्र उसी जीवट और शक्ति को प्राप्त करने का मार्ग बतलाता है। जब जापानी लोग जिजित्सु-नामक श्वास क्रिया करके छोटे और थोड़े होने पर भी बड़े और असख्य रूसियों पर विजयी हो गए, तो क्या हम अपने प्राणायाम के बल से प्रबल शक्ति नहीं प्राप्त कर सकते? अभ्यास कीजिए और धैर्य रखिए, सब कुछ हो जायगा, बिना परिश्रम और धैर्य के कुछ न होगा। हम आशा करते हैं कि हमारे देश बधु इस अभ्यास को करके मनमाना लाभ उठावेंगे।

मेरे प्रिय मित्र श्रीयुत पडित कात्यायनीदत्तजी त्रिवदी ने अपने अमूल्य समय का एक बड़ा भाग इसके प्रूफ-सशोधन में व्यय किया है, अत मैं उन्हें हार्दिक धन्यवाद देता हूँ।

राज कुरी सुदौली
जिला रायबरेली,
६ ६ १९१७

प्रसिद्धनारायणसिंह

हठयोग

पहला अध्याय

हठयोग क्या है?

योग विज्ञान कई शाखाओं में विभक्त है। उसके विख्यात और प्रधान भाग ये हैं—(१) हठयोग, (२) राजयोग, (३) कर्मयोग और (४) ज्ञानयोग। यह पुस्तक पहले ही भाग का वर्णन करती है। इस समय हम दूसरे भागों के वर्णन करने का यत्न न करेंगे; यद्यपि योग के इन समस्त बड़े भागों पर अवश्य कुछ अन्य ग्रंथों में कहना ही पड़ेगा।

हठयोग योगशास्त्र की वह शाखा है जो कि पार्थिव शरीर—उसकी रक्षा—उसकी भलाई—उसके स्वास्थ्य और उन कुल बातों का जो शरीर को उसकी प्राकृतिक और असली दशा में रखते हैं, वर्णन करता है। यह जीवन को स्वाभाविक रीति से जीने का मार्ग बतलाता है और पुकार पुकार कहता है, जिस पुकार को बहुत-से पाश्चात्य लोग भी उठ हैं कि "प्रकृति के मार्ग पर वापस आओ"; अतर केवल इतना ही है कि योगी को 'वापस' नहीं आना है; क्योंकि वह तो सर्वदा प्रकृति और उसके पथ का निकटस्थ अनुयायी रहा है, और बाह्य पदार्थों की ओर अंधाधुंध दौड़ से चकाचौंध में पड़कर कभी वैसा भूल नहीं गया है, जैसा कि आधुनिक सभ्यता में पड़े

हुए मनुष्य ने मूर्ख बनकर इस बात को बिलकुल ही भुला दिया है कि ऐसी भी कोई चीज़ वर्तमान है, जिसे प्रकृति कहते हैं । दुनिया के प्रचलित ठाट और सामाजिक हौसलों की पहुँच ही योगी के ज्ञान तक न हो सकी । वह इन बातों पर हँसता है और इन्हें लड़कों का खेल समझता है । वह प्रकृति की गोद से बहका हुआ नहीं है, किंतु वह उस प्रकृति माता के क्रोड में सटा रहता है, जिसने उसकी सर्वदा पुष्टि, तुष्टि, सुख और रक्षा की है । हठयोग आदि में प्रकृति, मध्य में प्रकृति और अंत में प्रकृति है । जब तुम्हारे सामने कोई तरीक़ा, तरकीब अथवा नई रीति इत्यादि आवे तो उसे इसी कसौटी पर कसो कि "प्राकृतिक मार्ग क्या है" और सर्वथा उसी को पसंद करो, जो प्रकृति के अनुकूल तम हो । जब हमारे किसी शिष्य का ध्यान स्वास्थ्य की बहुत-सी नई रीतियों, मनगढ़ंत उपायों, तरीक़ों, तदबीरों और प्रयासों की ओर आकर्षित हो, जिनसे कि पश्चिमी संसार भरा जा रहा है, तब यही परीक्षा बहुत लाभदायक होगी । उदाहरण के लिये यदि यह विचार उनके सामने आवे और इस पर उन्हें विश्वास करने के लिये कहा जाय कि "पृथ्वी का स्पर्श करने से मनुष्य के देह की आकर्षण-शक्ति घट जाती है, इसलिये मनुष्य को रबर के तल्लेवाले जूतों को पहनना चाहिए और ऐसी चारपाइयों पर सोना चाहिए, जिनके पायों के निचले भाग में काँच लगे हों, जिससे प्रकृति (पृथ्वी माता) उस आकर्षण-शक्ति को खींच न ले, जिसे उसने इन्हें दिया है", तब हमारे शिष्यों को अपने मन-ही-मन यह प्रश्न करना चाहिए कि "इस विषय में प्रकृति क्या कहती है ?" प्रकृति क्या कहती है, इसको जानने के लिये यह विचारना चाहिए कि क्या प्रकृति के ध्यान में रबर के तल्ले बनाना और पहनना तथा काँचवाले पायों का इस्तेमाल था या नहीं । शिष्य को यह देखना चाहिए कि बलवान् मनुष्य, जो शक्ति से भरे हैं, इन बातों को करते हैं कि नहीं ? इतिहास में जो बहुत बड़ा-बड़ा मानव-समुदाय हो गया

है, यह ऐसा करता था कि नहीं ? घास के चमन में लेटने से कुछ शीतलता मालूम होती है कि नहीं ? और, पृथ्वी माता की छाती पर लेट जाने के लिये स्वाभाविक इच्छा होती है कि उससे नफ़रत करने को जी चाहता है ? लड़कपन में नंगे पाँव भागने की इच्छा होती है कि नहीं ? और नंगे पाँव, बिना जूते के, टहलने में पाँवों को ताज़गी मिलती है कि नहीं ? रबर के तल्ला में आकर्षण पर प्रभाव डालने की क्या विशेषता है ? इत्यादि। हमने इस बात को केवल उदाहरण के लिये दिया है, इस अभिप्राय से नहीं कि रबर के तल्लों और काँच के पायों के गुण-दोष पर बहस की जाय। थोड़ा ही ध्यान देने से मनुष्य को मालूम हो जायगा कि प्रकृति के उत्तर यही दिखलाते हैं कि बहुत-सी शक्ति इसी पृथ्वी से हमें मिलती है। पृथ्वी शक्ति से भरी हुई एक शक्ति भंडार है, और सर्वदा अपनी शक्ति मनुष्य को देने के लिये उत्सुक रहती है; न कि वह शक्ति हीन और शक्ति की भूखी होकर अपने बच्चे—मनुष्य—ही से शक्ति छीनने के लिये उतारू है। थोड़े ही दिनों में ये नए पैग़म्बर लोग कहने लगेंगे कि हवा प्राण देने के स्थान में प्राण को मनुष्य-देह से खींचती है।

निदान ऐसी प्रत्येक बात में सर्वदा उसी प्रकृति की कसौटी का प्रयोग करो—और यदि कोई बात प्रकृति के अनुसार न हो, उसे त्याग दो—क़ायदा तो साफ़ है। प्रकृति अपने कार्य को ख़ूब जानती है—वह तुम्हारी हितू है, न कि वैरी।

योग की अन्य शाखाओं पर बहुत बड़ी-बड़ी और बहुमूल्य किताबें लिखी गई हैं; परंतु हठयोग का तो नाम ही देकर योग के लेखकों ने समाप्त कर दिया है। इसका बड़ा कारण यह है कि हमारे देश में भीख माँगनेवाली नीच श्रेणी के ऐसे गरोह-के-गरोह हैं, जो अपने को हठयोगी कहते हैं, परंतु योग के तत्त्व का उन्हें लेश-मात्र भी ज्ञान नहीं है। इन मनुष्यों को कुछ थोड़े अभ्यास से अपने शरीर के अनधिकृत

अवयवों पर कुछ अधिकार प्राप्त हो गया है (यह बात सब किसी के लिये, जो इस विषय का अभ्यास करें, संभव है) और उस अधिकार से उन्हें ऐसी सामर्थ्य हो गई है कि अपने शरीर पर वे कुछ असाधारण तमाशे कर लेते हैं और उन्हें दूसरों को पैसे के लालच से दिखाया करते हैं। इनकी करतूतों में से कुछ तो बहुत ही आश्चर्यजनक होती हैं। कोई-कोई तो अपनी अँतड़ियों और गले की अधःगामिनी क्रिया को उलटकर ऊर्ध्वगामिनी बना देते हैं, जिससे मलाशय की वस्तुओं को गले की राह मुँह से निकालते हैं। यह बात डॉक्टरों के लिये तो आश्चर्यजनक है; पर साधारण मनुष्यों के लिये घृणाजनक के सिवा और कुछ नहीं। इन लोगों की और भी ऐसी-ही ऐसी करतूतें हैं, जिनसे पुरुष अथवा स्त्री की स्वास्थ्य विषयक अभिलाषाओं को तनिक भी सफलता होने की संभावना नहीं है। ऐसे ही इनके दूसरे भाई एक और होते हैं, जो योगी का नाम धारण किए हैं और जो मुद्दतों कारणों से नहाते तक नहीं, या अपनी भुजा उठाए रहते हैं, जिससे वह सूख जाता है, या इसी प्रकार की और क्रियाएँ करते हैं जिससे लोग उन्हें महात्मा समझें और मुफ्त में भोजन इत्यादि दें। ये लोग या तो पक्के ठग हैं, या धोखे में पड़े हुए मनके आदमी।

इन मनुष्यों पर, जिनका हम ऊपर वर्णन कर आए हैं, सच्चे योगी लोग तरस खाते हैं। सच्चे योगी लोग हठयोग को अपने शास्त्र का एक प्रधान अंग मानते हैं, क्योंकि इसके द्वारा मनुष्य को स्वस्थ शरीर मिलता है—जो काम करने के लिये बड़ा अच्छा औज़ार है—और जो आत्मा के लिए अनुकूल मंदिर है।

इस छोटी किताब में हमने सीधे-सादे तरीक़े से हठयोग के मुख्य तत्त्वों को दे देने का प्रयत्न किया है कि इस पार्थिव शरीर के लिए योगियों का क्या तरीक़ा है। हमें यह आवश्यक जान पड़ा कि पहले पश्चिमी शरीर-विज्ञान के अनुसार हम शरीर के भिन्न-भिन्न भागों का

दरसावें और सब प्रकृति के उपायों और रीतियों का वर्णन करें, जिनका अनुसरण करना मनुष्य के लिये यथासाध्य अत्यंत आवश्यक है। यह वैद्यक की किताब नहीं, इसमें दवा का नाम भी नहीं, और न इसमें रोगों के छुड़ाने ही का वर्णन है। हाँ, प्रकृति के मार्ग पर लौट आने के लिये उपाय अवश्य बतलाए गए हैं। इसका उद्देश स्वस्थ मनुष्य है। इसका प्रधान अभिप्राय यही है कि मनुष्यों को स्वाभाविक जीवन में लाने के लिये सहायता पहुँचावे। परंतु हम लोगों का यह भी पूरा विश्वास है कि जिन बातों से स्वस्थ मनुष्य स्वस्थ बना रह सकता है, उन्हीं बातों के द्वारा अस्वस्थ मनुष्य भी स्वस्थ हो सकता है, यदि वह उन बातों का पूरा अनुसरण करे। हठयोग सच्चे, स्वाभाविक और असली जीवन का उपदेश करता है, जो कोई इसका अनुसरण करेगा उसी को लाभ पहुँचेगा। यह प्रकृति के अनुकूल चलता है, और हम लोगों को, जो कृत्रिम आदतों और जीवन के जाल में फँस गए हैं, प्रकृति के मार्ग पर लौट आने की प्रेरणा करता है।

यह पुस्तक सरल है—बहुत सरल है—इतनी सरल है कि बहुत से मनुष्य तो इसे अलग फेंक देंगे कि इसमें तो कोई नई और अद्भुत बात ही नहीं है। कदाचित् उनकी यह आशा रही हो कि इसमें भिखमंगे योगियों की मशहूर करतूतें होंगी और ऐसे उपाय दिए गए होंगे, जिनसे इस पुस्तक का पढ़नेवाला भी उन करतूतों को कर सकेगा। हम ऐसे मनुष्यों को बतलाए देते हैं कि यह किताब वैसी नहीं है। हम इसमें चौरासी आसनों को नहीं बतलाते, और न यही बतलाते हैं कि अँतड़ियों को साफ करने के लिये उनमें वस्त्र डालकर फिर कैसे उसे निकालते हैं (इसका प्रकृति के नियम से मुक़ाबिला कीजिए), या कैसे दिल का धड़कना बंद कर देते अथवा कैसे भीतरी अवयवों से नाना प्रकार के खेल करते हैं। इस किताब में आप ऐसा कुछ भी न पावेंगे। हम इसमें

यह बतलाते हैं कि किसी उच्छृंखल अवयव को कैसे वश में किया जाता है, कैसे उससे समुचित काम लिया जाता है। और, हम उन अनधिकृत अवयवों पर अधिकार जमाना बतलावेंगे, जिन्होंने हड़ताल करके अपना काम करना बंद कर दिया है। हमने इन उपायों को इसलिये इस पुस्तक में बयान किया है कि मनुष्य का स्वास्थ्य बना रहे, न कि इस अभिप्राय से कि इनके द्वारा कुवेश रचा जाय।

हमने बीमारियों के विषय में बहुत नहीं बयान किया है। हमने आपके सम्मुख स्वस्थ पुरुष और स्त्री का नमूना खड़ा कर दिया है, और हम आपसे यही चाहते हैं कि आप देखें, कैसे वे स्वस्थ हुए और कैसे अब भी स्वस्थ बने हुए हैं। तब हम आपका ध्यान इस बात की ओर आकर्षित करते हैं कि वे क्या और कैसे करते हैं। फिर हम यह शिक्षा देते हैं कि आप भी वैसा ही कीजिए, यदि आप भी वैसे ही स्वस्थ बना चाहते हैं। बस इतना ही करने का हमारा प्रयत्न है। परंतु इसी इतने में वे सब बातें आ जाती हैं, जो आपके लिये की जा सकती हैं। शेष आपको स्वयं करना होगा।

अन्य अध्यायों में हम यह बतलावेंगे कि योगी लोग इस शरीर पर इतना ध्यान क्यों देते हैं। हम हठयोग के मूल तत्व, इस विश्वास का बयान करेंगे कि सर्वजीवन के पीछे सर्वव्यापक महती चेतनता वर्तमान है—उस जीवन तत्व के ऊपर पूर्ण विश्वास चाहिए कि वह अपना कार्य समुचित रूप से करेगा—यह विश्वास अटल बना रहे कि यदि हम उस महत्तत्व पर विश्वास करें, और उसे अपने भीतर काम करने का निर्बाध रूप से अवकाश दें तो हमारे शरीर का सदा कल्याण रहेगा। पढ़ते चलिए, तब आपको मालूम हो जायगा कि हम आपको क्या बतलाने का यत्न कर रहे हैं—आप उस संदेश को पा जायँगे, जो आपको देने के लिये हमें सुपुर्द हुआ है। इस प्रश्न के

उत्तर में, जो इस अध्याय के सिरे पर दिया गया है कि "हठयोग क्या है?" हम यह कहते हैं कि इस किताब को अब तक पढ़ जाइए, तब आप कुछ-कुछ समझेंगे कि यह क्या वस्तु है। जिन बातों का उपदेश इस किताब में दिया गया है, उनका अभ्यास कीजिए, तब आपको अपने अभीष्ट ज्ञान के पथ पर एक ख़ासा प्रस्थान मिल जायगा।

दूसरा अध्याय

इस पार्थिव शरीर पर योगी का ध्यान

ऊपरी देखनेवाले को योगशास्त्र के उपदेशों में परस्पर बड़ा विरोध दिखाई देता है। एक ओर तो यह शास्त्र यह बतलाता है कि यह पार्थिव शरीर नश्वर अणुओं से बना हुआ है और मनुष्य के उच्च तत्वों के सम्मुख यह कुछ भी नहीं है, और दूसरी ओर अपने शिष्यों को यह शिक्षा देने के लिये बहुत ही प्रयत्न और प्रधानता देता है कि इस पार्थिव शरीर की पुष्टि, शिक्षा, व्यायाम और उन्नति पर खूब ध्यान दो। सच तो यह है कि योगशास्त्र की एक संपूर्ण शाखा ही, हठयोग के नाम से, इस पार्थिव शरीर की उन्नति ही के विषय में है, जिसमें इस शरीर का रक्षा और विकास के विषय में विस्तृत रूप से बयान किया गया है।

यात्रा पाश्चिमी यात्री जो पूरब में आते और योगियों का शरीर पर अधिक ध्यान देख पाते हैं, तो झट यह अनुमान अपने जी में कर लेते हैं कि "योगशास्त्र केवल शारीरिक शिक्षा का पर्याय रूपांतर-मात्र है, जो कदाचित् कुछ और सावधानी से किया जाता है, पर इसमें आध्यात्मिकता कुछ नहीं है।" वे ऊपर ही-ऊपर देखकर यह कह डालते हैं, परंतु इसके भीतर भीतर क्या है, इसकी उन्हें कुछ खबर ही नहीं।

हमको इस बात की आवश्यकता नहीं कि अपने शिष्यों को योगी के शरीर के ऊपर इतना ध्यान देने का कारण समझावें, न तो इस छोटी किताब के प्रकाशित करने पर, जिसमें अपने योग के शिष्यों

को वैज्ञानिक रीति से शरीर के विकाश और पोषण की शिक्षा दी गई है, क्षमा प्रार्थना की हमें आवश्यकता है।

आप लोग जानते हैं, योगियों का यह विश्वास है कि असली मनुष्य उसका शरीर नहीं है। वे जानते हैं कि वह अमर 'अहम्' जिसकी प्रत्येक व्यक्ति थोड़ी बहुत जानकारी रखता है, देह नहीं है; इस देह को तो केवल वह धारण करता और इससे काम लेता है। वे जानते हैं कि देह केवल वस्त्राच्छादन की भाँति है, जिसको आत्मा पहन लेता और समय पर उतार देता है। वे जानते हैं कि शरीर किसलिये है; और इसी से वे इसके असली मनुष्य होने के धोखे में नहीं पड़ते। इन सब बातों के जानते हुए, वे यह भी जानते हैं कि यह देह वह औज़ार है, जिसमें और जिसके द्वारा जीव विकाश पाता और अपना काम करता है। वे जानते हैं कि विकाश के इस दर्जे में मनुष्य के उद्घाटन और उन्नति के लिये मांस-देह आवश्यक है। वे जानते हैं कि शरीर आत्मा का मन्दिर है, और इसलिये उनका यह विश्वास है कि शरीर का ध्यान रखना और उसकी उन्नति करना वैसा ही उचित कार्य है, जैसा कि मनुष्य के उच्च तत्त्वों का विकाश करना, क्योंकि अस्वस्थ और अधूरे गठित शरीर में मन यथोचित रूप में कार्य नहीं कर सकता, और न तो यह औज़ार अपने मालिक आत्मा के हित के लिये यथेष्ट काम में आ सकता है।

यह सत्य है कि योगी इस सीमा से और आगे जाता है, और यह हठ करता है कि देह पूर्णतया मन के अधिकार में वशीभूत रहे—यह औज़ार ऐसा शान दिया रहे—कि मालिक के हाथों का स्पर्श पाते ही यथेष्ट कार्य सम्पादित कर देने में समर्थ हो।

परंतु योगी जानता है कि ख़ूब ऊँचे दर्जे का कार्य-सम्पादन तभी होगा, जब इस शरीर की उचित ख़बरदारी, पुष्टि और विकाश किए जायँगे। उच्च शिक्षित वही शरीर होगा, जो सबसे प्रथम सुदृढ़ और

स्वस्थ हो लेगा। इन्हीं कारणों से योगी अपने पार्थिव शरीर का इतना ध्यान और पर्वा करता है; इसी से हठयोग के योग-विज्ञान का प्रधान अंग शारीरिक शिक्षा है।

पश्चिमी शारीरिक शिक्षक शरीर की उन्नति केवल शरीर ही के लिये करता है, और प्राय उसका यही विश्वास रहता है कि शरीर ही मनुष्य है। पर योगी यह समझकर अपने शरीर का विकाश करता है कि शरीर आत्मा का केवल एक औज़ार भर है, जो मनुष्य के असली तत्व के काम आता है; यह औज़ार पक्का रहेगा तो जीव के विकाश में पक्का काम देगा। शारीरिक शिक्षक केवल शरीर की बाहरी ही कसरतों से सतुष्ट रहता और उन्हीं कसरतों को करता है, जिनमे पट्ठे पुष्ट हों। योगी अपने अभ्यासों में मन को भी मिला देता है, और केवल पट्ठों ही को पुष्ट न करके शरीर के प्रत्येक अवयव, परमाणु और अग को विकसित करता है। वह केवल इतना ही नहीं करता, किंतु शरीर के प्रत्येक अंग पर अपना अधिकार प्राप्त करता है, और शरीर के अनधिकृत और अधिकृत प्रत्येक अंग पर अपना स्वामित्व स्थापित करता है। ये बातें ऐसी हैं, जिनसे साधारण शरीर शिक्षक बिलकुल ही अनभिज्ञ है।

हम अपने शिष्यों को योग शिक्षा का वह भाग बतलाते हैं, जिससे उनका शारीरिक स्वास्थ्य पूरा-पूरा दुरुस्त हो जाय, और हम आशा करते और निश्चय रखते हैं कि जो मनुष्य हमारी शिक्षा को सावधानी से, ज्ञानपूर्वक ग्रहण करेगा, उसके समय और परिश्रम का पूरा-पूरा फल उसे मिल जायगा, वह अपने पूर्ण विकसित शरीर का मालिक होगा। वह अपने शरीर से उतना ही संतुष्ट हो जायगा, जितना कोई गुणी संगीताचार्य अपने उत्तम-से-उत्तम वाद्य यंत्र को पाकर संतुष्ट रहता है, जो उसके हाथ का स्पर्श पाते ही उसके मनोवांछित राग का अलापने लगता है।

तीसरा अध्याय

दैवी कारीगर की कारीगरी

योगशास्त्र यह सिखलाता है कि परमेश्वर प्रत्येक व्यक्ति को एक शारीरिक कल देता है, जो उसकी आवश्यकताओं के अनुकूल हुआ करती है; और उसे उस कल को ठीक दशा में रखने, और यदि मनुष्य की भूल से कल कुछ बिगड़ जाय तो उसके मरम्मत करने के साधन भी देता है। योगी लोग इस मानव शरीर को महा चैतन्य शक्ति की कारीगरी समझते हैं। वे इसके सगठन को एक चलती हुई कल समझते हैं, जिसकी कल्पना और परिक्रिया अत्यंत चातुरी और स्नेह का परिचय देती है। योगी लोग जानते हैं कि यह देह उसी महाचैतन्य के कारण है वे जानते हैं कि वही चैतन्य इस पार्थिव देह में सर्वदा लगातार काम कर रहा है, और जब तक कोई व्यक्ति उसके नियम का अनुयायी बना रहता है, तब तक वह स्वस्थ और सुदृढ़ भी बना रहता है। वे यह भी जानते हैं कि जब मनुष्य उस नियम के प्रतिकूल चलता है, तो इसका परिणाम गड़बड़ और बीमारी होती है। उनका विश्वास है कि यह कल्पना कि उस महती चेतनता ने इस शरीर को उत्पन्न तो किया, पर इसे इसकी भाग्य के भरोसे छोड़कर आप हट गई, नितांत हास्य के योग्य है। उनका यह विश्वास है कि वह महती चेतनता अब भी शरीर की प्रत्येक क्रिया का निरीक्षण करती है और वह निर्भय होकर विश्वास करने के योग्य है, न कि उससे डरा जाय।

यह महती चेतनता, जिसके रूपांतर को हम 'प्रकृति', 'जीवन

तत्व' या ऐसे ही और नामों से पुकारते हैं, सर्वदा क्षतियों की मरम्मत करने, घावों को पूरा करने और टूटी हड्डियों को जोड़ने के लिये चौकसी रहती है, उन सहस्रों हानिकारक द्रव्यों को इस यंत्र में से निकाल फेंकने के लिये तत्पर रहती है, जो कि इसमें एकत्रित हुआ करते हैं। वह हज़ारों उपाय करके इस यंत्र को अच्छी चलती दशा में रखना चाहती है। जिसको हम रोग कहते हैं, उसका अधिकांश भाग वस्तुतः प्रकृति की यह लाभदायक क्रिया है, जो उन विषैले द्रव्यों को हटाकर निकालने के लिये होती है, जिन्हें हमने अपने शरीर में प्रवेश कराकर स्थान दिया है।

आइए ज़रा देखिए, तो इस शरीर का अर्थ क्या है। किसी जीव की कल्पना कीजिए कि वह एक ऐसा ठाँव खोज रहा है, जहाँ रहकर अपने अस्तित्व की इस दशा को चरितार्थ कर सके। योगी लोग जानते हैं कि कतिपय रीतियों से विकाश पाने के लिये जीव को मांस निर्मित ठाँव (देह) की आवश्यकता होती है। अब देखना चाहिए कि इस देह के ढंग पर जीव को कौन कौन-सी वस्तुएँ आवश्यक हैं; और तब विचार किया जायगा कि प्रकृति ने सब वस्तुओं को जुटा दिया है कि नहीं।

सबसे प्रथम तो जीव को एक अच्छे विचित्र सुगठित साधन विचारने के औज़ार की ज़रूरत है, जो एक ऐसा सदर स्थान हो, जहाँ से वह शारीरिक क्रियाओं का संचालन कर सके। प्रकृति ने उस अद्भुत औज़ार को मस्तिष्क के रूप में दिया है, जिसकी गूढ़ शक्तियों को इस समय हम बहुत ही थोड़ा-सा जानते हैं। मस्तिष्क के जितने भाग को मनुष्य अपने विकाश की इस वर्तमान दशा में काम में लाता है, वह भाग कुल मस्तिष्क का एक बहुत ही छोटा अंश मात्र है। अप्रयुक्त भाग मानव-समुदाय के और अधिक विकाश की बाट जोह रहा है।

अब जीव को इन्द्रियों की आवश्यकता है, जिनके द्वारा वह बाह्य पदार्थों के भिन्न भिन्न चिह्नों को धारण और अंकित कर सके। प्रकृति फिर सहायता के लिये पहुँचती है, और आँख, कान, नाक और रसना तथा स्पर्श इन्द्रियों को मुहैया कर देती है। प्रकृति ने और इन्द्रियों को पीछे रख लिया है; उन्हें वह तब देगी, जब मानव-समुदाय को उनकी आवश्यकता होगी।

तब मस्तिष्क और शरीर के भिन्न भिन्न भागों के बीच में सदेशों और शासनों के आवागमन के साधन होने चाहिए। प्रकृति ने आश्चर्य जनक रीति से सारे शरीर में तन्तुओं का जाल फैला दिया है। मस्तिष्क इन्हीं तन्तुओं के तार द्वारा शरीर के सब अगों प्रत्यगो में अपनी आज्ञाओं को भेजता है; प्रत्येक शारीरिक परमाणु और इन्द्रिय में आज्ञा भेज कर उसके पालन के लिये हठ करता है। वैसे ही शरीर के सब अगों से इन्हीं तारों द्वारा, उपस्थित भय, सहायता की माँग और फ़र्यादो की पुकार के सदेशों को प्राप्त करता है।

फिर शरीर को ऐसे साधन चाहिए, जिससे वह ससार में भ्रमण कर सके। यह स्थावर दशा की प्रवृत्तिया के पार उतर गया है, और अब इसे भ्रमण करने की आवश्यकता है। इसके अतिरिक्त इसे बाहरी वस्तुओं के पास पहुँचना और उन्हें अपने काम में लाना है। इसलिये प्रकृति ने इसे हाथ पाँव दिए हैं, और उन पाँव और हाथों को सचालित करने के लिये मांसपेशियाँ (पट्ठे) और नसें दी हैं।

शरीर को एक ऐसे ढाँचे की भी ज़रूरत है, जिससे वह दृढ और कड़े आकार में बना रहे, धक्कों को सहन कर ले, और ख़ालिस मांसपिंड रहकर लुंड-मुंड न हो जाय; इसे बल और दृढता रहे; ऊपर सँभला रहे, इसलिये प्रकृति ने इसे हड्डिया का ढाँचा दिया है, यह ढाँचा कैसा अद्भुत है! आपके अध्ययन करने के ही योग्य है।

अब जीव को दूसरे शरीरधारी जीवों के साथ अपने मनोगत भावों के कहने सुनने का साधन चाहिए। प्रकृति ने वाणी और श्रवण की इन्द्रियाँ देकर इस अभाव को भी दूर कर दिया है।

शरीर को एक ऐसे साधन की आवश्यकता है, जिसके द्वारा वह अपने प्रत्येक अंगों और प्रत्यंगों में उनके मरम्मत की सामग्री भेज सके, जिससे शरीर की मरम्मत हो, त्रुटियों की पूर्ति होता रहे और सब भागों में बल पहुँचता रहे। फिर ऐसे ही एक और साधन की आवश्यकता है, जिससे कि शरीर के अंगों की रद्दियात, कूड़े और मैल श्मशान में भेज दिए जायँ और वहाँ जलाकर शरीर के बाहर फेंक दिए जायँ। इसके लिये प्रकृति हमें जीवनदाता रुधिर देती है, और रुधिर के प्रवाह के लिये नलियाँ और धमनियाँ देती है, जिनके द्वारा रुधिर आगे और पीछे बहता हुआ अपना कार्य करता है। और प्रकृति ने हमें फफड़े दिए हैं, जो रुधिर में आक्सिजन भरा करते हैं, और रद्दियात तथा कूड़े और मैलों को जलाया करते हैं।

शरीर को बाहरी सामग्रियों की ज़रूरत पड़ती है, जिससे इसके अंगों की वृद्धि और मरम्मत हुआ करे। प्रकृति ने ऐसे-ऐसे साधन दे दिए हैं, जिनसे भोजन किया जाता है, उसे पचाया जाता है, उसमें से पोषण करनेवाला रस निकाला जाता है, उस रस को ऐसे रूप में लाया जाता है, जिसमें शरीर के अवयव उसे अपना सकें और अपने में मिला लें। प्रकृति ने ऐसे भी साधन दिए हैं, जिनसे निस्सार मल बाहर निकालकर फेंक दिया जाता है।

अंत में शरीर को ऐसा साधन प्रकृति द्वारा मिला हुआ है कि वह अपने ही रूप के अन्य शरीरों को उत्पन्न कर सकता है और दूसरे जीवों के लिये देह तैयार कर देता है।

मानव-शरीर की आश्चर्यजनक कारीगरी और क्रियाओं का अध्ययन

करना बड़ा ही लाभदायक है। इसके अध्ययन से प्रकृति की महती चेतनता की सत्यता का अकाट्य अनुभव हो जाता है। मनुष्य को महत् जीवनतत्त्व कार्यनिरत दिखलाई देने लगता है। वह देखने लगता है कि यह अंध संयोग अथवा जड़ घटना नहीं है; किंतु एक महच्छक्तिशालिनी चेतनता का काम है।

तब वह इस चेतनता में विश्वास करना सीखता है कि जो चैतन्य शक्ति हमें इस शारीरिक सत्ता में लाई है, वही हमें जीवन में सँभाल ले जायगी। जिस शक्ति ने उस समय हमारी ख़बर्दारी की, उसी की ख़बर्दारी में हम अब भी हैं और सर्वदा रहेंगे भी।

जितना ही हम उस महत् जीवनतत्त्व के प्रवेश के लिये खुले हुए रहेंगे, उतना ही लाभ उठायेंगे। यदि हम उस तत्त्व से भयभीत होंगे अथवा उसका विश्वास न करेंगे, तो उसके लिये हम अपना दरवाज़ा बंद करते हैं, और हमें अवश्य दुःख भोगना पड़ेगा।

चौथा अध्याय

हमारा मित्र जीवनबल

बहुत-से लोग यह ग़लती करते हैं कि बीमारी को एक चीज़—असली चीज़—स्वास्थ्य का वैरी—समझते हैं। यह बात सही नहीं। स्वास्थ्य मनुष्य की स्वाभाविक दशा है, और स्वास्थ्य का अभाव ही बीमारी है। यदि कोई मनुष्य प्रकृति के नियमों का अनुसरण करे तो वह बीमार हो ही नहीं सकता। जब किसी नियम का उल्लंघन होता है, तब असाधारण दशा उत्पन्न हो जाती है और कतिपय लक्षण प्रकट हो जाते हैं, इन्हीं लक्षणों को हम बीमारी नाम देते हैं। जिसको हम बीमारी कहते हैं, वह केवल प्रकृति के उस प्रयत्न का परिणाम है, जिसे वह असाधारण दशा के हटाने और साधारण क्रिया के लाने के लिये करती है।

हम लोग बीमारी को झट एक चीज़ समझ और मान बैठते हैं। हम लोग कहा करते हैं कि यह हमारे ऊपर आक्रमण करती है—यह अमुक अवयव में अपना घर बनाए हुए है—यह अपनी राह चली जा रही है—यह बड़ी ही ज़िद्दी है—यह बिल्कुल ही मुलायम है—यह सब औषधियों से मिट जाती है—या फ़ौरन भाग जाती है—इत्यादि। हम लोग उसके विषय में ऐसा कहा करते हैं, मानो वह ऐसी चीज़ है, जिसमें [illegible], कानें और आँखें हों। हम लोग उसे ऐसा समझते हैं कि मानो वह हम पर बड़ी दोषी है और हमारे विनाश के लिये अपना बल लगाती है। हम लोग उसके विषय में ऐसा कहते हैं, जैसा भेड़ बकरियों के

घर में भेड़िया—मुर्ग़ी के बच्चों के दर्बे में बिल्ली—ग़ल्ले के अखार में चूहा—के विषय में कहा करते हैं, और उसके साथ वैसे ही भिड़ने का यत्न करते हैं जैसे उक्त जन्तुओं के साथ। हम लोग उसे मार डाला, या नहीं तो डराकर भगा दिया, चाहते हैं।

प्रकृति कोई ओछी या अविश्वास-योग्य वस्तु नहीं है। इस शरीर में सुव्यवस्थित नियमों के अनुसार जीवन विकाश करता है, और धीरे धीरे उदय होता है, अपनी पूरी अवधि पर पहुँचता है, और तब शनै-शनै क्षीण होने लगता है; अन्त में वह समय आ जाता है कि यह शरीर पुराने परिधान-वस्त्र की भाँति अलग कर दिया जाता है, और जीव अपने और अधिक विकाश की यात्रा में निकल खड़ा हो जाता है। प्रकृति की यह इच्छा कदापि न थी कि मनुष्य पूर्ण वृद्धावस्था के पहले अपने शरीर को छोड़े, और योगी लोग जानते हैं कि यदि प्रकृति के मार्ग पर बचपन ही से चला जाय तो नवयुवक या अधेड़ मनुष्य की मृत्यु वैसी ही विरल हो जाय, जैसी कि दुर्घटना जनित मृत्युएँ विरल हुआ करती हैं।

प्रत्येक पार्थिव शरीर में एक ऐसा जीवनबल रहता है, जो अपनी शक्ति-भर हमारे लिये लगातार प्रयत्न किया करता है, यद्यपि हम लोग अपनी लापरवाही से स्वाभाविक जीवन के मुख्य-मुख्य नियमों का भी उल्लङ्घन करते रहते हैं। जिसको हम बीमारी कहते हैं, उसका एक बड़ा भाग इस जीवन बल का रक्षाकारी प्रयत्न है—और चंगा करनेवाली वस्तु है। जीवित अवयवों की ओर से यह अधोगति नहीं, किन्तु ऊर्द्ध्वगति है। यह प्रयत्न असाधारण और अस्वाभाविक होता है, क्योंकि असाधारण और अस्वाभाविक दशा पहले ही उत्पन्न कर दी जा चुकी है, और साधारण दशा को लाने के लिये उस जीवन बल को अपने सारे चंगा करनेवाले प्रयत्न को लगाना पड़ता है।

इस जीवनबल का पहला उद्देश आत्म-रक्षा है। जहाँ-जहाँ जीवन

है, वहाँ-वहाँ यह उद्देश प्रकट दिखाई देता है। इसी के प्रभाव से नर और मादा एकत्र खिंचते हैं, गर्भस्थित जीव और बच्चे को पोषण मिलता है, माता सन्तान-जनन की दुस्सह पीड़ा सहती है, कठिन-से कठिन दुरवस्था में भी माता पिता अपने बच्चों की रक्षा करते हैं। क्यों? क्योंकि इन सब बातों का अर्थ जातिगत रक्षा की प्रवृत्ति है।

व्यक्तिगत रक्षा की प्रवृत्ति भी ऐसी ही बलवती होती है। "मनुष्य अपनी ज़िंदगी के लिये सब कुछ अर्पण कर सकता है", ऐसा एक लेखक ने लिखा है। यद्यपि यह कथन बड़े आदमियों पर पूरा नहीं घट सकता (स्मरण करो—प्राण जाय पर वचन न जाहीं) तो भी आत्म-रक्षा का इस प्रवृत्ति के उदाहरण देने के लिए यथेष्ट "सच" है। यह प्रवृत्ति बुद्धि की प्रवृत्ति नहीं है, किन्तु, बहुत नीचे से, सत्ता की नींव ही से इसकी भी जड़ है। यह प्रवृत्ति बुद्धि को भी दबाकर अपने आप ऊपर हो जाती है। जब कभी मनुष्य अपनी बुद्धि से दृढ़ संकल्प कर लेता है कि इस पत्थर की जगह पर मैं अटल खड़ा रहूँगा, तो भी यह प्रवृत्ति उसकी टाँगों को भगा ले जाती है। इसी प्रवृत्ति के वशवर्ती होकर डूबे हुए जहाज़ का मनुष्य सभ्यता के बड़े-बड़े नियमों को तोड़ देता है और अपने हमराही को मारकर उसका लहू पी लेता है, भयंकर काल-कोठरी (Black Hole) के मनुष्यों को इसी प्रवृत्ति ने पशु बना दिया था। यह प्रवृत्ति अनेक और भिन्न दशाओं में अपनी प्रभुता दिखलाया करती है। यह सदा जीवन—अधिक जीवन, स्वास्थ्य—अधिक स्वास्थ्य के प्रयत्न में लगी रहती है। यही प्रवृत्ति हमें—स्वल्प प्रमाद के अभिशाप से—बहुधा बीमार कर देती है, यही प्रवृत्ति उस विषैले अनमिल पदार्थ को हमारे भीतर से निकालने के लिये, जिसे हमने अपनी लापरवाही और मूर्खता से भीतर डाल रक्खा है, हमें बीमार कर देती है।

जैसे चुंबक की सुई की आंतरिक प्रभुता सुई के सिरे को सदैव

उत्तर की ओर रखना चाहती है, वैसे ही जीवनबल का आत्मरक्षक तत्त्व सर्वदा हमें स्वास्थ्य के पथ पर चलने की प्रेरणा करता है। हम उस प्रेरणा की उपेक्षा करें, उस पर ध्यान न दें यह दूसरी बात है पर प्रेरणा होती अवश्य है। वही प्रवृत्ति हमारे भीतर भी है जो प्रवृत्ति बीज में रहकर उसके अंकुर को जमाती है और सूर्य की धूप की लालसा से उस बीज से सहस्रगुने अधिक भारी बोझ को हटा देती है। वही प्रवृत्ति अंकुर को ऊपर ले आती है और जड़ को नीचे ले जाती है। ये दोनों गतियाँ यद्यपि एक दूसरी से विपरीत ओर जाती हैं, पर ये दोनों गतियाँ ठीक हैं। यदि हम घायल होते हैं तो यही जीवनबल घाव को चंगा करने लगता है, इसमें यह आश्चर्यजनक पटुता और निपुणता दिखाता है। जब कभी हम अपनी किसी हड्डी को तोड़ देते हैं तो हम या डॉक्टर साहब केवल इतना ही करते हैं कि टूटे हुए खंडों को मिलाकर उन्हें वैसे ही रख छोड़ते हैं, और यही सदा जीवनबल उन टूटे हुए खंडों को जोड़ देता है। अगर हम गिर पड़ें और हमारे पट्ठे या कोई अंग फट जायँ तो हम केवल यही करते हैं कि चंद बातों का ध्यान रखते हैं, और बाक़ी सब काम यही जीवनबल करता है, और वह शरीर ही से मरम्मत की सामग्री लेकर क्षत को पूरा कर देता है।

सभी डॉक्टर लोग जानते हैं, और उनकी विद्या उन्हें बतलाती है कि यदि मनुष्य की शारीरिक दशा अच्छी रहे तो उसका जीवन बल उसे, उसके मार्मिक अवयवों के विनाश को छोड़कर, शेष सब रोगों से छुड़ा देगा; परंतु जब शारीरिक दशा बहुत ही हीन हो जायगी तो रोग से छुटकारा पाना बहुत कठिन हो जायगा; क्योंकि ऐसी दशा में जीवनबल की प्रभुता बहुत क्षीण हो जायगी और उसको बहुत ही विपरीत अवस्था में काम करना पड़ेगा। परंतु निश्चय रक्खो कि वह तुम्हारे लिये अपनी शक्ति-भर वर्तमान

अवस्था में पूरा कार्य करता है। यदि जीवनबल अपनी इच्छा के अनुसार सब कुछ तुम्हारे लिये नहीं कर पाता तो भी वह निराश होकर प्रयत्न को नहीं छोड़ता; किंतु अवस्था के अनुकूल होकर अपनी शक्ति-भर काम करने में कुछ उठा नहीं रखता। उसको पूरा अवकाश और मार्ग दीजिए, वह आपको पूरी स्वस्थ दशा में रक्खेगा; अपनी अस्वाभाविक और अविचार की रहन-सहन से उसे बाँध रक्खोगे तो भी वह तुम्हें सँभालने ही का यत्न करता रहेगा और अंत तक अपनी शक्ति-भर तुम्हारी सेवा करता रहेगा, चाहे तुम कितनी ही कृतघ्नता और मूर्खता करते रहोगे, पर यह अंत तक तुम्हारे हित के लिये लड़ता रहेगा।

जीवन के प्रत्येक रूपांतर में अवस्था के अनुकूल होने की प्रवृत्ति सर्वत्र दिखलाई देती है। यदि कोई बीज किसी चट्टान की दरार में पड़ जाता है तो जब वह उगने लगता है तो चट्टान के रूप के अनुकूल ऐंठ-पैंठ जाता है, या यदि वह पूरा बलवान् हुआ तो चट्टान को भी फाड़ देता है और स्वयं अपने स्वाभाविक रूप में ऊपर निकलता है। वैसे ही मनुष्य की दशा में भी, जब मनुष्य सब प्रकार की आबोहवा और अवस्था में जीने का प्रबंध करता है, तब यह जीवनबल भी अपने को अवस्था के अनुकूल बना लेता है, और जहाँ यह चट्टान को न तोड़ सका, वहाँ भी अंकुर को टेढ़ा-मेढ़ा बनाकर जमा ही दिया और उस पौदे को जीता-जागता और दृढ़ रक्खा।

जब तक स्वास्थ्य की उचित रीतियों का पालन होता रहता है तब तक कोई शरीरावयव रुग्णावस्था को नहीं पहुँचता। स्वास्थ्य स्वाभाविक दशा का जीवन है, और अस्वस्थता अस्वाभाविक दशा की ज़िंदगी है। जिन अवस्थाओं ने मनुष्य को इस स्वस्थ और बलवान् "यौवन" तक पहुँचाया, वे अवश्य इसे स्वस्थ और बलवान् ही रखतीं। यदि आप अच्छा अवसर देंगे तो यह जीवनबल उत्तम-से-उत्तम काम कर दिखला देगा; परंतु यदि आप अधूरा अवसर देंगे तो यह जीवनबल अधूरा ही

कार्य करने के योग्य होगा और थोड़ी-बहुत रुग्णावस्था उसका प्रतिफल होगी। हम लोग ऐसी सभ्यता में जी रहे हैं, जिसने कुछ न-कुछ जीवन का अस्वाभाविक तरीक़ा हमारे ऊपर बलात् डाल ही दिया है। हम लोग न स्वाभाविक रीति से भोजन करते, न पानी पीते, न सोते, न साँस लेते और न स्वाभाविक रीति से वस्त्र ही पहनते हैं। हम लोगों ने यह-वह काम कर डाले हैं जो हमें नहीं करने चाहिए थे, और उन उन कामों को नहीं किया, जिन्हें हम करना चाहिए था, और इसलिये हममें 'स्वास्थ्य' नहीं है।

हमने जीवनबल की उपकारिता का वर्णन कर दिया, इसका कारण यह है कि जिन लोगा ने इस पर विचार नहीं किया है वे लोग इस पर प्राय कुछ भी ध्यान नहीं देते। यह योगशास्त्र के हठयोग का एक अग है, और योगी लोग अपने जीवन में इस पर बहुत बड़ा ध्यान रखते हैं। वे जानते हैं कि जीवनबल बड़ा भारी मित्र और प्रबल सहायक है, और वे अपने भीतर इसे स्वच्छद यथाहित होने के लिये इसे पूरा अवकाश देते हैं, और इसकी क्रियाओं में वे यथासाध्य बहुत ही कम बाधा पहुँचाते हैं। वे जानते हैं कि "हमारा जीवनबल हमारी भलाई और स्वास्थ्य के लिये निरतर जगा रहता है", और वे इसका अत्यत विश्वास करते हैं।

हठयोग के साधनों की अधिकाश सफलता उन्हीं तरीक़ों पर अव लम्बित है जिन तरीक़ों स जीवनबल स्वच्छद और बिना बाधा के कार्य करता रहे। हठयोग के तरीक़े और अभ्यास इसी अभिप्राय पर वहित हैं। हठयोगी का यही उद्देश रहता है कि जीवनबल के मार्ग को रुकावटों से साफ़ रक्खें और उसके रथ के लिये साफ़ चिकना पथ खुला रक्खें। उसक उपदेशों का पालन कीजिए, आपका भला हो जायगा।

पाँचवाँ अध्याय

शरीर की रसायनशाला

इस छोटी किताब का यह उद्देश नहीं है कि यह शरीर विद्या की पाठ्य पुस्तक हो; परंतु अब हम देखते हैं कि बहुत से लोग ऐसे हैं जो भिन्न भिन्न शारीरिक अवयवों की प्रकृति, उनके कार्य और उनके कामों से कुछ भी जानकारी नहीं रखते, इसलिये शरीर के उन मुख्य-मुख्य अवयवों का वर्णन करना, जो भोजन के पचाने और उसका रस लेने तथा शरीर को पोषण करने का काम करते हैं, मैं अच्छा समझता हूँ। ये ही अवयव शरीर की रासायनिक क्रियाओं को करते हैं।

पचानेवाली कल के प्रथम अंग दाँतों पर पहले विचार करना चाहिए। प्रकृति ने हमें दाँत दिए हैं, जिनसे हम अपने भोजन को काटते हैं और खूब बारीक पीस डालते हैं। इस क्रिया से भोजन इतना बारीक हो जाता है कि वह मुँह की लार और आमाशय के पचानेवाले द्रव रसायनों के साथ घुल जाने के योग्य बन जाता है। इसके पश्चात् वह द्रव रूप में परिवर्तित होता है, जिससे पोषण करनेवाले रस को खींचकर शरीर अपना ले और अपने में मिला ले। यह उसी पुरानी कहानी को बार बार कहना और पिष्ट पेषण करना है, परंतु हमारे पाठकों में से कितने ऐसे हैं, जो ऐसा कार्य करते हैं, जिससे मालूम होता है कि वे नहीं जानते कि दाँत किस अभिप्राय से दिए गए हैं। वे अपने भोजन को शीघ्रता से निगल जाते हैं मानो दाँत केवल दिखावे के लिये उन्हें दिए गए थे, और वे इस प्रकार क्रिया करते हैं मानो चिड़ियों की भाँति उनके भीतर भी

प्रकृति द्वारा पथरी दी गई है कि वे भी उसी तरह इस पथरी द्वारा अपने निगले हुए खाने को पीस डालें। याद रक्खो, मित्रो, तुम्हारे दाँत तुम्हें मतलब से दिए गए थे और यह विचार कर लो कि यदि प्रकृति की मंशा भोजन को निगलने ही की होती, तो वह दाँतों के स्थान में पथरी दिए होती। आगे चलकर दाँतों के समुचित प्रयोग के विषय में हम बहुत कुछ कहेंगे, क्योंकि हठयोग से इसका बहुत आवश्यक संबंध है, जैसा कि थोड़ी देर में आपको विदित होगा।

अब आगे लार स्रवण करनेवाले मांस-खंडों पर विचार करना चाहिए। ये मांस-खंड संख्या में छ हैं, जिनमें से चार तो जीभ और जीभ के नीचे हैं, और दो गालों में कानों के सामने दोनों बग़ल में हैं। इनका मुख्य कार्य, जो जाना गया है, यह है कि लार को बनावें और उसे स्रवण करें। जब आवश्यकता पड़ती है तब यही लार मुँह के भीतर की अनेक छोटी-छोटी नालियों से बहने लगती है और उस भोजन में मिलती जाती है जो दाँतों से कुचला या मसला जाकर बारीक किया जा रहा है। भोजन जितना ही दाँतों से कुचला या पीसा जायगा लार उतना ही अच्छी तरह से उसके प्रत्येक अंश में पहुँचकर मिल जायगी और उतना ही अधिक कार्य करेगी। लार भोजन को गीला भी कर देती है जिससे वह बहुत आसानी से घोंटा जा सके, यह कार्य उसका, उसके अन्य प्रधान कार्यों का केवल अनुयायी है। इसका सर्वप्रधान कार्य, जैसा कि पश्चिमी विज्ञान द्वारा सिखाया जाता है रासायनिक क्रिया करना है, जिस क्रिया से लेईदार खाया हुआ पदार्थ शकर में परिवर्तित हो जाता है, और इस प्रकार के पाचन के क्रिया-कलाप में पहली क्रिया हो जाती है।

यहाँ बार-बार की कही हुई एक और कथा है। आप सब लोग

इस लार के विषय में जानते हैं; पर आप लोगों में कितने ऐसे मनुष्य हैं जो इस प्रकार भोजन करते हों, जिससे प्रकृति को अपनी इच्छा के अनुकूल लार से काम लेने का अवसर मिलता हो। आप तो खाने को मुँह में ज़रा इधर उधर घुमाकर निगल जाते हैं, और प्रकृति की उन तरकीबों ही को विफल कर देते हैं, जिनके लिये उसने इतनी कारंवाइयाँ की थीं और जिनको सपादित करने के लिये उसने ऐसी-ऐसी बारीक और विचित्र कलों को बनाया था। परन्तु प्रकृति भी अपनी तरकीबों की अवहेलना, लापरवाही और निरादर के कारण तुम पर भी चढ़ दौड़ने का प्रबंध कर लेती है। प्रकृति बहुत स्मरण रखती है और तुमसे उस ऋण को अवश्य चुकवाती है।

हमें यहाँ पर उस जिह्वा को न भूल जाना चाहिए, जिस बेचारी से क्रोधयुक्त वचन बोलने, चर्चा-चबाव और पिशुनता करने, झूठ बोलने, शपथ उठाने और निंदा करने के नीच काम लिए जाते हैं।

इस जिह्वा को शरीर के पोषण करनेवाले क्रिया-कलाप में एक मुख्य काम करना पड़ता है। भोजन करते समय यह अनेक प्रकार की गति कर करके भोजन को उलटती, पलटती और फेरती रहती है और इसी प्रकार भोजन के घोंटने में भी यह अपनी गति से सदा बड़ा पहुँचाती है। इसके अतिरिक्त यह स्वाद की इन्द्रिय है और जो भोजन भीतर पेट में प्रवेश किया चाहता है उस पर भला-बुरा का विचार करती है।

आप लोगों ने दाँतों, लार स्रवण करनेवाले मास-खंडों और जिह्वा के स्वाभाविक इस्तेमालों को भुला दिया है, और इसका परिणाम यह हुआ है कि ये बेचारे आपकी पूरी सेवा न कर सकें। यदि आप केवल उनका भरोसा करने लगें और समझदारी के साथ भोजन के स्वाभाविक तरीक़े को ग्रहण करें तो आप उन्हें उस भरोसे

का प्रतिपालन करते हुए पावेंगे, और वे फिर आपकी पूरी पूरी सेवा करने लग जायँगे। वे बडे अच्छे मित्र और सेवक हैं उन पर विश्वास, भरोसा और उत्तरदायित्व रखने मे वे अच्छा-से अच्छा काम कर देते हैं।

जब भोजन खूब कुचल पीसकर लार से परिपूर्ण कर दिया जाता है तब वह गले से होकर आमाशय में जाता है। गले का निचला भाग भी एक विशेष प्रकार की गति करता है जिससे भोजन के अश नीचे चले जाते हैं और यह क्रिया भी निगलने की क्रिया का एक खड है। भोजन के लेईदार भाग के शक्कर में परिवर्तन होने की क्रिया जो लार से मुँह में प्रारंभ हुई थी वह भोजन के गले में होकर जाते हुए भी जारी रहती है, परतु जब भोजन आमाशय में पहुँच जाता है तब एकदम बंद हो जाती है। विचारपूर्वक भोजन करने के विषय को अध्ययन करते समय इस बात पर खूब ध्यान देना चाहिए कि यदि भोजन मुँह में जल्दी उलट पुलटकर निगल लिया जायगा तो उसमें लार का असर बहुत ही कम पहुँचा रहेगा और प्रकृति के आगे काम करने के लिये अयोग्य दशा में रहेगा।

आमाशय नाशपाती की शकल का एक थैला है। इसमें ढाइ सर तक और कहीं कहीं अधिक भी वस्तु अँट सकती है। भोजन गले में होता हुआ आमाशय के ऊपरी वाम भाग में हृदय के ठीक नीचे प्रवेश करता है। यहाँ की क्रियाओं के हो जाने पर भोजन आमाशय के निचले दक्षिण भाग स पतली अँतडियों म एक ऐसे द्वार से प्रवेश करता है, जो ऐसा अद्भुत बना हुआ है कि आमाशय से चीज़ें तो इसमें आसानी से पहुँच सकती हैं, परतु इन पतली अँतडियों से ऊपर आमाशय में उनका पुन चढ़ जाना कभी नहीं हो सकता। यह द्वार अपने कर्तव्य पर सदा डटा रहता है और कभी धोखा नहीं देता।

आमाशय एक बड़ी रसायनशाला है, जहाँ भोजन के साथ

रासायनिक क्रियाएँ होती हैं, जो भोजन को इस योग्य बना देती हैं कि उसका रस रुधिर रूप में हो सके, जो रुधिर सारे शरीर में प्रवाहित हुआ करता है और शरीर के सब अंगों और अवयवों को बनाता, मरम्मत करता, दृढ़ करता और बढ़ाता रहता है।

आमाशय का भीतरी भाग एक लसलसी झिल्ली से आच्छादित रहता है, इस झिल्ली में अनगिनत छोटे छोटे मुलायम ख़ार से निकले रहते हैं जिन सबका मुँह आमाशय में खुला रहता है, और इन ख़ारों के गिर्द बहुत ही बारीक-बारीक रुधिरवाहिनी नलियों का जाल सा फैला रहता है, जिन नलियों की दीवारें अत्यंत पतली होती हैं। इसी से वह आश्चर्यकारी द्रव, जिसे आमाशय द्रव कहते हैं, स्रवा करता है। यह आमाशय द्रव एक बहुत बलवान् अर्क है जो भोजन के नाइट्रोजनिक भाग के गलाने का काम करता है। यह उस शक्कर पर भी क्रिया करता है जो खेहदार पदार्थों को लार में मिलने से बनता है, जिसका वर्णन ऊपर हो चुका है। यह अर्क तीखा होता है और इसमें वह रासायनिक पदार्थ होता है, जिसे पेप्सिन कहते हैं; यही पेप्सिन बड़ा कार्य करता है, और भोजन के पचाने में प्रधान काम इसी का होता है।

साधारण स्वाभाविक मनुष्य के स्वस्थ शरीर में आमाशय क़रीब क़रीब एक गेलन आमाशय द्रव नित्य स्रवता है, और इसे अन्न के पचाने के काम में लाता है। जब अन्न आमाशय में पहुँचता है तो ये छोटे मुलायम ख़ार, जिनका ऊपर वर्णन हो चुका है, काफ़ी मिक़दार में आमाशय द्रव बहा देते हैं, जो अन्न में ख़ूब मिल जाता है। तब आमाशय एक प्रकार की मथन क्रिया करने लगता है, जिसमें खाया हुआ सना अन्न लुगदी की भाँति इधर-उधर घूमा करता है; इधर से उधर फेरा जाता है, साना जाता है, मथा जाता है और गूँधा जाता है, जिससे वह आमाशय द्रव इस लुगदी के ज़र्रे-ज़र्रे में अच्छी

तरह से मिल जाता है। प्रवृत्ति मानस इस आमाशय के सचालन में कुछ ऐसा आश्चर्यजनक काम करता है कि खूब तेल दी हुई कल की भाँति आमाशय को चलाता रहता है।

यदि आमाशय को अच्छी तरह से तैयार किया हुआ, भली भाँति दाँतों से पीसा हुआ, और काफ़ी तौर से लार मिलाया हुआ भोजन मिलता है तो आमाशय रूपी कल बहुत अच्छा काम कर दिखलाती है। परन्तु, यदि भोजन आमाशय के योग्य तैयार नहीं किया गया रहता है, जैसा कि अक्सर हुआ करता है, और यदि वह अधूरा कुचला रहता है, अथवा जल्दी-जल्दी निगला हुआ रहता है, या यदि आमाशय नाना प्रकार के विचित्र द्रव्यों से ठूँस-ठूँसकर भरा हुआ रहता है, तभी बड़ी दिक़्क़त पड़ जाती है। ऐसी दशा में स्वाभाविक पाचन क्रिया के होने के स्थान में आमाशय अपना कुछ भी काम नहीं कर सकता, जिससे सड़न शुरू हो जाती है, और आमाशय सड़ते-गलते पदार्थ का बर्तन—या यों कहिए कि सड़े पाँस का बर्तन—बन जाता है। यदि मनुष्य एक बार देख पाते कि उनका आमाशय कैसे सड़े पदार्थ का बर्तन बन गया है तो वे ठीक तरह से खाना खाने की बात से लापरवाही न करते और उसे ध्यान देकर सुनते।

खाने की अस्वाभाविक आदत से उत्पन्न यह सड़न अक्सर जीर्ण या पुरानी हो जाती है, और ऐसी दशाओं में परिणत हो जाती है, जिसे अपच या बदहज़मी कहते हैं या ऐसी ही कोई दूसरी बीमारी खड़ी हो जाती है। यह सड़न बनी ही रहती है कि दूसरा खाना पहुँच जाता है और पहली सड़न इस खाने में भी सड़न पैदा कर देती है, इस तरह से आमाशय पाँस के ख़मीर का नित्य ही बर्तन बना रहता है। इससे आमाशय की स्वाभाविक क्रिया निर्बल पड़ती जाती है, और इसकी सतह ख़सख़सी, मुलायम, पतली और निर्बल

हो जाती है। मुलायम द्वार सब मुँहबन्द हो जाते हैं, और सारा पाचक यन्त्र निर्बल और टूटा फूटा हो जाता है। ऐसी दशा में वही अधपची लुगदी पतली अँतड़ियों में जाती है; सड़न के कारण इसमें एक प्रकार का तेज़ाब उत्पन्न हो जाता है, और परिणाम यह होता है कि सारा शरीर क्रमश विषाक्त और अपुष्ट हो जाता है।

भोजन की लुगदी आमाशय रस से भरपूर होकर, और खूब अच्छी तरह से आमाशय द्वारा मथी और गूँधी जाकर आमाशय के निचले दाहने द्वार से पतली अँतड़ी में जाती है।

यह पतली अँतड़ी नली की भाँति की एक नहर है, जिसकी गेंडुरियाँ ऐसी कारीगरी के साथ एक दूसरी पर पड़ी रहती हैं कि बहुत ही थोड़ी जगह घेरे रहती हैं, यद्यपि लंबाई में यह अँतड़ी २० से ३० फ़ीट तक लंबी होती है। इस अँतड़ी की भीतरी दीवार मख़मल के भाँति के पदार्थ से मढ़ी रहती है, और लंबाई में बहुत दूर तक उसमें आड़ी आड़ी सिकुड़नें पड़ी रहती हैं, जो सिकुड़नें आँख की पलकों की भाँति नीचे-ऊपर गति किया करती हैं, और अँतड़ी के अर्क में आगे पीछे हिलोरें मारा करती हैं, जिससे भोजन की लुगदी की गति रुका करती है और स्राव तथा रस के खिंचाव के लिये अधिक सतह मिला करती है। इसके मढ़न की मख़मली सूरत अनगिनत छोटे-छोटे उभड़े हुए रेशों के कारण होती है, जो मानो क़ालीन की भाँति के होते हैं और उन्हें अँतड़ी के रेशे कहते हैं। इनका कार्य आगे चलकर वर्णन किया जायगा।

ज्यों ही भोजन की लुगदी इस पतली अँतड़ी में पहुँचती है त्यों ही इसमें एक विशेष अर्क मिलने लगता है, जिसे पित्त कहते हैं; यह अर्क उसमें खूब भरपूर घुल जाता है। यह पित्त यकृत में से स्रवता है और एक सुदृढ़ थैली में, जिसे पित्ताशय कहते हैं, एकत्रित रहता है। क़रीब दो क्वार्ट के पित्त इस पतली अँतड़ी में लुगदी के साथ

मिलने में नित्य ख़र्च होती है । इस पित्त का कार्य, पैंक्रिया के अर्क़ के साथ मिलकर रोग़नदार पदार्थों को रस बनाने, और अँतड़ी में लुगदी की सड़न रोकने का है, और यह आमायश द्रव को भी, जो अब तक अपना काम पूरा कर चुकता है, अब निकम्मा बना देती है। पैंक्रिया का अर्क़ पैंक्रिया अर्थात् उस लम्बे अवयव से निकलता है, जो आमाशय के पीछे रहता है। पैंक्रिया के अर्क़ का यह काम है कि भोजन के रोग़नदार पदार्थों को, पतली अँतड़ी में अन्यान्य पदार्थों के साथ में रस रूप में करके शरीर में खिंच जाने के योग्य पोषण बना देता है। इस काम में पैंक्रिया का एक पाइंट अर्क़ रोज़ ख़र्च होता है।

पतली अँतड़ी की मख़मली सतह पर के बाल की भाँति के लाखों रेशे (जिनका वर्णन ऊपर हो चुका है) अपनी लगातार हिलोरों वाली गति को क़ायम रखते हैं। यह गति उस गीली लुगदी के ऊपर काम करती है जो पतली अँतड़ी में होकर गमन करती है। वे रेशे लगातार गति किया करते हैं, और लुगदी में के रस को चाट चाटकर और खींच-खींचकर शरीर में भेजते रहते हैं।

जिन क्रिया कलापों से भोजन परिवर्तित होकर रुधिर बन जाता है और शरीर के सब अवयवों में भेजा जाता है वे नीचे लिखे जाते हैं—दाँतों से पीसना, मुँह के लार का मिलाना, घोंट जाना, आमाशय और पतली अँतड़ियों की पाचन क्रियाएँ, रस का चूसना, शरीर में रस का घुमाना और रुधिर को शरीर का अपना लेना। एक बार हम जल्दी से इन क्रियाओं पर फिर विचार कर जायँ कि जिसमें ये भूल न जायँ।

भोजन को चबाना और पीसना दाँतों से होता है, ओंठ, जीभ और गलफड़े भी इस काम में सहायता करते हैं। इससे भोजन बहुत ही बारीक पिस जाता है जिससे वह लार में घुल जाने के योग्य बन जाता है।

क्षार में घुल जाना वह क्रिया है जिसमे दाँतों से पीसा हुआ भोजन उस क्षार से मिलकर तन्मय हो जाता है जो क्षार मुँह के क्षार बहानेवाले अवयवों म बहा करता है। क्षार भोजन के लोईदार पदार्थों पर काम करता है, और पहले तो उसे डेक्स्ट्रीन (Dexutrine) फिर ग्ल्यूकोस (Glucose) बना देता है, जिससे वह घुल जाता है। क्षार में एक पदार्थ होता है जिसे पीटेलीन (Pytaline) कहते हैं, यही पीटेलीन रासायनिक क्रिया करके अपने अनुकूल द्रव्यों में एक प्रकार का उबाल-सा ला देता है।

पाचन क्रिया आमाशय और पतली अँतड़ियों में होती है, और खाई हुई चीज़ों को ऐसे रूप में परिवर्तित कर देना कि उसका रस शरीर में खींच जाने और शरीर रूप में हो जाने के योग्य हो जाय, यही पाचन क्रिया है। ज्यों ही भोजन आमाशय में पहुँचता है त्यों ही पाचन क्रिया आरंभ हो जाती है, आमाशय से आमाशय द्रव स्राव स्रवण करने लगता है, और वह खाई हुई चीज़ों के साथ मिलकर बहुत अच्छी तरह से मथा जाता है, तब यह खाए हुए मांस के परमाणुओं को पृथक्-पृथक् करता है, मांस के परमाणुओं से चर्बी को पृथक् कर देता है और एलब्यूमिनस (Albuminous) द्रव्यों को, जैसे दुबला मांस, गेहूँ का सत, अंडे की सफ़ेदी, इन पदार्थों को एलब्यूमाइनोस (Albuminose) बना देता है, और इस रूप में वे शरीर द्वारा चूसे और अपनाए जाने के योग्य हो जाते हैं। आमाशय में जो भोजन का रूप-परिवर्तन होता है वह आमाशय द्रव में के एक मसाला जिसे पेप्सिन (Pepsin) कहते हैं उसी के द्वारा होता है। इसके साथ-साथ आमाशय द्रव की और भी तेज़ाबी चीज़ें इसे सहायता पहुँचाती हैं। जब तक आमाशय द्वारा पाचन क्रिया होती रहती है, तब तक भोजन में का द्रव भाग, जो पानी पिया गया है, और जो पाचन क्रिया में खाए हुए भोजन से

अलग किया गया है, दोनों आमाशय के सोखनेवाले अंगों द्वारा सोख लिए जाते हैं और रुधिर में पहुँचा दिए जाते हैं, और भोजन में के इद द्रव्य आमाशय की गति के द्वारा और भी अधिक मथे जाते हैं, जैसा कि हम ऊपर कह आए हैं । आधे घंटे में भोजन के इद भाग भूरे और लसलसे पदार्थ के रूप में आमाशय से निकलने लगते हैं; इन्हें चाइम (Chyme) कहते हैं । यह पदार्थ भोजन में के शक्कर, नमक, लेई के परिवर्तित रूपांतरों, चर्बी, मांस के रेशे और एलब्यूमाइनोस (Albuminose) का सम्मिश्रण होता है ।

यह चाइम (Chyme) आमाशय से निकलकर पतली अँतड़ी में प्रवेश करता है, जैसा कि हम ऊपर कह आए हैं और पैनक्रिएटिक (Pancreatic) तथा अँतड़ी के अर्क और पित्त से मिलता है, और अँतड़ी द्वारा पाचन होने लगता है । भोजन का वह भाग जो अब तक नहीं गला था उसको ये सब अर्क गलाते हैं । पाचन क्रिया अँतड़ी द्वारा चाइम (Chyme) को तीन पदार्थों में बदल डालती है, जिन्हें (१) पेपटोन (Peptona) जो एलब्यूमाइनस (Albuminous) अंश के पाचन से बनता है, (२) चाइल (Chyle) जो कि रोग़न के शर्बत से बनता है, (३) ग्ल्यूकोस (Glucose) जो कि भोजन के लेईदार पदार्थों से बनता है, कहते हैं । ये सब पदार्थ अधिकतर रुधिर में पहुँचते हैं और उसके अंग बन जाते हैं, और शेष अपक्व वस्तुएँ पतली अँतड़ी से निकलकर एक किवाड़दार दरवाज़े की राह बड़ी अँतड़ी या मलाशय में पहुँचती हैं, जिसका वर्णन हम आगे करेंगे ।

चूसना या खिंचाव उस क्रिया को कहते हैं जिससे ऊपर लिखे हुए रस, जो पाचन क्रिया द्वारा बने हुए रहते हैं, नलियों और अन्य रसाकर्षी मार्गों द्वारा खींचे जाते हैं । पानी और अन्य अर्क़, जो आमाशय के पाचन द्वारा खाने की लुगदी में से

छूटते हैं, वे आमाशय के द्वार पर के खून द्वारा खींच लिए जाते हैं और उसी द्वार की रग के द्वारा यकृत में पहुँचा दिए जाते हैं। पतली अँतड़ियों द्वारा जो पेपटोन (Peptone) और ग्ल्यूकोस (Glucose)-नामक रस खींचे जाते हैं, वे भी पतली अँतड़ी के बाल की भाँतिवाले रेशों द्वारा खींचे जाकर द्वारवाली रग में होते हुए यकृत में पहुँचते हैं। यकृत में होकर जहाँ इस पर यकृत द्वारा क्रियाएँ होती हैं, जिनका आगे चलकर यकृत के विषय में बयान होगा, ये रस हृदय में पहुँचते हैं। रोग़नी शर्बत चाइल (Chyle) जो पेपटोन (Peptone) और ग्ल्यूकोस (Glucose) के निकल जाने पर भोजन का शेष अंश रह जाता है वह भी लेक्टिएल्स (Lacteal)-नामक रग द्वारा छाती की नलिका में पहुँचाया जाता है, जहाँ से वह भी रुधिर में पहुँचता है। इसका वर्णन आगे रुधिर-संचार के विषय में किया जायगा। रुधिर संचार के अध्याय में हम इस बात का विवरण देंगे कि रुधिर कैसे पचाए हुए अन्न से पोषण खींचकर शरीर के सब भागों में पहुँचाता है, और कैसे प्रत्येक रेशा, ज़र्रा, अवयव और भाग में वह सामग्री पहुँचाता है, जिससे इन रेशों, ज़र्रे, अवयवों और भागों की रचना और मरम्मत होती है और शरीर बढ़ता, विकसता और पुष्ट होता है।

यकृत में से पित्त स्रवा करती है जो पतली अँतड़ियों में पहुँचती है, जिसका वर्णन ऊपर कर चुके हैं। यकृत एक और द्रव्य को संचय करता है जिसे ग्लाइकोजन (Glycogen) कहते हैं; यह उन पचे हुए रसों से बनता है जो द्वार के रगा द्वारा लाए हुए रहते हैं, जिनका वर्णन ऊपर हो चुका है। यह ग्लाइकोजन (Glycogen) यकृत में संचय होता है और पश्चात् क्रमशः पाचन के बीच-बीच में ग्ल्यूकोस (Glucose) अर्थात् ऐसे द्रव्य में परिवर्तित हुआ करता है जो अंगूर की शक्कर की तरह का होता है। पैनक्रियास (Pan

creas) में से पैनक्रिएटिक (Pancreatic) अर्क निकलते हैं, जो कि पतली अँतड़ियों में जाकर उन अँतड़ियों द्वारा पाचन क्रिया को सहायता पहुँचाते हैं, और विशेष करके भोजन के रोग़नदार अंश पर काम करते हैं। गुर्दे कमर में स्थापित हैं; ये पतली अँतड़ियों के पीछे रहते हैं। ये सख्या में दो और आकार में सेम के बीज की शक्ल के होते हैं। ये रुधिर को, उसमें से यूरिया (Urea) नामक विषैले पदार्थ और अन्य फ़ज़ूल चीज़ों को निकालकर, साफ़ करते हैं। गुर्दों से ख़ारिज किया हुआ अर्क दो नलिकाओं में होकर, जिन्हें यूरेटर्स (Ureters) कहते हैं, मूत्राशय में जाता है। यह मूत्राशय पट के सबसे निचले भाग में होता है और मूत्र का बर्तन है, जो मूत्र कि रही अर्क है, जिसमें शरीर की रद्दियात भरी रहती हैं।

इस विषय के इस भाग के वर्णन को छोड़ने के पहले हम अपने पाठकों का ध्यान इस विषय की ओर आकर्षित किया चाहते हैं कि जब भोजन दाँतों से अधूरा पीसा हुआ और लार से अधूरा मिश्रित हुआ आमाशय और पतली अँतड़ियों में पहुँचता है—जब कि दाँतों और लार बहानेवाले अवयवों को पूरा काम करने का अवसर नहीं दिया गया है—तब पाचन में बाधा और रुकावट पहुँचती है, और पचानेवाले अवयवों के ज़िम्मे उनकी शक्ति से बाहर काम हो जाता है, और जो काम उनसे होना चाहिए वह नहीं हो सकता। यह बात वैसी ही है जैसे एक आदमी से कहा जाय कि तुम अपने ज़िम्मे का भी पूरा काम करो और उस काम को भी करो जिसका तुम्हारे काम से पहले ही ख़तम हो जाना वाजिब था। यह रसोइये से यह कहना है कि तुम रसोई भी बनाते जाओ और साथ ही-साथ आटा भी पीसते जाओ और दाल भी दलते जाओ। अब आमाशय और पतली अँतड़ियों में जो रस खींचनेवाले अवयव हैं वे अवश्य किसी-न किसी द्रव

पदार्थ को खींचेंगे; क्योंकि यही उनका कार्य ही ठहरा। यदि आप उन्हें खींचने के लिये सुंदर सुपक्व अन्नरस न देंगे तो वे आमाशय और पतली अँतड़ियों में के सड़ते-गलते हुए ही पदार्थों को खींचेंगे और उन्हें रुधिर में पहुँचा देंगे। रुधिर इन्हीं दरिद्र पदार्थों को सारे शरीर में, यहाँ तक कि मस्तिष्क में भी, पहुँचा देगा। जब मनुष्य इस प्रकार अपने शरीर में आप ही विष भर रहे हैं तब वे पित्त की अधिकता, सिर दर्द आदि की शिकायतें करें तो इसमें आश्चर्य ही क्या ?

छठा अध्याय

जीवनद्रव

हम अपने पिछले अध्याय में कह आए हैं कि जिस अन्न को हम लोग खाते हैं वह क्रमश: ऐसे पदार्थों में कैसे परिवर्तित हो जाता है जो कि रुधिर द्वारा खींचे और अपनाए जा सकते हैं, और यह रुधिर शरीर के सब भागों में कैसे पोषण पहुँचाता है, जहाँ शारीरिक मनुष्य के सब अंग बनते, मरम्मत होते और नए किए जाते रहते हैं। इस अध्याय में हम संक्षेप से यह दिखलावेंगे कि रुधिर की ये क्रियाएँ कैसे होती हैं।

पचे भोजन में का पोषण करनेवाला भाग खिंचकर रुधिर हो जाता है। यही रुधिर धमनियों द्वारा शरीर के रेशे-रेशे और ज़र्रे-ज़र्रे तक पहुँचता है कि जिसमें उसकी रचना और मरम्मत करने की क्रियाएँ होती रहें। फिर यही रुधिर अन्य नलियों द्वारा लौट भी आता है और अपने साथ शरीर के टूटे-फूटे ज़र्रों और अन्य फ़ज़ूल और रद्दी चीज़ों को लेता आता है कि जिसमें रद्दी चीज़ें फेफड़ों और शरीर के दूसरे साफ़ करनेवाले अवयवों द्वारा शरीर से बाहर फेंक दी जावें। इसी रुधिर के प्रवाह को, जो हृदय से बाहर की ओर शरीर के प्रत्येक अंगों तक, और प्रत्येक अंगों से भीतर तक की ओर हुआ करता है, रुधिर-संचार कहते हैं।

इस आश्चर्यजनक शारीरिक कल को जो इंजिन चलाता है उसे हृदय कहते हैं। मैं स्वयं हृदय के वर्णन में आप लोगों का समय न लूँगा; किंतु हृदय कौन-सा काम करता है, उसका बयान अवश्य करूँगा।

अब उसी स्थान से प्रारंभ किया जाय जहाँ पिछले अध्याय में हम लोगों ने छोड़ दिया था, अर्थात् उस स्थान से जहाँ अन्न के रस को रुधिर ग्रहण कर और अपना कर हृदय में पहुँचता है, जो हृदय इसे शरीर को पुष्टि पहुँचाने के लिये शरीर में रवाना करता है।

रुधिर धमनियों में होकर प्रस्थान करता है। ये धमनियाँ सिकुड़ने और फैलनेवाली नहरें हुआ करती हैं। इनकी शाखाएँ प्रशाखाएँ भी होती हैं। रुधिर बड़ी धमनियों (नहरों) से पतली धमनियों में जाता है; इनमें से और अधिक पतली धमनियों में जाता है; इनमें से उन बहुत ही बारीक धमनियों में जाता है, जो बाल से भी अधिक पतली हुआ करती हैं। ये बाल से भी पतली धमनियाँ भी रुधिर-संचार की मार्ग हैं, इनका व्यास , $\frac{3}{\quad}$ इंच होता है। ये बहुत ही पतले बाल के सदृश होती हैं। ये धमनियाँ रेशे रेशे में प्रवेश करके जाल की भाँति फैल जाती हैं, जिससे रुधिर सब अंशों में पहुँच जाता है। इनकी दीवारें बहुत ही पतली हुआ करती हैं, और रुधिर का पोषणकारी भाग इन दीवारों से बहकर रेशे-रेशे द्वारा ग्रहण कर लिया जाता है। ये बाल-सी पतली धमनियाँ केवल रुधिर को एक एक रेशे में बहाती ही नहीं, किंतु अपनी वापसी यात्रा में, जैसा कि अभी आगे बयान होगा, रुधिर को खींचती भी हैं और उसे शरीर के पोषण के लिये पहुँचाया करती हैं, जैसा कि पतली अँतड़ियों क रेशों स रुधिर को खींचकर ऊपर लाने का वर्णन पहले हो चुका है।

अच्छा अब फिर रुधिरापवाहक (रुधिर को हृदय से दूर पहुँचाने-वाली) धमनियों पर विचार कीजिए । ये गुणकारी, लाल शुद्ध रुधिर को, जो स्वास्थ्यदायक पोषण और जीवन स भरपूर रहता है, वहन करती हैं; बड़ी-बड़ी नहरों से छोटी नहरों में उसे वितरण करती हैं, फिर उससे भी छोटी नहरों में यहाँ तक कि अंत में अत्यंत

बारीक बाल सदृश धमनियों में, रुधिर को प्रवाहित करने लगती है जिससे कि प्रत्येक रेशा रुधिर में से पोषण ग्रहण करता है और उसे रचना के काम में लाता है। शरीर के छोटे-छोटे आश्चर्यजनक देहाणु इस कार्य को बड़ी ही सावधानी से करते हैं। (आगे चलकर इन देहाणुओं के कार्य के विषय में भी कुछ कहा जायगा) रुधिर अपना पोषणभंडार ख़र्च करके फिर हृदय की ओर अपनी वापसी यात्रा करता है और अपने साथ देह के रद्दियात, मृतक देहाणुओं और शरीर के अन्य निष्फल द्रव्यों को बटोरता आता है। यह बाल सदृश बारीक शिरा तंतुओं से प्रस्थान करता है परंतु रुधिरापवाहक धमनियों में होकर नहीं लौटता, किंतु कैंची की भाँति के प्रबंध से यह रुधिरोपवाहक (शरीर के सब अंगों से हृदय में रुधिर ले जानेवाली) पतली शिराओं में घूम पड़ता है, और उनमें से बड़ी रुधिरोपवाहक शिराओं में होता हुआ हृदय में पहुँचता है। अब फिर दुबारा रुधिरापवाहक धमनियों द्वारा यात्रा करके फिर शरीर में फैलने के पहले इसके साथ कुछ क्रिया होती है। यह फेफड़ा के स्मशान में पहुँचता है जिससे इसमें की रद्दियात और मैल भस्म करके फेंक दी जायँ। किसी दूसरे अध्याय में हम फेफड़ों की इस क्रिया का बयान करेंगे।

और आगे बढ़ने के पेश्तर हम यह बात बतलाए देते हैं कि एक प्रकार का और भी द्रव पदार्थ होता है जो शरीर में प्रवाहित होता रहता है। इसे पंछा (Lymph) कहते हैं और यह बनावट में रुधिर के सदृश होता है। इसमें कुछ तो रुधिर के मसाले रहते हैं जो रुधिरवाहक नलियों की बारीक दीवारों से बहा करते हैं, और कुछ देह के रद्दी पदार्थ होते हैं, जिन्हें साफ़ करने के बाद पंछा फिर रुधिर के हवाले करता है और फिर वे कार्य में लाए जाने लगते हैं। यह पंछा बहुत ही पतली नहरों में होकर प्रवाहित होता रहता है; ये पतली नहरें इतनी बारीक होती हैं कि जब तक इनमें यंत्र द्वारा

पारा न भरा जाय, ये आँखों से दिखलाई तक नहीं देतीं। ये नहरें अनेक रुधिरोपवाहक शिराओं में मिलकर उनमें अपना पक्षा छोड़ देती हैं, और सब पक्षा हृदय की ओर लौटते हुए गाढ़े रुधिर में मिल जाता है। खाद्यरस (Chyle) भी पतली अँतड़ियों से निकलकर (पिछला पाठ देखो) शरीर के निचले भागों से आते हुए पक्षा में मिल जाता है और इस तरह से रुधिर में मिल जाता है; इस रस को छोड़कर अन्य सब रस, जो पचे हुए भोजन से निकाले गए होते हैं, द्वार शिरा और यकृत द्वारा यात्रा करते हैं; इसलिये यद्यपि ये भिन्न भिन्न मार्गों से यात्रा करते हैं, परन्तु ये सब प्रवाह करते हुए रुधिर में मिल जाते हैं।

इस प्रकार आप देखेंगे कि रुधिर शरीर का रचनेवाला है, जो सीधे-सीधे या रूपांतरित होकर देह के सब भागों को पोषण और जीवन देता है। यदि रुधिर गुणहीन हुआ अथवा इसका प्रवाह निबल हुआ तो देह के किसी-न किसी भाग का पोषण अवश्य बाधा में पड़ जायगा और उसका नतीजा रुग्णावस्था होगी। मनुष्य की पूरी तौल का दसवाँ हिस्सा केवल रुधिर होता है। इसका चतुर्थांश के क़रीब हृदय, फेफड़ों, बड़ी धमनियों और शिराओं में रहता है; एक चौथाई मांस-पेशियों में रहता है; शेष भाग देह के शेष भागों और अवयवों में विसरित रहता है। कुल रुधिर का पाँचवाँ भाग मस्तिष्क के प्रयोग में आता है।

रुधिर के विषय में विचार करने में सर्वदा इस बात को स्मरण रखिए कि रुधिर वैसा ही होगा जैसा खाना और जिस तरह से खाना खाकर आप उसे बनावेंगे। आप उत्तम-से-उत्तम रुधिर काफ़ी मिक़दार में बना सकते हैं यदि आप भोजन को विवेकपूर्वक पसन्द करेंगे और यदि आप वैसा ही भोजन भी करेंगे, जैसा कि आपके लिये प्रकृति का उद्देश था। और इसके विपरीत में आप बहुत ख़राब

रुधिर और मिक़दार में भी थोड़ा, बना पावेंगे यदि आप अस्वाभाविक स्वादेच्छा को पूरी करेंगे अथवा अच्छे या बुरे किसी भोजन को अनुचित रीति से खाएँगे जिसे "खाना" कहना ही अन्याय है। रुधिर जीवन है—आप ही उस रुधिर को बनाते हैं—यही इन सब बातों का सारांश है।

अब आइए फेफड़ों के स्मशान पर विचार कीजिए और देखिए कि रुधिरोपवाहक सिराओं के उस नीले, गंदे रुधिर के साथ, जो शरीर के सब भागों से गंदगी और रद्दियात से लदा हुआ वापस आया है, कौन-कौन-सी क्रियाएँ होती हैं। पहले स्मशान ही को देखिए।

सातवाँ अध्याय

देह में का स्मशान

श्वास लेने के अवयव फेफड़े हैं और वे नलियाँ भी जो नाक से फेफड़ों तक गई हुई हैं। फेफड़े संख्या में दो होते हैं और छाती की कोठरी में बीचोबीच की रेखा से एक दाहनी ओर और दूसरा बाईं ओर होता है; उन दोनों फेफड़ों के बीच में हृदय, रुधिर की बड़ी-बड़ी नलियाँ और हवा जाने की बड़ी-बड़ी नलियाँ रहती हैं। प्रत्येक फेफड़ा अपनी जड़ को छोड़कर शेष ओर छुटा और स्वतंत्र रहता है इसकी जड़ में हवा की नलियाँ, रुधिरा-पवाहक और रुधिरोपवाहक नलियाँ होती हैं जो फेफड़ों को घोंघा और हृदय से जोड़ती हैं। फेफड़े स्पंज के सदृश और अनेक छिद्र वाले होते हैं; इनके रेशे बहुत ही लचीले अर्थात् सिकुड़ने और फैलनेवाले होते हैं। ये बहुत ही बारीक परंतु मज़बूत थैले में घिरे रहते हैं, जिस थैले की एक दीवार तो फेफड़े में सटी रहती है और दूसरी छाती की भीतरी दीवार में सटी होती है, और इससे एक प्रकार का द्रव पदार्थ स्रवा करता है जिससे श्वास लेने में थैले की दीवारें एक दूसरे पर आसानी से फिसला करती हैं।

श्वास लेने के मार्गों में नासिका के भीतरी मार्ग, फेरिंक्स, लेरिंक्स, घोंघा और घोंघा की निचली शाखाओं की नलियाँ हैं। जब हम श्वास लेते हैं तब हम नासिका द्वारा हवा भीतर खींचते हैं, जहाँ वह आर्द्र झिल्ली के संयोग से गरम हो जाती है; क्योंकि यह आर्द्र झिल्ली रुधिर से भरपूर रहती है। हवा फेरिंक्स और लेरिंक्स में होती हुई घोंघे में पहुँचती है; यह घोंघा नीचे कई

नलियों में विभक्त हो जाता है, जिन्हें घोंघा की शाखा-नलिकाएँ कहते हैं ; ये नलिकाएँ भी और महीन-महीन अनगिनत नलिकाओं में विभक्त हो जाती हैं, जो फेफड़ों की छोटी छोटी उन हवा की कोठरियों में पहुँचती हैं जो फेफड़ो में करोड़ों होती हैं। एक लेखक ने लिखा है कि यदि फेफड़ों की हवावाली कोठरियाँ एक समतल सतह पर फैला दी जावें तो ये चौदह हज़ार वर्ग फ़ीट जगह घेरेंगी।

हवा फेफड़ों में उस मासपेशी की चहर की क्रिया से खींची जाती है, जो चौड़ी, मज़बूत, चिपटी और चद्दर के सदृश मासपेशी होती है और जो छाती की कोठरी को पेट से पृथक् करती है। इसकी क्रिया वैसे ही आप से आप हुआ करती है जैसे हृदय की होती है, यद्यपि हम अपनी दृढ़ इच्छा के बल से कुछ-कुछ अपने आधीन कर सकते हैं। जब यह चद्दर फैलती है तब यह छाती की कोठरी और फेफड़ों के विस्तार को बढ़ा देती है, और इस प्रकार जो रिक्त स्थान बनता है उसके भरने के लिये हवा भीतर प्रवेश करती है। जब यह चद्दर सिकुड़ती है तो छाती और फेफड़े भी सिकुड़ते हैं और हवा फेफड़ों से बाहर निकल आती है।

अब फेफड़ों में हवा के साथ कौन-सी क्रिया होती है इसके विचार करने के पहले आइए रुधिर-संचार के विषय में देख जायँ। रुधिर, जैसा कि आप जानते हैं, हृदय द्वारा संचालित होता है और रुधिरापवाहक धमनियों और बारीक धमनियों में होता हुआ शरीर के प्रत्येक भाग में पहुँच जाता है और वहाँ जीवट, पुष्टि और शक्ति देता है। फिर महीन रुधिरोपवाहक शिराओं और मोटी शिराओं में होता हुआ दूसरे मार्ग से हृदय में लौट आता है, जहाँ से कि वह फेफड़ों में खींचा जाता है।

रुधिर अब हृदय से निकलकर रुधिरापवाहक धमनियों द्वारा प्रस्थान करता है तब वह चमकीला, लाल, गुणविशिष्ट और जीवन

दायक पदार्थों और शक्तियों से भरा पूरा रहता है। परन्तु जब यह रुधिरोप ग्राहक शिराओं द्वारा वापस आता है तब यह गुणहीन, नीला, गँदला और देह के रद्दी पदार्थों से भरा आता है। वह जाने के समय तो हिमालय पहाड़ से निकली हुई पानी की स्वच्छ धारा के सदृश रहता है परन्तु लौटने के समय म्युनिसिपैलिटी की मोरियों के गंदे पानी सा हो जाता है। यह गंदी धार हृदय की दाहनी कोठरी (Auricle) में जाती है। जब यह कोठरी भर जाती है तब यह सिकुड़ती है और उसमें का रुधिर दाहनी ही ओर एक छिद्र द्वारा दूसरी कोठरी (Ventricle) में जाता है, और वहाँ से फेफड़ों में पहुँचता है, जहाँ वह लाखों बाल के सदृश महीन रुधिरवाहिनी नलियों द्वारा फेफड़े की हवावाली अनगिनत कोठरियों में पहुँचता है, जिसका ज़िक्र पहले हो चुका है। अब यहाँ पर फेफड़ों की क्रिया पर ध्यान दीजिए।

रुधिर की गंदी धार फेफड़ों की करोड़ों छोटी छोटी हवावाली कोठरियों में वितरित हो जाती है। अब श्वास द्वारा हवा भीतर खींची जाती है और हवा में का आक्सीजन, फेफड़ों की पतली रुधिरवाहिनी नलियों की बारीक दीवारों में होकर, जो दीवारें रुधिर रोकने के लिये तो काफ़ी मोटी होती हैं परन्तु आक्सीजन के प्रवेश के लिये स्थान दे देती हैं, गंदे रुधिर के संपर्क में आता है। जब आक्सीजन रुधिर के संपर्क में आता है तो एक प्रकार की जलन होने लगती है, और रुधिर आक्सीजन को ले लेता है और उस कार्बोनिक एसिड गैस का जो उस रद्दियात और विषैले पदार्थों से बनी होती है, जिन्हें रुधिर शरीर के सब अंगों से लाया था। रुधिर जब इस प्रकार स्वच्छ और आक्सीजन मिश्रित हो जाता है तो फिर गुणविशिष्ट, लाल, चमकीला और जीवनदायिनी शक्तियों और पदार्थों से भरपूर होकर हृदय में पहुँचाया जाता है। पहले यह

हृदय की बाईं कोठरी (Auricle) में आता है, यहाँ से दूसरी बाईं कोठरी (Ventricle) में भेजा जाता है, जहाँ से प्रेरित होकर वह फिर रुधिरप्रवाहिनी धमनियों द्वारा जीवनदान देने के लिये देह के प्रत्येक भागों में भेजा जाता है। यह अनुमान किया गया है कि २४ घंटे के दिन में ३५००० पाइंट रुधिर फेफड़ा की बाल-सी पतली नलियों में होकर गुज़रता है और सब रुधिराणु एक ही क़तार में होकर गुज़रते हैं जिससे अपने दोनों बाज़ुओं की ओर के ऑक्सी जन से सपर्क करते जाते हैं। जब कोई मनुष्य इन ऊपर लिखे हुए क्रिया-कलापों की बारीकियों पर सविस्तर विचार करता है तो उसे प्रकृति की अनंत सावधानी और चतुराई पर आश्चर्य और प्रशंसा में मग्न हो जाना पड़ता है।

यह बात देखने में आवेगी कि यदि पूरे परिमाण में स्वच्छ हवा फेफड़ों में न जायगी तो रुधिरोपवाहक शिराओं द्वारा लौटे हुए गंदे रुधिर की सफ़ाई न हो सकेगा, और परिणाम यह होगा कि केवल शरीर ही पुष्टि से वंचित न रह जायगा, किंतु वे रद्दियात जिनका नष्ट हो जाना आवश्यक था, अब फिर रुधिर-संचार में जाती हैं और देह में विष फैलाती हैं, जिससे मृत्यु होती है। गंदी हवा भी ऐसी ही बुराई उत्पन्न करती है पर किंचित् थोड़ी मात्रा में। यह बात भी देखने में आवेगी कि यदि कोई मनुष्य पूरे परिमाण में स्वच्छ हवा को भीतर न खींचेगा तो रुधिर का कार्य मुनासिब तौर पर न हो सकेगा, और परिणाम यह होगा कि शरीर बहुत कम पुष्ट होगा और रोग पैदा हो जायगा अथवा अस्वास्थ्य की दशा अनुभव होने लगेगी। जो मनुष्य उचित श्वास नहीं लेता उसका रुधिर अवश्य नीलापन लिए हुए मैले रंग का होता है और उसमें स्वच्छ रुधिर की गुण विशिष्ट लालिमा नहीं पाई जाती। यह प्रायः शरीर को बदरंग कर देने से अपने को प्रकट करता है। उचित श्वास लेने का फल अच्छा

रुधिर-संचार है और अच्छे रुधिर-सचार का चिह्न शरीर का अच्छा रंग होना है।

थोड़े ही ध्यान देने से उचित साँस लेने की प्रधानता समझ में आ जावेगी। यदि फेफड़ों की शुद्ध करनेवाली क्रिया से रुधिर साफ़ न किया जायगा तो वह अस्वाभाविक दशा में धमनियों में जायगा; न तो यह अच्छी तरह से साफ़ ही होगा और न इसकी वे ही गदगियाँ दूर की जा सकेंगी जिनको इसने वापसी यात्रा में शरीर से लिया था। ये गदगियाँ जब फिर देह में जावेंगी तो किसी न किसी बीमारी की सूरत में प्रकट होंगी; या तो किसी रुधिर-रोग के रूप में अथवा नहीं तो ऐसे रोग के रूप में प्रकट होंगी जो किसी अल्पपुष्ट इन्द्रिय, अवयव या रेशे की निर्बल क्रिया से हुआ करते हैं।

रुधिर जब फेफड़ों की काफी हवा से सपर्क रख लेता है तब उसकी केवल गदगियाँ ही नहीं दूर हो जातीं और विषैली कारबोनिक एसिड गैस ही नहीं पृथक् हो जाती, किंतु यह हवा में से कुछ आक्सीजन भी ग्रहण करके अपने में मिला लेता है और शरीर के उन सब अंगों में पहुँचा देता है, जहाँ उसकी आवश्यकता होती है जिससे कि प्रकृति अपना पूरा काम उचित रीति से कर सके। जब आक्सीजन रुधिर के सपर्क में आता है तब वह रुधिर के उस अंश से मिल जाता है जिसे हीमोग्लाबिन (Haemoglobin) कहते हैं और वह प्रत्येक अणु देह, रेशा, मांसपेशी और अवयव के पास पहुँचाया जाता है, जिन्हें वह बलिष्ठ और शक्तिमान् बनाता है और निकम्मे देहाणुओं और रेशों के स्थान पर नए सामान जुटा देता है, जिन्हें प्रकृति अपने काम में ले आती है। रुधिरापवाहिनी धमनी के शुद्ध रुधिर में २५ प्रति सैकड़ा स्वतत्र आक्सीजन रहता है।

आक्सीजन के द्वारा केवल प्रत्येक अंग जीवटदार ही नहीं बनाया जाता, किंतु पाचन क्रिया भी वस्तुतः भोजन के समुचित रीति से

आक्सीजन मिश्रित होने पर अवलंबित है, और यह मिश्रण तभी होता है जब रुधिर में का आक्सीजन भोजन के सपर्क में आता है और एक प्रकार की जलन उत्पन्न करता है, जिसे जठराग्नि कहते हैं। इसलिये यह आवश्यक हुआ कि फेफड़ों द्वारा आक्सीजन की पूरी मात्रा ग्रहण की जावे। यही कारण है कि जहाँ फेफड़े निर्बल होते हैं वहाँ अपच का रोग भी साथ ही-साथ अवश्य रहता है। इस कथन की पूरी महिमा समझने के लिये आवश्यक है कि यह बात स्मरण रहे कि सारा शरीर पचे और अपनाए हुए भोजन से पोषण पाता है, और अधूरे पाचन और अधूरे रस-ग्रहण का अर्थ अधूरा पुष्ट शरीर है। फेफड़ों को भी पोषण के उसी द्वार पर अवलंबित रहना पड़ता है, और यदि अधूरी साँस के कारण रस ग्रहण भी अधूरा हुआ, जैसा कि सर्वदा हुआ करता है, और फेफड़े कमजोर हो गए, तो वे अपना कार्य करने के लिये और भी अधिक अयोग्य हो जाते हैं तथा शरीर और भी अधिक निर्बल हो जाता है। भोजन और पान के प्रत्येक कण को आक्सीजन से मिश्रित हो जाना चाहिए और तभी उनसे उचित पोषण मिल सकेगा और तभी देह की रद्दियात ऐसी अवस्था में आ जायँगी कि देह के बाहर निकाल फेंकी जावें। काफ़ी आक्सीजन के अभाव का अर्थ पोषण का अभाव, शुद्धता का अभाव और स्वास्थ्य का अभाव है। सच है "श्वास ही जीवन है।"

रद्दियात के परिवर्तन अर्थात् सफ़ाई से एक प्रकार की जलन उत्पन्न होती है, जो गरमी पैदा करती है और शरीर के ताप को समभाव में रखती है। अच्छी श्वास लेनेवाले ज़ुकाम में नहीं फँसते, और उनके शरीर में अच्छा गरम रुधिर पुष्कल रहता है जिसकी वजह से वे बाहरी मौसिम के परिवर्तन को पूरा पूरा सहन कर लेते हैं।

ऊपर लिखे हुए क्रिया-कलापों के अतिरिक्त श्वास क्रिया से भीतरी

अवयवों और मासपेशियों को कसरत करनी पड़ जाती है, जिस पर पश्चिमी विद्वानों का ध्यान ही नहीं गया, परंतु योगी लोग उसे खूब समझते हैं।

अधूरी या छिछली साँस में फेफड़ों की कोठरियों का एक अशमात्र काम में लाया जाता है, और फेफड़ों की अधिकांश शक्ति नष्ट हो जाती है, और आक्सीजन की जितनी ही कमी हुआ करती है, शरीर की उतनी ही हानि होती है। नीच जंतु अपनी स्वाभाविक दशा में सही साँस लेते हैं, और आदि काल के मनुष्य भी वैसा ही करते थ। सभ्य मनुष्यों ने जीवन के अस्वाभाविक तरीक़े को जो ग्रहण किया—सभ्यता के पीछे-पीछे रोग बुलाया—तो हमारी श्वास लेने की स्वाभाविक रीति हमसे छूट गई जिससे मानव जाति की असीम हानि हो गई। मनुष्य की शारीरिक मुक्ति तो तभी होगी जब वह फिर प्रकृति के मार्ग पर लौटेगा।

आठवाँ अध्याय

पोषण

मानव शरीर में लगातार परिवर्तन हो रहा है। हड्डियों के परमाणु, रेशे, मांस, मांसपेशी रोगन और द्रव द्रव्य लगातार रद्दी होते जाते हैं, और शरीर से निकाले जाया करते हैं, और शरीर का अद्भुत रसायनशाला में नए-नए परमाणु लगातार रचे जाते हैं और तब रद्दी और फेंके हुए परमाणुओं की जगह पूरी करने के लिये भेजे जाते हैं।

आइए ज़रा मनुष्य-शरीर की कारीगरी पर पौधों की समता में गौर कर लें—और सचमुच यह शरीर वस्तुत पौधों के जीवन से बहुत कुछ मिलता है। पौधों को बीज से अंकुर होने में, और फिर अंकुर से पौधा, उसके फूल, बीज और फल होने में किन-किन वस्तुओं की आवश्यकता होती है? उत्तर बहुत सरल है—स्वच्छ वायु, सूर्य का प्रकाश, पानी और पोषणकारी भूमि—ये ही वस्तुएँ सब-की-सब उसके लिये आवश्यक हैं कि वह स्वस्थ यौवन को प्राप्त हो। मनुष्य के पार्थिव शरीर के लिये भी ठीक इन्हीं वस्तुओं की ज़रूरत होती है, जिससे वह स्वस्थ, सुदृढ़, बलवान् और ठीक रहे। आवश्यक वस्तुओं को ख़ूब याद रखिए—स्वच्छ वायु, सूर्य का प्रकाश, पानी और भोजन। हम वायु, सूर्य के प्रकाश और जल के विषय में अन्य अध्यायों में विचार करेंगे, और यहाँ पहले पोषणकारी भोजन के विषय में विचार किया जायगा।

ठीक उसी भाँति जैसे पौधा धीरे धीरे लगातार बढ़ता है, वैसे ही हम रद्दी के फेंकने और उसके स्थान पर नए द्रव्यों को स्थापित करने का महत् कार्य भी लगातार दिन रात हुआ करता है। हम लोग इस

महत् कार्य की ख़बर नहीं रखते, क्योंकि यह मानव प्रकृति के सचेतन भाग से संबंध रखता है, यह मनुष्य के प्रवृत्ति मानस के कार्य का एक अंग है।

संपूर्ण शरीर और उसके कुल भाग स्वास्थ्य, बल और जीवट के लिये द्रव्यों के इसी लगातार नूतनीकरण पर भरोसा करते हैं। यदि यह नूतनीकरण बंद हो जाय तो उसका परिणाम शरीर की गलन और मृत्यु होगा। रद्दी और परित्यक्त पदार्थों के स्थान में नए पदार्थों का स्थापित करना देह की अनिवार्य आवश्यकता है, और इसलिये स्वस्थ मनुष्य का ख़याल करते समय यह पहली ही बात विचारने की है।

हठयोग शास्त्र में भोजन के इस विषय का मूलमंत्र पोषण है। हमने इस शब्द को बड़े अक्षरों में छाप दिया है कि यह आपके चित्त में अंकित हो जाय। हम चाहते हैं कि हमारे शिष्यों को भोजन के ख़याल के साथ-साथ पोषण का ख़याल बना रहे।

योगी के लिये भोजन का अर्थ ऐसी चीज़ नहीं है जो रसना के स्वाद को उत्तेजित करे, किंतु प्रथम पोषण, द्वितीय पोषण और तृतीय पोषण ही है। आदि से अंत तक सर्वदा पोषण ही है।

बहुत-से लोग आदर्श योगी को दुबला, पतला, अधभुखा और निर्मांस जंतु समझते हैं, जो भोजन पर इतना कम ध्यान देता है कि कई दिन तक बिना खाए रह जाता है—जो समझता है कि "आध्यात्मिक प्रकृति" के लिये भोजन अत्यंत "आधिभौतिक" पदार्थ है। इससे बढ़कर सचाई से दूर दूसरी बात नहीं हो सकती। योगी लोग, विशेष करके वे जो हठयोग के पक्के साधक हैं, पोषण को शरीर के लिये अपना प्रथम कर्तव्य समझते हैं और अपने शरीर को समुचित पुष्ट रखने में सर्वदा सावधान रहते हैं और यह देखा करते हैं कि शरीर में नए द्रव्यों की रचना बेकार और परित्यक्त द्रव्यों की समता में होती है कि नहीं।

यह बात बहुत सच है कि योगी भद्दा खनकड़ नहीं होता और न उसकी वासना लज़ीज़ और लतीफ़ भोजन की ओर जाती है। इसके विपरीत वह ऐसी मूर्खताओं पर मन ही-मन हँसता है और अपने सादे पोषणकारी भोजन ही में जी लगाता है, क्योंकि वह जानता है कि इसी सादे भोजन में उसे वह पोषण मिलेगा जो उन हानिकारक पदार्थों से निर्लिप्त रहेगा, जो पदार्थ उसके उस भोगी भाई के रंगबिरंगे पकवानों में पाए जाते हैं, जो कि भोजन के असली अर्थ से अनभिज्ञ है।

हठयोग की एक कहावत है कि "खाया हुआ पदार्थ नहीं, किंतु पचाकर अपनाया हुआ पदार्थ पोषण करता है।" इस पुरानी कहावत में दुनिया-भर की सचाई भरी है, और इसमें वह बात है जिसे स्वास्थ्य विषयक लेखकों ने पोथियों की पोथियों में लिखा है।

हम आगे चलकर आपको योगियों का वह तरीक़ा बतलावेंगे जिस तरीक़े से वे थोड़े-से-थोड़े भोजन से अधिक-से अधिक पोषण प्राप्त किया करते हैं। योगियों का तरीक़ा मध्य मार्ग है, मार्ग के परस्पर विरोधी दोनों किनारों से दो भिन्न प्रकार के विचारवाले मनुष्य चलते हैं, अर्थात् एक तो ख़ूब कसकर खानेवाले और दूसरे निराहार व्रत के करनेवाले; इन दोनों में से प्रत्येक अपने विचार की महिमा गाता है और अपने विपक्षी के विचारों की निंदा करता है। इन लोगों के विवाद पर जब योगी अपने सरल स्वभाव से हँस देता है तो वह क्षमा के योग्य है क्योंकि वह देखता है कि एक तो पूरे पोषण के लिये कसकर भोजन करना आवश्यक समझता है, और दूसरा इसका विपक्षी कसकर भोजन करने में मूर्खता देखता है और उसको दूसरा रास्ता नहीं दिखाई देता सिवाय इसके कि बहुत दिन तक व्रत कर करके अधभूखे रहें, जिससे बहुत-से ऐसे व्रतियों को निर्बलता ने आ घेरा है और किसी किसी को तो अपने जीवट को खोकर मृत्यु के मुख में जाना पड़ गया है।

योगी के लिये उपवासजनित अल्प पोषण और कसकर खाने से अपक्व रस इन दोनों में से किसी प्रकार का भय नहीं रहता—इन प्रश्नों को तो सैकड़ों वर्ष हुए कि वृद्ध योगी गुरुओं ने कभी हल कर दिया और यह मामला इतना पुराना हो गया कि उन वृद्ध योगी गुरुओं का नाम तक भी उनके अनुयायियों को स्मरण नहीं है।

अब कृपा करके सर्वदा के लिये इस एक बात को गाँठ दकर याद कर लीजिए कि हठयोग भूखे रहने के तरीक़े का पक्षपाती नहीं है, परन्तु इसके विपरीत वह जानता और सिखाता है कि मनुष्य का शरीर कभी भी विना काफ़ी भोजन खाए और खाकर पचाए, पुष्ट नहीं रह सकता। बहुत-से नाज़ुक, निर्बल और सशंक मनुष्य इसी कारण कम जीवट के और रुग्णावस्था में होते हैं कि वे काफ़ी पोषण नहीं प्राप्त करते।

इस बात को भी याद रखिए कि हठयोग इस विचार को भी हास्यजनक जानकर अस्वीकार करता है कि ख़ूब कस कर भोजन करने से पोषण प्राप्त होता है; और स्वाद-लोलुपों की दशा पर आश्चर्य और रहम करता है, और स्वाद-लोलुपता में केवल नीच पशुता का आभास देखता है जो पूर्ण विकसित मनुष्यत्व से बहुत ही विपरीत है।

योगी की दृष्टि में समझदार मनुष्य जीने के लिये खाता है—न कि खाने के लिये जीता है।

योगी बहुत खानेवाला नहीं होता, किंतु बड़ा ही स्वादु-भोजी होता है, क्योंकि सादा-से साद खाना खाते हुए भी, उसने अपनी आस्वादन शक्ति को इतना जगा और उत्साहित कर लिया है कि सखी भूख में इन्हीं सादे खानों में स्वाद मिलता है जो कि उन लोगों को कभी भी नसीब नहीं होता जो पाकशाला के बहुमूल्य तरीक़ों द्वारा स्वाद की तलाश में रहा करते हैं। योगी का

प्रधान उद्देश है कि पूर्ण पोषण के निमित्त भोजन करना चाहिए तो भी वह अपने भोजन से ऐसा स्वाद और आनद प्राप्त करता है जो उसके मारे भोजन से घृणा करनेवाले भोगी भाई को मालूम ही नहीं हो सकता।

अगले अध्याय में हम भूख और भोजनातुरता का विषय उठावेंगे—ये दोनों भौतिक शरीर के अत्यत भिन्न भिन्न गुण हैं, यद्यपि बहुत-से मनुष्यों को दोनों एक ही बात प्रतीत होती है।

नवाँ अध्याय

भूख और भोजनातुरता

जैसा कि इसके पूर्ववाले अध्याय के अंत में हमने कहा है, भूख और भोजनातुरता दोनों परस्पर बिलकुल एक दूसरे से भिन्न गुण शरीर के हैं। भूख भोजन की स्वाभाविक माँग है—भोजनातुरता अस्वाभाविक लोलुपता है। भूख स्वस्थ बच्चे के कपोलों पर गुलाबी रंग की लालिमा की भाँति है—भोजनातुरता शौक़ीन औरत के रँगे हुए लाल चेहरे की तरह है। तथापि बहुत-से मनुष्य ऐसा समझते हैं कि दोनों का अर्थ एक ही है। अब देखना चाहिए कि दोनों में अंतर क्या है।

एक साधारण मनुष्य का, जो युवावस्था को पहुँच गया है, भूख और भोजनातुरता के भिन्न भिन्न अनुभवों और लक्षणों को समझा देना बड़ी कठिन बात है क्योंकि उस उमर के अधिकतर मनुष्य अपनी स्वाभाविक भूख की प्रवृत्ति को इस क़दर भोजनातुरता से परिवर्तित कर देते हैं कि उन्होंने बहुत बरसों से असली भूख के लक्षणों का अनुभव ही नहीं किया है और भूल गए हैं कि भूख लगने पर कैसा मालूम देता है। और किसी अनुभव का समझना बड़ी ही मुशकिल बात है जब तक श्रोता के मन में उस अनुभव का अथवा वैसे ही अन्य अनुभव का स्मरण न दिला दिया जाय, जिसको कि उसने कभी पिछले समय में भोग लिया है। हम किसी आवाज़ का बयान साधारण श्रवणवाले मनुष्य से ऐसी आवाज़ों की उपमा देकर कर सकते हैं, जिनको उसने कभी सुना है—परंतु जो मनुष्य जन्म ही से बहरा है उसको आवाज़ का अर्थ समझाना

कितना कठिन है, आप ही कल्पना कर लीजिए, अथवा जन्मांध मनुष्य को रंग का अर्थ बतलाना या ऐसे मनुष्य को जो जन्म से घ्राणशक्ति से हीन है उसे सुगंध को समझाना कितनी कठिन बात है।

ऐसे मनुष्य को, जो भोजनातुरता की गुलामी से बाहर है, भूख और भोजनातुरता के भिन्न भिन्न लक्षण प्रतीत होते हैं और दोनों का भेद आसानी से समझ में आ जाता है, और ऐसे मनुष्य का मन दोनों शब्दों के भावों को ठीक-ठीक ग्रहण कर लेता है। परंतु साधारण सभ्य मनुष्य को भूख ही भोजनातुरता का मूल, और भोजनातुरता भूख का परिणाम प्रतीत होती है। दोनों शब्दों का दुष्प्रयोग किया जाता है। हमको साधारण और सुपरिचित उदाहरणों द्वारा इस बात को समझाना पड़ेगा।

पहले प्यास को लीजिए। सब लोग अच्छी स्वाभाविक प्यास के अनुभव को जानते हैं। जिसमें ठंडे पानी की भीतरी माँग होती है। इसका अनुभव मुख और गले में होता है और इसकी तृप्ति उस पदार्थ से होती है जो प्रकृति का उद्देश है—ठंडा पानी। अब यही स्वाभाविक प्यास तो स्वाभाविक भूख से तुलना रखती है।

यह स्वाभाविक प्यास उस पानातुरता से कितनी भिन्न होती है जिस आतुरता के वश में होकर मनुष्य मीठे, जायकेदार सोडावाटर, मलाई का बर्फ और सोडा, जिंजर, मदिरा और भाँति भाँति के शर्बतों को तलाश करता है। और इसी प्रकार स्वाभाविक प्यास उस आतुरता से कितनी भिन्न होती है जिस शराबी मनुष्य बियर, ब्रांडी आदि के लिये अनुभव करता है। अब कुछ समझ में आने लगा कि हमारा क्या मतलब है?

हम लोगों को ऐसा कहते हुए सुनते हैं कि एक ग्लास सोडा वाटर की कैसी प्यास लगी है, दूसरे कहते हैं कि थोड़ी शराब की प्यास लगी है। अब यदि ये मनुष्य सचमुच प्यासे होते, या दूसरे

शब्दों में, यदि सचमुच प्रकृति की माँग द्रव पदार्थ की होती, तो पहले ये लोग स्वच्छ ठंडा पानी ही तलाश करते और वही पानी उनकी प्यास को पूरा पूरा बुझा देता। परंतु नहीं, पानी सोडावाटर अथवा व्हिस्की की प्यास को कभी नहीं बुझा सकता। क्यों? क्योंकि यह पानातुरता की चाहना है जो स्वाभाविक प्यास नहीं है, परंतु इसके विपरीत अस्वाभाविक पानातुरता है—व्यतिक्रान्त चाहना है। आतुरता पैदा कर ली गई है—आदत डाल दी गई है—और वह अपनी प्रभुता दिखला रही है। आप ख़्याल करेंगे कि इन आतुरताओं के मुरीद भी कभी-कभी सच्ची प्यास का अनुभव करते हैं और ऐसे समय में केवल पानी ही माँगते हैं और आतुरता के भोग का ख़्याल भी नहीं करते। ज़रा ख़्याल तो कीजिए कि यही बात क्या आपके साथ भी नहीं है? यह स्वादपान के निवारण के लिये उपदेशकीय व्याख्यान नहीं है और न तो मद्यप्रचार निवारण का उपदेश ही है, परंतु सच्ची प्यास और हासिल की हुई आदत अर्थात् आतुरता का भेद दिखलाने के लिये उदाहरण है। आतुरता खाने और पीने की हासिल की हुई आदत है और इससे सच्ची भूख और प्यास से कुछ भी सम्बंध नहीं है।

मनुष्य तंबाकू को किसी रूप में भोगने की चाहना अर्थात् आतुरता प्राप्त कर लेता है, वैसे ही शराब, पान, दोहरा, अफ़ीम, चरस, गाँजा, चंडू, कोकेन या ऐसे ही द्रव्यों की आदतें डाल लेता है और इनके लिये आतुर हो जाता है। और ऐसी आतुरता या आदतें जब एक बार अच्छी तरह प्राप्त कर ली जाती हैं तब वह स्वाभाविक भूख और प्यास से भी प्रबल हो जाती हैं; क्योंकि ऐसे मनुष्य भी जाने गए हैं जो भूखों मर गए हैं, क्योंकि उन्होंने अपना सब धन शराब और नशे के लिये ख़र्च कर दिया था। मनुष्य ने पीने के लिये अपने बच्चों के कपड़े तक बेच दिए हैं—अपनी नशा की आतु

रता बुझाने के लिये चोरी और क़त्ल तक कर डाला है। परतु इस भयकर आतुरता की चाहना को भूख कहने की कौन कल्पना करेगा? परतु हम किसी वस्तु को पेट में डाल लेने की प्रबल चाहना अर्थात् आतुरता को भूख ही कहते और समझते हैं हालाँ कि ऐसी बहुत-सी चाहनाएँ वैसी ही आतुरता की चिह्न हैं जैसे शराब और दूसरे नशे की चाहना होती है।

नीच जतु को स्वाभाविक भूख होती है जब तक कि वह सभ्य मनुष्य द्वारा मिठाई वग़ैर खिलाकर, जिसे झूठे ही भोजन कहते हैं, भड़का न दिया जाय। छोटे बच्चे को भी स्वाभाविक ही भूख होती है जब तक वह भी बिगाड़ नहीं दिया जाता। बच्चों में स्वाभाविक भूख के स्थान पर अस्वाभाविक चाहनाएँ माता पिता की सपत्ति के अनुसार पैदा की जाती हैं—जितनी ही धन की अधिकता होगी उतनी ही आतुरता की अधिक प्राप्ति होगी। ज्यों-ज्यों ऐसा बच्चा बढ़ता जाता है त्यों-त्यों असली भूख के अर्थ को भूलता जाता है। सच तो यह है कि मनुष्य भूख को एक दु खदायी चीज़ समझते हैं और उसे स्वाभाविक प्रकृति नहीं समझते। जब कभी मनुष्य को बाहर पड़ाव डाल-डालकर यात्रा करनी पड़ जाती है, तब खुली हवा, शारीरिक परिश्रम और स्वाभाविक जीवन से एक बार फिर असली भूख जाग उठती है, और तब वे छोटे लड़कों की भाँति भोजन करते हैं और ऐसे स्वाद के साथ कि जिसे बरसों वे नहीं जानते थे। उनको सचमुच भूख लग जाती है और वे खाना खाते हैं क्योंकि उनके शरीर में भोजन की माँग है वे केवल आदत ही के कारण नहीं खाना खाते जैसा घर पर हुआ करता है कि पेट में लगातार खाने पर खाना भरा चला जाता है।

हमने हाल ही में धनी लोगों की एक मडली के विषय में पढ़ा है कि वे आनद के लिये समुद्र की यात्रा कर रहे थे कि दुर्घटना

बश असहाय स्थान में पड़ गए। विवश होकर उन्हें दस दिन तक बहुत ही सूक्ष्म भोजन से गुज़र करनी पड़ी। जब ये लोग बचाए गए तब वे स्वास्थ्य के रूप नज़र आते थे—गुलाबी रंग, चमकीली आँखें, और सबसे बढ़कर यह बात कि वे स्वाभाविक अच्छी भूख के बहुमूल्य पदार्थ को पा गए थे। उस मण्डली के कुछ लोग बरसों से बदहज़मी के रोग में मुब्तिला थे परंतु इन दस दिनों के अनुभव ने जिसमें भोजन बहुत ही कम और बड़े परिश्रम से मिला, लोगों को बदहज़मी और अन्य रोगों से मुक्त कर दिया। उनको उचित रीति से पोषण करने के लिये तो काफ़ी मिल गया और देह में जा रद्दियात जमा हो गए थे और जिनसे शरीर विषाक्त हो रहा था वे पदार्थ निकल गए। अब वे बहुत दिन तक नीरोग रहें या न रहें, यह बात उन्हीं के कर्मों पर अवलंबित थी कि चाहें वे भूख का अनुसरण करें चाहे भोजनातुरता का।

स्वाभाविक भूख—स्वाभाविक प्यास की भाँति—मुँह और गले की नाड़ियों के द्वारा अपने को प्रकट करती है। जब मनुष्य भूखा होता है, तब भोजन का ख़्याल या नाम उसके मुँह, गले और लार पैदा करनेवाले अवयवों में एक विशेष सवेदना उत्पन्न करता है। उन भागों की नाड़ियों से एक विचित्र प्रकार की सवेदना प्रकट होती है, लार बह आती है, और वहाँ के सारे अवयव कार्य में लगने की उत्सुकता प्रकट करने लगते हैं। आमाशय कोई भी संकेत नहीं करता और ऐसे मौक़ों पर प्रकट भी नहीं होता। मनुष्य को मालूम होता है कि अच्छे पुष्टिदायक भोजन का स्वाद उसे सुखदायक होगा। थकावट, ख़ालीपन, क्षीणता, भोजनाभाव आदि की वेदना आमाशय में नहीं होती। ये लक्षण तो भोजनातुरता की आदत के लक्षण हैं, जो हठ कर रहे हैं कि आदत जारी रक्खी जाये। क्या आपने कभी ख़्याल किया है कि शराब की आदत भी ऐसे ही लक्षणों को प्रकट करती है। प्रबल चाहना और अभाव के लक्षण

भोजनातुरता और पानातुरता दोनों अस्वाभाविक बातों में प्रकट होते हैं। जो मनुष्य हुक्का पीना चाहता है या तमाकू खाया चाहता है उसको भी इसी प्रकार की वेदनाएँ होती हैं।

मनुष्यों को प्राय आश्चर्य होता है कि अब वैसा भोजन क्यों नहीं मिलता जैसा कि लड़कपन में "मा पकाया करती थी।" क्या आप जानते हैं कि वैसा भोजन क्यों नहीं मिलता ? केवल इसी कारण से कि उस मनुष्य ने अपने शरीर में भूख के स्थान पर भोजनातुरता को जगह दे दिया है, जिससे कि पिछले सादे भोजन का स्वाद अब असम्भव हो गया है। यदि मनुष्य फिर भी अपनी स्वाभाविक रहन द्वारा भूख को उत्तेजित कर दे तो उसे फिर भी बचपन के भोजन का लाभ मिलने लगे—सब उसको सभी रसोइयाँ वैसी ही मालूम होने लगेंगी जैसी "माता" थी, क्योंकि वह फिर नवयुवक हो जावेगा।

आपको शायद आश्चर्य होगा कि इन सब बातों से हठयोग से क्या सबंध है। सबंध यह है—योगी ने भोजनातुरता को जीत लिया है, और उसके स्थान पर फिर भूख को पुन स्थापित किया है। उसको प्रत्येक ग्रास में सुख मिलता है, यहाँ तक कि सूखी रोटी का टुकड़ा भी उसके लिये पोषण और सुख दोनों का देनेवाला है। वह उसे इस भाँति खाता है कि आपको मालूम भी नहीं है, और जिसका वर्णन आगे चलकर किया जायगा। इसलिये योगी भूखा निराहारा व्रती नहीं रहता; वह खूब खाए, ठीक पुष्ट, भोजन का सुख उठानेवाला होता है, क्योंकि उसके आधीन सब चटनियों से स्वादिष्ट चटनी भूख है।

दसवाँ अध्याय

भोजन से प्राण प्राप्त करने के विषय में योगी का विचार और अभ्यास

बहुत-से कार्यों को एक में मिलाने और आवश्यक कर्तव्यों को सुखकर बनाने (जिसमे वह कार्य करने योग्य हो जायँ) की प्रकृति की चातुरी अनेक उदाहरणों में देखने में आती है। इस अध्याय में हम प्रकार का एक बहुत ही जाज्वल्यमान उदाहरण प्रकाशित किया जायगा। हम दिखलावेंगे कि वह कैसे अनक बातें एक ही साथ पूरा करती है और कैसे वह शारीरिक सगठन के अधिकतम आवश्यक कर्तव्यों को सुखकर भी बना देती है।

भोजन से प्राण प्राप्त करने के विषय में जो योगियों के ख्याल हैं उन्हीं के विचार से प्रारभ कीजिए। योगिया का यह ख्याल है कि मनुष्य और नीच जतुओं के भोजन में प्राण का एक ऐसा रूप रहता है, जो मनुष्य के बल और शक्ति को क़ायम रखने के लिए नितांत आवश्यक है, और प्राण का यह रूप मुख, जिह्वा और दाँतों की नाड़ियों द्वारा ग्रहण किया जाता है। कूँचने या दाँता से पीसने की क्रिया, जिससे भोजन के टुकड़े महीन-महीन कणों में पिस जाते हैं, इस प्राण को पृथक् कर देती है और प्राण के इतने परमाणुओं को जिह्वा, मुख और दाँतों के सम्मुख उपस्थित कर देती है जितना सभव हो सकता है। भोजन के प्रत्येक परमाणु में भोजनप्राण या अन्न का शक्ति के अनेकों प्राणाणु होते हैं, जा प्राणाणु कि दाँतों से कूँचने की पिसावट की क्रिया द्वारा, और लार में के कतिपय द्रव्यों

की रासायनिक क्रिया द्वारा पृथक् किए जाते हैं इनके अस्तित्व का ज्ञान आधुनिक वैज्ञानिकों को अभी नहीं है, और न ये आजकल के रसायन शास्त्र की परीक्षाओं द्वारा प्रकटित किए जा सकते, यद्यपि भविष्यत् के खोजी लोग इनके विषय में वैज्ञानिक प्रमाण दे देंगे। जब यह भोजनप्राण एक बार भोजन में से स्वतन्त्र कर दिया जाता है तब यह जिह्वा, मुख और दाँतों की नाड़ियों के पास दौड़ जाता है, और मांस और हड्डियों में होकर बहुत शीघ्रता से नाड़ी जाल के अनेक केंद्रों अर्थात् चक्रों में पहुँचता है, जहाँ से कि वह शरीर के प्रत्येक भागों में पहुँचाया जाता है और देहाणुओं को शक्ति और जीवट प्रदान करता है। यह योगी के कल्प की मोटी-मोटी बातें हैं, इनका सविस्तर वर्णन हम आगे चलकर करेंगे।

शिष्य लोक आश्चर्य करेंगे कि जब हवा में इतना अधिक प्राण भरा हुआ है तब भोजन में से प्राण खींचने की क्या आवश्यकता है, और यह प्रकृति के विषय में समय का व्यर्थ खोना समझा जायगा कि इतना परिश्रम भोजन में से प्राण लेने के लिये किया जाय। परंतु इसका समाधान यों है। जैसे सब विद्युत् विद्युत् हैं वैसे ही सब प्राण प्राण हैं—परन्तु जैसे विद्युत् की धार के अनेक रूप होते हैं, और मनुष्य के शरीर पर एक दूसरे से बहुत ही भिन्न असर डालते हैं, वैसे ही प्राण के रूपों के भी अनेक प्रकार के विकाश होते हैं, पार्थिव शरीर में प्रत्येक रूप अपना निश्चित कार्य करता है, और भिन्न भिन्न प्रकार के कार्यों के लिये सभी रूप के प्राण की आवश्यकता होती है। हवा में का प्राण एक क़िस्म का काम करता है, पानी में का दूसरे क़िस्म का और भोजन में से जो प्राण प्राप्त किया जाता है वह तीसरे और क़िस्म का काम संपादन करता है। योगियों के कल्प के सविस्तर वर्णन में जाना इस पुस्तक के उद्देश के बाहर की बात होगी, और हमको यहाँ साधारण वर्णन ही पर संतोष करना चाहिए। अमली

अंश प्रतीत हो तब तक समझना चाहिए कि अभी उसमें पोषण निकालने के लिये शेष है; और हमारा भी विश्वास है कि यह बात बहुत सही है। परंतु हम योग ऐसा विश्वास करते हैं कि उसमें, यदि हम अवसर दें तो, ऐसा बोध होता है, जो हमें भोजन को व निगल जाने में एक प्रकार का ऐसा तोष देता है जो तब तक क़ायम रहता है जब तक कि भोजन में का कुल या क़रीब-क़रीब कुल प्राण नहीं खींच लिया जाता। आप देखेंगे, यदि आप योगी के भोजन के तरीक़े को ग्रहण करेंगे कि आपका जी मुँह में से भोजन को हटाना न चाहेगा और उसे तुरत निगल जाने के स्थान पर आप उसे शनैः-शनैः मुँह में घुलाते रहेंगे और अंत में आपको यकायक ज्ञात होगा कि सब ग्रास ग़ायब होकर भीतर चला गया। यह मज़ा सादे-से सादे भोजन में और उस भोजन में जो आपका बहुत ही प्रिय है एक समान प्रतीत होगा।

इस मज़ा का वर्णन करना असम्भव-सा है; क्योंकि इस मज़ा का अनुभव ही साधारण लोग नहीं कर सके हैं। इसके समझाने में जो कुछ हम कर सकते हैं वह यह है कि इसकी उपमा हम अन्य ऐसी ही संवेदना से दें, यद्यपि हमें आशंका है कि इसे आप लोग हास्य जनक समझेंगे। आप उस संवेदना को जानते हैं जो ऐसे मनुष्य के पास बैठने से होती है जो बड़ा ओजस्वी है, और जिससे आप शक्ति अर्थात् जीवट ग्रहण कर रहे हैं। कुछ मनुष्यों के देह में इतना अधिक प्राण होता है कि वे लगातार उसका प्रवाह बहाया करते हैं, और उसे दूसरों को दिया करते हैं, जिसका यह परिणाम होता है कि दूसरे उसके संग बैठने को बहुत पसंद करते हैं, और उस मनुष्य से पृथक् नहीं हुआ चाहते, क्योंकि उससे पृथक् होने को उनका जी ही नहीं चाहता। यह एक उदाहरण है। दूसरा उदाहरण उस मनुष्य के पास बैठने का है जिस पर आपका प्रेम हो। ऐसी दशा में

परस्पर ओजस (प्राणभरित भाव) का परिवर्तन होता है जो बहुत ही आह्लादकर होता है। प्यारे का चुंबन ओजस से इतना भरा रहता है कि उससे मनुष्य शिर से पैर तक पुलकित हो जाता है। हम जिस बात का वर्णन किया चाहते हैं उसका यह भी अपूर्व ही उदाहरण है। जो सुख हमें मुनासिब और स्वाभाविक तरीक़ से भोजन करने में मिलता है वह केवल स्वाद ही का सुख नहीं है, किंतु अधिकतर उस संवेदना से उत्पन्न हुआ है जो कि प्राण के ग्रहण करने में होती है, और जो बहुत कुछ ऊपर दिए हुए उदाहरणों से समता रखती है, यद्यपि हम जानते हैं कि जब तक आप शक्ति के दोनों विकाशों की समता का अनुभव स्वयं न कर लेंगे तब तक आप इस उदाहरण पर हँसी करेंगे।

जब आप मिथ्या भोजनातुरता को (जिसे भूल से भूख समझा जाता है) दमन कर लेंगे तब आप बिना छँटे हुए गेहूँ की रोटी के सूखे टुकड़े को भी ख़ूब मसल-मसलकर खावेंगे, और उसमें भरे हुए पोषण के कारण उसके केवल स्वाद ही से संतोष न पावेंगे, किंतु उस संवेदना का भी सुख उठावेंगे जिसके विषय में हमने इतना जी लगाकर वर्णन किया है। मिथ्या भोजनातुरता की आदत छोड़ने और प्रकृति के उद्देश पर आने में थोड़े अभ्यास की ज़रूरत है। जो भोजन जितना ही अधिक पुष्टिकारक होगा, वह स्वाभाविक रुचि को उतना ही अधिक तृप्तिकारी होगा, और यह भी एक बात स्मरण करने के योग्य है कि भोजन में जितनी ही पोषण शक्ति होगी उतना ही उसमें अन्नप्राण भी होगा—प्रकृति की चातुरी का एक और उदाहरण।

योगी बहुत धीरे धीरे अपना भोजन खाता है, प्रत्येक ग्रास को तब तक मसलता रहता है जब तक उसमें उसे तृप्ति मिलती रहती है। अधिकांश दशा में तब तक उसे तृप्ति मिलती रहती है जब तक

उसके मुँह में भोजन रहता है, क्योंकि प्रकृति की अचेतित क्रियाएँ भोजन को शनैः शनैः घुलाकर भीतर छोड़ देती हैं। योगी अपने जबड़ों को धीरे धीरे घुमाता है, और जिह्वा को अवसर देता है कि वह भोजन को खूब आलिंगन करे, और दाँत प्रेम से भोजन में डूबें। वह जानता है कि हम भोजन से अपने मुँह, जिह्वा और दाँतों की नाड़ियों द्वारा अन्न प्राण खींच रहे हैं, और हम उत्तेजित और शक्तिमान् हो रहे हैं, और अपने शक्ति-भंडार को भर रहे हैं। साथ-ही-साथ वह यह भी जानता है कि हम भोजन को समुचित रीति से आमाशय और पतली अँतड़ियों के पाचन योग्य बना रहे हैं और शरीर को उसकी रचना के लिये अच्छी सामग्री दे रहे हैं।

वे लोग जो योगियों के तरीक़े से भोजन करते हैं, अपने भोजन में से साधारण मनुष्यों की अपेक्षा पोषण की अधिकतर मात्रा पावेंगे क्योंकि प्रत्येक ग्रास से अधिक-से अधिक पोषण खींचा जाता है, और उस मनुष्य के मामले में, जो अपने भोजन को अधूरा कुचल कर और अधूरा लार मिश्रित करके निगल जाता है, उसका भोजन बहुत-सा बर्बाद जाता है और सड़ती-गलती हुई दशा में शरीर से बाहर कर दिया जाता है। योगी के तरीक़े में कोई चीज़ रद्दी बना कर नहीं फेंकी जाती जब तक वह रद्द असल रद्दी नहीं हो जाती; भोजन में से पोषण का एक-एक ज़र्रा तक खींच लिया जाता है, और अधिकांश अन्नप्राण उसके परमाणुओं ही से खींचा जाता है। भोजन चबाने से ज़र्रे ज़र्रे हो जाता है और लार का द्रव उसके अंग अंग में घुल जाता है, लार के पाचनकारी अंग अपना आवश्यक कार्य करते हैं, और अन्य द्रव (जिनका ऊपर बयान हो चुका है) अन्न पर ऐसा असर डालते हैं कि उसमें का प्राण स्वतंत्र हो जाता है और नाड़ी-जाल द्वारा खींच लिया जाता है। जबड़ा, जिह्वा और गालों की क्रिया से जो भोजन संचालित होता है, वह नाड़ियों के सम्मुख

प्राण के नए-नए अणुओं को पेश करता आता है और नाड़ियाँ उन्हें खींचती जाती हैं। योगी लोग भोजन को एक अर्से तक मुख में रक्खे रहते हैं, उसे धीरे धीरे अच्छी तरह से मसला करते हैं, और उसे ऊपर कही हुई अनिच्छापूर्व क्रिया से भीतर जाने का अवसर देते हैं, और प्राण ग्रहण से जो मज़ा मिलता है, उसका पूरा सुख उठाते हैं। आप इसकी भावना तब कर सकते हैं, जब आपको इस प्रयोग के करने का अवसर मिले और आप कुछ खाने की थोड़ी चीज़ अपने मुख में ले लें और धीरे धीरे उसे मसलने लगें और उसे अवसर दें कि वह शनैः-शनैः आपके मुँह में शक्कर की भाँति गल कर भीतर ग़ायब हो जाय। आप यह देखकर आश्चर्यित होंगे कि यह अनिच्छापूर्व घोंटन की क्रिया कैसी ख़ूबी के साथ हुई है—भोजन शनैः-शनैः अपने अन्नप्राण को नाड़ियों को देकर आप गल जाता है और धीरे धीरे आमाशय में पहुँच जाता है। उदाहरण के लिये रोटी का एक टुकड़ा लीजिए और यह विचार करके उसे ख़ूब मसलिए कि देखें बिना निगले वह कितनी देर तक मुँह में ठहरता है। आपको मालूम हो जायगा कि यदि आप उसे बहुत देर तक मसलते रहेंगे, तो आपको उसके निगलने का कष्ट उठाना ही न पड़ेगा, और वह पतली लेई की भाँति होकर ऊपर लिखे हुए तरीक़े से धीरे धीरे आप से आप भीतर चला जायगा। और रोटी का वह छोटा टुकड़ा, अपने ही बराबर के दूसरे टुकड़े की अपेक्षा जो मामूली तौर से थोड़ा बहुत कूँच-काँचकर निगल लिया गया है, दूना पोषण और तिगुना प्राण देगा।

दूसरा मनोरंजक उदाहरण दूध का लीजिए। दूध द्रव होता है और इसलिये इसके मसलने की कोई आवश्यकता ही नहीं रहती जैसी कि ठोस भोजन के लिये हुआ करती है। परन्तु बात वही रही (और सावधानी से तजरबा करने पर अच्छी तरह से प्रमाणित

हुई) कि यदि एक अधसेरा दूध गले में से होकर पेट में बहा दिया जाय, तो वह उस उतने ही दूध की अपेक्षा, जो धीरे धीरे चूसा गया है और क्षण-भर मुँह में रखकर जीभ से चुभलाया गया है, आधे से अधिक पोषण और अन्नप्राण कभी नहीं देता। बच्चा मा के स्तन अथवा बोतल से जब दूध खींचता है, तो वह मुँह और जीभ को चुभला-चुभलाकर दूध खींचता है और उसके मुँह के भीतर की झिल्लियों से द्रव स्रवा करता है, जो दूध में के प्राण को छुटकारा देता जाता है और दूध में मिश्रित होकर रासायनिक क्रिया से उसे पाचनयोग्य बनाता जाता है, बच्चा कभी दूध को बिना चुभलाए नहीं निगलता। यद्यपि यह बात ठीक है कि जब तक बच्चे के मुँह में दाँत नहीं निकलते, तब तक उसके मुँह से सच्चा लार नहीं स्रवता।

हम अपने शिष्यों को सलाह देते हैं कि ऊपर लिखी हुई रीति में जाँच करें। जब आपको मौक़ा मिले, थोड़ा समय निकाल लीजिए, तब धीरे धीरे भोजन को मसलते हुए उसे मुख ही में गल जाने का अवसर दीजिए और भोजन को तुरत निगल न जाइए। यह भोजन का गलने देना तभी सम्भव होगा, जब कुचलते-कुचलते यह मलाई की भाँति हो जायगा, और बहुत अच्छी तरह से लार में मिल जायगा, और उसके कण अर्धपाचित दशा को पहुँच जायँगे और उनमें से अन्नप्राण कुछ निकल जायगा। एक बार एक सेब या कोई फल इसी प्रकार खाने का यत्न कीजिए, तभी थोड़े ही खाने में आपको काफ़ी भोजन खाने की तृप्ति हो जायगी, और आपको कुछ कुछ बढ़ी हुई शक्ति का अनुभव होगा।

हम समझते हैं कि योगी के लिये भोजन में इतना समय लेना और इस प्रकार खाना दूसरी बात है, और कामकाजी गृहस्थ के लिये ऐसा करना दूसरी बात है; और हम अपने पाठकों से यह आशा

नहीं करते कि वे अपनी बरसों की आदत को एकदम बदल देंगे। परतु हमें निश्चय है कि इस प्रकार भोजन करने में थोड़ा सा भी अभ्यास करने से मनुष्य के ऊपर परिवर्तन आ जायगा, और हम जानते हैं कि इसी तरह थोड़ा-थोड़ा यत्न करते रहने से प्रतिदिन के भोजन के मसलनेवाले तरीक़े में एक ख़ासी उन्नति हो जायगी। हम यह भी जानते हैं कि शिष्य को एक नई ख़ुशी मालूम होगा—भोजन में अधिक स्वाद मिलेगा—और शिष्य ' प्रेम" से भोजन करना सीख लेगा और ग्रास को यों ही झट से निगल न जायगा। जो मनुष्य इस तरीक़े का कुछ दिन अनुसरण करेगा, उसको स्वाद की एक नई दुनिया खुल जायग और पहले की अपेक्षा अब भोजन करने में उसे बहुत अधिक सुख मिलगा, उसके भोजन का पाचन बहुत अच्छा होने लगेगा और उस का जीवट बढ़ जायगा; क्योंकि उसको अधिक मात्रा में पोषण और अन्नप्राण मिलेंगे।

जिनके पास समय और अवसर है कि इस तरीक़े को पूरा पूरा बर्त सकें; उनके लिये सभव है कि वे थोड़ा भोजन से बहुत अधिक ताक़त और पोषण प्राप्त कर सकें क्योंकि उनका खाया हुआ अन्न बर्बाद न होगा, इसको परीक्षा उनके मल की जाँच से हो सकती है। जो बदहज़मी और नाताक़ती के रोगी हैं वे तो अवश्य अवश्य इस तरीक़े को पालन करके इसका लाभ उठावें।

योगियों को लोग अल्पभोजी जानते हैं परंतु वे ही पूरे तौर से पूर्ण पोषण का महिमा और आवश्यकता समझते हैं, और शरीर को सर्वदा पुष्ट और रचनाकारी सामग्रियों से युक्त रखते हैं। इसका रहस्य यह है कि वे भोजन में के पोषण को बर्बाद नहीं करते, उसके सब पोषण को खींच लेते हैं। वे अपने शरीर में रद्दी पदार्थों का बोझा नहीं लादे रहते। जो शरीर की मल की गति में अवरोध डाले अथवा उसके दूर करने में शक्ति का नाश हो। वे थोड़े-से-थोड़े भोजन से

अधिक-से अधिक पोषण प्राप्त करते हैं—थोड़ी सामग्री से अधिक अन्नप्राण खींचते हैं।

यदि आप पूरा पूरा इस विधान को न बर्त सकें, तो भी आप ऊपर दिए हुए तरीक़ों से बहुत कुछ उन्नति कर सकते हैं। हमने साधारण मोटी मोटी बातें लिख दी हैं—शेष आप स्वयं ही कर लीजिए—अपने लिये जाँच कर लाजिए—यही तरीक़ा किसी बात को किसी तरह सीखने का है।

हमने इस किताब में कई जगहों पर बतलाया है कि प्राण के खींचने में मानसिक अवस्था का प्रधान प्रभाव पड़ता है। यह बात हवा ही से प्राण खींचने के विषय में नहीं है, बल्कि भोजन से भी प्राण खींचने के विषय में भी है। भोजन करते समय सर्वदा यह ख़्याल बना रहे कि "हम भोजन के ग्रास का कुल प्राण खींचे लेते हैं" और इस प्राण की भावना के साथ साथ पोषण की भावना भी रखिए, तब आपको ऐसा करने से, न करने की अपेक्षा, बहुत अधिक लाभ होगा।

ग्यारहवाँ अध्याय

भोजन

खाद्याखाद्य का विचार हम बिलकुल अपने शिष्यों के पसंद पर छोड़े देते हैं। अपने लिये तो हम ख़ास तौर का भोजन पसंद करते हैं, यह विश्वास करके उसके खाने से उत्तम-से उत्तम फल प्राप्त होता है। हम जानते हैं कि ज़िंदगी-भर की क्या कई पीढ़ियों की, पड़ी हुई आदत एक दिन में नहीं बदल सकती, और मनुष्य को अपने ही तजर्बे और ज्ञान से काम करना, दूसरों की आज्ञा से काम करने की अपेक्षा अधिक अच्छा है। योगी लोग निरामिष भोजन पसंद करते हैं, स्वास्थ्य के हित के लिये और मांस भोजन से पूर्वी परहेज़ के कारण भी अच्छे कामिल योगी फल आदि और बिना कूटे हुए गेहूँ की सादी रोटी अधिक पसंद करते हैं। परंतु जब वे उन लोगों की संगति में पड़ जाते हैं, जिनकी भोजन विधि और ही है, तब वे अवसर के अनुकूल अपने को थोड़ा बहुत बना लेने में बहुत पसोपेश नहीं करते; और अपने को किसी के ऊपर भार नहीं बनाते, क्योंकि वे जानते हैं कि यदि हम भली भाँति मसलकर खाना खायँगे, तो हमारा आमाशय हमारे भोजन की अच्छी सुधि ले लेगा। सच बात तो यह है कि वर्तमान भोजनों की कुछ दुष्पाच्य चीज़ें भी खाई जा सकती हैं, यदि ऊपर लिखी हुई विधियों का अच्छी तरह से प्रयोग किया जाय।

हम इस अध्याय को मुसाफ़िर योगी के भाव से लिखते हैं। हमारी इच्छा अपने शिष्यों पर भोजन विषयक अधिक दबाव डालने की नहीं है। मनुष्य को स्वयं अपनी बुद्धि और तजर्बे से काम

करना चाहिए, ऊपर से दवाव डालना ठीक नहीं। यदि कोई मनुष्य ज़िंदगी भर से मांस खाता आता हो, तो उसके लिये बिना मांस का भोजन करना बहुत ही कठिन हो जायगा, वैसे ही जो मनुष्य पकाया हुआ भोजन करता आया है, उसके लिये बिना पकाया भोजन फल आदि का खाना भी बहुत कठिन पड़ जायगा। आपसे हमें सिर्फ़ इतना ही कहना है कि आप इस विषय पर थोड़ा ग़ौर कर लें, फिर जैसी आपकी प्रवृत्ति कहे, वैसा करें; पर हाँ, यदि भोजन को बदलते जायँ, तो बहुत अच्छा है। यदि आप अपनी प्रवृत्ति ही पर भरोसा करेंगे, तो यह प्राय आपसे वही वस्तु पसंद करावेगी, जो उस समय आपके लिये आवश्यक होगी; और इस प्रवृत्ति पर भरोसा करना, खाद्याखाद्य के कठिन नियमों के पालन की अपेक्षा अच्छा समझते हैं। जितना आपको भावे आप खाइए परंतु उसे धीरे धीरे ख़ूब मस लिए और अपने पसंद का प्रयोग बहुत-सी चीज़ों में कीजिए। हम इस अध्याय में कुछ ऐसी बातों का ज़िक्र करेंगे, जिन्हें बुद्धिमान् मनुष्य स्वयं छोड़ देंगे परंतु हम केवल साधारण सलाह की भाँति कहेंगे। मांस भोजन के विषय में हम लोगों का विश्वास है कि शनैः शनैः मनुष्य को मालूम हो जायगा कि मांस उसका स्वाभाविक भोजन नहीं है परंतु हम लोगों का विश्वास है कि मांस का खाना या त्याग करना मनुष्य की अपनी ही प्रवृत्ति से उपजना चाहिए न कि ऊपर से दवाव डालकर उससे कराना चाहिए। क्योंकि जब उसकी प्रबल इच्छा मांस खाने की हो गई, तो यह वस्तुतः मांस खाने के समान ही हो गया। जब मनुष्य की शक्ति और आगे होगी, तो उसकी मांस खाने की इच्छा समाप्त हो जायगी; परंतु जब तक वह समय न आवे, तब तक दवाव डालकर उससे मांस का खाना छुड़वा देना कोई काम न करेगा। हम जानते हैं कि हमारे इस कथन का बहुत-से पाठक प्रचलित मत का विपक्ष

समझेंगे, पर हम करें क्या—तजर्बे से हमारे कथन की पुष्टि होगी।

यदि हमारे पाठकों का जो अनेक प्रकार के भोजनों के हानि लाभ के विचारने में लगता हो, तो उन्हें इस विषय की कुछ उन अच्छी किताबों को पढ़ना चाहिए, जो हाल ही में प्रकाशित हुई हैं। परन्तु उन्हें इस विषय को खूब चारो ओर से सोच लेना चाहिए और किसी लेखक के खास प्रवर्तित मत पर अंधे की भाँति न विश्वास कर लेना चाहिए। हमारे सामने जो भोजन आते हैं, उनकी हानि-लाभ के विषय में अच्छी किताबों के पढ़ने से शिक्षा हां मिलेगी और ऐसी शिक्षा से शनैः-शनैः हमारे भोजन द्रव्य भी परिवर्तित होने लगेंगे। परन्तु ऐसे परिवर्तन विचारों और तजर्बों के द्वारा होने चाहिए न कि किसी मतवादी के केवल कह देने से। हमारी यह राय है कि हमारे शिष्य इन प्रश्नों पर अक्सर विचार किया करें कि हम अधिक मांस तो नहीं खा रहे हैं? हम अधिक चर्बी तो नहीं खा रहे हैं? हम काफ़ी फल खाते हैं कि नहीं? क्या हमारे भोजन में बिना कूटे गेहूँ का कुछ रोटी रहे, तो अच्छा न होगा? क्या हम बहुत पेचीदा तरीक़ों से पकाए लतीफ़ और लज़ीज़ खानों की ओर तो नहीं झुकते जा रहे हैं? यदि हमसे कोई खाने के विषय में सलाह पूछे, तो हम तो यही कहेंगे कि अनेक प्रकार का भोजन करो, पर पेचीदा रीतियों से पकाए हुए खाने से बचकर रहो, बहुत चर्बी मत खाओ, तलनेवाली कड़ाही से ख़बरदार रहो, बहुत मांस मत खाओ, ख़ास कर सुअर और गाय का मांस तो कभी मत खाओ; धीरे धीरे अपने भोजन की प्रवृत्ति को सीधे सादे खाने की ओर झुकाओ, ख़मीर से बनी हुई रोटियों आदि को कम करो; गरम चपातियों को तो अपने भोजन से ख़ारिज ही कर दो; खाते वक्त ख़ूब धीरे धीरे मसलो जैसा कि हम ऊपर कह आए हैं;

भोजन से डरो मत, यदि तुम उसे उचित रीति से खाओगे, तो वह तुम्हारी हानि न करेगा, बशर्ते कि तुम उससे डरोगे नहीं।

बेहतर होगा कि सुबह का पहला भोजन हलका हो, क्योंकि सबेरे शरीर में मरम्मत होने की बहुत आवश्यकता नहीं रहती क्योंकि शरीर रात भर आराम करता रहा है। यदि सम्भव हो, तो खाने के पहले कुछ व्यायाम कर लो।

यदि आप उचित रीति से मसलने की स्वाभाविक रीति को धारण कर लेंगे और उचित भोजन का मज़ा पा जायँगे, तो अस्वाभाविक भोजनातुरता की जो आदत पड़ गई है, वह आप ही छुट जायगी और स्वाभाविक भूख लौट आवेगी। जब स्वाभाविक भूख लौट आवेगी, तो प्रवृत्ति केवल पोषणकारी ही भोजनों को चुनेगी; और तुम उसी वस्तु को चाहोगे, जिसकी तुम्हें उस वक्त पोषण के लिये अत्यन्त आवश्यकता होगी। मनुष्य की प्रवृत्ति, यदि व्यर्थ के उन पकवानों द्वारा बिगाड़ न दी जाय जो केवल भोजनातुरता उत्पन्न करते हैं, तो वह बड़ी अच्छी पथदर्शिका होती है।

अगर आपकी तबियत कुछ ख़राब हो, तो एक वक्त भोजन न करने में पशोपेश मत कीजिए, आमाशय को अवसर दीजिए कि जो कुछ उसमें है, उसी को दूर करे। बिना खाए हुए मनुष्य कई दिन तक बिना किसी भय के रह सकता है, परन्तु हम बहुत लम्बे उपवास की सलाह नहीं देते। हमारी यह राय है कि तबीयत ख़राब होने पर आमाशय को थोड़ा आराम दे देना बुद्धिमानी है; इससे मरम्मत करनेवाली शक्ति को अवसर मिलता है कि वह उस रद्दी पदार्थ को निकाल बाहर करे, जो दुःख दे रहा है। आप देखेंगे कि जानवर जब बीमार पड़ते हैं, तो खाना छोड़ देते हैं, और तब तक पड़े रहते हैं जब तक स्वास्थ्य न आ जाय और स्वस्थ होने पर वे खाने लगते हैं। हम उनसे यह पाठ सीखकर फ़ायदा उठा सकते हैं।

हम अपने शिष्यों को भोजन के विषय में ऐसा भीरु नहीं बनाया चाहते कि वे प्रत्येक ग्रास तौलें, नापें और उसका तत्व निर्णय करें। हम इसको अस्वाभाविक तरीका समझते हैं; हमारा विश्वास है कि ऐसे तरीके से भोजन से भय उत्पन्न होता है और प्रवृत्ति-मानस ग़लत-ग़लत भावनाओं से भर जाता है। हम इसी तरीके को अच्छा समझते हैं कि भोजन के पसंद के विषय में साधारण सावधानी और विचार से काम लिया जाय और तब उस विषय से निश्चित हो जाया जाय और पोषण तथा ताक़त का ध्यान करते भोजन किया जाय, भोजन को उसी प्रकार मसला जाय, जैसे हम कह आए हैं और यह जानते रहें कि प्रकृति अपने काम को अच्छी भाँति कर लेगी।

जहाँ तक सम्भव हो, प्रकृति के मार्ग ही पर बने रहो, उससे दूर न जाओ; उसी के उद्देश को उचित और अनुचित के पहचान में अपना प्रमाण बनाओ। बलवान् स्वस्थ मनुष्य अपने भोजन से डरता नहीं; उसी प्रकार जो मनुष्य स्वस्थ बनना चाहता है, उसे भी अपने भोजन से डरना न चाहिए। प्रसन्न रहो, ठीक साँस लो, ठीक रीति से भोजन करो, उचित रीति से रहो, तो तुम्हें प्रत्येक ग्रास पर भोजन की रासायनिक परीक्षा करने का मौक़ा ही न मिलेगा। अपनी प्रवृत्ति पर भरोसा करने में डरो मत, क्योंकि स्वाभाविक मनुष्य की वह पथ प्रदर्शिका है।

बारहवाँ अध्याय

देह की सिंचाई

हठयोग-शास्त्र का प्रधान नियम एक यह है कि जीवों के लिये जो प्रकृति का मस्त दान जल है, उसका विचार-पूर्वक प्रयोग किया जाय। मनुष्य को स्वाभाविक तन्दुरुस्ती को क़ायम रखने के लिये पानी एक प्रधान साधन है, इस बात पर मनुष्य के ध्यान को आकर्षित करने की आवश्यकता भी न होती परंतु मनुष्य कृत्रिम सामानों, आदतों, रवाजा आदि का ऐसा दास बन गया है कि वह प्रकृति के नियमों को भूल गया। वह प्रकृति के मार्ग पर लौट आवे, तभी वह कुछ लाभ कर सकता है। छोटा बच्चा अपनी प्रकृति द्वारा पानी के लाभ को जानता है, और पानी पाने के लिये बड़ी चाह दिखलाता है। परंतु ज्यों-ज्यों वह बड़ा होता है, त्यों-त्यों स्वाभाविक चाह से दूर होता जाता है, और अपने इर्द गिर्द के बड़े लोगों की ग़लत आदतों में पड़ जाता है। यह बात विशेष करके उन लोगों के संबंध में ठीक-ठीक घटती है, जो लोग बड़े-बड़े नगरों में रहते हैं, जहाँ की कलों का गरम पानी बेस्वाद होता है, और इस प्रकार वे शनैः-शनैः पानी के स्वाभाविक प्रयोग से पृथक् हो जाते हैं। ऐसे मनुष्य पानी पीने (या यों कहिए कि न पीने) का और प्रकृति की माँग को मुलतवी कर देने की नई आदतों को धारण कर लेते हैं; और अंत में प्रकृति की माँग की उन्हें चेतना तक नहीं होती। हम मनुष्यों को ऐसा कहते अक्सर सुनते हैं कि "हमें पानी क्यों पीना चाहिए। हमें तो प्यास नहीं लगती।" परंतु यदि वे प्रकृति के मार्ग पर बने रहते, तो उन्हें अवश्य प्यास लगती; और उन्हें प्रकृति की माँग सुनाई

क्यों नहीं देती, इसका एक-मात्र कारण यह है कि उन्होंने प्रकृति की माँग पर इतने दिन ध्यान नहीं दिया, इसलिये प्रकृति बेदिल होकर उतना ज़ोर से पानी नहीं माँगती, इसके अतिरिक्त उनका ध्यान और बातों में रहता है, इसलिये उनको प्रकृति की माँग की पहचान ही नहीं होती। यह बड़े ही आश्चर्य की बात है कि मनुष्य ने जीवन के इस प्रधान व्यापार को भुला दिया है। बहुत-से लोग तो शायद ही कभी कोई द्रव पीते हों और वे कहते भी हैं कि "हम नहीं समझते के हमारे लिये यह अच्छा है" यह बात यहाँ तक बढ़ गई है कि हमने एक ऐसे भी, कहने को, स्वास्थ्याचार्य को जाना है, जो ऐसा अद्भुत उपदेश करते हैं कि "प्यास एक बीमारी है" और लोगों को सलाह देते हैं कि द्रव पदार्थों को पिएँ हा नहीं, क्योंकि पानी का इस्तेमाल अस्वाभाविक है। हम ऐसे उपदेशकों के साथ विवाद करना नहीं चाहते—इनकी मूर्खता उन लोगों पर अवश्य विदित हो जायगी, जो मनुष्य और नीच जन्तुओं के स्वाभाविक जीवन पर ध्यान देंगे। मनुष्य को प्रकृति के मार्ग पर लौट जाने दीजिए तो वह चारों ओर, जीवन के सब रूपों में, पौधों से लेकर दूध पानेवाले ऊँचे जानवरों तक, पानी पीना देखने लगेगा।

योगी पानी पीने के समुचित प्रयोग को इतनी प्रधानता देता है कि वह इसे स्वास्थ्य के प्रथम नियमों में समझता है। वह जानता है कि रोगी मनुष्यों में से अधिकांश जन ऐसे हैं, जो उस द्रव के अभाव के कारण रोगी हुए हैं, जिसकी आवश्यकता उनके शरीर को थी। जैसे पौधे को पानी और भूमि तथा हवा में से भोजन पाने की आवश्यकता होती है, जिससे वह स्वस्थता को प्राप्त हो, वैसे ही मनुष्य को भी द्रव की काफ़ी मात्रा की आवश्यकता होती है कि वह स्वस्थ बना रहे या यदि अस्वस्थ हो गया है, तो फिर स्वास्थ्य लाभ करे। ऐसा कौन ख़याल करेगा कि पौधे को पानी न दिया जाय? ऐसा

कौन मनुष्य होगा जो फ़रमाबर्दार घोड़े को पूरी मिक़्दार में पानी न देगा ? परंतु मनुष्य पौधे और जानवर को तो वह पदार्थ देता है जिसकी उनके लिये अपनी साधारण अक़्ल से ज़रूरत समझता है परंतु अपने ही को जीवनदायक द्रव से वंचित रखता है, पर वह इसका फल वैसे ही भोगेगा, जैसे बिना पानी पाए पौधे और घोड़े फल भोगते हैं। जब आप पानी पीने के प्रश्न पर विचार करने लगें तो पौधे और घोड़े के इन उदाहरण को स्मरण रक्खें।

अब यह देखना चाहिए कि शरीर में पानी किस किस काम में आता है, और तब विचारा जाय कि इस विषय में हम स्वाभाविक जीवन जी रहे हैं कि नहीं। प्रथम तो हमारे शरीर का ७० प्रति सैकड़ा भाग पानी है। इस पानी का कुछ भाग हमारे संगठन में प्रयुक्त होता है, और लगातार हमारे शरीर से पृथक् होता रहता है; और जितना पानी ख़र्च हो जाता है उतना ही पानी फिर शरीर में भर देना चाहिए, यदि शरीर को स्वाभाविक दशा में रखना स्वीकार हो।

यह शरीर-यंत्र चमड़े के अगणित छिद्रों द्वारा देहवाष्प और पसीने के रूप में लगातार जल छोड़ रहा है। पसीना उस शारीरिक द्रव मल को कहते हैं, जो चमड़े के छिद्रों से इतनी शीघ्रता से फेंका जाता है कि बिंदुओं के रूप में एकत्रित हो जाता है। देहवाष्प उसे कहते हैं जो पानी शरीर के छिद्रों से लगातार और अज्ञात रूप से वाष्प रूप में निकला करता है। जाँच से मालूम हुआ है कि यदि चमड़े से वाष्प निकलना बंद कर दिया जाय, तो जंतु मर जाय। पुराने रोम के एक त्योहार में एक लड़का सोने के पत्रों से सिर से पैर तक आच्छादित करके एक देवता की मूर्ति बनाया गया था—सोने के पत्रों के हटाने के पहले ही लड़का मर गया; क्योंकि वार्निश और स्वर्ण पत्रों के कारण उसके देह का वाष्प निकल न सका। प्रकृति की क्रिया

में बाधा पहुँची और शरीर उचित रीति से कार्य न कर सका, इस लिये जीव ने उस मांस-कूट को छोड़ दिया।

पसीने और देहवाष्प के रासायनिक विश्लेषण से जाना गया है कि ये देहयन्त्र के रद्दी पदार्थों से भरे हुए होते हैं—मल और परित्यक्त कण से भरपूर होते हैं—जो, यदि देहयन्त्र में काफ़ी पानी न पहुँचाया जाय, तो शरीर ही में रह जायँ उनमें विष उत्पन्न कर दें और परिणाम में रोग तथा मृत्यु को बुला लें। शरीर की मरम्मत का काम सर्वदा हुआ करता है, बेकार और रद्दी रेशे हटाए जाया करते हैं और उनके स्थान में नई ताज़ी सामग्री उस रुधिर में से, जिसने भोजन में से नई सामग्री संग्रह की है, जुटाई जाती है। यह रद्दी अवश्यमेव शरीर से बाहर निकाली जानी चाहिए, और प्रकृति इसे निकालने में ख़ूब सावधान रहती है—वह देहयन्त्र में कूड़े करकट का रखना कभी भी पसंद नहीं करती। यदि यह रद्दी पदार्थ देहयन्त्र ही में रहने दिया जाय,तो यह विष हो जाता है और रोग की अवस्था उत्पन्न कर देता है। यह, कीटाणु, उनके बीज, अण्डे-बच्चे इत्यादि का उत्पत्तिस्थान और चरागाह बन जाता है। कीटाणु स्वच्छ और स्वस्थ शरीर-यन्त्र को अधिक हानि नहीं पहुँचाते परन्तु ज्यों ही वे जल रूपी मनुष्य के सम्पर्क में आते हैं, और उसके शरीर को रद्दी और कूड़े करकट तथा नाना प्रकार की गन्दगियों से भरा पाते हैं, त्यों ही वे वहीं ही डेरा डालकर अपनी कार्रवाई शुरू कर देते हैं। हम इस विषय में कुछ और बातें भी स्नान के विषय के साथ बतलावेंगे।

हठयोग के प्रति दिन के जीवन में पानी सर्वप्रधान काम करता है। योगी इसे भीतर और बाहर दोनों भाँति प्रयोग करता है। वह स्वास्थ्य को क़ायम रखने के लिये इसका प्रयोग करता है, और जहाँ रोग ने शरीर की स्वाभाविक क्रिया को निर्बल कर दिया है, वहाँ पर फिर भी स्वास्थ्य स्थापित करनेवाले इसके गुणों की महिमा की

शिक्षा देता है। हम इस किताब के कई भागों में पानी के प्रयोग का ज़िक्र करेंगे। हम इस विषय की मुख्यता का भाव शिष्यों के हृदय में अंकित कर दिया चाहते हैं; और उनसे आग्रह के साथ निवेदन करते हैं कि इस विषय को बहुत ही सीधा-सादा जान कर तुच्छ न समझ बैठें, और इसे छोड़ न जायँ। हमारे प्रति दस पाठकों में से सात को इस सलाह की बड़ी आवश्यकता है। इसे छोड़ न जाइए। सुना आपने? हम आप ही से कहते हैं।

देहवाष्प और पसीना दोनों इसलिये भी आवश्यक हैं कि उनके साथ-साथ देह की अतिशय गर्मी भी निकलती जाय, और शरीर का ताप उचित दर्जे का बना रहे। जैसा हम ऊपर कह आए हैं, देहवाष्प और पसीना दोनों देहयन्त्र के निरम्मे पदार्थों को निकालकर फेंकने में भी सहायक होते हैं। चमड़ा गुर्दों को सहायता पहुँचाने का सबब है। बिना पानी के चमड़ा इस काम को करने के लिये अशक्त हो जाता है।

स्वाभाविक युवक १½ पाइंट से लेकर २ पाइंट तक पानी २४ घंटे में पसीना और देहवाष्प के रूप में छोड़ता है; परंतु जो मनुष्य बहुत शारीरिक परिश्रम का काम करते हैं, वे और भी अधिक पसीना छोड़ते हैं। आर्द्र वायुमंडल की अपेक्षा शुष्क वायुमंडल में मनुष्य अधिक गर्मी सहन कर सकता है; क्योंकि शुष्क वायुमंडल में देहवाष्प इतनी शीघ्रता से उड़ जाता है, कि गर्मी बहुत जल्द और तत्परता से ख़ारिज हो जाती है। फेफड़ों की राह से भी बहुत-सा पानी प्रश्वास द्वारा बाहर फेंका जाता है। मूत्रेंद्रियाँ तो अपना काम करने में बहुत ही ज़ियादा पानी बाहर निकालती हैं; स्वस्थ पुरुष ३ पाइंट पानी इस प्रकार ख़ारिज करता है। इतना पानी फिर भी भरना होगा, तभी शारीरिक यन्त्र उचित रीति से कार्य कर सकता है।

कई कार्यों के लिये शरीर में पानी आवश्यक होता है। उसका एक कार्य तो यह है (जैसा ऊपर वर्णन किया गया है) कि शरीर में जो लगातार ज्वलन क्रिया हो रही है, उसकी अधिकता को रोके और उसको नियमित दर्जे में रक्खे। यह ज्वलन क्रिया, फेफड़ों द्वारा खींचे हुए हवा के ऑक्सीजन के भोजन के कार्बन के सम्पर्क में आने से होती है। लाखों करोड़ों देहाणुओं में यह ज्वलन क्रिया होती रहती है और यही देहताप उत्पन्न करती है। पानी जब देहयन्त्र में होकर गुज़रा करता है, तब तापसाम्य को स्थापित रख सकता है और ताप का चढ़ाव नहीं होने पाता।

शरीर पार्यद्रांरी के लिये भी पानी काम में लाता है। यह रुधिरोपवाहक और रुधिरापवाहक धमनियों और शिराओं में होकर बहा करता है, और रुधिराणुओं तथा अन्य पोषण पदार्थों को शरीर के भिन्न भिन्न अवयवों और भागों में पहुँचाया करता है, जिससे वे रचना के कामों में, जिनका ऊपर वर्णन हो चुका है, लाए जायँ। शरीरयन्त्र में द्रव की कमी के कारण रुधिर में भी कमी आ जायगी। रुधिर की वापसी यात्रा में, जब वह रुधिरोपवाहक शिराओं द्वारा लौटता है, द्रव निकम्मी रद्दियों को ग्रहण करता आया है (इन रद्दियों का अधिकांश विष हो जाता, यदि शरीर ही में पड़ा रहता) और उन्हें गुर्दों के मल-त्यागी अवयवों, चमड़े के छिद्रों और फेफड़ों के हवाले करता है जहा से विषैली मृतक सामग्री—और निकम्मी रद्दियाँ बाहर फेंक दी जाती हैं। बिना पुष्कल द्रव के, यह काम प्रकृति के उद्देश के अनुसार नहीं सिद्ध हो सकता। और बिना काफ़ी पानी के खाए हुए भोजन की सीठी, शरीरयन्त्र की राख, पुराप अर्थात् मैला अच्छी तरह गीला नहीं रह सकता कि आसानी से मलाशय में से शरीर के बाहर निकल जाय और परिणाम में कोष्ठबद्ध और उसकी सगिनी बीमारियाँ हो जाती हैं। योगी

लोग जानते हैं कि नव दशमांश जीर्ण बद्धकोष्ठ की बीमारियाँ इसी कारण होती हैं—वे यह भी जानते हैं कि नव दशमांश जीर्ण बद्धकोष्ठ की बीमारियाँ बहुत शीघ्र दूर हो जायँ, यदि मनुष्य पानी पीने की स्वाभाविक आदत पर आ जाय। हम इस विषय का वर्णन एक पूरे अध्याय में करेंगे, परंतु इस विषय पर हम अपने शिष्यों का ध्यान बार बार आकर्षित किया चाहते हैं।

पानी की काफ़ी मिक़दार, रुधिर की उचित उत्तेजना और उसके पूरे संचार के लिये भी चाहिए—शरीर के निकम्मे द्रव्यों को दूर करने में भी जल चाहिए—शरीर द्रव ही भोजन-रस का खींचता और पचाता है, इसलिये भी जल की आवश्यकता है।

जो मनुष्य काफ़ी पानी नहीं पीते, उनके देह में रुधिर के एकत्रित होने में भी ख़ामी रहती है। वे बिना रुधिर के सूखे व पीले नज़र आते हैं। उनका चमड़ा सूखा ज्वराक्रांत-सा दिखाई देता है और उनके शरीर से देहवाष्प बहुत कम निकलती है। उनकी सूरत अस्वस्थ मनुष्य की-सी होती है, जिसे देखकर सूखे हुए फूल याद आ जाते हैं, जिन्हें ख़ूब पानी में भिगोने की आवश्यकता होती है, जिससे वे भरे और स्वाभाविक नज़र आवें। ऐसे मनुष्य क़रीब-क़रीब सर्वदा बद्धकोष्ठ का रोग भोगा करते हैं—बद्धकोष्ठ के साथ साथ और भी अगणित रोग उसके संग चला करते हैं, जैसा हम अन्य अध्याय में दिखलावेंगे। उनकी बड़ी अँतड़ी अर्थात् मलाशय गंदा और मैले से भरा रहता है; और उनके शरीरयंत्र में उसी मलाशय के एकत्रित मैले से रस पहुँचा करता है, जिसे कि बुरा और दुर्गंध श्वास द्वारा बाहर फेंकने का यत्न प्रकृति द्वारा किया जाता है अथवा बदबूदार पसीना या देहवाष्प या अस्वाभाविक मूत्र द्वारा बाहर निकालने की चेष्टा होती है। यह सुखकर पाठ नहीं है परंतु बिना इन बातों के कहे आपका ध्यान इधर आवेगा ही नहीं, इसलिये

बेहतर है कि हम साफ़ शब्दों में इसे कह डालें। य सब बातें केवल पानी की कमी के कारण होती हैं। ज़रा ख़्याल तो कीजिए आप अपने शरीर के बाहरी भाग को साफ़ करने के लिये तो इतने उत्सुक रहें और भीतर इतना मैले स भरा रहे।

मानव शरीर के सब भीतरी भागों में पानी की आवश्यकता रहती है। उसे लगातार सिंचाई की ज़रूरत रहती है, और यदि यह सिंचाई देह को न दी जाय तो देह को उतना ही भोगना पड़ता है जितना सिंचाई के बिना भूमि को भोगना पड़ता है। स्वस्थ रहने के लिये प्रत्येक देहाणु, रेशा और अवयव को पानी की ज़रूरत है। पानी सब पदार्थों को गला और घुला देनेवाला होता है इसलिये शरीर यंत्र को इस योग्य बनाए रहता है कि वह पानी से घुले भोजन में से पोषण ग्रहण और वितरण कर सके और यंत्र के निकम्मे पदार्थों को दूर बहा सके। यह अक्सर कहा जाता है कि रुधिर ही जीवन है, और यदि ऐसा है तो पानी को क्या कहना चाहिए, क्योंकि बिना पानी क ख़ून भी कुछ नहीं।

गुर्दों के लिये भी पानी आवश्यक है कि वे अपना मूत्रोत्सर्जन का काम कर सकें। इसकी ज़रूरत लार पित्त, पैनक्रियाटिक द्रव, आमाशयिक द्रव, और शरार के अन्य द्रवों की बनावट में भी पड़ती है; और इन द्रवों के बिना पाचनक्रिया बिलकुल असभव है। आप पानी पीना बद कर दीजिए बस इन सब आवश्यक चीज़ों में कमी आ जायगी। अब आया आपके ध्यान में?

अगर आप इन बातों को योगियों की कल्पना समझकर इन पर सदेह करें तो आपको उचित है कि आप शारीरिक शास्त्र (Physiology) की किसी अच्छी वैज्ञानिक किताब को पढ़ें, जो किसी पश्चिमी धुरंधर विद्वान् की लिखी हो। आपको हमारे कथनों की पुष्टि और समर्थन मिल जायँगे। एक नामी शारीरिक विज्ञान

वाले ने कहा है कि स्वाभाविक शरीर के रेशों में इतना पानी रहत है कि यह बात स्वयसिद्ध की भाँति कही जा सकती है कि "स देहाणु पानी ही में रहते हैं।" और यदि पानी ही नहीं है त जीवन और स्वास्थ्य कैसे रह सकते हैं ?

आपको यह बतलाया गया है कि २४ घंटे में गुर्दे ३ पाइंट मू त्यागते हैं जिसमें शरीर के निकम्मे द्रव्य और विषैले रासायनि पदार्थ देह-यन्त्र से गुर्दों द्वारा खींचकर एकत्रित रहते हैं। इसके अलावे हम दिखला आए हैं कि चमड़े द्वारा भी डेढ़ पाइंट से दो पाइं तक पानी पसीना और देहवाष्प के रूप में ख़ारिज किया जाता है। इतने ही २४ घंटे के समय में १० से १५ औंस पानी फेफड़े भी प्रश्वास द्वारा बाहर फेंकते हैं। मल के साथ मिश्रित भी कुछ पानी निकलता है। कुछ थोड़ा पानी आँसू, पसीना आदि के रूप में और भी बाहर निकलता है। अब इतने बाहर निकले हुए पानी के स्थान में कितने पानी की ज़रूरत पड़ेगी ? आइए देखा जाय। कुछ पानी तो भोजन में मिश्रित भीतर पहुँचता है यह भी ख़ास करके ख़ास ख़ास खानों में; परंतु यह पानी उस पानी की अपेक्षा कम होता है जो मल के निकालने में जाता है। अच्छे अच्छे आचार्यों की सम्मति है कि २ क्वार्ट से ५ पाइंट तक पानी औसत दर्जे नित्य पुरुष और स्त्री का स्वास्थ्य रखने के लिये आवश्यक है जिससे ख़ारिज हुए पानी की कमी पूरी होती रहे। यदि इतना पानी शरीर को न दिया जायगा तो शरीर अपने ही यन्त्रों का पानी खींचने लगेगा और मनुष्य सूखी सूरत, जिसका ऊपर वर्णन हो चुका है, धारण करने लगेगा। परिणाम यह होगा कि शारीरिक सब क्रियाएँ नियम होने लगेंगी और मनुष्य भीतर और बाहर दोनों ओर से सूखने लगेगा, शरीर के कल-पुर्ज़ों में आर्द्रता और सफ़ाई की बहुत कमी हो जायगी।

दो क्वार्ट रोज़ ! ज़रा इसे ख़्याल तो कीजिए । आप लोग तो केवल एक पाइंट या इससे भी कम पानी रोज़ पीते हैं । अब भी आपको आश्चर्य है कि क्यों आप इतनी शारीरिक पीड़ाओं को भोगते हैं ? अब जो आप बदहज़मी, मलकोष्ठ, रुधिराभाव, निर्बल नाड़ी आदि अनेक रोगों को भोगते हैं तो इसमें आश्चर्य ही क्या है । आपका शरीर उन अनेक प्रकार के विषैले द्रव्यों से भर गया है, जिनको पानी की कमी के कारण प्रकृति गुर्दों और चमड़ों के छिद्रों द्वारा बाहर न फेंक सकी । इसमें भी क्या आश्चर्य है कि आपका मलाशय पुराने जमे हुए सड़े मल से भरा हुआ है और आपके शरीर को विषाक्त कर रहा है, जिसको प्रकृति अपने नियमानुसार साफ़ न कर सकी क्योंकि आपने उसे पानी ही नहीं दिया जिससे वह मल की नालियों को साफ़ कर सके । आपके पास लार और आमाशयिक द्रव की कमी है तो इसमें भी क्या ताज्जुब है ? बिना पानी के प्रकृति उन्हें कैसे बना सकती है ? आपका रुधिर अच्छा नहीं है तो इसमें भी क्या आश्चर्य ? प्रकृति कहाँ से जल पावे कि अच्छा रुधिर बनावे ? आपकी नाड़ियाँ भी अस्वस्थ और अनरीत हैं तो क्या आश्चर्य जब सभी चीज़ें पानी बिना बिगड़ रही हैं ? यद्यपि आप मूर्ख हो रहे हैं तो भी बेचारी प्रकृति, जहाँ तक कर सकती है करने में नहीं चूकती । वह आपके शरीर ही से थोड़ा पानी खींच लेती है कि जिससे कल बिलकुल बंद न होने पावे, परन्तु वह अधिक पानी खींचने की हिम्मत नहीं करती—इसलिये वह बीच का मार्ग पकड़ती है । वह वैसा ही करती है जैसा आप कुएँ का पानी सूखने पर करते हैं अर्थात् जैसे आप थोड़े पानी से ज़ियादा काम लिया चाहते हैं और अधूरा ही काम करके मग्न करते हैं वैसे ही प्रकृति भी करती है ।

योगी लोग ख़ूब पुष्कल पानी नित्य पीने में तनिक भी नहीं

डरते, वे इस बात से नहीं डरते कि अधिक पानी पीने से खून पतला हो जायगा, जैसा ये सूखे मनुष्य ख़याल किया करते हैं। यदि आवश्यकता से अधिक पानी कभी पी लिया जाय तो प्रकृति उसे तुरंत और शीघ्रता से निकाल देगी। योगी लोग वर्फ़ के पानी को जो सभ्यता का अस्वाभाविक मसाला है, चाहना नहीं करते—उनको ८० डिग्री तक का ठंडा पानी प्रिय है। वे जब प्यासे होते हैं तभी पानी पी लेते हैं—उनको प्यास भी स्वाभाविक (प्रकृत) होती है, जिसको सूखे मनुष्यों की प्यास की भाँति जगाना नहीं पड़ता। वे बार-बार पानी पीते हैं, पर ख़याल रखिए कि वे एक ही बार बहुत-सा पानी नहीं पी लेते। वे पानी को एकबारगी पेट में उड़ेल नहीं देते क्योंकि वे जानते हैं कि ऐसा अभ्यास व्यतिक्रांत, अस्वाभाविक और हानिकारक है। वे थोड़ा-थोड़ा करके कई बार पानी पीते हैं। जब काम करते रहते हैं तब पानी भरा बर्तन पास रखते हैं, और बार बार उसमें से थोड़ा-थोड़ा पानी पिया करते हैं।

जिन लोगों ने बहुत बरसों से अपनी प्रवृत्तियों पर ध्यान नहीं दिया है उन्होंने पानी पीने की प्राकृतिक आदत को भुलवा दिया है, और उसे फिर प्राप्त करने के लिये ख़ास अभ्यास की ज़रूरत है। थोड़े अभ्यास से बहुत जल्द पानी पीने की माँग पैदा हो जायगी, और समय पाकर स्वाभाविक प्यास जग उठेगी। अच्छा उपाय यह है कि एक ग्लास पानी अपने पास रखिए और थोड़ी थोड़ी देर पर उस में से पी लिया कीजिए और साथ ही यह ख़याल भी करते जाइए कि आप क्यों यह पानी पी रहे हैं। अपने मन में कहिए कि "मैं अपने शरीर को पानी दे रहा हूँ जिसकी उसको अपना काम अच्छी तरह से करने की ज़रूरत है, और यह हमें शरीर की स्वाभाविक दशा को ला देगा—हमें अच्छा स्वास्थ्य और बल देगा और हमें बलवान्, स्वस्थ और स्वाभाविक मनुष्य बना देगा।"

रात को सोने के समय योगी लोग एक ग्लास पानी पी लेते हैं, इस पानी को देह-यन्त्र खींच लेता है और रात में इसे शरीर की सफ़ाई के काम में लाता है, रद्दियात मूत्र के साथ सबेरे बाहर निकाल दिए जाते हैं। एक ग्लास पानी वे सबेरे जगते ही पी लेते हैं, इसका विचार यह है कि भोजन के पहले यह आमाशय को साफ़ कर देता है और जो तलछट और रद्दी उसमें रात को जमा हो रहते हैं उन्हें धो डालता है। वे प्रत्येक भोजन के पहले भी एक-एक प्याला पानी पी लेते हैं और थोड़ी मुलायम कसरत भी कर लेते हैं, इससे यह विश्वास करते हैं कि पाचन अवयव भोजन के लिये तैयार हो जावेंगे और स्वाभाविक भूख जग उठेगी। भोजन के समय भी थोड़ा पानी पी लेने में वे नहीं डरते (इसको पढ़ते हुए बहुत-से स्वास्थ्याचार्य भयभीत हो उठेंगे) परन्तु इस बात से सावधान रहते हैं कि उनका भोजन पानी से धो न जाय। पानी से भोजन को भीतर निकलने में केवल लार ही जलमिश्रित नहीं हो जाता, किंतु, जब तक भोजन भीतर जाने के लिये तैयार नहीं रहता तभी भीतर चला जाता है और योगी की भोजन मसलनेवाली क्रिया में बाधा पहुँचाता है (उस विषय के अध्याय को देखो)। योगियों का विश्वास है कि इसी भाँति भोजन के साथ पानी पिया हुआ हानिकारक होता है और इसी कारण से भी—नहीं तो प्रत्येक भोजन के साथ वे थोड़ा पानी पी लेते हैं कि आमाशय में भोजन मुलायम हो जाय और यह थोड़ा पानी आमाशयिक द्रव आदि को निबल नहीं बनाता।

बहुत-से हमारे पाठक गदी अँतड़ियों के साफ़ करने में गरम पानी की महिमा को समझते होंगे। हम ऐसी आवश्यकता के अनुसार गरम पानी के प्रयोग को अच्छा समझते हैं, परंतु हमारा ख़्याल है कि अगर हमारे शिष्य जीवन के योगी विधान का सावधानी से बर्ताव, जैसा इस किताब में दिया गया है, करेंगे तो उनका आमाशय

गदा ही न होगा कि उसे साफ़ करने की आवश्यकता पड़े उसका आमाशय अच्छा स्वस्थ रहेगा। विचार पूर्वक भोजन करने की आदत के प्रारंभ में गन्दे आमाशयवाले मनुष्य को इस प्रकार गरम पानी के प्रयोग से लाभ हो जायगा। इसका सर्वोत्तम तरीक़ा यह है कि एक पाइंट पानी सवेरे नाश्ता के पहले अथवा दूसरे भोजनों के एक घंटा पहले धीरे धीरे चूसकर पी लिया जाय, यह पाचन के अवयवों में मांसपेशियों की क्रिया को उत्तेजित करेगा, जिससे देह-यन्त्र में एकत्रित हुआ मल उसमें से बाहर निकलने की चेष्टा करेगा जिसको गरम पानी से ढीला और पतला कर दिया है। परंतु यह अल्प ही काल के लिये उपाय है। प्रकृति का उद्देश सर्वदा गरम पानी पीने का नहीं है और स्वस्थ दशा में वह साधारण ठंडा पानी चाहती है—और स्वास्थ्य को क़ायम रखने के लिये वैसे ही पानी की ज़रूरत है— परंतु जब प्रकृति के नियमों के उल्लंघन से स्वास्थ्य बिगड़ गया हो, तो गरम पानी अच्छा है कि फिर प्राकृतिक मार्ग पर आने के पहले सफ़ाई कर ली जाय।

हम इस अध्याय के अन्य भागों में स्नान और पानी के ऊपरी प्रयोग के विषय में और अधिक कहेंगे—यह अध्याय पानी के भीतरी ही प्रयोग के विषय में है।

पानी के ऊपर लिखे हुए गुणों, कार्यों और प्रयोगों के अतिरिक्त हम यह भी कहेंगे कि पानी में प्राण की मात्रा भी अधिक हुआ करती है, जिसके एक भाग को वह शरीर में छोड़ देता है, यदि शरीर को आवश्यकता हो और शरीर ग्रहण करे। कभी कभी मनुष्य को एक प्याला पानी की आवश्यकता केवल उत्तेजना ही के लिये हो जाती है—कारण यह है कि किसी वजह से प्राण की साधारण मुहइया कम पड़ जाती है और प्रकृति यह समझकर कि जल से शीघ्रता और आसानी से प्राण मिल सकता है, पानी माँगती है।

आप सब लोग स्मरण करेंगे कि कभी-कभी एक प्याला पानी पी लेने से चित्त कैसा उत्तजित और ताज़ा हो जाता है और कैसे आप फिर अपने काम में लग जाने के योग्य हो जाते हैं। जब आप सुस्ती मालूम करें तो पानी को न भूलें। यदि योगियों की श्वास क्रिया के सबध में इसका प्रयोग किया जाय तो यह मनुष्य को अन्य उपायों की अपेक्षा शीघ्रतर ताज़ी शक्ति देगा।

पानी चूमने के समय क्षण भर उसे मुँह ही में थाँभ लीजिए और तब पी जाइए। जिह्वा और मुँह की नाड़ियाँ सबसे प्रथम और शीघ्रता से प्राण खींचनेवाली होती हैं, और यह तरीक़ा बहुत लाभदायक होगा विशेष करके जब मनुष्य थक गया हो। यह स्मरण रखने योग्य बात है।

तेरहवाँ अध्याय

शरीर यन्त्र की राख और फ़ुज़ला

यह अध्याय आप लोगों में से उन मनुष्यों को जो अब भी शरीर या उसके किसी अंग की नापाकीज़गी और अश्लीलता के ख़यालात से बद्ध हैं—यदि हमारे शिष्यों में भी संयोग से ऐसे मनुष्य हों—यह अध्याय अरुचिकर जँचेगा। आप लोगों में से वे मनुष्य जो पार्थिव शरीर की कुछ प्रधान क्रियाओं के अस्तित्व पर ध्यान देना नहीं चाहते, और इस ख़याल पर कि कुछ शारीरिक क्रियाएँ प्रतिदिन के जीवन की एक अंग हैं लज्जा मानते हैं, उनको यह अध्याय अरुचिकर प्रतीत होगा, और वे इस अध्याय को इस पुस्तक का कलंक समझेंगे। ऐसी बात कि जिसको छोड़ ही देना अच्छा था, जिस पर ध्यान ही नहीं देना उचित था। उन लोगों में से हमारा यह कहना है कि हम पुरानी कहानी के उस शुतुरमुर्ग की राय के अनुसरण करने में कोई लाभ नहीं देखते (किंतु यही हानि देखते हैं), जिसने अपने व्याधों के भय से अपने सिर को बालू में गाड़ दिया था, और अनिष्ट बात को आँख की ओट कर दिया था, और उनकी उपस्थिति पर ध्यान ही नहीं दिया था कि व्याधे उसके पास पहुँच गए और उसे पकड़ लिए। हम लोग इस शरीर और उसके कुल भागों तथा क्रियाओं का इतना आदर करते हैं कि उनमें कोई नापाक या अस्वच्छ बात नहीं देखते। और हम इन क्रियाओं के विषय में विचार करने या बातचीत करने में घृणा करने की राय में सिवा मूर्खता के और कुछ नहीं देखते। असुखकर विषयों से मुँह फेर लेने के रिवाज का यह परिणाम हुआ है कि मानव जाति के बहुत-से मनुष्य उन

बीमारियों और अस्वस्थ दशाओं को भोग रहे हैं, जो उनकी इसी मूर्खता के कारण उपस्थित हो गई हैं। जो लोग इस अध्याय को पढ़ेंगे, उनमें से बहुतों को हमारा कथन एक नए ज्ञान का उदय होगा—दूसरे लोग जो इन बातों से पहले ही से अभिज्ञ हैं, वे इस किताब में सच्ची बातों के उद्घाटन का स्वागत करेंगे, यह समझते हुए कि बहुतों का ध्यान इस विषय की ओर आकर्षित होने से उनका भला हो जायगा। हमारा अभिप्राय देह-यंत्र की राख, शरीर से निकले हुए पुरीष के विषय में साफ़-साफ़ बातें करने का है।

ऐसी साफ़-साफ़ बातों की आवश्यकता है, यह बात इसी से प्रमाणित होती है कि आजकल के मनुष्यों के तीन चौथाई, थोड़ा या बहुत बद्धकोष्ठ की बीमारी और उसके दुःखदायी परिणामों को भोगते हैं। यह बात प्रकृति के विपरीत है और इसका कारण इतनी आसानी से दूर किया जाता है कि मनुष्य आश्चर्य करने लगता है कि क्यों ऐसी दशा क़ायम रक्खी जाती है। इसका एक ही उत्तर हो सकता है इसके कारण और इसके निवारण से अनभिज्ञता। यदि हम मनुष्य की इस विपत्ति के दूर करने के कार्य में सहायक हो सकें, और इस प्रकार मनुष्यों को प्रकृति के मार्ग पर पुन लौटा लाने से स्वाभाविक दशा के स्थापित करने में समर्थ हो सकें, तो हम उन लोगों के, जो इस अध्याय से घृणा करते हैं और इससे मुँह फेर लेते हैं, घृणाव्यंजक नाक-भौं सिकोड़ने पर ध्यान न देंगे—और इन्हीं मनुष्यों को इस विषय के उपदेश की सबसे अधिक आवश्यकता है।

जो लोग इस पुस्तक के पाचेंद्रियों-संबंधी अध्याय को पढ़े हैं, वे स्मरण करेंगे कि हमने इस विषय को उस स्थान पर छोड़ दिया था, जहाँ भोजन पतली अँतड़ियों में पहुँच गया था और उसमें का रस देह-यंत्र द्वारा खींचा जा रहा था। अब आगे हम इस बात को

देखेंगे कि जब देह-यन्त्र यथासाध्य कुल पोषणकारी रस को खींच लेता है, तब भोजन की सीठी का क्या होता है—उस पदार्थ का जिसे देह यंत्र काम में नहीं ला सकता।

ठीक इसी जगह यह कह देना मुनासिब होगा कि जो लोग योगियों के तरीक़े से अपने भोजन को खाते हैं जैसा इस किताब के अन्य अध्यायों में बतलाया गया है, उनके भोजन की सीठी उन मनुष्यों की सीठी की अपेक्षा जिनका भोजन थोड़ा ही बहुत पाचन और अपनाने के योग्य बनकर आमाशय में पहुँचता है, मिक़दार में बहुत कम होगी। मामूली मनुष्य अपने भोजन का कम से कम आधा भाग सीठी के रूप में निकाल देता है—परन्तु जो लोग योगी तरीक़ का अनुसरण करते हैं, उनकी सीठी बहुत ही थोड़ी और मामूली मनुष्यों की सीठी की अपेक्षा बहुत कम बदबूदार होती है।

अपने विषय को ख़ूब समझने के लिये हमें शरीर के उन अवयवों को अच्छी तरह जान लेना चाहिए जिन्हें यह काम करना पड़ता है। बड़ी अँतड़ी या मलाशय वह अंग है जिस पर ध्यान देना होगा। मलाशय एक लंबा नाला है, जो क़रीब-क़रीब पाँच फ़ीट लंबा होता है और जो पेट में दाहनी ओर नीचे से ऊपर उठती है और ऊपर ही ऊपर बाईं ओर ऊपर जाती है, तब बाईं ही ओर नीचे जाती है और वहाँ पर वह मोड़ खाती है और कुछ पतली हो जाती है और अंत में मल फेंदा के द्वार गुदा में समाप्त हो जाती है।

पतली अँतड़ी लाए हुए भोजन की लुगदी को इस बड़ी अँतड़ी या मलाशय में, दाहनी ओर नीचे की तरफ़ एक किवाड़दार द्वार से छोड़ देती है, यह किवाड़दार द्वार ऐसा बना रहता है कि उसमें से चीज़ें निकल तो सकती हैं, पर उसमें प्रवेश नहीं पा सकतीं। बीचे की शक्ल का मांसखंड, जहाँ एपेंडिसिटिस-नामक बीमारी होती है, इसी द्वार के नीचे रहता है। पेट में दाहनी ओर मलाशय

सीधा ऊपर जाता है, तब मुड़कर ऊपर ही-ऊपर बाईं ओर जाता है, तब बाईं ही ओर सीधा नीचे आता है, जहाँ एक विशेष प्रकार का मोड़ होता है, यहाँ से कुछ पतला होकर (जिसे पतली नाली कहते हैं) गुदा में पहुँचता है, यही शरीर का वह छिद्र है, जहाँ से मल बाहर हो जाता है।

मलाशय एक बड़ी मलवाहिनी नाली है, इस मल को साफ़ तौर से बाहर निकाल बहाना चाहिए। प्रकृति का उद्देश है कि मल बहुत जल्द निकाल दिया जाय और मनुष्य अपनी नैसर्गिक अवस्था में, जानवरों की भाँति, इस मल को बहुत शीघ्र ही निकाल बहाता है। परंतु ज्यों-ज्यों वह अधिक सभ्य होता जाता है, त्यों-त्यों उसे मल के बहा देने में कम सुविधा होती जाती है और इसलिये वह प्रकृति के हुक्म की पाबंदी को मुलतवी कर देता है; अंत में यह हुक्म देते-देते थक जाती है, तब अपने अनेक कामों में से किसी दूसरे काम में लग जाती है। मनुष्य इस अस्वाभाविक अवस्था को, पानी पीना कम करके और भी बढ़ा देता है और मल को मुलायम, नम, ढीला बनाने के निमित्त ही आवश्यक पानी में कमी नहीं करता, किंतु, शरीर भर में पानी की इतनी कमी कर देता है कि प्रकृति निराश होकर शरीर के अन्य भागों में थोड़ा बहुत पानी पहुँचाने के लिये इसी मलाशय के रहे-सहे थोड़े पानी को मलाशय की दीवारों द्वारा खींचने लगती है। जब चश्मे का पानी नहीं पाती, तब गंदी मोरियों ही के पानी से काम निकालती है। नतीजे की कल्पना आप ही कीजिए। मनुष्य जो इस मलाशय के मल को, पानी कम कर देने के कारण, निकाल नहीं सकता, उसी का परिणाम बद्धकोष्ठ होता है और यह बद्धकोष्ठ अनेक अस्वस्थताओं का उत्पत्ति स्थान है, जिसकी वास्तविक दशा पर किसी का ध्यान नहीं पहुँचता। बहुत-से मनुष्य, जिनका प्रतिदिन मलविसर्जन भी होता है, कोष्ठ

बद्ध के रोग में फँसे रहते हैं, यद्यपि उनको इसकी ख़बर भी नहीं रहती। मलाशय की दीवारों में जमा हुआ सख़्त मल जकड़कर चिपट जाता है और कुछ तो वहाँ बहुत दिनों से चिपटा पड़ा है; जकड़कर चिपटे हुए मल के बीच में एक छोटे छिद्र द्वारा प्रतिदिन के मल का थोड़ा भाग बाहर निकल जाया करता है। बद्धकोष्ठ उस रोग को कहते हैं, जिसमें मलाशय पूरा साफ़ और चिपटे हुए मल के कारण निर्बाध नहीं रहता।

जब मलाशय पुराने चिपटे हुए मल से भर जाता है, या अंश मात्र भी भर जाता है, तो वह कुल शरीर के लिये विष उत्पन्न करता है। मलाशय की दीवार होती हैं, जो मलाशय की चीज़ों का रस खींचा करती हैं। डॉक्टरी के बर्तावों से प्रत्यक्ष है कि मलाशय में दवा छोड़ने से वह सब शरीर में पहुँच जाती है। इस प्रकार दवा छोड़ी हुई शरीर-यन्त्र के दूसरे भागों में पहुँच जाती है और जैसा पहले कहा गया है, मल के द्रव भाग को देह-यन्त्र खींच लेता है। मोरी का गदा जल प्रकृति के काम में, शरीर में स्वच्छ जल कम पहुँचाने के कारण, लाया जाता है। कोष्ठबद्ध मलाशय में कितने दिनों तक पुराना मल ठहरेगा, जल्दी विश्वास में नहीं आता। ऐसी घटनाएँ लिखी हुई मिलती हैं कि जब मलाशय की सफ़ाई की गई है, तब उसमें से बहुत महीनों पहले खाए हुए फलों के बीज मल के साथ निकले हैं। रेचक औषधियों से ऐसे पुराने और सख़्त चिपटे हुए मल नहीं निकलते, क्योंकि रेचक औषधियाँ केवल आमाशय और पतली अँतड़ियों के द्रव्यों को ढीला करती हैं, और मलाशय में चिपटे हुए पुराने सख़्त मल के बीच से होकर उन्हें निकाल देती हैं। कुछ मनुष्यों के मलाशय में तो पुराने मल जमा होकर मुलायम पत्थर के कोयले की भाँति सख़्त हो गए रहते हैं, यहाँ तक कि उनका पेट भी फूल जाता और सख़्त हो जाता है। यह पुराना मल

कभी इतना बुरा हो जाता है कि इसमें कीड़े पड़ जाते हैं और उसी में अंडे देते और वृद्धि करते हैं। जो मल पतली अँतड़ियों से मलाशय में आता है, वह गाढ़ी लेई की भाँति होता है और यदि मलाशय साफ़ और चिकना हुआ और गति स्वाभाविक हुई, तो ज़रा-सा और ठोस और हलके रंग का होकर उसे शरीर के बाहर हो जाना चाहिए था। मलाशय में जितनी ही देर मल रहता है, उतना ही सख़्त और सूखा होता जाता है और उतना ही उसका रंग भी गाढ़ा हो जाता है। जब काफ़ी पानी नहीं पिया जाता और प्रकृति के तक़ाज़े को फ़ुरसत के वक़्त के लिये मुलतवी कर दिया जाता है और फिर भुला दिया जाता है, तब सूखने और सख़्त होने की क्रिया प्रारंभ हो जाती है। और जब बहुत देर के पश्चात् मल त्यागने की रस्म अदा की जाती है, तो मल का एक भाग बाहर जाता है, शेष मलाशय में चिपटने के लिये रह जाता है। दूसरे दिन थोड़ा और भी मल इसमें चिपट जाता है और इसी भाँति हुआ करता है, जब तक कि जीर्ण बद्धकोष्ठ की बीमारी नहीं हो जाती, और उसके अनुयायी रोग जैसे बदहज़मी, पित्ताधिकता, यकृत्रोग, गुर्दे की बीमारियाँ आदि नहीं हो जातीं—वस्तुतः इस मलाशय की गंदी अवस्था से सभी बीमारियों को तेज़ी पहुँचती है और बहुत सी बीमारियाँ तो ख़ास इसी कारण से पैदा ही होती हैं। स्त्री रोगों में आधे तो इसी अवस्था द्वारा वर्धित या उत्पन्न होते हैं।

इस मल को देह-यंत्र के रुधिर में खिंच जाने के दो तरीक़े होते हैं, पहले तो देह-यंत्र की पानी पाने की इच्छा दूसरे प्रकृति का जी तोड़कर उद्योग कि मल को खींचकर पसीने, गुर्दों और फेफड़ों की राह निकाल दे। प्रकृति के इस प्रकार उस मल के दूर करने के उद्योग का, जो मलाशय द्वारा दूर होना चाहिए था, परिणाम दुर्गंध पसीना और दुर्गंध साँस हुआ करते हैं। प्रकृति इस मल के भीतर

रहने की बुराइयों को जानती है, और इसलिये इस मल को दूसरे मार्गों से निकालने का प्रखर उद्योग करती है चाहे इस उपाय से रुधिर और शरीर अद्भविपाक ही क्यों न हो जायँ। मलाशय की इस दुरवस्था ही के कारण अनेक बीमारियाँ और पीड़ाएँ उत्पन्न हो जाती हैं, इनका सर्वोत्तम प्रमाण यह है कि जब कारण एक बार दूर कर दिया जाता है (अर्थात् मलाशय साफ़ कर दिया जाता है), तो मनुष्य ऐसी-ऐसी बीमारियों से अच्छे होने लगते हैं, जिनका ज़ाहिरा कुछ भी संबंध कारण से नहीं था। मलाशय की दुरवस्था के कारण जो बीमारियाँ पैदा होतीं और बढ़ती हैं, उनके अलावे यह बात भी बहुत ही सत्य है कि ऐसे मलाशयवाले के शरीर में छूत की बीमारियाँ और टीफ़ाइड ज्वर आदि की बीमारियाँ बहुत दौड़ती हैं; क्योंकि उनका ऐसा बुरा मलाशय इन बीमारियों के कीटाणुओं के अनुकूल शरीर को बना देता है। जो मनुष्य अपने मलाशय को साफ़ रखता है, उसको इन बीमारियों में पड़ने का बहुत ही कम भय रहता है। तनिक कल्पना तो कीजिए कि यदि हम म्युनिसिपैलिटी की गंदी मलप्रवाहिनी मोरियों की गंदगी का अपने शरीर के भीतर भर लें, तो क्या परिणाम हो—क्या यह कोई आश्चर्य की बात है कि जिस गंदगी के बाहर पड़े रहने से बीमारियाँ फैलती हैं, वही गंदगी नस-नस में फैली रहे और बीमारी न हो। मेरे दोस्तो, अक़्ल से काम लीजिए।

अब हम समझते हैं कि हमने बहुत-सी विपत्तियों के कारण (गंद मलाशय) के विषय में बहुत कुछ कह दिया, (हम इस विषय में और भी कड़ी कड़ी बातों से सैकड़ों सफ़े भर द पर) शायद आप ऐसी दशा में आ गए हैं कि पूछें—"अच्छा मैं विश्वास करता हूँ कि ये सब बातें सही हैं और जो बात मुझे तकलीफ़ दे रही है, वह बात बहुत समझ में आ गई, परंतु इस गंदगी को दूर

करने और स्वाभाविक दशा प्राप्त करने के लिये हमें क्या करना चाहिए ?" अच्छा, हमारा उत्तर यह है—"पहले तो आप मल के अस्वाभाविक ज़ख़ीरे को दूर कीजिए तब प्रकृति के पथ का अनुसरण करके अपने को मधुर, साफ़ और स्वस्थ बनाइए। हम इन दोनों बातों के करने की तरकीब बताने का यत्न करेंगे।"

यदि मलाशय में थोड़ा मल जमा है, तो मनुष्य उसे पानी पीने में अधिकता करके और मल त्यागने की स्वाभाविक गति, इच्छा और आदत को उत्तेजित करने से और मलाशय के देहाणुओं की चेतनता पर असर पहुँचाने से (जैसा आगे वर्णन होगा) दूर कर सकता है। परंतु उन मनुष्यों में से जो मन ही मन हमसे यह प्रश्न कर रहे हैं, आधे से अधिक ऐसे हैं, जिनके मलाशय थोड़ा बहुत पुराने, सख़्त, चिपटे हुए, हरे रंग के उस मल से भरे हुए हैं जो वहाँ महीनों, बल्कि और भी अधिक समय से पड़ा है, इनके लिये तो विशेष उपाय बतलाना पड़ेगा। इस विपत्ति को बुलाने में चूँकि ये प्रकृति के पथ से दूर चले गए हैं, इसलिये हमें पहले प्रकृति की सहायता पहुँचानी चाहिए, जिससे अब तो उसे काम करने के लिये साफ़ मलाशय मिले। उपाय के इशारे के लिये जानवर-योनि में ढूँढ़ना चाहिए। सैकड़ों वर्ष हुए कि भारतवर्ष के निवासियों ने देखा कि एक प्रकार की लंबी टाँगोंवाली चिड़िया—जिसके बड़े बड़े चोंच थे—बड़ी दूर की यात्रा करके बड़ी बुरी अवस्था में लौट आई थी, जिसका कारण या तो कोष्ठबद्ध उत्पन्न करनेवाले फलों का खाना या जहाँ गई थी वहाँ पीने के पानी की कमी थी—संभव है कि दोनों बातें रही हों। ऐसी चिड़िया बहुत ही थकी हुई दशा में नदी के तीर पर पहुँची, जो निर्बलता के कारण अब उड़ भी न सकती थी। चिड़िया ने सब अपने चोंच और मुह को नदी के पानी से भर लिया और सब चोंच को गुदा में डालकर उसमें पानी भरने

लगी, जिससे थोड़े ही अर्से में उसे आराम मिलने लगा। इस क्रिया को चिड़िया ने कई बार किया, जब तक उसकी अँतड़ी बिल्कुल साफ़ न हो गई। तब अच्छी तरह बैठकर आराम करने लगी जब तक उसमें फिर जीचट न आ गया; फिर नदी से ख़ूब पानी पीकर दृढ़ और चंचल बनकर उड़ गई।

कुलपतियों और पुरोहितों ने जब इस घटना को और चिड़ियों पर उसके आश्चर्यजनक प्रभाव को देखा, तो इस विषय में विचार करने लगे और किसी ने कहा कि इसकी परीक्षा वृद्ध मनुष्यों में से किसी पर की जानी चाहिए, जो परिश्रम की कमी और बैठे रहने की आदत से प्रकृति के सीधे मार्ग से विचलित हो गए थे और कोष्ठबद्ध के रोग में पड़ गए थे। अब उन लोगों ने पिचकारी की भाँति का एक औज़ार डंटी में सूराख़ वाली घास का बनाया और इसके द्वारा कोष्ठबद्धवाले वृद्धों की अँतड़ी में पानी छोड़ने लगे। परिणाम बड़ा आश्चर्यजनक हुआ। वृद्ध मनुष्यों को मानो जीवन का नया पट्टा मिल गया, उन लोगों ने नई दुलहिन से विवाह किया और वे कुल के उद्यमों में लग गए और फिर उन्होंने कुलपति का भार अपने सिर ले लिया जिससे नवयुवकों को बड़ा आश्चर्य हुआ जो इनके जीवन से पहले बहुत निराश हो चुके थे। दूसरे कुलों के वृद्ध मनुष्यों तक ये समाचार पहुँचे और वे नवयुवकों के कंधों पर चढ़कर इनके पास आने लगे—और जब लौटे तब बिना सहायता के पैदल गए। तब का जो वर्णन सुनने में आता है उससे अनुमान होता है कि उनकी पिचकारी की क्रिया बड़ी हिम्मत की रही होगी, क्योंकि उसमें बहुत अधिक पानी का वर्णन किया जाता है, और प्रयोग के समाप्त होने तक उनका मलाशय अच्छी तरह साफ़ हो जाता रहा होगा और ऐसी दशा को हो जाता रहा होगा कि उसमें

अब फिर विष का भय न रह जाता रहा होगा। परंतु हम उतने अधिक पानी के प्रयोग का उपदेश नहीं करते—स्मरण रखिए हम लोग सब के पुराने कुलवाले मनुष्य नहीं हैं।

हाँ, अस्वाभाविक दशा के कारण मलाशय के इन गंदे द्रव्यों को दूर करने के लिये प्रकृति को अस्थायी सहायता की आवश्यकता पड़ती है और जमे मल को दूर करने के लिये लंबी चोंचोंवाली चिड़ियों और हिंदू कुलपतियों के उदाहरण को, इस बीसवीं शताब्दी के परिष्कृत औज़ारों द्वारा, अनुसरण करना ही सर्वोत्तम उपाय है। जिस वस्तु की आवश्यकता है, वह एक रबर की सस्ती पिचकारी है। यदि आपके पास एनिमा-नामक पिचकारी हो, तो और भी अच्छी बात है, नहीं तो मामूली ही पिचकारी से, जिसमें रबर का चुन्ना लगा हो, काम निकल सकता है। एक पाइंट गरम पानी लीजिए—इतना गरम हो कि जिसे हाथ आराम से सह सके। पानी को पिचकारी द्वारा मलाशय में छोड़िए। कुछ अर्से तक मलाशय में पानी को रोके रहिए और तब शरीर से निकाल डालिए। इस अभ्यास के लिये रात का समय बहुत अच्छा है। दूसरी रात दो पाइंट गरम पानी लीजिए और उसका भी वैसे ही प्रयोग कीजिए। तब एक रात नागा कर दीजिए और बादवाली रात में तीन पाइंट पानी लीजिए। तब दो रात नागा कीजिए और तीसरी रात को ४ पाइंट पानी लीजिए। शनै शनै आपको मलाशय में पानी रोकने का अभ्यास हो जायगा और अधिक पानी से मलाशय ख़ासी तौर से साफ़ हो जायगा। थोड़ा पानी पहले से ढीले मल को धो डालेगा और सख़्त मल को दीवारों से छुड़ाकर उसे खड-खड कर देगा। चार पाईंट अर्थात् दो क्वार्ट पानी से भय मत खाइए। आपका मलाशय इससे भी अधिक पानी धारण कर सकता है। कोई-कोई मनुष्य तो चार क्वार्ट पानी ले लेते हैं, परंतु हम इतने पानी को अतिशय समझते

हैं। पानी लेने के पहले और पीछे पेट को मलिए और जब क्रिया समाप्त हो जाय, तो योगी की पूरी साँस का अभ्यास कर डालिए, जिससे आपको उत्तेजना मिल जाय और रुधिर-संचार में तीव्रता आ जाय।

इन प्रयोगों से जो मल निकलेगा, वह नाज़ुक दिमाग़ वालों को बहुत ही अरुचिकर होगा, परन्तु प्रश्न तो मल को सर्वदा के लिये दूर कर देने का है। इस प्रयोग से जो मल पहले आता है वह बहुत ही दुर्गंध और घृणोत्पादक होता है, परन्तु, जैसा-कैसा क्यों न हो, शरीर के भीतर रखने की अपेक्षा तो इसे बाहर ही निकाल देना अच्छा है। वह भीतर रहेगा, तो भी उतना ही ख़राब रहेगा, जितना बाहर निकलने पर है। हम ऐसी घटनाओं को भी जाने हुए हैं जिनमें बहुत मल के बड़े-बड़े टुकड़े, सख़्त और हरे, जैसे तूतिया के रंग के हों, मनुष्यों के शरीर से निकले हैं, और इतनी बदबू उसमें से निकली है, जिससे पक्का प्रमाण मिल गया है कि इनके भीतर रहने से कितनी हानि हो गई होगी। नहीं, यह चित्त प्रसन्न करने वाला पाठ नहीं है, परंतु यह पाठ भी आवश्यक है कि आप भीतरी सफ़ाई की महिमा को समझ जायँ। आपको ऐसा ज्ञान पड़ेगा कि जिस सप्ताह में आपने मलाशय को साफ़ किया है, उस सप्ताह में आपको स्वाभाविक मल त्यागने की हाजत कम या बिलकुल नहीं हुई है। इसकी कुछ चिंता नहीं है, क्योंकि पानी ने उस मल को बहाया है, जिसे आप मल त्यागने के समय निकालते। जब मल की सफ़ाई की क्रिया समाप्त हो जायेगी, तो उसके दो या तीन दिन पश्चात् आपको स्वाभाविक रीति से मल त्यागने की इच्छा होने लगेगी।

अब इसी जगह हम आपका ध्यान इस बात की ओर दिलाते हैं कि हम सर्वदा लगातार पिचकारी के प्रयोग का उपदेश नहीं

देते—हम इसको स्वाभाविक आदत नहीं समझते, और हमारा यह विश्वास है कि यदि स्वाभाविक आदतों ही का अवलम्बन किया जायगा, तो स्वाभाविक रीति से मल का त्यागना हुआ करेगा और पिचकारी के प्रयोग की आवश्यकता ही न पड़ेगी। हम पिछले ही जमा हुए मल की सफ़ाई के लिये पिचकारी के प्रयोग का उपदेश करते हैं। महीने में एक बार यदि मल के बढ़ने को रोकने के लिये पिचकारी ले ली जाय, तो उसमें हम हानि नहीं देखते। अमेरिका में बहुत-से ऐसे स्वास्थ्य-सम्प्रदाय हैं, जो सर्वदा पिचकारी के प्रयोग करने का उपदेश देते हैं। हम उनसे सहमत नहीं हो सकते, क्योंकि हमारा सिद्धान्त यह है कि "प्रकृति के पथ पर लौट आओ" और हमारा विश्वास है कि प्रकृति नित्य का पिचकारी का प्रयोग नहीं चाहती। योगियों का विश्वास है कि काफ़ी ताज़ा शुद्ध पानी पिया जाय, नियमानुकूल मल त्यागा जाय और मलाशय से कुछ "बात कह" ली जाय तो बद्धकोष्ठ से बचे रहने के लिये जो कुछ आवश्यक है, सभी हो जाय।

एक हफ़्ते की पिचकारी (धौति) क्रिया के पश्चात् (और उससे पहले भी) अच्छी तरह से पानी पीना प्रारम्भ करो, जैसा हम उस विषय के अध्याय में कह आए हैं। प्रतिदिन दो क्वार्ट पानी पिया करो, इससे तुम्हें उन्नति दिखाई देने लगेगी। समय नियत करके उसी समय पर नित्य मल त्यागने के निमित्त जाया करो चाहे हाजत मालूम होती हो या न मालूम होती हो। धीरे धीरे आपकी आदत स्थिर हो जायगी, क्योंकि प्रकृति आदत डालने को बड़ी उत्सुक रहती है। सम्भव है कि आपको मल त्यागने की आवश्यकता हो पर यह आपको मालूम न पड़ता हो क्योंकि आपने तो बार-बार लापरवाही करके वहाँ की चेतना नाड़ी को मृतप्राय कर दिया है, इसलिये आपको नए सिरे से फिर प्रारंभ करना

पड़ेगा। इस बात को भूलिए मत—यह सीधी परतु कारगर बात है।

जब आप पानी पीने लगें, तब स्वत सूचना दिया करें, तो उसे लाभकर पावेंगे। मन ही मन यों कहिए, "हम इस पानी को इस लिए पी रहे हैं कि यह हमारे शरीर यत्र में आवश्यक द्रव उपस्थित करे। यह हमारी अँतड़ियों को प्रकृति के उद्देश के अनुसार स्वतत्रता से और नियमित रूप पर सचालित करेगा।" आप अपने देह-यत्र में जो कार्य साधा चाहते हों, उसका ध्यान बनाए रखिए, तो जल्द ही फल सिद्ध होगा।

अब एक ऐसी बात है, जो आपको जब तक आप उसके पूरे विवरण को न समझेंगे, फ़ज़ूल-सी मालूम हो सकती है। (हम यहाँ उसकी क्रिया-मात्र देते हैं, और उसके विवरण को आगे अन्य अध्याय में समझावेंगे)। यह मलाशय से "बात कहना" है। पेट पर, मलाशय के स्थानों पर हाथ से मुलायम थापियाँ दो और उससे कहो, (हाँ, बातें करो) "देखो मलाशय, हमने तुम्हारी अच्छी तरह से सफ़ाई कर दी है, और तुम्हें साफ़ और ताज़ा बना दिया है—हम तुम्हें उचित रीति से अपना काम करने के लिये पानी दे रहे हैं—हम नियमित आदतें डाल रहे हैं, जिनसे तुम्हें काम करने का पूरा अवसर मिले—और अब तुम्हें काम करने में लग जाना चाहिए।" मलाशय के स्थान पर कई बार थापियाँ दीजिए और कहा कीजिए "अब तुम्हें करना ही पड़ेगा।" और तुम्हें मालूम होगा कि मलाशय उसे कर डालेगा। शायद यह बात आपको लड़कों की खेल-सी प्रतीत होती है—आप इसके अर्थ को तब समझेंगे, जब आप अस्वायत्त अवयवों के शासन विषयक अध्याय को पढ़ेंगे। यह वैज्ञानिक बात के सिद्ध करने का साधा उपाय है—प्रबल शक्ति को प्रचालित करने की सरल रीति है।

अब मेरे मित्रो, यदि आप कोष्ठबद्ध के रोग को भोगे हैं, और कौन नहीं भोगे हैं, तो आप ऊपर लिखी सलाह को लाभदायक पावेंगे। इससे फिर वही गुलाबी कपोल और सुंदर चमड़े हो जायँगे—इससे सूखापन, वह खारदार ज़बान, वह दुर्गंध श्वास, वह दुखदायी यकृत् और भरे मलाशय से जो जो बीमारियों का परिवार उठ खड़ा होता है—वह अवरोधित नाली, जो सब शापों की मूल है—सब दूर हो जावेंगे। इस क्रिया की परीक्षा कीजिए तो आप जीवन का सुख भोगने लगेंगे और स्वाभाविक स्वच्छ तथा स्वस्थ मनुष्य हो जायँगे। अब समाप्ति के समय अपने ग्लास को चमकते साफ़ ठंडे पानी से भर लीजिए और इस स्वास्थ्य प्रार्थना में सम्मिलित हो जाइए "यह स्वास्थ्य के लिये—पुष्कल स्वास्थ्य के लिये है।" और ज्यों-ज्यों धीरे धीरे पानी को पीजिए, मन ही-मन यों कहते जाइए "यह पानी हमारे लिये स्वास्थ्य और बल का लानेवाला है—यह स्वयं प्रकृतिदत्त पुष्टिकर औषधि है।"

चौदहवाँ अध्याय

योगियो की श्वासक्रिया

जीवन बिलकुल श्वास लेने की क्रिया पर अवलंबित है। "श्वास ही जीवन है।"

पूर्वीय और पश्चिमीय लोग विचारों और नामावलियों में चाहे कितना ही भेद करें, पर इन मूल-तत्त्वों में दोनों सहमत हैं।

श्वास ही लेना जाना है, और श्वास के बिना जीवन नहीं है। केवल उच्च योनि ही के जतु जीवन और स्वास्थ्य के लिये श्वास पर अवलंबित नहीं रहते, किंतु नीच योनि के जतुओं को भी जीवन के लिये श्वास लेना पड़ता है, और पौधों को भी अपना लगातार सत्ता रखने के लिये हवा के आश्रित होना पड़ता है।

नवजात शिशु एक लबी गहरी साँस खींचता है, उसे एक क्षण उसकी प्राणदायिनी शक्ति ग्रहण करने के लिये रोक रखता है, और तब फिर लबी प्रश्वास द्वारा उसे बाहर निकाल देता है, और अहा! उसका इस पृथ्वी पर का जीवन शुरू हो जाता है। एक मनुष्य निबल श्वास देता है, श्वास लेना बंद कर देता है और उसका जीवन समाप्त हो जाता है। नवजात शिशु की पहली साँस से लेकर मरते हुए मनुष्य की अंतिम साँस तक साँस लेने की लगातार कहानी रहती है। जीवन श्वासों ही की एक शृंखला है।

श्वास लेना, शरीर की क्रियाओं में से, सबप्रधान क्रिया समझी जा सकती है, क्योंकि वस्तुतः अन्य सभी क्रियाएँ इसी के आश्रित रहती हैं। मनुष्य बिना खाए कुछ समय तक रह सकता है, उससे भी लघुतर समय तक बिना पानी पिए रह सकता है, परंतु

बिना श्वास लिए उसका जीवन केवल कतिपय क्षण ही द्वारा नापा जा सकता है।

मनुष्य जीवन के लिये श्वास पर ही अवलम्बित नहीं रहता, किंतु वह सही साँस लेने की आदत पर अवलंब करता है कि जिससे लगातार जीवट और रोगों से छुटकारा बना रहे। अपने श्वास लेने की शक्ति पर विचार पूर्वक अधिकार रखने से इस भूमि पर के हमारे आयु के दिन बढ़ जायँगे, क्योंकि हमें अधिक जीवट और रोगों से मुक़ाबिला करने की शक्ति मिलती रहेगी, और इसके विपरीत अविचार और असावधानी की साँस से जीवट घट जाने के कारण और रोगों के लिये द्वार खुले रहने से आयु के दिन घट जाते हैं।

मनुष्य को उसकी स्वाभाविक अवस्था में श्वासक्रिया की शिक्षा की आवश्यकता नहीं थी। नीच जन्तुओं और बच्चों की भाँति, वह स्वाभाविक और उचित रीति से साँस लेता था, परंतु सभ्यता ने उसे इस और अन्य विषयों में बिलकुल बदल दिया है। उसने चलने, खड़ा होने और बैठने की अनुचित रीतियों को धारण कर लिया है जिन्होंने उसके स्वाभाविक और सही तरीक़े से साँस लेने के नैसर्गिक अधिकार को उससे छीन लिया है। उसने सभ्यता का महँगा मूल्य दिया है। जंगली मनुष्य आज भी स्वाभाविक रीति से साँस लेता है, यदि सभ्य मनुष्य की सभ्यता की छूत से वह भी कलंकित न हो गया हो।

उन सभ्य मनुष्यों की औसत, जो सही साँस लेते हैं, बहुत थोड़ी है, और इसका परिणाम संकुचित छातियों, झुके हुए कंधों, और श्वास लेने के अवयवों की भयंकर बीमारियों की वृद्धि में, जिसमें वह सघातक राक्षस भी शामिल है, जिसे क्षया कहते हैं, घोषित होता है। प्रख्यात प्रमाण पुरुषों ने कहा है कि सही साँस

लेनेवालों की एक पीढ़ी भी मानवजाति का उद्धार कर दे, और बीमारी इतनी विरल हो जाय कि यह आश्चर्य की दृष्टि से देखी जाने लगे, चाहे यह पूर्वी या पश्चिमी दृष्टि से देखा जाय, सही साँस लेने और स्वास्थ्य का संबंध तुरत देखने में और समझ में आ जाता है।

पश्चिमी शिक्षा बतलाती है कि शारीरिक स्वास्थ्य बहुत कुछ सही साँस लेने पर अवलंबित है। पूर्वी आचार्य केवल यही नहीं स्वीकार करते कि उनके पश्चिमी भाई सही हैं, किंतु कहते हैं कि उचित साँस लेने की आदत से शारीरिक लाभों के अतिरिक्त मनुष्य की मानसिक शक्ति, उसका सुख आत्माधिकार स्वच्छ दृष्टि, सदाचार, और यहाँ तक कि उसकी आध्यात्मिक उन्नति भी श्वास विज्ञान को समझ लेने से हो सकती है। पूर्वीय दर्शन के संप्रदाय-के संप्रदाय इस विज्ञान के आधार पर स्थापित हुए हैं और इस विद्या को यदि पश्चिमीय जातियाँ ग्रहण करेंगी और अपने विशेष गुण के कारण इसे कार्यरूप में परिणत करेंगी, तो उनमें आश्चर्यजनक परिणाम उत्पन्न कर देंगी। पूर्व देश के मंत्र पश्चिम के प्रयोग से जब मिलेंगे, तो बड़ा ही उत्तम फल होगा।

इस जगह योगियों के श्वास विज्ञान का वर्णन किया जायगा जिसमें केवल उतनी ही विद्या नहीं है, जो पश्चिमी शरीर-शास्त्रियों और स्वास्थ्याचार्यों को ज्ञात है, किंतु इसमें योग का गूढ़ विषय भी है। यह केवल शारीरिक स्वास्थ्य के मार्ग का उसी तरीके से नहीं बतलाती जिसे पश्चिमी वैज्ञानिक गहरी साँस आदि कहते हैं परंतु ऐसी तहों में भी प्रवेश करती है, जो बहुत कम लोगों को ज्ञात हैं।

योगी ऐसे अभ्यासों को करता है, जिससे उसे शरीर पर अधिकार प्राप्त हो जाता है और वह इस योग्य हो जाता है कि किसी इंद्रिय या

भाग में जीवनशक्ति या प्राण को अधिक प्रवाह के साथ भेज सकता है और उस इन्द्रिय या भाग को अधिक दृढ़ और बलवान् बना सकता है। वह सही साँस लेने के विषय में उन सब बातों को जानता है जिन्हें उसके पश्चिमी भाई जानते हैं, परंतु, वह यह भी जानता है कि हवा में आक्सीजन, हैड्रोजन और नैट्रोजन के अलावे कुछ चीज़ और भी है, और रुधिर में केवल आक्सीजन मिश्रित करने के सिवाय कुछ और बात भी सिद्ध की जाती है। वह प्राण के विषय में भी कुछ जानता है, जिससे उसका पश्चिमी भाई अनभिज्ञ है, और वह उस महत्शक्ति तत्त्व के प्रयोग की प्रकृति और रीति को बहुत अच्छी तरह जानता है, और उसे पूरा ज्ञान है कि उस प्राण का प्रभाव मानव शरीर और मन पर कैसा पड़ता है। वह जानता है कि तालयुक्त श्वास (प्राणायाम) द्वारा मनुष्य प्रकृति के रूप में अपने को मिला सकता है और अपनी गुप्त शक्तियों के विकाश में सहायता पहुँचा सकता है। वह जानता है कि सुनियमित श्वास द्वारा वह अपनी और अन्यों की केवल बीमारियों ही को नहीं दूर कर सकता, किंतु, भय और क्रोध आदि दुर्वृत्तियों को भी दूर कर सकता है।

श्वास के विषय के विचार में पहले हमको उस यंत्र की कारीगरी-युक्त रचना पर ध्यान देना होगा, जिसके द्वारा श्वास की गति सचालित होती है। श्वासक्रिया की कारीगरी, (१) फेफड़ों की आकुंचन और प्रसारण की गति और (२) छाती के उस खोखले की बगलों और तह की क्रिया से, जिसमें फेफड़े रहते हैं, द्योतित होती है। छाती, गले और पेट के बीच के पिंड का वह भाग है जिसके खोखले में (जिसे छाती का खोखला कहते हैं) हृदय और फेफड़े होते हैं। यह रीढ़ की हड्डी पसलियों और उनको जोड़नेवाली मुलायम हड्डियों (कुर्री), सीने की

हड्डी और नीचे पेट और छाती को पृथक करनेवाली मांस की चद्दर से घिरा होती है। इसकी उपमा सब ओर से बंद कुप्पेदार पक्स से दी गई है जिसका कुप्पा ऊपर की ओर होता है, पीछा रीढ़ का हड्डी से बनता है, आगा छाती का हड्डी से और बगलें पसलियों से बनती हैं।

पसलियाँ संख्या में २४ होती हैं, प्रत्येक बगल में बारह बारह और रीढ़ की हड्डी की दोनों ओर से निकलती हैं। ऊपरी ७ जोड़ियाँ तो सच्ची पसलियाँ कही जाती हैं जो सीधे छाती की हड्डी से जुटी होती हैं, और निचली पाँच जोड़ियाँ झूठी पसलियाँ या हिलने डोलनेवाली पसलियाँ कही जाती हैं, क्योंकि ये उस प्रकार जुटी नहीं होतीं; इनमें का भी दो ऊपरवाली तो मुलायम हड्डी (कुर्री) द्वारा अन्य पसलियों से जुटी होती हैं; शेष में कुर्री भी नहीं होती और उनके अगले सिरे बिलकुल छुटे होते हैं।

श्वासक्रिया में पसलियाँ ऊपरी दो तह मांसपेशियों से संचालित होती हैं। छाती और पेट के बीचवाली मांस की चद्दर, जिसका वर्णन ऊपर हो चुका है, छाती के खोखले का पेट से पृथक् करती है।

श्वास भीतर खींचने की क्रिया में मांसपेशियाँ फेफड़ों को फैला देती हैं, जिससे फेफड़ों में रिक्तस्थान उत्पन्न हो जाता है, और उस स्थान को भरने के लिये सर्वपात भौतिक नियम के अनुसार बाहर से हवा भीतर आती है। श्वास लेने में जिन मांसपेशियों का काम पड़ता है, उन्हीं पर प्रत्येक श्वास विषयक बात अवलम्बित है, इस लिये उन मांसपेशियों को हम सुविधा के लिये "श्वासवाली मांस पेशियाँ" कह सकते हैं। बिना इन मांसपेशियों की सहायता के फेफड़े फैल नहीं सकते और इन्हीं मांसपेशियों के उचित प्रयोग और उन्हें अपने आयत्त में रखने पर श्वास विज्ञान अधिकतर अवलम्बित है। इन मांसपेशियों को उचित रीति से अपने आयत्त में

रखने से फेफड़ों को उनकी चरम सीमा तक फैला सकते हैं और इस तरह हवा के प्राणदायक गुणों को अधिक से अधिक मात्रा में इस देह-यन्त्र के लिये ग्रहण कर सकते हैं।

योगी लोग श्वासक्रिया को चार साधारण तरीक़ों में बाँटते हैं, अर्थात्—

(१) उच्च श्वासक्रिया।
(२) मध्य श्वासक्रिया।
(३) नीची श्वासक्रिया।
(४) योगी की पूर्ण श्वासक्रिया।

हम पहले तीन तरीक़ों को साधारण बयान कर देंगे और चौथे तरीक़े का, जिसके आधार पर योगी का श्वास विज्ञान स्थापित है, अधिक विस्तार से बयान करेंगे।

(१) ऊंचा साँसक्रिया

इस प्रकार का साँस को पश्चिमी लोग हँसली का हड्डी की साँस कहते हैं। इस प्रकार से साँस लेनेवाला मनुष्य पसलियों को उठा देता और हँसली की हड्डी और कंधों को ऊपर उभाड़ देता है, साथ ही पेट का भीतर खींच लेता है, और उसमें की चीज़ों को ऊपर खींचकर छाती और पेट को पृथक् करनेवाली चद्दर से मिला देता है, जो चद्दर भी ऊपर खिंच जाती है।

छाती और फेफड़ों का ऊपरी भाग, जो सबसे छोटा होता है, काम में लाया जाता है, और इसलिये कम से कम मात्रा में हवा फेफड़ों में जाती है। इसके अतिरिक्त मोल की चद्दर का ऊपर उठ जाने से उस ओर फैलाव नहीं हो सकता। छाती की बनावट को अध्ययन करने से मनुष्य के चित्त पर यह बात बैठ जावेगा कि इस प्रकार श्वास लेने में अधिक-से अधिक परिश्रम के प्रयोग से कम-से कम लाभ होता है।

ऊँची श्वासक्रिया मनुष्य की जानी हुई क्रियाओं में से सबसे निकृष्ट है और इससे अधिक से अधिक शक्ति खर्च करने का आवश्यकता पड़ती है और थोड़ा-से थोड़ा लाभ होता है। यह शक्ति बरबाद करनेवाला और कम लाभ देनेवाला तरीक़ा है। यह पश्चिमी जातियों में बहुत प्रचलित है; बहुत-सी औरतें इसी श्वास में मुब्तिला हैं; और गवैये, पादरी, वकील और दूसरे लोग, जिन्हें बेहतर ज्ञान होना चाहिए था, वे भा मूर्खता से इसी तरीक़े को बरतते हैं।

शब्दोत्पादक अवयवों और श्वास के अवयवा की बहुत-सी बीमारियाँ इसी बुरे तरीक़े से साँस लेने का सीधा नतीजा है; और इस रीति से साँस लेने में नाज़ुक अवयवों पर जो-जो तनाव पड़ता है, उससे वे कड़ी और बुरी आवाज़ें पैदा होती हैं, जो चारो ओर सुनाई दिया करती हैं। बहुत से मनुष्य, जो इस प्रकार साँस लेते हैं, मुँह से साँस लेने की बुरी आदत में पड़ जाते हैं, जिसका वर्णन आगे चलकर किया जायगा।

यदि शिष्य को कुछ भी संदेह इस प्रकार साँस लेने के विषय में कही हुई बातों पर हो तो उसे स्वयं परीक्षा कर लेनी चाहिए। पहले वह फेफड़ा में से सब हवा निकाल दे, तब सीधा खड़े होकर, जिसमें हाथ बग़लों में लटकते रहें, कंधा और हँसली की हड्डी को ऊपर उठावे और फिर साँस ले। उसे मालूम होगा की साँस ली हुई हवा की मिक़दार मामूला मिक़दार से बहुत ही कम है। अब फिर कंधों और हँसली की हड्डी को गिराकर साँस ले तब उसे श्वास लेने में ऐसी स्पष्ट शिक्षा मिल जायगी जिसे वह छपे और बोले हुए शब्दों द्वारा प्राप्त शिक्षा की अपेक्षा बहुत दिन तक स्मरण रख सकेगा।

(२) मध्य साँसक्रिया

साँस लेने के इस तरीक़े को पश्चिमी विद्वान् पसली की साँस

कहते हैं और यह यद्यपि ऊँची साँस को अपेक्षा कम आपत्तिजनक है तो भी नीची साँस और योगी की पूर्ण साँस की अपेक्षा तो बहुत ही ख़राब है। मध्य श्वास में छाती और पेट के बीच की चद्दर ऊपर खिंच जाती है, और पेट भीतर खिंच जाता है। पसलियाँ कुछ ऊपर उठती हैं और छाती कुछ थोड़ी फैल जाती है। यह तरीक़ा उन मनुष्यों में पाया जाता है जिन्होंने इस विषय का अध्ययन नहीं किया है। चूँकि इससे बेहतर दो तरीक़े और हैं इसलिये इस तरीक़े का बहुत थोड़ा ही वर्णन किया गया है और वह भी इसलिये कि आपका ध्यान उसकी त्रुटियों पर आकर्षित हो।

(३) नीची साँस

साँस लेने का यह तरीक़ा पहले कहे हुए दोनों तरीक़ों से बहुत ही अच्छा है और हाल सालों में बहुत-से पश्चिमी लेखकों ने इसकी बड़ी महिमा गाई है और इसकी प्रशंसा "पेट की साँस", "गहरी साँस" आदि नामों से की है; और लोगों का ध्यान इसकी ओर आकर्षित होने से लाभ भी बहुत हुआ है क्योंकि बहुत से लोग जो पहले ऊपर लिखी हुई दोनों रीतियों से साँस लेते थे, अब इस रीति से साँस लेने लगे। इसी नीची साँस के आधार पर बहुत से नए तरीक़े निकाले गए और शिष्यों को इन नए (?) तरीक़ों के लिये कड़ी क़ीमतें भी देनी पड़ीं। परंतु, जैसा हम कह आए हैं, इससे लाभ बहुत हुआ है, और अंत में उन शिष्यों को, जिन्होंने महँगी क़ीमतें दीं, और निकृष्ट रीति को त्याग कर अच्छी रीतियों का धारण किया, क़ीमत के अनुसार लाभ मिल गया।

यद्यपि बहुत-से पश्चिमी विद्वान् इस तरीक़े को सर्वोत्तम तरीक़ा लिखते और कहते हैं, परंतु योगी इसे जानते हैं कि यह उस तरीक़े का एक अंग-मात्र है, जिसे वे सैकड़ों वर्ष से अभ्यास करते आते हैं, और जिसे "योगी की पूरी साँस" कहते हैं। यह बात स्वीकार करने

के योग्य है कि पूरी साँस को समझने के पहले नीची साँस से अभिज्ञ हो जाना ही चाहिए।

एक बार फिर पेट और छाती को पृथक करनेवाली चद्दर पर ध्यान दीजिए। यह क्या है? हम लोग देख आए हैं कि यह एक मांसपेशी है जो पेट और उसके पदार्थों को छाती और उसके पदार्थों से पृथक् करती है। जब यह स्थिर रहती है तो पेट की ओर से देखने में आसमान की भाँति या छाता की तरह दिखलाई देती है इसलिये यदि ऊपर छाती की ओर से इस पर दृष्टि डाला जाय तो यह गुम्बेदार अर्थात् उभड़े हुए टीले की भाँति दिखाई देती है। जब यह चद्दर काम करने लगती है तो कुब्बा नीचे को दबता है और चद्दर पेट के अवयवों को दबाती है जिससे पेट कुछ आगे उमड़ आता है।

नीची साँस लेने में ऊपर लिखे हुए पहले तरीक़ों से साँस लेने की अपेक्षा फेफड़ों को और भी स्वतन्त्रता से काम करना पड़ता है जिसका परिणाम यह होता है कि अधिक हवा साँस में जाती है। इसी से अधिकतर पश्चिमी विद्वान् इसी नीची साँस को (जिसे वे पेट की साँस कहते हैं) वैज्ञानिक सर्वोत्तम तरीक़ा कहते और लिखते हैं। परन्तु पूर्वीय योगी बहुत दिनों से इससे भी अच्छे तरीक़े को जानता है और कुछ पश्चिमी लेखक भी अब इस बात को समझने लगे हैं। योगी की पूरी साँस को छोड़कर अन्य रीतियों में यह एक बड़ा दोष है कि किसी तरीक़े में भी फेफड़ा हवा से भर नहीं जाता—ज़ियादा-से ज़ियादा फेफड़ों का एक भाग-मात्र भरता है—यहाँ तक कि नीची साँस में भी। ऊँची साँस से फेफड़ों का ऊपरी भाग भरता है, मध्य साँस से मध्य भाग और कुछ ऊपरी भाग भरता है नीची साँस से नीचेवाले और बीचवाले हिस्से भरते हैं। यह बात प्रकट है कि जिस तरीक़े से सारा फेफड़ा हवा से भर जाय वह तरीक़ा अन्य तरीक़ों की अपेक्षा अधिक पसंद करने के योग्य है। जिस तरीक़े से

सारा फेफड़ा हवा से भर जाय यह तरीक़ा अधिक-से अधिक आक्सीजन उपस्थित करने और अधिक-से अधिक प्राण संचित करने के कारण मनुष्य के लिये अत्यंत हितकर है। योगी लोग जानते हैं कि पूरी साँस की रीति विज्ञान की जानी हुई सब रीतियों में सर्वोत्तम है।

(४) योगी की पूरा साँस

योगी की पूरी साँस में ऊँची, मध्य और नीची तीनों प्रकार की साँसों के अच्छे गुण हैं और यह साँस तीनों प्रकार की साँसों के दोषों से बची हुई है। यह रीति साँस लेने के सारे यंत्र फेफड़ों के प्रत्येक भाग, हवा की प्रत्येक कोठरी, और श्वास का प्रत्येक मांसपेशी को काम में लगा देती है। समस्त श्वास लेने का यंत्र साँस की इस रीति से संचालित हो जाता है; और कम-से कम शक्ति के व्यय से अधिक से अधिक लाभ होता है। छाती का खोखला चारों ओर अपनी चरम सीमा तक फैल जाता है, और यंत्र के सब भाग अपने अपने स्वाभाविक कर्तव्यों और क्रियाओं को करते हैं।

इस प्रकार साँस लेने में सबसे बड़ा यह गुण है कि श्वास लेने की मांसपेशियाँ पूरे तौर से काम में लगाई जाती हैं और अन्य तरीक़ों में उनके एक भाग-मात्र प्रयोग में आते हैं। पूरी साँस लेने में और मांसपेशियों में वे मांसपेशियाँ जिनका अधिकार पसलियों पर रहता है, ज़ोर से काम करती हैं, जिससे अवकाश बढ़ जाता है कि फेफड़े फैल सकें और अवयवों को मुनासिब सहारा, आवश्यकता पड़ने पर, मिल जाता है। कुछ मांसपेशियाँ तो निचली पसलियों को उनके स्थान पर पकड़े रहती हैं, और कुछ उन्हें बाहर की ओर दबाती हैं।

और फिर इस रीति में पेट और छाती के बीचवाली मद्दर पूरे

आयत्त में रहती है और अपने कार्यों को उचित रूप पर और इस भाँति करती है कि अधिक-से अधिक कार्य हा सके ।

ऊपर लिखी हुई पसलियों की क्रिया में नीचे की पसलियाँ इसी चद्दर द्वारा अधिकृत रहती हैं, जो उन्हें थोड़ा नीचे खींचती है और अन्य मांसपेशियाँ उन्हें अपने स्थान पर पकड़े रहती हैं और पसलियों के बीच की मांसपेशियाँ उन्हें बाहर की ओर प्रेरित करती हैं, इस संयुक्त क्रिया से छाती के बीच का खोखला पूरा पूरा बढ़ जाता है। इस मांसपेशीक्रिया के अतिरिक्त ऊपर की पसलियाँ भी पसलियों की बीचवाली मांसपेशियों द्वारा ऊपर को उठाई और बाहर की ओर फैलाई जाती हैं जिससे ऊपरी छाती का विस्तार भी पूरी हद तक फैल जाता है ।

यदि आपने चारों प्रकार की श्वासक्रियाओं का विशेषताओं को अच्छी तरह अध्ययन कर लिया है, तो आपको तुरत मालूम हो जायगा कि पूरी साँस में शेष तीनों प्रकार की क्रियाओं की त्रुटियाँ आ जाती हैं और इनके अतिरिक्त यह लाभ होता है कि छाती के ऊपरी मध्य, और नीचेवाले भागों की संयुक्त क्रिया से और भी लाभ बढ़ जाता है और स्वाभाविक ताल प्राप्त हो जाता है ।

योगियों की पूरी साँस समस्त श्वास विज्ञान की मूलाधार श्वास क्रिया है और शिष्य को इसमें भली भाँति अभिज्ञ हो जाना चाहिए और इसे पूरी तरह से सिद्ध कर लेना चाहिए तभी वह आगे लिखी हुई अन्य क्रियाओं से फल प्राप्त करने की आशा कर सकता है। इसे अधूरा ही करने से संतुष्ट न हो जाना चाहिए, परंतु जी लगा कर अभ्यास करते रहना चाहिए, जब तक कि यह श्वास लेने का स्वाभाविक तरीका न बन जाय । इसमें मिहनत समय और धैर्य की आवश्यकता होगा। परंतु इन बातों के बिना तो कोई भी कार्य सिद्ध नहीं होता । श्वास विज्ञान का दूसरा कोई राजपथ नहीं है और शिष्य

यदि फल उठाना चाहता है तो उसे जी लगाकर इस क्रिया का अध्ययन और अभ्यास कर लेना चाहिए। श्वास विज्ञान की क्रियाओं को सिद्ध कर लेने से महत् फल प्राप्त होता है और जिसने इस क्रिया को प्राप्त कर लिया है, वह इच्छा पूर्वक अन्य तरीक़ों में फिर कभी न जायगा और अपने मित्रों से यही कहेगा कि "हमें अपने परिश्रम का पूरा फल मिल गया।" हम इन बातों को अभी कह देते हैं कि आप इस योगीश्वासक्रिया के सिद्ध करने की आवश्यकता और मुख्यता को पूरी तरह से समझ जायँ, और इसे छोड़कर इस किताब की आगे लिखी हुई क्रियाओं में से किसी चित्ताकर्षक क्रिया में न लिपट जायँ। हम फिर आपसे कहते हैं कि सही रीति से कार्य आरम्भ कीजिए तो सही नतीजा मिलेगा, परन्तु यदि आप नींव ही के साथ लापरवाही करेंगे तो आपका सारा भवन, शीघ्र ही या देर में, ढह जायगा।

योगियों की पूरी साँस कैसे प्राप्त की जाय इसकी शिक्षा देने के लिये यह बेहतर होगा कि पहले केवल श्वास ही के विषय में सरल उपदेश दे दिए जावें और तब इसके पश्चात् उसके सम्बध में साधारण ध्यान देने योग्य बातें बतलावें और तब आगे चलकर छाती, मांसपेशियों और फेफड़ों को, जो अधूरी साँस लेने से संकुचित दशा में पड़े हुए हैं, पूरा विकसित करने के लिये अभ्यास अर्थात् कसरतें दें। ठीक इसी स्थान पर हम यह कह दिया चाहते हैं कि यह पूरी साँस ज़बरदस्ती की, या अस्वाभाविक बात नहीं है, किंतु, इसके विपरीत मूल नियमों पर लौटना, प्रकृति के मार्ग पर वापस आना है। स्वस्थ युवक जंगली और स्वस्थ सभ्यता का बच्चा दोनों इसी प्रकार साँस लेते हैं; परन्तु सभ्य मनुष्य ने जीवन की अस्वाभाविक रीतियों को रहन, चलन और वस्त्र पहनने आदि में ग्रहण कर लिया है और अपनी नैसर्गिक स्थिति को खो दिया है। और

हम पाठकों को यह भी स्मरण दिलाया चाहते हैं कि पूरी साँस का अर्थ यह नहीं है कि प्रत्येक श्वास में फेफड़े पूरी तरह से हवा से भरे जायँ। मनुष्य श्वास द्वारा हवा की साधारण ही मात्रा, इस पूरी साँस की क्रिया द्वारा खींचकर, चाहे हवा की मात्रा थोड़ी हो या बहुत हो, फेफड़े के सब भागों में वितरित कर सकता है। परन्तु दिन में कई बार तो अवश्य, जब-जब अवसर मिले, शरीर-यन्त्र को अच्छी तरतीब और दशा में रखने के निमित्त खूब हवा भरकर पूरी पूरी साँस लेना ही होगा।

नीचे लिखी हुई सादी कसरत से आपको साफ़ विदित हो जायगा कि पूरी साँस क्या चीज़ है—

(१) अकड़कर सीधे खड़े हो जाओ या बैठो। नाक के द्वारा धीरे धीरे हवा भीतर खींचो, पहले फेफड़ों के नीचेवाले भाग को हवा से भरो, जो पेट और छाती को पृथक् करनेवाली चद्दर को काम में लाने से होता है, जिससे पेट के अवयवों पर थोड़ा दबाव पड़ता है और पेट का अगला भाग ज़रा बाहर आगे की ओर निकल आता है, तब फेफड़ों के मध्य भाग में, नीचेवाली पसलियों, छाती की हड्डी और छाती को फैलाकर हवा भरो। फिर ऊपरी छाती को आगे निकालकर, और इस तरह से छाती को ऊपर उठाकर जिसके साथ ऊपरी ६ या ७ जोड़े पसलियों के भी हों, फेफड़ों के ऊपरी भाग में हवा भरो। अन्तिम क्रिया में पेट का नीचेवाला भाग कुछ भीतर की ओर दब जायगा, जिस गति से फेफड़ों को आधार मिल जायगा और फेफड़ों के ऊँचे-से-ऊँचेवाले भाग के भरने में भी सहायता मिल जायगी।

पहले पढ़ने में तो ऐसा मालूम होगा कि इस श्वास में पृथक् पृथक् तीन गति हैं। परन्तु यह बात सही नहीं है। श्वास का खींचना लगातार होता रहता है, छाती का पूरा खोलना, नीचे दबी हुई पूर्व कथित चद्दर से लेकर ऊपर छाती के सबसे ऊपरवाले

भाग तक, जो हँसली की हड्डी के स्थान में है, समगति से फैलता जाता है। हिचक-हिचककर साँस मत खींचना। धीमी लगातार एक क्रिया बनाने का यत्न करो। अभ्यास द्वारा, इस साँस की क्रिया को तीन भागों में बाँटने की इच्छा हट जायगी और एक रस लगातार साँस हो जायगी। थोड़े ही अभ्यास के बाद आप दो सेकड में पूरी साँस भीतर खींच सकेंगे।

(२) श्वास को भीतर ही कुछ क्षण तक रोक रक्खो।

(३) छाती को स्थिर दशा में रखकर धीरे धीरे श्वास बाहर निकालो, श्वास बाहर निकलते समय ज्यों-ज्यों हवा बाहर निकले त्यों-त्यों पेट भीतर दबता जाय, जब हवा कुल निकल जाय छाती और पेट को ढीला कर दो। थोड़े अभ्यास से कसरत का यह भाग आसान हो जायगा, और जब एक बार गति प्राप्त हो जायगी तब पश्चात् तनिक इच्छा करने से यह आप-से आप हुआ करेगी।

यह बात देखने में आवेगी कि साँस के इस तरीक़े से श्वास लेने का सारा यंत्र काम में लाया जाता है, और फेफड़ों के कुल भागों को जिनमें दूर-से-दूर की भी हवा की कोठरी शामिल है, कसरत मिल जाती है। छाती का खोखला चारो ओर फैल जाता है। आप यह भी देखेंगे कि पूरी साँस वस्तुत नीची, मध्य और ऊँची तीनों साँसों की मिलावट है जो ऊपर दिए हुए क्रम से एक दूसरे के पश्चात् शीघ्रता से इस तरह जारी रहती है कि जिससे एक सम, लगातार, पूरी साँस बन जाती है।

यदि आप बड़े शीशे के सम्मुख इस श्वास का अभ्यास करेंगे तो आपको बड़ी सहायता मिल जावेगी, और यदि आप हाथों को पेट के ऊपर रक्खे रहेंगे तो आपको गति भी मालूम देगी। श्वास खींचने के अंत में कभी कभी कंधों को थोड़ा ऊपर उठा देना अच्छा होता है, इस तरह हँसली की हड्डी उठ के जाने से दहने फेफड़े की

ऊपरी छोटी नलरी में भी हवा प्रवेश कर जाती है ; यही स्थान कभी कभी ट्यूबरक्यूलोसिस (Tuber culosis)-नामक बीमारी के फैलने की जगह है ।

अभ्यास के शुरू में पूरी साँस को प्राप्त करने में कुछ थोड़ी बहुत दिक़्क़त मालूम देगी, परंतु थोड़े ही अभ्यास से आप पक्के हो जायँगे, और जब आप इसे एक बार प्राप्त कर लेंगे तब फिर साँस की पुरानी रीतियों में न जायँगे ।

पंद्रहवाँ अध्याय

सही साँस लेने का प्रभाव

पूरी साँस लेने से जो लाभ होते हैं उनकी महिमा जितनी ही कही जाय थोड़ी है। जिस शिष्य ने पहले के सफ़हों को ध्यान से पढ़ लिया है उसको तो हम समझते हैं कि इन लाभों को गिनाने की शायद ही आवश्यकता हो।

पूरी साँस के अभ्यास से पुरुष या स्त्री क्षयी रोग और अन्य फेफड़ों के रोगों से निर्भय हो जाते हैं, सर्दी ज़ुकाम होने की सम्भावना ही नहीं रहती और इसी प्रकार श्वास की नलियों के रोगों का भय जाता रहता है। क्षयी रोग क्षीण जीवट के कारण, जो श्वास में कम हवा खींचने से हो जाता है, होता है। जीवट की क्षीणता से शरीर-यंत्र, कीटाणुओं के हमलों के लिये अपना द्वार खोल देता है। अधूरी साँस लेने से फेफड़ों का एक बड़ा भाग निष्क्रिय हो जाता है, और ऐसे ही भाग कीटाणुओं को न्योता देते हैं, जो पहले निर्बल रेशों पर हमला करके बहुत शीघ्र बर्बादी की धूम मचा देते हैं। फेफड़ों के अच्छे स्वस्थ रेशे कीटाणुओं से लड़ जाते हैं, और फेफड़ों के रेशों को अच्छे और स्वस्थ बनाने का एक-मात्र उपाय यही है कि फेफड़ों से समुचित कार्य लिया जाय।

क्षयी रोगवाले मनुष्य प्राय सब संकीर्ण छाती के होते हैं। इसका क्या अर्थ है? इसका केवल यही अर्थ है कि ये मनुष्य अनुचित रीति से साँस लेने की आदत में पड़ गए थे और इसलिये इनकी छाती न तो विकसित हो सकी और न फैल सकी। जो मनुष्य पूरी साँस का अभ्यास रखता है उसकी पूरी चौड़ी छाती होती है, संकीर्ण

छातीवाला मनुष्य भी यदि इस रीति से साँस लेने का अभ्यास करेगा तो उसकी छाती भी विकसित होकर स्वाभाविक विस्तार को पहुँच जायेगी। ऐसे मनुष्य यदि अपने जीवन का आदर करते हैं तो उन्हें छाती के खोखले को विकसित करना चाहिए। जब कभी आपको मालूम हो कि आप अनुचित रीति से सर्दी खा रहे हैं और ज़ुकाम होने की सम्भावना है तो आप ख़ूब ज़ोर से पूरी साँस का अभ्यास करके ज़ुकाम को रोक सकते हैं। यदि बहुत सर्दी खा गए हों तो कुछ मिनट तक ख़ूब अच्छी तरह पूरी साँस लीजिए जिससे आपका सारा शरीर तमतमा जायगा। बहुत-से ज़ुकाम पूरी साँस और अधूरे भोजन द्वारा अच्छे किए जा सकते हैं।

रुधिर की उत्तमता अधिकांश उसकी फेफड़ों में उचित रीति से आक्सीजन से मिश्रित होने पर अवलंबित है, यदि उसमें आक्सीजन थोड़ी मात्रा में मिलता है तो वह ख़राब हो जाता है, और अनेक प्रकार की गदगियों से भर जाता है, और शरीर-यंत्र पोषण के अभाव से हानि उठाता है और रुधिर से गदगियों के न दूर होने के कारण वस्तुतः विषैला हो जाता है। चूँकि सारा शरीर, प्रत्येक इन्द्रिय और प्रत्येक अवयव पोषण के लिये रुधिर पर अवलंबित है, इस लिये अस्वच्छ रुधिर का प्रभाव सारे शरीर-यंत्र पर अवश्य बहुत बुरा असर डालेगा। उपाय बहुत सरल है—योगी की पूरी साँस का अभ्यास कीजिए।

अनुचित साँस लेने से आमाशय और अन्य पोषण के अवयव हानि उठाते हैं। आक्सीजन की कमी के कारण केवल वे अपुष्ट ही नहीं रहते, किन्तु, चूँकि पचने और शरीर में अपनाए जाने के पहले भोजन का रुधिर में से आक्सीजन लेना अत्यंत आवश्यक है, इस लिये यह बात स्पष्ट है कि अधूरी साँस से पाचन और अपनाने की क्रियाएँ कितनी निर्बल हो जाती हैं। और जब अपनाना अर्थात

रसग्रहण की क्रिया स्वाभाविक और ठीक नहीं रहती, तब शरीर के पोषण में दिन पर दिन कमी होती जाती है, भूख मंद पड़ जाती है, शारीरिक बल घट जाता है और शक्ति क्षीण हो जाती है और मनुष्य सूखने और हीन होने लगता है। ये सब बातें उचित साँस के अभाव से होती हैं।

अनुचित साँस से नाड़ियाँ अर्थात् ज्ञान और शक्ति के तंतु भी हानि उठाते हैं, क्योंकि मस्तिष्क, मेरुदंड, नाड़ीकेंद्र और स्वयं नाड़ियाँ भी, जब रुधिर द्वारा अधूरा पोषण पाती हैं तब शक्ति की धाराओं को उत्पन्न करने, संचय करने और प्रवाहित करने का अयोग्य औज़ार बन जाती हैं। और यदि पुष्कल आक्सीजन फेफड़ों द्वारा ग्रहण न किया जायगा तो वे अवश्य अपुष्ट रह जावेंगी। इस विषय का एक और भी पटल है कि यदि उचित साँस न ली जायगी तो नाड़ियों की शक्ति धाराएँ, बल्कि यों कहिए कि स्वयं वह शक्तियाँ जिनसे कि धाराएँ उत्पन्न होती हैं, क्षीण हो जाती हैं, परंतु यह एक पृथक् ही विषय है जिसका वर्णन इस किताब के अन्य अध्यायों में किया गया है; और यहाँ हमारा यह अभिप्राय है कि आपके ध्यान को इस बात की ओर आकर्षित करें कि अनुचित साँस के कारण नाड़ीजाल की कारीगरी शक्ति संचालन करने की क्रिया में असमर्थ होती जाती है।

पूरी साँस के अभ्यास करने के अभ्यास में श्वास द्वारा हवा भीतर खींचते समय, छाती और पेट को पृथक् करनेवाली चद्दर सिकुड़ती है और यकृत् आमाशय तथा अन्य अवयवों पर हलका दबाव डालती है, जो क्रिया फेफड़ों की गति के ताल से मिलकर इन अवयवों को मुलायमियत से मर्दन किया करती है, और उनकी क्रियाओं को उत्तेजित करती है। और उनके स्वाभाविक कार्यों को उत्साहित करती है। प्रत्येक श्वास का खींचना इस भीतरी, कसरत में सहायता

पहुँचाता है और पोषण तथा मलत्याग के अवयवों में स्वाभाविक रुधिर सचार करके मदद करता है। ऊँधा और मध्य साँसों में हम भीतरी मर्दन के लाभों से अवयव वंचित ही रह जाते हैं।

आजकल पश्चिमी ससार शारीरिक शिक्षा की ओर बहुत ध्यान दे रहा है, यह बड़ी अच्छी बात है। परन्तु अपने इस प्रबल उत्साह में वह इस बात को न भूल जाय कि बाहरी ही मांसपेशियों की कसरत ही सब कुछ नहीं है। भीतरी अवयवों को भी व्यायाम की आवश्यकता है, और इस व्यायाम के लिये प्रकृति का उद्देश पूरी साँस का लेना है।

प्रकृति का प्रधान औज़ार, इस व्यायाम के लिये, छाती और पेट के बीचवाली मांस की चद्दर है। इसकी गति से पोषण और मलत्याग के प्रधान प्रधान अवयव सचालित होते रहते हैं; और यह प्रत्येक श्वास और प्रश्वास में उन्हें दबाती और मर्दन करती है, उनमें रुधिर प्रवाहित करती और फिर निचोड़ डालती है, जिससे अवयवों में शक्ति भरी रहती है। कोई अवयव या शरीर का भाग क्यों न हो यदि उसका व्यायाम न होगा तो वह शनै-शनै बेकाम हो जायगा, और अपना काम न करेगा; और चद्दर की क्रिया द्वारा भीतरी व्यायाम को न कराने से बीमारी की दशा उत्पन्न हो जाती है, पूरी साँस कथित चद्दर को मुनासिब हरकत देती है और मध्य तथा ऊपरी छाती को काम देती है। यह अपनी क्रियाओं द्वारा सच मुच "पूरी" है।

केवल पश्चिमी ही शारीरशास्त्र की दृष्टि से, बिना पूर्वीय विज्ञान और दर्शनों के सबध के, यह योगियों की पूरी साँस की क्रिया, प्रत्येक पुरुष, स्त्री और बच्चे के लिये, जो स्वास्थ्य को प्राप्त और सचित किया चाहता है, अत्यंत आवश्यक है। इसकी सरलता ही के कारण सहस्रों मनुष्य इस पर ध्यान नहीं देते, और पैदावे तथा

ख़र्चीले तरीक़ों से स्वास्थ्य की तलाश में भंडार का भंडार धन ख़र्च कर देते हैं। स्वास्थ्य तो द्वार पर उपस्थित है, और वे ध्यान नहीं देते। सच है जिस पत्थर को थवई अस्वीकार करता है, वही पत्थर स्वास्थ्य-मंदिर के प्रधान कोने पर का पत्थर है।

सोलहवाँ अध्याय

श्वास के अभ्यास

हम नीचे श्वास की तीन रीतियाँ बतलाते हैं, जो योगियों को बहुत प्यारी हैं। पहली तो विख्यात योगियों की, साफ़ करनेवाली श्वासक्रिया है जिसके द्वारा योगियों के फेफड़े इतने सुदृढ़ और बलवान् हो जाते हैं। वे लोग इस साफ़ करनेवाली श्वासक्रिया द्वारा प्रत्येक श्वास के अभ्यास को समाप्त करते हैं, और हमने इस किताब में इसी तरीक़े को अनुसरण किया है। हम योगियों के उस अभ्यास को भी देते हैं, जिससे नाड़ियों में शक्ति सञ्चालित होती है, और जो अभ्यास युगों से उनमें प्रचलित चला आता है, और जिसमें पश्चिमी स्वास्थ्याचार्य लोग कुछ भी अधिक न जोड़ सके, यद्यपि कुछ लोगों ने योगाचार्यों से लेकर इसे अपनी पद्धति में मिला लिया है। हम योगियों की आवाज़ साफ़ करनेवाली कसरत को भी देते हैं, जो अच्छे पूर्वी योगियों की मधुर और प्रबल वाणी का कारण है। हम तो यह समझते हैं कि यदि इस किताब में इन तीन कसरतों के अलावा और कुछ न होता तो भी यह किताब हमारे शिष्यों के लिये बहुमूल्य होती। इन कसरतों को हमारी ओर से उपहार या प्रसाद समझकर ग्रहण कीजिए और इनका अभ्यास कीजिए।

योगी की साफ़ करनेवाली श्वासक्रिया

योगी लोग एक प्रकार की श्वासक्रिया का, बड़े मज़े से, उस समय अभ्यास करते हैं जब उन्हें फेफड़ों को साफ़ करने या फेफड़ों

में हवा को प्रवाहित कर देने की आवश्यकता होती है। वे अपनी और श्वासक्रियाओं के प्रत्येक अभ्यासों के अंत में भी इसे करते हैं, और हमने इस किताब में इसी रीति का अनुसरण किया है। यह सफ़ाई की श्वासक्रिया फेफड़ों को साफ़ करती है और उनमें हवा प्रवाहित कर देती है; और यह फेफड़ों की हवावाली कोठरियों को उत्तेजित करती है और श्वास लेने के अवयवों को चौकन्ना बना कर उनको स्वस्थ दशा में रखने की चेष्टा करती है। इन बातों के अतिरिक्त यह क्रिया सारे शरीर को बहुत ताज़ा कर देनेवाली पाई गई है। वक्ता लोगों और गवैयों के जब श्वास के अवयव थक जावें तब इसे वे बहुत सुखदायिनी पावेंगे।

(१) पूरी साँस भीतर खींचो।

(२) कुछ सेकंड तक हवा को भीतर ही रोक रक्खो।

(३) अपने ओठों को वैसा बना लो जैसा सीटी बजाने में बनाते हो (परन्तु गालों को मत फुलाओ) तब ओठों के बीचवाले छिद्र से बड़े ज़ोर से थोड़ी हवा बाहर फेंको। क्षण भर ठहर जाओ, हवा रोके रहो, और फिर थोड़ी और हवा ज़ोर से फेंको। तब तक थोड़ा रुक-रुककर यही क्रिया करते जाओ, जब तक कुल हवा निकल न जाय। याद रक्खो कि ओठों के बीच के छिद्र से हवा निकालने में बहुत बड़ा ज़ोर लगाना चाहिए।

जब मनुष्य थककर सुस्त हो गया हो उस समय यह क्रिया बहुत ही ताज़गी देनेवाली पाई जायगी। एक बार परीक्षा करने से शिष्य उसके गुणों को भली भाँति समझ जायगा। इस कसरत का तब तक अभ्यास करते जाओ जब तक यह स्वाभाविक रीति से और सरलता पूर्वक न होने लगे, क्योंकि यह इस किताब में दी हुई अनेकों कसरतों में प्रत्येक के अंत में की जाती है, और इसलिये इसे बहुत अच्छी तरह से सिद्ध कर लेना चाहिए।

योगियों की नाडी-बलविधायिनी श्वासक्रिया

यह योगियों की भला भाँति जानी हुई कसरत है, वे इसे मनुष्य के लिये सबसे बडी नाडियों को उत्तेजित करनेवाली और शक्ति देने वाली क्रिया (महौषधि) समझते हैं। इसका अभिप्राय नाडीजाल को उत्तेजित करना और नाडीबल शक्ति, तथा जीवट को विकसित और पुष्ट करना है। इस अभ्यास म नाडीकेंद्रों में उत्तेजक दबाव का प्रभाव पडता है, जिससे सारा नाडीजाल उत्तेजित और शक्तिसंपन्न हो जाता है, और जिससे सारे शरीर में नाडीबल का अधिक प्रभाव फैल जाता है।

(१) सीधे खडे हो।

(२) पूरी साँस खींचो और उसे रोक रक्खो।

(३) अपनी भुजाओं को अपने सामन सीधा फैलाओ, वे कुछ ढीली रहें, बहुत तनी न रहें, उनमें कवल इतना ही बल दिया जाय कि व फैली रहें।

(४) धीरे धीरे हाथों को कधों की ओर खींचो, शनै-शनै मांसपेशियों को सकुचित करते जाओ और उनमें बल देते जाओ, जिससे कि कंधों तक पहुँचते-पहुँचते मुट्ठियाँ इतनी कडी बँध जायँ कि उनमें कँपकँपी की गति आ जाय।

(५) तब मांसपेशियों को कडी ही रखते हुए, मुट्ठियों को धीरे धीरे आगे फैलाओ, और बडी तेज़ी से पीछे लाओ (कडी ही रक्खे हुए) ऐसा कई बार करो।

(६) मुँह की राह ज़ोर से हवा छोड दो।

(७) फेफडों को साफ़ करनेवाली श्वासक्रिया कर डालो।

इस कसरत की खूबी मुट्ठियों को पीछे खींचनेवाली तेज़ी पर, मांसपेशियों में लगाए हुए ज़ोर पर और फेफडों को हवा से भरे रहने पर अवलंबित है। इस कसरत की परीक्षा ही करने से इसकी

महिमा का अनुभव होगा। यह विश्राम देने में अद्वितीय है, जैसा कि पश्चिमी मित्र कहा करते हैं।

योगियों की वाणीविधायिनी श्वासक्रिया

योगी लोग वाणी शुद्ध करने के लिये भी एक रीति की श्वास-क्रिया करते हैं। वे अपनी आश्चर्यजनक आवाज़ के लिये विख्यात होते हैं, जो दृढ़, सुचिक्कन, साफ़ और तुरही के शब्द की भाँति दूर तक पहुँचनेवाली होती है। वे इसी विशेष रूप की श्वासक्रिया का अभ्यास किए हुए हैं जिससे उनकी आवाज़ मधुर, सुंदर लोचदार हो गई और उसमें यह वर्णनातीत विशेष प्रवाहिनी होने का गुण आ गया है और इतनी शक्ति भर गई है। नीचे दी हुई कसरत एक समय में उन सब गुणों को देवेगी यदि शिष्य जी लगाकर इस क्रिया का अभ्यास करेंगे। यह बात समझ रखना चाहिए कि इस रीति की श्वासक्रिया का कभी-ही-कभी अभ्यास करना चाहिए और इसे श्वास लेने का एक तरीक़ा ही न बना लेना चाहिए।

(१) पूरी साँस बहुत धीरे धीरे पर लगातार नाक द्वारा खींचो, और श्वास खींचने में जितना समय लेते बने, लो।

(२) कुछ सेकंड तक उसे रोक रक्खो।

(३) बड़े ज़ोर से एक ही झोंके में कुल हवा ख़ूब मुँह फैलाकर छोड़ दो।

(४) साफ़ करनेवाली श्वासक्रिया द्वारा फेफड़ों को आराम दे दो।

बोलने और गाने में कैसे शब्द उत्पन्न किया जाता है उसके विषय में योगियों के गहन विचारों में प्रवेश न करके हम यह कहना चाहते हैं कि तजरबे से उन्हें विदित हुआ है कि आवाज़ का स्वर, राग और शक्ति केवल गले के शाब्दिक अवयवों ही पर अवलंबित नहीं है, किंतु, चेहरे की मांसपेशियों आदि भी इस विषय में अधिक

प्रभाव रखती हैं। बहुत-से चौड़ी छातीवाले केवल धीमी आवाज़ पैदा करते हैं और अन्य छोटी छातीवाले आश्चर्यजनक बल और गुण की आवाज़ पैदा करते हैं। यह एक मनोरंजक उदाहरण परीक्षा करने के योग्य है। एक आइने के सामने खड़े हो, और मुँह बटोरकर सीटी बजाओ और मुँह की सूरत और चेहरे की आकृति को स्मरण रखो, तब बोलो अथवा गाओ, जैसा तुम स्वभावत बोला या गाया करते हो और तब उनके अंतर पर ध्यान दो। तब फिर कुछ पल तक सीटी बजाओ और तब बिना ओठों और चेहरे की स्थिति बदले हुए कुछ गाओ और देखो कि कैसा लचीला, मधुर, साफ़ और सुंदर स्वर उत्पन्न होता है।

नीचे लिखी हुई योगियों की सात कसरतें फेफड़ों, मांसपेशियों, अँथियों और हवा की कोठरियों आदि को विकसित करनेवाली हैं। ये बहुत ही सरल पर आश्चर्यजनक रीति से लाभदायिनी हैं। इसकी सरलता के कारण तुम इनसे विमुख मत हो, क्योंकि ये योगियों की सावधानी की परीक्षाओं और अभ्यासों का प्रतिफल हैं और अनेक पेचीदा कसरतों का सारांश हैं; अनेक कसरतों के अनावश्यक भागों को छोड़कर केवल आवश्यक भागों से ही ये कसरतें बनी हैं।

(१) श्वास का रोकना

यह बहुत ही मुख्य कसरत है जो श्वास लेनेवाले अवयवों और फेफड़ों को विकसित और पुष्ट करती है और इसके अधिक अभ्यास से छाती भी फैलती है। योगियों को यह बात विदित हुई है कि कभी-कभी फेफड़ों को हवा से ख़ूब भरकर श्वास को रोक रखने से बड़ा ही लाभ होता है, केवल श्वास ही लेने के अवयवों को नहीं, किंतु, पोषण के अवयवों, नाड़ीजाल और रुधिर को भी। उन्हें यह विदित हो गया है कि श्वास को समय-समय पर रोक रखने से उस

हवा की सफ़ाई हो जाती है जो पहली साँसों की हवा फेफड़ों में शेष रह गई रहती है ; और रुधिर में अच्छी तरह से आक्सीजन मिश्रित हो जाता है। वे यह भी जानते हैं कि इस प्रकार से रोकी हुई हवा कुल रही पदार्थों को बटोर लेती है और जब श्वास बाहर निकाली जाती है तो अपने साथ शरीर-यंत्र के इन निकम्मे द्रव्यों को बाहर लिए जाती है और फेफड़ों को उसी प्रकार साफ़ करती है जैसे अँत ड़ियों को जुल्लाब साफ़ करता है। योगी लोग इस कसरत का उप देश आमाशय, यकृत् और रुधिर के अनेक विकारों में करते हैं, और यह भी जाना गया है कि इससे साँस का बदबूपन, जो फेफड़ों में कम हवा जाने से उत्पन्न होता है, दूर हो जाता है। हम शिष्यों से आग्रह करते हैं कि वे इस अभ्यास पर अच्छी तरह से ध्यान दें क्योंकि इसमें बड़े बड़े गुण हैं। नीचे लिखी हुई शिक्षाओं से इस क्रिया का साफ़ अनुभव होगा—

(१) सीधे खड़े हो।

(२) पूरी साँस भीतर खींचो।

(३) तब तक श्वास को भीतर ही रोके रहो जब तक उसे आराम से रोक सको।

(४) खुले मुँह से श्वास को बाहर निकाल दो।

(५) साफ़ करनेवाली साँस की क्रिया कर डालो।

पहले तुम बहुत थोड़े अर्से तक श्वास को भीतर रोक सकोगे, परंतु थोड़े अभ्यास से तुम्हें बहुत उन्नति जान पड़ेगी। यदि अपनी उन्नति जानना चाहते हो तो घड़ी ले लो।

(२) फेफड़ों की कोठरियों को उत्तेजित करना

यह कसरत फेफड़ों की हवावाली कोठरियों को उत्तेजित करने के अभिप्राय से की जाती है; परंतु प्रारंभिक शिष्यों को इसमें अधिकता न करनी चाहिए और बड़े ज़ोर से तो इसे कभी भी न करना चाहिए।

किसी किसी को पहले इस क्रिया से चक्कर आने लगेगा, ऐसी दशा में उन्हें कसरत छोड़कर थोड़ा उसी जगह टहल लेना चाहिए।

(१) सीधे खड़े हो।

(२) धीरे धीरे शनैः-शनैः श्वास भीतर खींचो।

(३) श्वास भीतर खींचते समय हाथों की अँगुलियों के छोरों से छाती को ज़रा-ज़रा ठोंकते जाओ और ठोकने के स्थान को बदलते रहो।

(४) जब फेफड़े भर जावें हवा को भीतर रोक रक्खो और छाती पर हथेलियों से धीरे धीरे थापी दो।

(५) साफ़ करनेवाली क्रिया कर डालो।

यह कसरत सारे शरीर को सुख देनेवाली और उत्तेजित करने वाली है और यह योगियों का विख्यात अभ्यास है। अधूरी साँस लेने से फेफड़ों की बहुत-सी हवा की कोठरियाँ क्रियाहीन हो जाती हैं और इसी से मृतप्राय हो जाती हैं। जिसने बरसों से अधूरी साँस लिया है उसे इन सब बिगड़ी हुई हवा की कोठरियों से पूरी साँस द्वारा एकबारगी पूरा काम लेना और उन्हें कार्य में उत्तेजित करना बहुत सरल न होगा, परंतु इस कसरत से धीरे धीरे यह अभीष्ट सिद्ध हो जायगा। यह कसरत अध्ययन और अभ्यास के योग्य है।

(३) पसलियों को लचीला बनाना

हम समझा आए हैं कि पसलियाँ मुलायम हड्डी (कुर्री) द्वारा जोड़ी गई हैं, जिनमें बहुत फैलाव हो सकता है। उचित साँस लेने में पसलियाँ प्रधान काम करती हैं, और उन्हें कभी-कभी विशेष अभ्यास दे देने से और उनके लचीलेपन को ठीक रखने से अच्छा ही होगा। अस्वाभाविक रीति से और बैठने और खड़े होने के कारण, जैसा कि रिवाज हो गया है, पसलियाँ सख़्त और बेलचीली हो जाती हैं। इस कसरत से यह दोष दूर हो जायगा।

(१) सीधे खड़े हो।

(२) हाथों को दोनों बग़लों पर एक-एक करके इतने ऊँचे काँखों के पास रक्खो जितने ऊँचे आराम से रख सको, अँगूठे पीछे की ओर हों, हथेलियाँ छाती की बग़लों पर हों और अँगुलियाँ आगे की ओर छाती पर हों।

(३) पूरी साँस भीतर खींचो।

(४) हवा को भीतर ही थोड़ी देर रोक रक्खो।

(५) तब धीरे धीरे छाती को दबाना शुरू करो और साथ ही श्वास को भी छोड़ते जाओ।

(६) सफ़ाई की क्रिया कर डालो।

इस अभ्यास को थोड़ा ही करना, इसमें अधिकता न करना।

(४) छाती का फैलाना

अपने काम पर झुके रहने से छाती संकीर्ण हो जाया करती है, इस कसरत से स्वाभाविक दशा प्राप्त होती है और छाती फैलती है।

(१) सीधे खड़े हो।

(२) पूरी साँस भीतर खींचो।

(३) हवा को भीतर ही रोक रक्खो।

(४) दोनों हाथों को आगे फैलाओ और दोनों बंद मुट्ठियों को कंधों की ऊँचाई के समान ऊँचाई पर रक्खो।

(५) ख़ूब झोंका देकर भुजाओं को सीधा पीछे बग़लों की ओर कंधों की सीध में लाओ।

(६) तब फिर स्थिति ४ में लाओ; फिर स्थिति ५ में ले जाओ। ऐसा कई बार करो।

(७) खुले मुँह से ज़ोर से साँस छोड़ दो।

(८) सफ़ाई की क्रिया कर डालो।

इसका कम ही-कम अभ्यास करना, अतिशय न करना।

(५) टहलनेवाली कसरत

(१) सिर ऊँचा, ठुड्डी तनिक भीतर खिंची हुई, कंधे पीछे दबे हों ऐसी स्थिति में बराबर क़दमों से टहलो।

(२) पूरी साँस भीतर खींचो, गिनते जाओ (मन ही-मन) १, २, ३, ४, ५, ६, ७, ८, एक गिनती एक क़दम पर जिससे ८ की गिनती तक श्वास का खींचना पूरा हो जाय।

(३) नाक द्वारा धीरे हवा को छोड़ो, पहले की भाँति गिनते जाओ—१, २, ३, ४, ५, ६, ७, ८—एक क़दम पर एक गिनती।

(४) श्वासों के बीच में बिना श्वास के रहो, चलना जारी रक्खो और गिनते जाओ १, २, ३, ४, ५, ६, ७, ८ एक क़दम पर एक गिनती।

(५) तब तक करते जाओ जब तक थकावट न मालूम होने लगे। फिर थोड़े अर्से तक आराम कर लो, और फिर ख़ुशी हो तो शुरू करो। दिन में कई बार ऐसा करो।

कोई कोई योगी १, २, ३, ४, की गिनती तक श्वास को भीतर ही रोके रहते हैं और फिर ८ तक की गिनती में छोड़ते हैं। जो तरीक़ा अधिक पसद पड़े उसी का अभ्यास करो।

(६) प्रात काल की कसरत

(१) अच्छी तरीक़े से सीधे खड़े हो, सिर ऊँचा, आँखें सामने, कंधे पीछे दबे, घुटने कड़े और हाथ बगलों में हों।

(२) पैर की अँगुलियों पर धीरे धीरे अपने शरीर को उठाओ, साथ ही-साथ पूरी साँस भी भीतर खींचते जाओ।

(३) श्वास को भीतर ही कुछ सेकंड तक रोक रक्खो, उसी स्थिति में बने रहो।

(४) धीरे धीरे पहली स्थिति में आओ, साथ ही धीरे धीरे नाक द्वारा श्वास भी छोड़ते जाओ।

(५) सफ़ाईवाली साँस की क्रिया कर डालो।

(६) कई बार इस क्रिया को करो, कभी अकेली बाईं टाँग से काम लो, कभी अकेली दाहनी टाँग से।

(७) रुधिरसंचार का उत्तेजित करना

(१) सीधे खड़े हो।

(२) पूरी साँस खींचो और रोको।

(३) थोड़ा आगे झुको और एक छड़ी या बेंत को दृढ़ता से पकड़ो, और शनैः-शनैः अपने कुल बल को उस पकड़ में लगा दो।

(४) पकड़ को छोड़ दो, पहली स्थिति में आ जाओ और धीरे धीरे श्वास को छोड़ो।

(५) कई बार ऐसा करो।

(६) सफ़ाईवाली क्रिया से समाप्त कर डालो।

यह कसरत बिना छड़ी और बेंत के भी हो सकती है; केवल कल्पित छड़ी को पकड़ो परन्तु बल पूरा लगाओ। यह कसरत रुधिर संचार को उत्तेजित करने के कारण योगियों को बहुत प्यारी है, क्योंकि इससे रुधिरापवाहक धमनियों का रुधिर छोरों की ओर दौड़ता है, और रुधिरोपवाहक शिराओं का रुधिर हृदय और फेफड़ों की ओर दौड़ता है, जिससे वह उस आक्सीजन को ग्रहण कर सके जो हवा के साथ श्वास द्वारा खींचा गया है। अधूरे संचार की दशा में फेफड़ों में पूरा रुधिर ही नहीं होगा कि जो आक्सीजन को ग्रहण कर सके और शरीर-यन्त्र पूरी साँस का पूरा लाभ नहीं उठा सकता। ऐसी दशाओं में विशेष करके, इस कसरत का कभी कभी पूरी साँस की कसरत के साथ अभ्यास कर लेना बहुत लाभदायक होगा।

सत्रहवाँ अध्याय

नाक और मुँह से श्वास लेना

योगियों के श्वासविज्ञान में पहली शिक्षाओं में सबसे प्रधान शिक्षा यह है कि नाक द्वारा सर्वदा साँस लेना चाहिए, और मुँह के द्वारा साँस लेने की आदत छोड़ देना चाहिए।

श्वास लेने के अवयव मनुष्य के शरीर में ऐसे बने हुए हैं कि वह नाक और मुँह दोनों द्वारों से साँस ले सकता है, परंतु किस द्वार से वह साँस ले यह विषय बहुत ही प्रधान है, क्योंकि एक द्वार से साँस लेन से तो स्वास्थ्य और बल का लाभ होता है और दूसरे द्वार स लेने से रोग और निर्बलता मिलती है।

मनुष्य के लिये साँस लेने का उचित तरीक़ा नाकों ही द्वारा साँस लेने का है, इस बात की शिक्षा देने की आवश्यकता न पड़ती, परंतु खेद है कि इस सीधी सादी बात में भी सभ्य मनुष्यों की मूर्खता आश्चर्यजनक है। हम सब प्रकार की जीविका के मनुष्यों में ऐसे मनुष्यों को पाते हैं जिनकी आदत मुँह ही से साँस लेने की है, और ये मनुष्य अपने बचों को भी मुँह से साँस लेने की पूरी इजाज़त-सा दे देते हैं जिससे उन्हें भी मुँह ही से साँस लेने की आदत पड़ जाती है।

सभ्य मनुष्यों की बहुत-सी बीमारियाँ निश्चय इसी मुँह से साँस लेने को प्रचलित रीति के कारण उत्पन्न हो जाती हैं। जिन बच्चों को मुँह से साँस लेने की सुविधा मिल जाती है, वे क्षीण औवट और निबल संगठन के साथ वृद्धि पाते हैं, और यौवनावस्था में स्वास्थ्य में गिर जाते हैं और जीर्ण रोगी हो जाते हैं। वहशी मनुष्य की माता बेहतर बर्ताव करती है, क्योंकि वह स्वाभाविक प्रकृति

का अनुसरण करती है, और वह अपने बच्चों को ऐसी रीति से रखती है कि वे अपने छोटे ओठों को बंद किए रहते हैं और नाक ही से साँस लेते हैं। जब बच्चा सो जाता है तो वह उसके सिर को आगे की ओर थोड़ा झुका देती है, जिस स्थिति से बच्चे का मुँह बंद हो जाता है। और उसे नथनों ही से साँस लेना आवश्यक हो जाता है। यदि हम लोगों की सभ्य माताएँ भी इसी तरकीब को ग्रहण कर लेतीं तो मनुष्य जाति का बड़ा उपकार हो जाता।

मुँह से साँस लेने की घृणित आदत से बहुत-सी सार्पकिक बीमारियाँ पैदा हो जाती हैं, इसी कारण से ज़ुकाम और फेफड़े संबंधी बीमारियाँ उत्पन्न होती पाई गई हैं। बहुत-से मनुष्य जो दिखावट के लिये दिन को मुँह बंद किए रहते हैं, रात को मुँह ही से साँस लेते हैं और इस तरह बहुधा बीमारी बुला लेते हैं। सावधानी से की गई वैज्ञानिक परीक्षाओं द्वारा जाना गया है कि वे जंगी सिपाही और जहाज़ी जो अपना मुँह खोलकर सोते हैं, सांपर्किक बीमारियों के आक्रमण में उन लोगों की अपेक्षा अधिक पड़ा करते हैं जो नथनों द्वारा उचित साँस लेते हैं। एक उदाहरण में यह बयान किया गया है कि एक बार एक जंगी जहाज़ में जो विदेश में था, शीतला की बीमारी बबा रूप में फैली, और इस बीमारी से जितनी मौतें हुईं सब उन्हीं मनुष्यों की हुईं जो मुँह से साँस लेनेवाले थे, नाक से साँस लेनेवाला एक मनुष्य भी न मरा।

श्वास लेने के अवयवों की रक्षा करने के साधन छन्ना और धूलनिवारक आदि नथनों ही में बने हैं। जब साँस मुँह से ली जाती है तो मुँह से लेकर फेफड़ों तक हवा को छाननेवाली या हवा की धूल और अन्य पदार्थों को रोक रखनेवाली कोई चीज़ नहीं है। मुँह से फेफड़ों तक धूल धक्कड़ और गंदी चीज़ों के लिये साफ़ रास्ता है और श्वास लेने का सारा औज़ार अरक्षित है।

इसके अतिरिक्त ऐसी अनुचित साँस से बहुत सर्द हवा भी फेफड़ों तक पहुँच जाती है। और उन्हें हानि पहुँचाती है। श्वास के अवयवों का सूज जाना प्राय मुँह से ठंडी हवा की साँस लेने से होता है। जो मनुष्य रात को मुँह से साँस लेता है वह सवेरे उठते ही मुँह में जलन और गले में सूखेपन का अनुभव करता है। यह प्रकृति के नियमों में से एक प्रधान नियम का उल्लघन कर रहा है और बीमारी का बीज बो रहा है।

एक बार फिर स्मरण कर लीजिए कि श्वास के अवयवों को रक्षित रखने के लिये मुँह में कोई साधन नहीं है; सर्द हवा, धूल धक्कड़, तरह-तरह की ख़राब चीज़ें और कीटाणु सरलता से उस द्वार में होकर फेफड़ों तक पहुँच सकते हैं। इसके विपरीत नथनों और नाक के भीतर की नलियों में प्रकृति ने इस विषय के सबंध में बड़ी सावधानी से इंतज़ाम कर दिया है। नथने बहुत सकीर्ण हुआ करते हैं और घूम-घुमाव के साथ नालियों द्वारा बने हैं, और द्वार पर ऐसे खड़े-खड़े अनगिनत बाल रखते हैं जो हवा को कूड़े करकट से साफ़ करने के लिये छन्ना और चलनी का काम देते हैं, जब श्वास बाहर आती है तब इस कूड़े करकट को लेती आती है। नथने केवल इसी मुख्य बात को नहीं करते, किन्तु वे श्वास में ली हुई हवा को गरम कर देने का भी एक प्रधान काम करते हैं। लंबी, तग और टेढ़ी-मेढ़ी गलियाँ गरम लसलसी झिल्ली से मढ़ी होती हैं, और जब हवा इनमें आती है तो गरम हो जाती है, जिससे वह गले और फेफड़ों के नाज़ुक अवयवों को हानि पहुँचाये।

मनुष्य को छोड़कर और कोई जानवर मुँह खोलकर नहीं सोता और न मुँह से साँस लेता, और असल में यह विश्वास किया जाता है कि केवल सभ्य ही मनुष्यों ने प्रकृति की क्रियाओं का अपरोक्षण किया है, और बहशी जातियाँ तो सर्वदा सही साँस लेती हैं। यह

सम्भव है कि मनुष्यों ने यह अस्वाभाविक आदत अस्वाभाविक रहन, निर्बलकारी विलास और अधिक उष्णता के कारण प्राप्त की हो।

नथनों के साफ़ करने, छानने और चालनेवाले यन्त्र के कारण हवा गले और फेफड़ों के नाज़ुक अवयवों में जाने के योग्य हो जाती है; क्योंकि जब तक वह प्रकृति के साफ़ करनेवाले यन्त्र से साफ़ नहीं की जाती तब तक वह इन अवयवों में पहुँचने के योग्य नहीं होती। जो कूड़ा करकट नथनों की चलनियों और आर्द्र झिल्लियों द्वारा रोक लिए जाते हैं, वे बाहर आनेवाली साँस के साथ बाहर निकाल दिए जाते हैं, और यदि वे बहुत शीघ्रता से एकत्र हो जायँ या चलनियों से बचकर भीतर चले जायँ तो प्रकृति छींक पैदा करके, जो धक्का देकर इन्हें बाहर निकाल फेंकती है, हमारी रक्षा करती है।

हवा जब फेफड़ों में प्रवेश करती है तो बाहरी हवा से उतना भिन्न हो जाती है, जितना भभके से साफ़ किया हुआ पानी चहबच्चे के पानी से भिन्न होता है। नथनों की पेचीदा साफ़ करनेवाली कारीगरी, जो हवा की गदगियों और मैल को बाहर ही पकड़कर रोक रखती है, उतनी ही प्रधान है, जितनी मुँह की क्रिया छोटे फलों के बीज और मछलियों के काँटों आदि को पकड़कर आमाशय में जाने से रोक रखने में प्रधान है।

मुँह से श्वास लेने में और एक यह दोष है कि नथनों की नलियाँ कम व्यवहार में आने के कारण साफ़ और निष्कटक नहीं रह सकतीं और वे मैली होकर बद पड़ जाती हैं और बीमारी में मुब्तिला हो जाती हैं। जैसे आवागमन न होने से सड़कों पर घास और झाड़झंखाड़ उग आते हैं, वैसे ही व्यवहार में न लाए जाने से नथने भी कूड़े कर कट से भर जाते हैं।

जिस मनुष्य को नाक ही से साँस लेने की आदत है वह बद और जकड़ी हुई नाकों से दुखी नहीं हो सकता; परंतु उनके लाभ के

लिये, जो थोड़ा बहुत मुँह से साँस लेने के आदी हैं, और जो स्वाभाविक और सही तरीक़े से साँस लिया चाहते हैं नथनों के साफ़ करने का रास्ता बतला देना अच्छा होगा कि नथने साफ़ और कूड़ा करकट से रहित हो जायँ।

योगियों की प्रचलित रीति यह है कि नाक से थोड़ा पानी ऊपर को चढ़ा लें और उसे गले में उतार दें, जहाँ से वह मुँह की राह बाहर निकाल दिया जा सकता है। कोई हिंदू योगी पानीभरे बर्तन में अपना चेहरा डुबो देते हैं और नाक से पानी खींचते हैं, परंतु इस तरीक़े में अधिक अभ्यास की आवश्यकता है, और पहली रीति इससे अधिक आसान और इतनी ही लाभदायक है।

दूसरी अच्छी विधि यह है कि खिड़की खोल लें और उसके पास बैठकर ख़ूब स्वच्छंदता से साँस लें, एक नथने को उँगली या अँगूठे से बंद करके दूसरे से हवा भीतर खींचें फिर उस बंद करके पहले से हवा खींचें। इसी प्रकार नथनों को बदलते हुए बड़ी देर तक साँस लेते रहें। यह रीति भी नथनों को बाधाओं से रहित बना देगी।

हमने शिष्यों से नाक द्वारा साँस लेने का, यदि उनकी आदत ऐसी न हो तो, आग्रह करते हैं और उन्हें समझाए देते हैं कि इस बात को बहुत छोटी बात समझकर इसमें लापरवाही न करें।

अठारहवाँ अध्याय

शरीर के अणुजीव

हठयोग यह शिक्षा देता है कि जैसे भौतिक जड़ पदार्थ परमाणुओं से बने हैं वैसे ही यह शरीर देहाणुओं (Cells) से बना है, और प्रत्येक देहाणु अपने में एक अणुजीव धारण किए है, जो देहाणु की क्रियाओं पर शासन करता है। ये जीव, अल्पमात्रा में विकास पाए हुए चैतन्य मानस के अल्प अंश को धारण करते हैं जिसकी चेतना से प्रत्येक देहाणु अपना कार्य उचित रीति से करता है। ये चेतनांश मनुष्य के केंद्रवर्ती मन के आधीन होते हैं, इसमें संदेह नहीं; और जब कभी चेतनापूर्वक या अचेतनावस्था में सदर से आज्ञा होती है तो उसका पालन करते हैं। ये अणुजीव चेतनाएँ अपने अपने कार्यों में पूरी योग्यता दिखलाती हैं। इन देहाणुओं की चुननेवाली क्रिया, जिसके द्वारा ये रुधिर से आवश्यक पोषण को तो खींच लेते हैं और अनावश्यक द्रव्यों को छोड़ देते हैं, इस चेतना का एक अच्छा उदाहरण है, पाचन और रसाकर्षण आदि की क्रिया देहाणुओं की चैतन्यता दिखलाती है, ये देहाणु चाहे पृथक् पृथक् या अनेक समुदायों म गोल बाँधे हों। क्षत अर्थात् ज़ख्म का पूरा करना, देहाणुओं का शरीर के उस ओर दौड़ना जहाँ उनकी अत्यंत आवश्यकता है, और ऐसे सैकड़ों उदाहरण जो परीक्षा करनेवालों को विदित हैं, योगियों को यह सूचित करते हैं कि प्रत्येक देहाणु में जीव है। योगी की दृष्टि में प्रत्येक देहाणु एक जीवित वस्तु है जो अपना स्वतंत्र जीवन निर्वाह कर रही है। ये देहाणु किसी अभिप्राय से समुदाय बाँध लिया करते हैं, और प्रत्येक

समुदाय अपनी सामुदायिक चैतन्यता दिखलाता है, जब तक कि वह समुदाय बँधा रहता है, ये समुदाय फिर एकत्रित होकर बड़े पेचीदा-पेचीदा संगठन बनाते हैं, जिन संगठनों में कुछ उच्च कोटि की चेतनाएँ हुआ करती हैं।

जब पार्थिव शरीर की मृत्यु होती है तब ये देहाणु पृथक् और छिन्न भिन्न हो जाते हैं और तब सड़ना शुरू हो जाता है। वह बल, जिससे ये देहाणु एकत्र रक्खे गए थे, अब चला गया; और अब ये देहाणु स्वतंत्र हो गए कि अपनी अपनी राह लें अथवा नए समूह स्थापित करें। कुछ तो आस-पास के पौधों के शरीर में चले जाते हैं, और अंत में घूम फिरकर किसी जानवर के शरीर में आ जाते हैं; दूसरे पौधों ही की देह में बने रहते हैं, कुछ ज़मीन में पड़े रहते हैं; परंतु इन देहाणुओं के जीवन में अनंत और अनवरत परिवर्तन हुआ करते हैं। एक नामी लेखक ने कहा है कि 'मौत केवल जीवन का रूपांतर है, और एक पार्थिव रूप का नाश होना दूसरे के बनने की प्रस्तावना है।'' हम इस देहाणु जीवन की प्रकृति और क्रियाओं का संक्षिप्त वर्णन अपने शिष्यों को सुना देंगे कि शरीर के इन जीवाणुओं का जीवन कैसा होता है।

शरीर के देहाणुओं में तीन तत्त्व होते हैं—(१) द्रव्य, जिसे वे मनुष्य के खाए हुए अन्न से प्राप्त करते हैं; (२) प्राण अर्थात् जीवट शक्ति, जिससे वे कार्य करने में समर्थ होते हैं, और जिसे वे हमारे खाए हुए अन्न, पिए हुए पानी और साँस ली हुई हवा से लाभ उठाते हैं; (३) चेतना या चित्त जो सर्वव्यापक मन से ग्रहण किया जाता है। हम पहले इन अणुओं के जीवन के भौतिक भाग का वर्णन करेंगे।

जैसा हम ऊपर कह आए हैं, प्रत्येक जीवित शरीर नन्हे-नन्हे देहाणुओं का समूह है। यह शरीर के प्रत्येक भाग के संबंध में—

सख्त हड्डियों से लेकर मुलायम-से मुलायम रेशों तक—दाँत की कड़ी मदन से लेकर आर्द्र झिल्ली के नाज़ुक भागों तक—सही है। इन देहाणुओं की भिन्न-भिन्न शक्लें होती हैं, जो उनके विशेष कार्यों तथा क्रियाओं के अनुकूल होती हैं। प्रत्येक देहाणु, सब प्रकार से पृथक्-पृथक् व्यक्ति होते हैं, यद्यपि ये देहाणु समूह की चेतना के आधीन होते हैं, बड़ा समूह छोटे समूह पर शासन करता है; और अंत में मनुष्य का केंद्रस्थ मन सबके ऊपर निरीक्षण रखता है। संगठन का कार्य, या कम-से कम उसका अधिकांश भाग, प्रवृत्ति-मानस के अधिकार में होता है।

ये देहाणु सर्वदा कार्य में लगे रहते हैं, शरीर के सब कर्त्तव्यों का पालन किया करते हैं, प्रत्येक के ज़िम्मे अलग अलग काम होता है जिसे वे अपनी योग्यतानुसार पूरा पूरा करते रहते हैं। कुछ देहाणु फ़ाजतू रहते हैं और वे आज्ञा की प्रतीक्षा किया करते हैं और अकस्मात् जो कार्य आ जाय उसे करने के लिये तैयार रहते हैं। अन्य देहाणु क्रियाशील कामकाजी होते हैं और नाना प्रकार के स्रावों और द्रवों को बनाया करते हैं, जिनकी आवश्यकता देह की भिन्न भिन्न क्रियाओं में पड़ा करती है। कुछ देहाणु एकस्थानीय होते हैं—दूसरे आज्ञा की प्रतीक्षा में स्थायी रहते हैं पर आज्ञा पाते ही गमन कर देते हैं। कुछ देहाणु सर्वदा यात्रा किया करते हैं; इनमें कुछ यात्रा ही करते काम करते हैं और कुछ अणु अंतर दे देकर यात्रा करते हैं। इन यात्री अणुओं में कुछ तो भारवाहक होते हैं, कुछ यात्रा किया करते हैं, और मार्ग में जहाँ आवश्यकता देखते हैं वहाँ कार्य करके फिर आगे बढ़ते हैं, कुछ सफ़ाई के काम में लगे रहते हैं, कुछ के ज़िम्मे पुलिस का काम रहता है। देहाणुओं का जीवन, जब उनके कुल समूहों पर दृष्टि डाली जाय तो एक उपनिवेश की गवर्नमेंट के समान दिखलाई पड़ता है, जो गवर्नमेंट की सहकारिता और सह

योगिता के सिद्धान्तों पर चलाई गई हो। प्रत्येक देहाणु अपने कार्य का समूह भर क लाभ के लिये करता है, प्रत्येक अणु सबकी भलाई के लिये काम करता है, और सब मिलकर परस्पर भलाई का काम करते हैं। नाड़ीजाल के देहाणु शरीर के प्रत्येक भाग का ख़बर मस्तिष्क को पहुँचाते हैं, और मस्तिष्क की आज्ञा शरीर क प्रत्येक आवश्यक भागों में पहुँचाते हैं, ये तारबर्क़ी के जीवित तार हैं। नाड़ियाँ नन्हे-नन्हे देहाणुओं से बनी हुई हैं, इन देहाणुओं में सूँड के सदृश कुछ भाग निकला रहता है, एक की सूँड दूसरे को और दूसरे का तीसरे को स्पर्श किए रहती है, इस प्रकार शृंखला बन जाती और इसी शृंखला द्वारा प्राण गति करता है।

प्रत्येक मनुष्य के शरीर में लाखों-लाखों, करोड़ों-करोड़ों, देहाणु भारवाहक, चलते कामकाजी, पुलिसमैन, सिपाही आदि का काम करते रहते हैं; यह अनुमान किया गया है कि एक घन इन्च रुधिर में कम-से-कम ७५०००००००० केवल लाल-लाल देहाणु हैं। औरों के लेखे को छोड़िए! यह बड़ी विस्तृत जाति है।

रुधिर के लाल देहाणु, जो भारवाहक होते हैं, रुधिरापवाहक धमनियों और रुधिरोपवाहक शिराओं में बहा करते हैं, फुफ्फ़ुस से आक्सीजन लेकर शरीर क अंगों और प्रत्यंगों में पहुँचाया करते हैं, जिससे उन अंगों प्रत्यंगों को जीवन और शक्ति मिला करती है। जब रुधिरोपवाहक शिराओं द्वारा ये वापस आते हैं तो देह-यंत्र के निकम्मे द्रव्यों को लेते आते हैं, जिन्हें फेफड़ा बाहर फेंक देता है। तिजारती जहाज़ की भाँति ये जाते और आते दोनों सफ़र में बोझा लादते हैं। अन्य देहाणु धमनियों और शिराओं की दीवारों और रेशों में होकर घुस जाते हैं और मरम्मत आदि का कार्य, जिसके लिये व भेजे गए हैं, करने लगते हैं।

रुधिर क लाल देहाणुओं अर्थात् भारवाहकों के अतिरिक्त और भी

कई प्रकार के देहाणु रुधिर में होते हैं। इनमें पुलिसमैन और सिपाही बड़े ही मनोरंजक होते हैं। इन देहाणुओं का कार्य है कि ये देह-यन्त्र को उन कीटाणुओं से सुरक्षित रक्खें जिनसे शरीर में बीमारी या पीड़ा पहुँचने की आशंका हो। ज्यों ही कोई पुलिस देहाणु ऐसे कीटाणु को पाता है त्यों ही वह इससे लिपट जाता है और इसे निगल जाने की चेष्टा करता है, यदि यह बहुत बड़ा न हो। यदि यह बहुत बड़ा हुआ तो वह अन्य देहाणुओं को मदद के लिये बुलाता है, और यह संयुक्त सेना उस कीटाणु को पकड़े पकड़े देह यन्त्र के किसी छिद्र के पास ले जाती है और उसे बाहर निकाल देती है। फोड़े, फुंसियाँ आदि इसी प्रकार के कीटाणुओं के निकाले जाने के उदाहरण हैं, जहाँ ये शरीर-यन्त्र के पुलिसमैन विषैले कीटाणुओं को निकालते हैं।

रुधिर के लाल कीटाणुओं को बहुत काम करना पड़ता है। ये शरीर के अंगों में आक्सीजन पहुँचाते हैं, वे अन्न से ग्रहण किए हुए पोषण को शरीर के उन अंगों में पहुँचाते हैं जहाँ नई रचना या मरम्मत के लिये इसकी आवश्यकता होती है। वे पोषण में से उन्हीं-उन्हीं तत्वों को खींच लेते हैं जिनसे आमाशयिक द्रव, लार, पैनक्रियाटिक द्रव, पित्त दूध इत्यादि इत्यादि बनते हैं और फिर इन पदार्थों को कार्य के अनुकूल उचित परिमाण में मिलाते हैं। वे हज़ारों काम किया करते हैं और सर्वदा काम में लगे रहते हैं, जैसे चींटियाँ सर्वदा काम में लगी रहती हैं; पूर्वीय आचार्य बहुत दिनों से इन अणु जीवों को जानते आए हैं और इनके अस्तित्व और इनकी क्रियाओं के विषय में अपने शिष्यों को शिक्षा देते आए हैं। परन्तु यह बात पश्चिमी विज्ञान के लिय शेष रह गई है कि वह इसका वृहत् और सुविस्तृत वर्णन करे।

हम लोगों के जीवन के प्रत्येक क्षण में ये देहाणु उत्पन्न हुआ और मरा करते हैं। ये देहाणु खूब बढ़कर तब फिर भागों में विभक्त हो

जाने के कारण दूसरे देहाणुओं को जन्माते हैं, पहला देहाणु फूलने लगता है और फूलते-फूलते दो भागों में हो जाता है, और बीच में जोड़नेवाली कमर रहती है, फिर यह कमर टूट जाती है और एक देहाणु के स्थान में दो देहाणु हो जाते हैं। फिर नया देहाणु दो भागों में विभक्त होता है, इस प्रकार क्रिया जारी रहती है।

ये देहाणु शरीर को अपने आप नया बनाए रखने की क्रिया करने के लिये समर्थ बनाए रहते हैं। मानव शरीर का प्रत्येक भाग लगातार परिवर्तित हो रहा है और इसके रेशे बदल जाया करते हैं। हमारा चमड़ा, हड्डियाँ, बाल, मांसपेशियाँ इत्यादि सबमें अनवरत मरम्मत हुआ करती है और ये ठीक बनाई जाया करती हैं। हमारे नखों को नए हो जाने में क़रीब-क़रीब चार महीने लगते हैं; चमड़े के नए होने में ४ सप्ताह लगते हैं। हमारे शरीर का प्रत्येक भाग लगातार रद्दी हुआ करता और नया बना करता है, मरम्मत जारी रहती है। और ये नन्हे-नन्हे कारीगर देहाणु उन मज़दूरों के दल हैं, जो इस आश्चर्यजनक कार्य को किया करते हैं। इन नन्हे-नन्हे कारीगरों के करोड़ों-करोड़ों के दल घूम घूमकर और एक जगह पर स्थित हो होकर हमारे शरीर में रद्दी रेशों की जगह पर नई सामग्री जुटाया करते और पुराने निकम्मे हानिकारक कणों को शरीर-यन्त्र के बाहर किया करते हैं।

नीच जन्तुओं में प्रकृति प्रवृत्तिमानस को पूरा अवकाश और विस्तृत क्षेत्र देती है; परन्तु ज्यों-ज्यों जीवन उच्च पदवी धारण करता है (अर्थात् ऊँची योनि में आता है) त्यों-त्यों बुद्धि विकसित होने लगती है और प्रवृत्तिमानस का क्षेत्र संकुचित होता जाता है। उदाहरण के लिये कीड़ों और मकड़ों को देखो, तो ये नई टाँगें, पञ्जे इत्यादि के जमा लेने में समर्थ होते हैं। घोंघे तो अपने सिर के कुछ भागों को नया बना लेते हैं, यहाँ तक कि यदि उनकी आँखें नष्ट हो

जायँ, तो नई आँखें भी पैदा कर लेते हैं। कोई-कोई मछलियाँ अपनी नई पूँछ पैदा कर लेती हैं। छिपकली आदि नई पूँछें, हड्डियाँ, मांसपेशियाँ और अपनी रीढ़ की हड्डी के भी कुछ भागों को नया पैदा कर लेती हैं। नीचातिनीच जतु को अपने खोए हुए अग को फिर से पैदा करने की अधिक-से अधिक सामर्थ्य है, और वे अपने को बिलकुल नया बना सकते हैं यदि उनके शरीर का छोटा-से-छोटा भाग भी बचा हो, जिस पर वे नए भागों को पैदा कर सकें। उच्च जतु ज्यों-ज्यों ऊँचाई की सीढ़ी पर चढ़ते हैं, त्यों-त्यों उनकी यह शक्ति क्षीण होती जाती है। चूँकि मनुष्य सबसे ऊँचा है, इसलिये इसने तो अपनी रहन आदि की कुरीतियों से सबसे अधिक शक्ति खो दी। कुछ अधिक सिद्ध योगियों ने इस प्रकार के कुछ आश्चर्यजनक कार्य कर दिए हैं, और कोई भी हो, यदि धैर्य के साथ अभ्यास करता रहे तो, प्रवृत्तिमानस और देहाणुओं पर अधिकार जमाकर शरीर के रोगी अगों और निर्बल भागों को चंगा कर सकता है।

साधारण मनुष्य को भी चगा करने की शक्ति है और यह शक्ति सर्वदा काम करती है, पर अधिकांश मनुष्य इस पर ध्यान नहीं देते। किसी ज़ख़्म के अच्छे होने के उदाहरण पर विचार कीजिए। आइए देखें कि ज़ख़्म किस तरह पूरा होता है। यह बात आपके ध्यान देने और अध्ययन करने के योग्य है। यह इतनी प्रकट बात है कि हम इस पर ध्यान ही नहीं देते; परतु यह इतनी आश्चर्यजनक बात है कि इस पर ग़ौर करने से शिष्य को विदित हो जायगा कि ज़ख़्म को चगा करने में चेतनता की कितनी बड़ी महिमा प्रकट होती है।

कल्पना कीजिए कि किसी मनुष्य का शरीर ज़ख़्मी हुआ है— अर्थात् कहीं कट गया है या किसी बाहरी चीज़ के लग जाने से फट गया है। रेशे, पट्ठा और रुधिर बहाने की नलियाँ, द्रवस्रावी

मांसखंड, मांसपेशियाँ, नाड़ियाँ और कभी-कभी हड्डियाँ खंडित हो जाती हैं और उनकी श्रृंखला टूट जाती है। ज़ख़्म से रुधिर बहने लगता, उसका मुँह विवृत हो जाता और पीड़ा होने लगता है। नाड़ियाँ इस समाचार को मस्तिष्क में पहुँचाती हैं और तुरत सहायता पाने के लिये शोर मचाती हैं, और प्रवृत्तिमानस शरीर में इधर उधर ख़बरें भेजने लगता है और मरम्मत करनेवाले देहाणुओं की उपयुक्त सेना को तलब करता है, जो झपटकर ख़तरे के मुक़ाम पर पहुँचती है। इस अर्से में ज़ख़्मी रुधिर की नलियों से बह-बहकर रुधिर, भीतर घुसे हुए बाहरी पदार्थों को धो बहाता है या धो बहाने की चेष्टा करता है। ये बाहरी पदार्थ धूल, मैला और कीटाणु इत्यादि हुआ करते हैं और यदि भीतर रह जायँ, तो विष उत्पन्न कर दें। रुधिर जब बाहर की हवा के सम्पर्क में आता है, तो जम जाता है और सरेस की भाँति लसलसा पदार्थ बन जाता है, और ज़ख़्म पर पपड़ी डाल देने की नींव डालता है। करोड़ों देहाणु, जिनका कर्तव्य मरम्मत करना है, मौक़े पर दौड़कर पहुँचते हैं और रगों को जोड़ने लग जाते हैं, और अपने काम में आश्चर्यजनक चैतन्यता और कर्मण्यता दिखाते हैं। ज़ख़्म के दोनों ओर के रेशों, नाड़ियों, रुधिर की नलियों के देहाणु बढ़ने लगते हैं और करोड़ों नए देहाणुओं को पैदा कर देते हैं, जो दोनों ओर से आगे बढ़ कर अन्त में ज़ख़्म के बीच में मिल जाते हैं। पहले तो इन देहाणुओं का बढ़ना बेक़ायदे और निष्प्रयोजन की वृद्धि-सा प्रतीत होता है, परन्तु थोड़े ही अर्से में शासक मानस और उसके अधीनस्थ प्रभाव केन्द्रों का हाथ प्रकट होने लगता है। रुधिर की नलियों के नए देहाणु उस पार के उसी प्रकार के देहाणुओं से मिलते जाते हैं और नई नाली बन जाती है, जिसमें रुधिर फिर बहने लगे। आखिर धागे रेशों के देहाणु अपनी ही भाँति के अन्य देहाणुओं से मिल जाते हैं

और चारों ओर से ज़ख़्म को भरने लगते हैं। नाड़ियों के नए देहाणु प्रत्येक पृथक् सिरों पर बनने लगते हैं और बाल-सदृश रेशों को आगे बढ़ाकर शनै-शनै तार जोड़ देते हैं और फिर बिना बाधा के समाचार आने-जाने लगते हैं। जब यह भीतरी कुल काम समाप्त हो जाता है, और रुधिर की नालियाँ, नाड़ियाँ और जोड़नेवाले रेशे जब अच्छी तरह से मरम्मत हो जाते हैं तब चमड़े के देहाणु काम ख़तम करने में लिपट जाते हैं, और चमड़े के नए देहाणु बनने लगते हैं और ज़ख़्म के ऊपर नया चमड़ा बन जाता है, जो ज़ख़्म कि अब तक पूरा हो गया रहता है। ये सब बातें बड़ी तरतीब से होती हैं, जिससे चेतना और सुरीति झलकती है। ज़ख़्म के चंगा होने में जो ज़ाहिरा बड़ा सादा काम मालूम देता है—सावधान निरीक्षक सर्वव्यापक प्रकृति की चैतन्यता को प्रत्यक्ष देखता है—सृष्टिक्रिया का प्रत्यक्ष उदाहरण पाता है। प्रकृति सर्वदा इच्छुक रहती है कि अपने पर्दे को हटा ले और हम लोगों को भीतरी कोठरी की कार्रवाइयों को देखने दे परन्तु हम बेचारे मूर्ख लोग उसके निमंत्रण की परवाह नहीं करते, वरन् बिना ध्यान दिए ही चले जाते हैं और मूर्खता की बातों तथा हानिकारक कामों में अपने मानसिक बल को नष्ट करते हैं।

यहाँ तक तो देहाणु के विषय में हुआ। देहाणु का मानस सर्वव्यापक मानस का—जो चित्त का महत् भंडार है—अंश है, और देहाणुओं के केंद्रस्थल के मानस से संबंध रखता है और उन्हीं के द्वारा प्रेरित हुआ करता है, ये केंद्रस्थल के मानस और उपमानस के आधीन होते हैं, यह सिलसिला तब तक चला जाता है, जब तक अंत में मनुष्य के प्रवृत्तिमानस तक नहीं पहुँच जाता। परन्तु देहाणु मानस बिना अन्य दोनों तत्वों—भौतिक द्रव्य और प्राण के—अपने को प्रकट करने में समर्थ नहीं हो सकता। इसे अच्छी तरह से पचाए हुए अन्न से ताज़ी सामग्री ग्रहण करने की आवश्यकता होती है कि यह अपने प्रकट होने का

साधन बना ले। इसको प्राण अर्थात् जीवट शक्ति की भी आवश्यकता होती है कि यह गति और कार्य कर सके। जीवन की तत्त्वत्रयी—मानस, द्रव्य और शक्ति—देहाणु तथा मनुष्य दोनों में आवश्यक है।

हम पहले के अध्यायों में पाचन के विषय में और रुधिर में पुष्कल पोषणकारी सुपक्व सामग्री उपस्थित करने की प्रधानता में, जिससे यह शरीर की मरम्मत और उसके भागों की रचना अच्छी तरह कर सके, बहुत कुछ कह आए हैं। इस अध्याय में हम यह बतला रहे हैं कि कैसे देहाणु उस सामग्री को शरीर के बनाने में व्यवहार करते हैं—कैसे वे उसका व्यवहार अपने ही बनाने में करते हैं और फिर कैसे वे अपने ही को बना लेते हैं। स्मरण रक्खो कि वे देहाणु, जो ईंटों की भाँति प्रयुक्त होते हैं, अपने चारों ओर रक्त से प्राप्त सामग्री को लपेट लेते हैं और अपने लिये मानो शरीर बना लेते हैं; तब वे थोड़ा प्राण ले लेते हैं और उस जगह पहुँचते हैं, जहाँ इनकी आवश्यकता होती है, जहाँ वे अपने को बनाते हैं और स्वयं अपने नए रेशे, हड्डी या मांसपेशी आदि का भाग बन जाते हैं। अपनी देह बनाने के लिये बिना समुचित सामग्री पाए वे देहाणु अपना काम नहीं कर सकते, सच तो यह है कि जी ही नहीं सकते। वे मनुष्य जो अपने ही आचरणों से चीण हो गए हैं और जो अधूरे पोषण का दुःख भोग रहे हैं, उनके शरीर में काफ़ी देहाणु नहीं होते और इसलिये उनके शरीर की क्रिया उचित रीति से नहीं होती। देहाणुओं को सामग्री मिलनी चाहिए कि जिससे वे देह बना सकें, और एक ही तरीक़ा है जिससे उनको सामग्री मिल सकती है—कि भोजन से पोषण प्राप्त किया जाय। जब तक देहांश में काफ़ी प्राण न होगा, तब तक वे देहाणु अपने कार्यों के करने में पूरी शक्ति नहीं लगा सकते, जिससे सारे शरीर में जीवट की कमी प्रकट होने लगती है।

कभी-कभी मनुष्य की बुद्धि इस प्रवृत्तिमानस को इतना तंग कर देती है और इतना घुड़कती है कि बेचारा बेहूदा मार्ग ग्रहण कर लेता है और बुद्धि से भय खाने लगता है और अपने नित्य के कार्यों को उचित रीति से नहीं कर सकता तथा देहाणु ठीक नहीं पैदा किए जाते। ऐसी दशाओं में जब बुद्धि असल बात को समझ जाती है, तब अपनी पिछली भूलों को सुधारना चाहती है और प्रवृत्ति मानस को ढाढ़स देने लगती है कि "तुम तो अपने काम को बहुत अच्छी तरह समझते हो, और अब तुम्हें अपना राज करने का पूरा अधिकार मिलेगा, निश्चय रक्खो।" और फिर इसके बाद हिम्मत दिलाने, तारीफ़ करने और उसमें विश्वास रखने के शब्द कहे जाते हैं, तब प्रवृत्तिमानस अपने चित्तस्थैर्य को धारण कर लेता है और अपने घर का प्रबंध करने लगता है। कभी-कभी यह प्रवृत्तिमानस अपने मालिक तथा अन्य बाहरियों के विपरीत पूर्व विचारों से इतना अभिभूत हो जाता है कि यह घबरा उठता है और फिर इसके असली अवस्था में आने में बहुत समय लगता है कि यह ठीक शासन कर सके। ऐसी दशा में अक्सर यह होता है कि मातहती के देहाणु, केंद्रों के मानस, वस्तुतः बग़ावत कर जाते हैं और सदर की आज्ञाओं को नहीं मानते। इन दोनों दशाओं में मनुष्य के दृढ़ संकल्प की—निश्चित आज्ञा की—ज़रूरत पड़ती है कि सारे शरीर में फिर से अमन चैन फैल जाय और मुनासिब काम होने लगे। स्मरण रखिए कि प्रत्येक इंद्रिय अवयव और भाग में किसी-न किसी प्रकार की चेतना होती है और दृढ़ इच्छा की अच्छी प्रबल आज्ञा से विकृत अवस्थाओं में भी प्रायः सुधार हो जाता है।

होता है। ऊँचे योगी शासन से बाहर के देह-यन्त्र पर आश्चर्यजनक अधिकार प्राप्त कर लेते हैं और शरीर के प्रत्येक देहाणु पर सीधी हुक्मत रखते हैं। भारतवर्ष के नगरों के योगी भी, जो झूठे योगी से थोड़ा ही बेहतर होते हैं, और जो पैसे के लिये अपनी क्रियाएँ दिखलाया करते हैं, अपने देहाणुओं पर प्रभाव रखने के बहुत ही मनोरंजक उदाहरण दिखला सकते हैं, इनकी कोई-कोई प्रदर्शिनी तो नाज़ुक दिमाग़वालों को घृणास्पद और सच्चे योगियों के लिये दुःख दायी हो जाती है, जब वे देखते हैं कि ऐसी उत्तम योगक्रिया इस प्रकार भ्रष्ट की जा रही है।

अभ्यास से बलवती बनी हुई दृढ़ इच्छा इन देहाणुओं और इनके समूहों पर केवल साधारण धारणा द्वारा असर डालने में समर्थ हो जाती है; परंतु इस रीति के प्रयोग करने में शिष्यों के लिये अधिक साधना की आवश्यकता है। दूसरे तरीक़े भी हैं, जिनके द्वारा शिष्य अपनी दृढ़ इच्छा को कतिपय शब्दों के ध्यानपूर्वक जाप से प्रकाश करके उसका असर पहुँचा सकता है। पश्चिमी लोगों की स्वतः मन्त्रणाएँ और प्रतिज्ञाएँ इसी प्रकार काम देती हैं। शब्दों के ध्यानपूर्वक जाप से ध्यान और आकांक्षा पीड़ा के स्थान पर जम जाती हैं, और शनैः-शनैः इच्छावाले देहाणुओं में अमन चैन स्थापित हो जाती है; वहाँ पर कुछ प्राण भी पहुँचा दिया जाता है, इससे देहाणुओं को और भी अधिक शक्ति प्राप्त हो जाती है। साथ ही साथ पीड़ित स्थान का रुधिर-सञ्चार भी बढ़ जाता है, और इससे देहाणुओं को अधिक पोषण और रचना की सामग्री मिल जाती है।

पीड़ित स्थान पर अभीष्ट प्रभाव डालने के लिये देहाणुओं को प्रबल आज्ञा देने की अद्भुत हा सरल विधि हठयोगी लोग अपने शिष्यों को बतलाते हैं, जब तक व धारणायुक्त आकांक्षा का प्रयोग,

बिना अन्य सहायता के करने में असमर्थ रहते हैं। यह सरल विधि यह है कि बागी भाग या अवयव से "बात की जाय" उसे इस तरह की आज्ञा दी जाय, जैसी स्कूल के लड़कों के एक झुंड या पलटन के रंगरूटों के एक स्क्वाड को दी जाती है। आज्ञा को स्पष्टता और दृढ़ता के साथ दो; अवयव से वही बात कहो, जो तुम उससे कराया चाहते हो, आज्ञा को हाकिमाना तौर से कई बार दुहराओ। उस भाग पर, या पीड़ित भाग के ऊपर के अंग पर मुलायम थापी देने से वहाँ के देहाणुओं का ध्यान उसी प्रकार आकर्षित हो जायगा जैसे किसी मनुष्य के कंधे पर ठोंक देने से वह रुककर तुम्हारी ओर मुँह कर लेता है और तुम्हारी बातों को सुनने लगता है। अब यह मत ख़्याल कर लो कि हम तुम्हें बतलाने की चेष्टा कर रहे हैं कि देहाणुओं के कान होते हैं और तुम्हारी भाषा को वे समझ जाते हैं; जो बात होती है वह यह है कि हाकिमाना तौर से कहने से तुम्हें उन शब्दों द्वारा प्रकट की हुई मानसिक मूर्ति की कल्पना में सहायता मिलती है, और उसका अभिप्राय सहानुभावी नाड़ी में प्रवृत्तिमानस द्वारा प्रेरित होकर ठीक स्थल पर पहुँच जाता है और देहाणुसमूहों तथा देहाणु-व्यक्तियों पर विदित हो जाता है। जैसा हम ऊपर कह आए हैं, रुधिर और प्राण की अधिक पहुँच भी वहाँ हो जाती है, क्योंकि आज्ञा देनेवाले मनुष्य के धारणासबल ध्यान का उन पर प्रभाव पड़ता है। इसी प्रकार अन्य रोग निवारक को आज्ञा भी दी जा सकती है; रोगी का प्रवृत्तिमानस उस आज्ञा को ग्रहण करके उसे देहाणुओं की यथावत के स्थान पर पहुँचा देता है। यह बात हमारे शिष्यों में बहुतों को लड़कों के खेल-सी प्रतीत होगी; परंतु इसके समर्थन के लिये अच्छे अच्छे वैज्ञानिक प्रमाण और कारण हैं। योगी लोग इसे देहाणुओं तक आज्ञा पहुँचाने का बहुत ही सरल तरीक़ा समझते हैं। जब तक इसकी परीक्षा न कर लो तब तक इसे फ़ज़ूल समझकर फेंक न दो। यह शताब्दियों

के जाँच में अटल बना हुआ है, और इससे बढ़कर और कोई तरीक़ा अब तक काम करने का नहीं पाया गया है।

यदि तुम अपने शरीर के किसी भाग पर इस तरीक़े का प्रयोग किया चाहते हो, या किसी अन्य के शरीर पर इसको आज़माया चाहते हो, जो कि पूरा काम नहीं कर रहा है, तब उस अंग पर अपनी हथेली से धीरे धीरे थापी दो और (उदाहरण के लिये) यों कहो कि "सुनो यकृत्, तुम्हें अपना काम अच्छी तरह करना पड़ेगा—तुम इतने सुस्त हो कि मेरे मुआफ़िक़ नहीं हो, मैं दृढ़ आशा करता हूँ कि अब से तुम अच्छा काम करोगे, अच्छो काम करो, हम कहते हैं इस मूर्खता को छोड़ो।" ठीक ये ही शब्द आवश्यक नहीं हैं, आपको जो शब्द भावें उन्हीं का प्रयोग कीजिए, परंतु उनमें हाकिमाना स्पष्ट भाव और आशा होनी चाहिए कि अवयव अपना काम करने लगे। इसी तरीक़े से हृदय के काम भी उन्नत हो सकते हैं; परंतु हृदय को आज्ञा देने में बहुत सुलायमियत रखनी चाहिए। क्योंकि हृदय के देहाणुसमूह यकृत् के देहाणु समूहों की अपेक्षा अधिक चेतनाशक्तिवाले हैं और इनके साथ आदर का व्यवहार करना चाहिए। हृदय को स्मरण दिला दीजिए कि "मैं बेहतर काम का आशा करता हूँ"; परंतु आदर से कहिए, यकृत् की भाँति इन पर धुड़का मत चलाइए। सब अवयवों की अपेक्षा हृदय का देहाणुसमूह बहुत चेतना विशिष्ट है। यकृत् का देहाणुसमूह बड़ा सुस्त है, उसमें चेतना की कमी है, उसका स्वभाव ख़च्चर का है; हृदय सा अच्छे कुलीन घोड़े का भाँति चैतन्य और चौकन्ना रहता है। अगर आपका यकृत् बग़ावत करे, तो उसको डाँटकर आज्ञा दो, उसके ख़च्चर स्वभाव को याद रक्खो। आमाशय भी प्रायः चैतन्य है, यद्यपि हृदय की समता में नहीं है; आमाशय बड़ा कर्मनिष्ठ है, यद्यपि इसके साथ बड़ा जुल्म होता है, पर वह

घोर बना रहता है। यदि आप मलाशय को आज्ञा दें कि हम इतने बजे सबेरे रोज़ मल त्यागना चाहते हैं। बजे बतला दीजिए और ठीक उसी वक्त पर मल त्यागने जाया कीजिए, अपने वचन को पूरा करते रहिए, तो थोड़े ही दिनों में आपको मालूम हो जायगा कि मलाशय आपकी आज्ञा की ठीक पाबंदी कर रहा है। परंतु स्मरण रखिए कि बेचारे मलाशय के साथ बड़ा दुर्व्यवहार हुआ है और उसको आपके वचनों का विश्वास करने में कुछ समय लगेगा। स्त्रियों का अनियमित मासिकधर्म नियमित बनाया जा सकता है और स्वाभाविक आदत प्राप्त की जा सकती है। इसमें थोड़े ही महीने लगेंगे। जिस तारीख़ को मासिकधर्म होना चाहिए उस तारीख़ को स्मरण कर लें, और प्रतिदिन उसी रीति से बर्ताव करके, जिसका ऊपर वर्णन हो चुका है, मासिकधर्मवाले देहाणु-समूहों से कहें कि "अब मासिकधर्म के लिये इतने दिन और बाक़ी हैं, तुम तैयार रहना, अपने काम करते जाओ कि जब समय आवे सब ठीक रहे", जब समय बहुत निकट आ जाय, तो कहो कि "समय अब थोड़ा रह गया है, काम ठीक किए जाओ।" मज़ाक़ की भाँति आज्ञा मत दो, किंतु ऐसा कहो कि मानो तुम दिलोजान से कहते हो, और तब उस आज्ञा का पालन होगा। बहुत-से अनियमित स्त्रीधर्मों को एक से लेकर तीन महीनों में इस रीति से अच्छा होते पाया है। यह आपको हास्यजनक जान पड़ेगा, पर हम यही कहेंगे कि आप परीक्षा करके उसको जाँच लीजिए। हमको यहाँ इतना अवकाश नहीं है कि प्रत्येक रोग के लिये अलग अलग प्रयोग बतलावें, पर आप ऊपर लिखी बातों से समझ जाइए कि पीड़ा-स्थल पर किस अवयव या देहाणुसमूह का अधिकार है और तब उसको आज्ञा दीजिए। अगर आप इस बात को न ठीक कर सकें कि कौन अवयव गड़बड़ मचाए है, तो आप कम-से-कम

पीड़ा के स्थल को तो जान सकते हैं, फिर शरीर के उसी भाग को आज्ञा दीजिए। आपके लिये यह आवश्यक नहीं है कि आप प्रत्येक रोगी अवयव के नाम जानें, आपको केवल उस स्थल पर आज्ञा देना चाहिए, यों कहिए "सुनो जी ।" यह किताब रोगों को दूर करने के लिये नहीं उद्दिष्ट , इसका अभिप्राय रोगों को न आने देकर स्वास्थ्य ठीक रखने का है। परन्तु तो भी कुछ थोड़ी बातें आप अवयवों को मार्ग पर लाकर आपको सहायता पहुँचाने के लिये लिख दी गई हैं।

ऊपर लिखी हुई रीतियों और उनके रूपान्तरों के प्रयोग म आ आपको अपने शरीर पर अधिकार प्राप्त होगा, उसको देखकर आपको आश्चर्य होने लगेगा। तुम सिर से रुधिर नीचे बहाकर सिर की पीड़ा दूर कर सकते हो; आप ठंढे हाथ-पाँव में अधिक रुधिर संचार की आज्ञा दे सकते हैं, और रुधिर-सचार करके उसे गरम कर सकते हैं। हाँ, रुधिर के साथ प्राण भी अवश्य आवेगा। आप रुधिर-सञ्चार में समता ला सकते हैं, जिससे सारा शरीर उत्तेजित हो जाय। आप शरीर के थके भाग को विश्राम पहुँचा सकते हैं। सच तो यह है कि यदि आप इस तरीक़े को धैर्य के साथ सीख लें और ठीक बरतना सीख लें, तो इतना आप इस तरीक़े के प्रयोग से कर सकते हैं, जिसकी हद नहीं। अगर आप यह नहीं ठीक कर सकते कि कौन-सी आज्ञा दें, तो आप उस अंग से यही कहें—"सुनो जी, अच्छे हो जाओ, हम चाहते हैं कि यह पीड़ा हट जाय, हम चाहते हैं कि तुम अच्छा काम करो।" या ऐसे ही और बात करो। इसमें संदेह नहीं कि इसमें अभ्यास और धैर्य का आवश्यकता है, पर इनके बिना तो यह क्या, कोई भी बात प्राप्त नहीं होती।

बीसवाँ अध्याय

प्राणशक्ति

जब शिष्य इस किताब को पढ़ेगा, तो उसे मालूम हो जायगा कि हठयोग के आभ्यंतरिक और बाह्य दो पटल हैं। आभ्यतरिक से हमारा यह अभिप्राय है कि केवल उन्हीं लोगों के लिये, जो विशेष शिक्षा की कुंजी पाए हुए हैं, और बाह्य से हमारा अभिप्राय ऊपरी, सर्वगम्य का है। इस विषय का बाह्यपटल भोजन से उचित पोषण ग्रहण करना, पानी से शरीर-यन्त्र की सिंचाई और मैलों की धुलाई करना, सूर्य की किरणों से वृद्धि और स्वास्थ्य का लाभ उठाना, व्यायाम से बल प्राप्त करना, उचित श्वास से लाभ उठाना, स्वच्छ और ताज़ी हवा से फ़ायदा उठाना है। ये बातें पश्चिमी और पूर्वी दोनों दुनियाओं को मालूम हैं, योगी और अयोगी दोनों पर विदित हैं इनके अभ्यास से लाभ होते हैं, उनसे दोनों अभिज्ञ हैं। परतु इसका एक और भी पटल है, जो योगियों और थोड़े पूर्वीय लोगों को तो ज्ञात है, पर पश्चिमी लोगों को और उनको, जो योग के विषय से अनभिज्ञ हैं, बिलकुल अज्ञात है। इसके आभ्यतर पटल का आधार प्राण है। योगी लोग जानते हैं कि मनुष्य अपने भोजन से प्राण और पोषण प्राप्त करता है, पीने के पानी से प्राण प्राप्त करता है और सफ़ाई का काम लेता है; व्यायाम से प्राण और शारीरिक विकाश प्राप्त करता है, सूय की किरणों से प्राण और ताप दोनों ग्रहण करता है—हवा से प्राण और आक्सीजन दोनों लेता है। यह प्राण का विषय सारे हठयोग शास्त्र में भिना हुआ है और शिष्यों को इस पर गभीर विचार करना चाहिए। जब प्राण इतनी प्रधान बात

है, तो इस प्रश्न पर विचार कर लेना चाहिए कि "प्राण क्या वस्तु है ?"

हमने प्राण की प्रकृति और उसके लाभों का वर्णन "श्वास-विज्ञान"-नामक छोटी किताब में कर दिया है। और हम इस किताब के सफ़हों में भी वे ही बातें भरकर इसे पूरा नहीं किया चाहते, जो बातें एक किताब में प्रकाशित हो चुकी हैं। परंतु इस विषय और कतिपय अन्य विषयों को जो एक बार लिखे जा चुके, दुहरा कर लिखना आवश्यक समझते हैं, क्योंकि संभव है कि बहुत-से मनुष्य, जो इस किताब को पढ़ रहे हैं, उस किताब को न पढ़े हों। और प्राण का वर्णन न लिखना अनुचित है। और फिर भी हठयोग की पुस्तक और उसमें प्राण का वर्णन ही नहीं, कैसी अनर्थ का बात है। हम इस वर्णन में बहुत अवकाश न लेंगे और हम विषय के कुल भागों के देने का यत्न करेंगे।

सब युगों और देशों के गूढ़ाचारियों ने अपने कुछ चुने हुए शिष्यों को सवदा यह उपदेश छिपाकर दिया है कि हवा पानी, भोजन, सूर्य के प्रकाश में और सवत्र एक ऐसा तत्त्व या पदार्थ पाया जाता है जिससे तमाम क्रिया, शक्ति, बल और ओयट प्रकट होते हैं। इस तत्त्व के नाम देने में लोगों में भेद हुआ है और कहीं इसके सिद्धांतों की व्याख्या में भी अतर पड़ा है, परंतु असल तत्त्व सब गूढ़ उपदेशों और शास्त्रों में पाया जाता है और सैकड़ों वर्ष से पूर्वीय योगियों की शिक्षाओं और अभ्यासों में मिलता है। हमने इसका प्राण ही नाम रक्खा है, जिस नाम से यह हिंदू गुरु और शिष्यों को विदित है, इसका अर्थ परमशक्ति है।

गुप्त भावनों के आचार्य लोग कहते हैं कि प्राण, शक्ति अर्थात् बल का सर्वव्यापक तत्त्व है, और सब शक्ति या बल इसी तत्त्व में उत्पन्न होते हैं अर्थात् इसी तत्त्व से कई रूपों में प्रकट होते हैं। इस

विचारों से हमारी पुस्तक के इस विषय से सबंध नहीं है, और हम इतना ही समझकर आगे बढ़ते हैं कि प्राण शक्ति का तत्त्व है और सब जीवित चीज़ों में पाया जाता है और यही उन्हें निर्जीव पदार्थों से भिन्न करता है। इसे जीवन का क्रियावान् तत्त्व—या आप पसंद करें, तो जीवट बल ख़याल कर सकते हैं। यह सब प्रकार का जीवन काई से लेकर मनुष्य पर्यंत में पाया जाता है—पौधों के सादे जीवन से लेकर जानवरों के उच्चतम जीवन तक में पाया जाता है। प्राण सर्वव्यापक है। यह सब जीवित वस्तुओं में पाया जाता है, और चूँकि रहस्यशास्त्र बतलाते हैं कि जीवन प्रत्येक वस्तु और प्रत्येक परमाणु में पाया जाता है—कुछ वस्तुओं की ज़ाहिरी निर्जीवता केवल अल्प विकाश के कारण है, इसलिये हम उनके उपदेशों का यह अर्थ समझते हैं कि प्राण सर्वत्र है, सब पदार्थों में है। प्राण को जीवन से न गड़बड़ाना चाहिए—जीव परमात्मा का अंश है और उसी पर द्रव्य और शक्ति आवरण रूप में लिपटती है। प्राण शक्ति का एक रूप है, जिसे जीव अपने पार्थिव विकाश में काम में लाता है। जब जीव शरीर को छोड़ देता है, तब प्राण उसके अधिकार में न रहने से, व्यक्तिगत परमाणुओं की, या परमाणु-समूहों की जिनसे शरीर बना है, आज्ञा-का पालन करता है; प्रत्येक परमाणु इतना प्राण ले लेता है कि नए समूह बना सके; अप्रयुक्त प्राण उस महा भंडार में मिल जाता है, जहाँ से आया था। जब तक जीव अधिकार रक्खे रहता है, तब तक ससक्ति बनी रहती है और जीव की आकांक्षा से परमाणु सब एकत्र बँधे रहते हैं।

प्राण एक ऐसा नाम है, जिससे हम उस सर्वव्यापक तत्त्व का बोध करते हैं, जो सब गति, बल, शक्ति, चाहे वे आकर्षण-शक्ति के रूप में, चाहे बिजली, ग्रहों की चाल और जीवों के उच्च से लेकर नीच जीवन तक में प्रकट है, सबका द्योतक है। यह बल और शक्ति

के सब रूपांतरों का सारांश कहा जा सकता है; यह वह तत्त्व है, जो एक विशेष रीति से कार्य करके उस प्रकार की क्रिया उत्पन्न करता है, जो जीवन के साथ रहती है।

यह प्रधान तत्त्व प्रत्येक द्रव्य में है, पर तो भी यह द्रव्य नहीं है। यह हवा में है, पर न तो यह हवा है और न हवा का अवयव ही है। यह उस भोजन में है, जिसे हम खाते हैं, परंतु यह वही पदार्थ नहीं है, जो भोजन में पोषणकारी पदार्थ होते हैं। यह पानी में है, परंतु यह पानी के उन रासायनिक तत्त्वों में से एक भी नहीं है, जिनसे पानी बना हुआ है। यह सूर्य के प्रकाश में है, पर न तो यह ताप है न किरण। यह इन सब चीज़ों की शक्ति है—चीज़ें तो केवल इसको वहन करनेवाली हैं।

मनुष्य इसको हवा, भोजन, पानी, सूर्य के प्रकाश आदि से ग्रहण करने और उसे अपने देह-यंत्र के काम में ले आने में समर्थ है। हमारे अभिप्राय को अच्छी तरह से समझ लीजिए। हमारा अर्थ यह नहीं है कि प्राण इन पदार्थों में इसीलिये है कि मनुष्य उसका व्यवहार करें, यह अभिप्राय नहीं है। प्राण तो इन पदार्थों में प्रकृति के नियम के अनुसार है, और मनुष्य की योग्यता इसके ग्रहण करने और काम में लाने की एक गौण-मात्र है। यह शक्ति तो बनी ही रहेगी, चाहे मनुष्य रहे या न रहे।

जानवर और पौधे हवा के साथ इसे भी अपनी श्वास द्वारा खींचते हैं और यदि हवा में प्राण न रहता, तो वे हवा से भरे रहने पर भी मर जाते। इसे आक्सीजन के साथ देह-यंत्र ग्रहण करता है, पर यह आक्सीजन नहीं है।

प्राण वायुमंडल की हवा में और अन्यत्र भी है, यह ऐसी जगहों में प्रवेश कर जाता है, जहाँ हवा की पहुँच नहीं हो सकती। हवा का आक्सीजन जंतुओं के जीवन के क़ायम रखने में प्रधान काम

करता है, और कार्बन वैसा ही कार्य पौधों के जीवन में करता है; परन्तु प्राण जीवन के विकाश में एक पृथक् ही कार्य करता है, जो देह, धर्म, विद्या से अलग है।

हम लोग श्वास द्वारा लगातार हवा को खींच रहे हैं, जो प्राण से भरी हुई है, और हवा से ाण को खींचकर वैसे ही अपने कार्य में ला रहे हैं। प्राण वायुमण्डल को हवा
में पाया जाता है; हवा जब स्वच्छ और ताज़ी रहती है, तो उसमें प्राण की पुष्कल मात्रा रहती है। हम लोग हवा से प्राण को और चीज़ों की अपेक्षा अधिक आसानी से ग्रहण कर सकते हैं। सामान्य रीति से श्वास लेने में हम प्राण की सामान्य मात्रा ग्रहण कर सकते हैं, परन्तु श्वास को अपने आधीन करके नियमित श्वास से (जिसे योगी की साँस या प्राणायाम कहते हैं) हम अधिक प्राण खींचने में समर्थ हो सकते हैं, जो प्राण मस्तिष्क और नाड़ीकेंद्रों में जमा हो जाता है कि आवश्यकतानुसार काम में लाया जाय। हम प्राण को उसी प्रकार सञ्चय कर सकते हैं, जैसे बिजली सञ्चय करनेवाली बैटरी उसको संचय करती है। योगियों में जो अनेक शक्तियाँ कही जाती हैं, वे इसी प्राण विषयक ज्ञान और प्राण के सञ्चित भण्डार को विचारपूर्वक काम में लाने से होती हैं। योगी लोग जानते हैं कि किस रीति से साँस लेने से प्राण के भण्डार के साथ सम्बन्ध जुट जाता है, और उसी प्रकार श्वास लेकर अपनी आवश्यकतानुसार प्राण ग्रहण करके सञ्चय किया करते हैं। इस प्रकार वे अपने शरीर ही को बलिष्ठ नहीं बनाते, बरन् मस्तिष्क भी इसी द्वार से अधिक शक्ति ग्रहण करता है, और इससे गुप्त शक्तियाँ जागृत हो सकती हैं और मानसिक शक्तियाँ प्राप्त हो सकती हैं। जिसको प्राण सञ्चय करने का तरीका जानकर या अनजान में सिद्ध हो गया है, वह अपने शरीर से जीवट और शक्ति प्रवाहित किया करता है, जिसको

ये लोग अनुभव करते हैं, जो उस मनुष्य के संपर्क में आते हैं। ऐसे जीवट और शक्तिवाले मनुष्य दूसरों को भी जीवट दे सकते हैं और उन्हें अधिक शक्ति और स्वास्थ्य प्रदान कर सकते हैं। ओजसरोगनिवारण इसी प्रकार किया जाता है, यद्यपि बहुत-से प्रयोक्ताओं को यह भी नहीं मालूम रहता कि उनको यह शक्ति कहाँ से और कैसे प्राप्त हुई।

पश्चिमी वैज्ञानिक इस प्रधान तत्त्व से, जिससे हवा भरी रहती है, बहुत धुँधले रूप से अभिज्ञ हुए हैं; परन्तु इसके कोई रासायनिक लक्षण न पाकर, और अपने किसी औज़ार से इसे प्रत्यक्ष न कर सकने पर, वे लोग पूर्वीय लोगों के इस विचार को निरादर की दृष्टि से देखने लगे। वे इस तत्त्व को समझ न सके, इसलिये इसे अस्वीकार करने लगे। ऐसा मालूम होता है कि उन्हें अब कुछ-कुछ ऐसा प्रतीत होने लगा है कि अमुक स्थान की हवा में "कोई चीज़" है और बीमार मनुष्यों को उनके डॉक्टर लोग उपदेश देते हैं कि उसी स्थान पर अपने खोए हुए स्वास्थ्य को पाने के लिये जाओ।

हवा के आक्सीजन को रुधिर अपनाता है और रुधिर संचार का यन्त्र उसे अपने काम में लाता है। हवा में अंतर्गत प्राण को नाड़ी जाल अपनाता है और उसे अपने काम में लाता है, जैसे आक्सीजन मिश्रित रुधिर शरीर के सब अंगों में पहुँचाया जाता है कि जिनसे शरीर बने और सुधरे, वैसे ही प्राण भी नाड़ी-यन्त्र के सब मार्गों में शक्ति और जीवट लेकर पहुँचाया जाता है। यदि हम प्राण को जीवट का क्रियावान् तत्त्व समझ लें, तो हम इस बात की और भी साफ़ भावना कर सकेंगे कि हम लोगों के जीवन में यह कैसा प्रधान काम करती है। जैसे रुधिर का आक्सीजन देह की आवश्यकताओं से ख़र्च हो जाता है, वैसे ही नाड़ी-यन्त्र द्वारा लिया हुआ प्राण भी सोचने, इच्छा करने और क्रिया आदि करने से ख़र्च हुआ करता है और

उसको लगातार मुहइया की आवश्यकता बनी रहती है। प्रत्येक ख्याल, प्रत्येक क्रिया, इच्छा के प्रत्येक प्रयत्न, मासपेशी की प्रत्येक गति में नाड़ी बल खर्च होता है, और यह नाड़ी-बल वस्तुत प्राण ही है। किसी मासपेशी को संचालित करने के लिये मस्तिष्क नाड़ी द्वारा एक प्रेरणा भेजता है, और मांसपेशी सकुचित होती है, बस इतना प्राण वहाँ खर्च हो गया। जब यह स्मरण रहेगा कि जितना प्राण मनुष्य ग्रहण करता है, उसका अधिकाश श्वास में ली हुई हवा से आता है, तो उचित साँस लेने की प्रधानता अच्छी तरह समझ में आ जायगी।

यह बात देखने में आती है कि श्वास के विषय में पश्चिमी वैज्ञानिक विचार आक्सीजन ही के ग्रहण और रुधिर-सचार द्वारा उसके वितरण तक रह जाते हैं; योगियों के विचार प्राण के ग्रहण की क्रिया और नाड़ी-यन्त्र के मार्ग द्वारा उसके विकाश तक पहुँचते हैं। आगे बढ़ने के पहले नाड़ी-यन्त्र को समझ लेना लाभदायक होगा।

मनुष्य का नाड़ी-यन्त्र दो बड़े विभागों में विभक्त है अर्थात् मस्तिष्क-मेरुदड विभाग और दूसरा सहानुभवी विभाग। मस्तिष्क-मेरुदड विभाग में वह नाड़ी-सस्थान है, जो सिर की खोपड़ी और रीढ़ की नाली में सन्निविष्ट है, अर्थात् मस्तिष्क का भेजा या गुद्दी और रीढ़ की गुद्दी इन्हा के साथ इनसे निकली हुई शाखाएँ भी हैं। यह विभाग मनुष्य की उन क्रियाओं का निरीक्षण करता है, जो संकल्प, चेतना आदि करके जाने जाते हैं। सहानुभवी विभाग में वह नाड़ीजाल है, जो मुख्यतः गले, पेट और पेट के नीचे के खोखले में स्थित है और भीतरी अवयवों में फैला हुआ है। इसका अधिकार अनिच्छापूर्व क्रियाओं पर है जैसे वृद्धि, पोषण आदि।

मस्तिष्क-मेरुदड विभाग देखने, सुनने, स्वाद लेने, सूँघने, वेदना आदि की क्रियाओं को करता है। यह गति संचालित करता

है, इसे जीव सोचने, चेतना प्रकाशित करने के काम में लाता है। यह वह साधन है, जिसके द्वारा जीव बाहरी जगत् से व्यवहार करता है। इस विभाग की उपमा टेलीफ़ोन के तारों से दी जा सकती है; मस्तिष्क तो सदर दफ़्तर है और मेरुदंड तथा अन्य नाड़ियाँ क्रमशः सदर तार और शाखा तार हैं।

मस्तिष्क भेजा अर्थात् गुदी का पुंज है, इसके तीन भाग हैं, अर्थात् (१) मस्तिष्क ख़ास जो खोपड़ी के ऊपरी अगले, मध्य और पिछले भागों में रहता है, (२) छोटा मस्तिष्क जो खोपड़ी के निचले और पिछले भाग में रहता है, और (३) मेडुला ओबलांगेटा, जो मेरुदंड का चौड़ा आरंभ है और जो छोटे मस्तिष्क के आगे रहता है।

मस्तिष्क ख़ास या असली मस्तिष्क मन के उस विभाग का अवयव है, जो बुद्धि विषयक क्रियाओं में प्रकट होता है। छोटा मस्तिष्क ऐच्छिक मांसपेशियों की गतियों पर अधिकार रखता है। मेडुला ओबलांगेटा मेरुदंड का ऊपरी चौड़ा भाग है और उससे तथा छोटे मस्तिष्क से खोपड़ी की नाड़ियाँ निकलकर सिर के अनेक भागों में, इंद्रियों में, गले और पेट के अवयवों तथा श्वास लेने के अवयवों में पहुँचती हैं।

मेरुदंड या रीढ़ की हड्डी की गुदी रीढ़ की नाली में भरी रहती है। यह गुदी की एक लंबी ढेरी है जिसमें से रीढ़ की हड्डी की गाँठों गाँठों से शाखाएँ फूट-फूटकर उन नाड़ियों से जा मिलती हैं, जो शरीर के सब भागों में फैली हुई हैं। मेरुदंड टेलीफ़ोन के एक सदर तार की भाँति है, और उसकी शाखाएँ उससे लगी हुई शाखा तारों की भाँति हैं।

सहानुभवी विभाग में दो प्रधान शृंखलाएँ नाड़ी-गुच्छकों की हैं, जो मेरुदंड के दोनों पार्श्वों में अवस्थित हैं; और इनके अतिरिक्त

सिर, गर्दन, छाती और पेट के नाड़ी-गुच्छक भी इन्हीं में नत्थी हैं। नाड़ी-गुच्छक गुद्दी की एक छोटी ढेरी होती है, जिसमें नाड़ी के देहाणु रहते हैं। ये नाड़ी-गुच्छक एक दूसरे से ततुओं द्वारा लगाव रखते हैं, और इनका लगाव मस्तिष्क-मेरुदड विभाग से भी चेतनावाहिनी और क्रियावाहिनी नाड़ियों द्वारा है। इन्हीं नाड़ी-गुच्छकों से अनेक ततु निकल निकलकर शरीर और रुधिरवाहिनी नालियों आदि के अवयवों से जा मिलते हैं। बहुत-से स्थानों में ये नाड़ियाँ एकत्रित हो जाया करती हैं और वहाँ नाड़ीग्रथि (चक्र) बन जाती है। सहानुभवी विभाग अनिच्छापूर्वक प्रक्रियाओं पर शासन करता है, जैसे रुधिर-सचालन श्वास लेना और पाचन आदि।

जिस शक्ति या बल को मस्तिष्क इन नाड़ियों द्वारा शरीर के सब अगों में भेजता है, उसे पश्चिमी विज्ञानी "नाड़ी बल" कहते हैं, यद्यपि योगी लोग उसे प्राण का विकास समझते हैं। ख़ासियत और वेग में वह बिजली की धारा के समान होता है। यह बात देखने में आवेगी कि बिना इस नाड़ी-यत्र के हृदय धड़क नहीं सकता, भिन्न भिन्न अवयव अपनी क्रिया नहीं कर सकते, सच तो यह है कि बिना इसके शरीर-यत्र बिलकुल निष्क्रिय हो जाता है, जब ये बातें ख़्याल की जावेंगी, तब प्राण के आकर्षण करने का महत्त्व सब पर विदित होगा, तथा इस श्वासविज्ञान की महिमा उससे भी अधिक होगी, जितना पश्चिमी विज्ञान अब कर रहा है।

इस नाड़ी-यत्र के एक पटल में योगियों की शिक्षाएँ पश्चिमी विज्ञान से बहुत आगे बढ़ जाती हैं। हमारा अभिप्राय उस नाड़ी-ग्रथि से है, जिसे पश्चिमी विज्ञान सौयकेंद्र कहता है, और जिसे वह अन्य नाड़ी ग्रथियों में से केवल एक नाड़ी-ग्रथि समझता है, जिसके गुच्छक शरीर के अनेक भागों में पाए जाते हैं। योगविज्ञान कहता है कि नाड़ी ग्रथि वस्तुतः नाड़ी-जाल में सब प्रधान अग है, यह एक प्रकार

का मस्तिष्क है, जो मानव शरीर में मुख्य कार्य करता है। पश्चिमी विज्ञान इसकी महिमा समझने की ओर थोड़ा थोड़ा झुका जाता है, परन्तु योगी लोग इसकी महिमा सैकड़ों वर्ष से समझे हुए हैं। पश्चिमी वैज्ञानिक इसे पेट का मस्तिष्क भी कहते हैं। यह सौर्यकेंद्र आमाशय के पीछे, उसके गढ़े के ठीक पीछे, मेरुदंड के दोनों ओर होता है। यह सफ़ेद और भूरी गुद्दियों का बना हुआ उसी प्रकार का होता है, जैसी मनुष्य की और गुद्दियाँ हुआ करती हैं। इसका अधिकार मनुष्य के भीतरी सभी प्रधान अवयवों पर है; और जितना ख़याल किया जाता है, उससे कहीं अधिक बड़ा बड़ा काम करता है। हम इस सौर्यकेंद्र के विषय में योगियों के विचार का सविस्तर वर्णन नहीं करेंगे; केवल हम इतना ही बतला देंगे कि यही प्राण का मदर भंडार है। इस स्थान पर चोट लगने से मनुष्य तुरत मरते हुए जाने गए हैं। और पहलवान लोग इसकी मार्मिकता को जानते हैं, इसलिये इस स्थान पर चाट पहुँचाकर अपने विपक्षी को थोड़े काल के लिये शक्तिहीन बना देते हैं।

इस ग्रंथि को जो "सौर्य" विशेषण दिया गया है, यह बहुत ही उपयुक्त है, क्योंकि प्राण का भंडार होने के कारण यह उसी प्रकार बल और शक्ति को फैलाता है, जैसे सूर्य प्रकाश और ताप आदि को फैलाता है। ख़ास मस्तिष्क भी प्राण के लिये इसी का आश्रय करता है। देर या सवेर पश्चिमी विज्ञान भी इस सौर्यकेंद्र की क्रियाओं को समझने लगेगा और यह केंद्र पश्चिमी विज्ञान में महत्व की उस पदवी को पावेगा, जो इस वर्तमान समय की पदवी से कहीं ऊँची होगी।

इक्कीसवाँ अध्याय

प्राण के अभ्यास

हम इस किताब के अन्य अध्यायों में आपको बतला आए हैं कि प्राण हवा, भोजन और पानी से प्राप्त किया जा सकता है। हमने श्वास लेने, भोजन करने और जल के व्यवहार करने की सविस्तर शिक्षा दे दी है। अब इस विषय में कहने के लिये कुछ भी शेष नहीं रह गया है। परंतु इस विषय को छोड़ देने क पहले हम हठयोग के कुछ ऊँचे सिद्धांतों और अभ्यासों को आपको बतला देना अच्छा समझते हैं कि यह प्राण कैसे प्राप्त किया जाता है और कैसे वितरित किया जाता है। हमारा उद्देश तालयुक्त श्वास से है, जो हठयोग के अभ्यासों की कुंजी है।

सभी वस्तुएँ स्फुरण अर्थात् कंप में हैं। छोटे-से छोटे परमाणु से लेकर बड़े-से-बड़े सूर्य तक सभी स्फुरण की दशा में हैं। प्रकृति में कोई भी वस्तु नितांत स्थिर नहीं है। यदि अकेला एक परमाणु भी कंप से हीन हो जाय, तो सारी सृष्टि को विनष्ट कर दे। अनवरत स्फुरण में विश्व का कार्य हो रहा है। द्रव्य के ऊपर शक्ति का प्रभाव पड़ रहा है, जिसके परिणाम से अगणित रूप और असंख्य भेद उत्पन्न होते रहते हैं; परंतु ये रूप और भेद भी नित्य नहीं हैं। ज्यों ही वे बन जाते हैं, त्यों ही परिवर्तन होने लगता है और इनसे अगणित रूप उत्पन्न होते हैं, जो परिवर्तित होकर नए रूपों को प्रकट करते हैं। इसी तरह से क्रमश अनंतता तक सिलसिला लग जाता है। इस रूप के संसार में कोई वस्तु नित्य नहीं है, परंतु तो भी महत् सत्य परिवर्तन हीन और नित्य है। रूप केवल आभास

मात्र हैं—वे आते हैं और जाते हैं—परतु असलियत नित्य और अविकारी है।

मानव शरीर के परमाणु अनवरत स्फुरण में हैं। अनवरत परिवर्तन हुआ करते हैं। जिन द्रव्यों से आपका शरीर बना है, थोड़े ही दिनों में उनमें पूरा परिवर्तन हो जाता है; आपके शरीर में इस समय जितने परमाणु हैं, कुछ महीनों के पश्चात् शायद ही कोई उनमें से शेष रह जाय। स्फुरण, लगातार स्फुरण! परिवर्तन, लगातार परिवर्तन।

सब स्फुरण में एक ताल पाया जाता है। ताल विश्व में व्यापक है। ग्रहों के सूर्य के गिर्द घूमने, समुद्र के उमड़ने और दबने, हृदय के धड़कने, ज्वार के उठने और भाटा के बैठने, सबमें ताल का नियम चरितार्थ होता है। सूय की किरणें हमारे पास आती हैं, वृद्धि होती है, सब उसी नियम के अनुसार। सब वृद्धि इसी नियम की प्रदर्शिनी है। सब गति इसी ताल के नियम का प्रकाशन है।

हमारा शरीर ताल के नियम का वैसा ही वशवर्ती है, जैसा ग्रह का सूर्य के चारों ओर घूमना है। योग के श्वासविज्ञान का भीतरी और गूढ़ तत्व अधिकांश प्रकृति के इसी विदित नियम पर आश्रित है। शरीर के ताल में मिलकर योगी बहुत अधिक प्राण आकर्षण कर सकता है, जिसको वह अपने अभीष्ट-साधन में लगाता है। आगे चलकर इस विषय को हम अधिक विस्तार से कहेंगे।

यह हमारा शरीर एक छोटी खाड़ी की भाँति है, जो समुद्र से पृथ्वी में घुस गई हो। यद्यपि प्रकट में तो यह अपने ही नियमों के वशवर्ती है परंतु वास्तव में यह समुद्र की ज्वार और भाटा के नियमों के आधीन है। जीवन का महासमुद्र उमड़ और दब रहा है, उठता है और बैठता है, और हम लोग उसी के कप और ताल के अनुगामी हो रहे हैं। स्वाभाविक दशा में हम जीवन के महा

समुद्र के कप और ताल को ग्रहण कर लेते हैं और उसका अनुसरण करते हैं, परन्तु कभी कभी खाड़ी के मुहाने पर बढ़ी हुई मिट्टी आकर मुँह बंद कर देती है और हम महासागर की प्रेरणा नहीं प्राप्त कर सकते तथा हमारे भीतर गड़बड़ पैदा हो जाती है।

आप लोगों ने सुना होगा कि बेला बाजे पर एक स्वर यदि ठीक तालयुक्त बार-बार बजाया जाय, तो ऐसे कपों को संचालित करेगा, जो किसी समय में एक पुल को ढाह सकते हैं। यही बात उस समय होती है, जब कोई पलटन पुल पार करने लगती है, तब सर्वदा यह हुक्म दिया जाता है कि क़दम तोड़ दिया जाय (अर्थात् सबके एक पैर साथ न उठाए और रक्खे जायँ) नहीं तो क़दम का कप पुल और पलटन दोनों को नीचे गिरा दे। इस तालयुक्त गति के प्रभाव के उदाहरणों से आप भावना कर सकते हैं कि तालयुक्त श्वास का कितना प्रभाव शरीर पर पड़ सकता है। सारा शरीर कप को ग्रहण कर लेता है और आकांक्षा के सुर में मिल जाता है, जिससे फेफड़ों में तालयुक्त गति होने लगती है, और जब वह इस प्रकार सुर में मिल जाता है, तब आकांक्षा की आज्ञाओं का तुरंत पालन करने लगता है। जब शरीर का सुर इस तरह ठीक हो जाय, तो अपनी आकांक्षा की आज्ञा से शरीर के किसी भाग के रुधिर-संचालन को बढ़ाने में योगी को कठिनता नहीं होती। इसी प्रकार वह शरीर के किसी भाग में अधिक नाड़ीबल प्रवाहित कर सकता है, जिससे शरीर को शक्ति और उत्तेजना मिले।

इसी प्रकार तालयुक्त श्वास द्वारा योगी कप को मानो ग्रहण कर लेता है और अधिक परिमाण के प्राण पर अधिकार कर लेता है और उसे ग्रहण कर लेता है और तब वह उसकी इच्छा के आधीन हो जाता है। तब वह उसे साधन बना लेता है कि उसके द्वारा दूसरों के पास विचार भेज सकता है और उनको अपनी ओर आक-

पित कर सकता है, जिनके विचार उसी कंप में बह रहे हैं। दूर से रोग दूर करने, विचार भेजने और ग्रहण करने, मानसिक क्रियाओं से रोग दूर करने, मिसमेरिज़िम आदि के दृश्य, जो आजकल पश्चिमी दुनिया में इतना *कुतूहल उत्पन्न* कर रहे हैं और जो योगियों को सैकड़ों वर्ष से विदित हैं, बहुत ही अधिक बढ़ाए जा सकते हैं, यदि विचार भेजनेवाला मनुष्य तालयुक्त श्वासक्रिया करने के पश्चात् इन प्रयोगों को करे। तालयुक्त श्वास मानसिक और ओजस क्रियाओं द्वारा रोग आदि दूर करने में दूने से भी अधिक प्रभाव बढ़ा देगा।

तालयुक्त श्वासक्रिया में असल बात ताल की भावना प्राप्त करना है। उन लोगों के लिये, जो संगीत से कुछ जानकारी रखते हैं, *नपी-तुली गिनती की भावना* परिचित है। दूसरों के लिये पलटन के सिपाहियों के तालयुक्त क़दम "बायाँ, दहना; बायाँ, दहना; बायाँ, दहना एक, दो, तीन, चार; एक, दो, तीन, चार; एक, दो, तीन, चार;" कुछ-कुछ भावना दे सकेंगे।

योगी अपने ताल के समय को उस मात्रा के आश्रित रखता है, जो उसके दिल की धड़कन के अनुसार होता है। दिल की धड़कन भिन्न भिन्न मनुष्यों में भिन्न भिन्न काल का अंतर देकर हुआ करती है; परंतु प्रत्येक मनुष्य के हृदय की धड़कन की मात्रा उस व्यक्ति के लिये तालयुक्त साँस लेने में उपयुक्त हुआ करती है। अपनी नाड़ी पर हाथ रखकर *अपने हृदय की स्वाभाविक धड़क की मात्रा को निश्चित* करो और तब गिनो—१, २, ३, ४, ५, ६; १, २, ३, ४, ५, ६; इत्यादि, जब तक ताल की भावना दृढ़ होकर तुम्हारे मन में अंकित न हो जाय। थोड़े अभ्यास से ताल निश्चित हो जायगा कि जिससे तुम आसानी से उसे दुहरा सको। प्रारंभिक दशा में मनुष्य छः मात्रा में श्वास भीतर खींचता है, परंतु अभ्यास से वह इसे बहुत बढ़ा सकता है।

तालयुक्त श्वास लेने में योगी का यह नियम है कि श्वास (भीतर खींचना) और प्रश्वास (बाहर फेंकना) दोनों में मात्राएँ समान रहें, और श्वास को भीतर रोकने तथा श्वासों के बीच बिना श्वास के रहने की मात्राएँ श्वास और प्रश्वास की मात्राओं से आधी रहा करें।

तालयुक्त श्वास का नीचे लिखा हुआ अभ्यास अच्छी तरह सिद्ध कर लेना चाहिए, क्योंकि यह अनेक अन्य अभ्यासों का, जिनका आगे चलकर वर्णन होगा, आधार है।

(१) सीधे सुख आसन से बैठो, जिसमें जहाँ तक संभव हो, छाती, गर्दन और सिर एक सीध में हो, कंधे थोड़ा पीछे दबे और हाथ आसानी से जाँघों पर पड़े हों। इस स्थिति में शरीर का बोझ अधिकांश पसलियों पर रहता है, और यह स्थिति आसानी से क़ायम रक्खी जा सकती है। योगियों की यह बात जानी हुई है कि तालयुक्त श्वास का पूरा फल न मिलेगा, यदि छाती भीतर दबी और पेट निकला रहेगा।

(२) धीरे धीरे पूरी साँस भीतर खींचो और छाती की धड़क के समान छ मात्रा तक गिनते जाओ।

(३) तीन मात्रा की गिनती तक श्वास को रोक रक्खो।

(४) धीरे धीरे नाक से हवा बाहर निकालते जाओ और छ मात्रा तक गिनते जाओ।

(५) श्वास छोड़ देने के पश्चात् ३ मात्रा तक श्वास को बाहर ही रोक रक्खो।

(६) कई बार इसी तरह से साँस लो, पर आरंभ ही में अपने को थका मत डालो।

(७) जब तुम कसरत समाप्त किया चाहो, सफ़ाईवाली श्वास क्रिया कर डालो, जो तुम्हें विश्राम देगी और फेफड़ों को साफ़ कर डालेगी।

थोड़े अभ्यास के बाद तुम श्वास खींचने और प्रश्वास छोड़ने के

काल को बढ़ा सकोगे और थोड़े ही दिनों में इनका काल १६ मात्रा तक हो सकेगा। इसके बढ़ाने में स्मरण रखना कि श्वास रोकने और दो श्वासों के बीच बिना श्वास के रहने की मात्रा श्वास और प्रश्वास की मात्रा की आधी होनी चाहिए।

श्वास के समय बढ़ाने के लिये अपने को बहुत थका मत डालो, परन्तु ताल प्राप्त करने के लिये जहाँ तक हो सके यत्न करो, क्योंकि यह श्वास की लंबाई का अपेक्षा अधिक प्रधान है। अभ्यास करते जाओ और यत्न में लगे रहो कि गति का नपा-तुला कंप मालूम हो जाय और कंप की गति के ताल को सारे शरीर में वेदना अनुभव करने लगो। इसमें थोड़े अभ्यास और धैर्य की आवश्यकता होगी, परंतु अपनी उन्नति पर जो सुख मालूम होगा, वह इस परिश्रम को आसान बना देगा। योगी बहुत ही सतोषी और धैर्यवान् मनुष्य होता है, और इन्हीं गुणों से बड़ी-बड़ी सिद्धियाँ प्राप्त कर लेता है।

प्राण का उत्पन्न करना

भूमि या चारपाई पर चित पड़ जाओ, कुल शरीर को शिथिल कर दो, हाथ हल्के हल्के सौर्यकेंद्र पर पड़े रहें, (जहाँ आमाशय का गड्ढा रहता है अर्थात् जहाँ से पसलियाँ पृथक् होने लगती हैं) तालयुक्त श्वास लो। जब ताल पूरी तरह से निश्चित हो जाय, यह आकांक्षा करो कि प्रत्येक श्वास प्राण भंडार से अधिक प्राण या जीवट शक्ति खींचे, जिसे नाड़ी-जाल ग्रहण करके सौर्यकेंद्र में संचित करे। प्रत्येक प्रश्वास के छोड़ते समय यह आकांक्षा करो कि प्राण या जीवट शक्ति सारे शरीर में वितरित होवे प्रत्येक अवयव और भाग प्रत्येक मांसपेशी, देहाणु और परमाणु, प्रत्येक नाड़ी, धमनी और शिरा, सिर की चोटी से लेकर पैर के अँगूठे तक में प्रत्येक नाड़ी को बलशक्ति उत्तेजना देते, प्रत्येक नाड़ी-केंद्र को भरते, सारे शरीर में शक्तिबल और दृढ़ता पहुँचाता हुआ जा रहा है। अब

आकाश का प्रयोग करो, तब भीतर आते हुए प्राण की मानसिक मूर्ति बना लो कि फेफड़े द्वारा आ रहा है और सौर्येकेंद्र द्वारा ग्रहण किया जा रहा है; और प्रश्वास के यतन में सारे शरीर के कुल भागों में अँगुलियों के सिरों और पैर की अँगुलियों तक में जा रहा है। बड़े परिश्रम से आकाश करना आवश्यक नहीं है; केवल जैसा तुम चाहते हो उसी की आज्ञा दो और उसकी मानसिक मूर्ति बना लो। मानसिक मूर्ति के सग सग शांत आज्ञा बलपूर्वक इच्छा करने की अपेक्षा बेहतर है, क्योंकि बलपूर्वक इच्छा करने में शक्ति का व्यर्थ व्यय होता है। ऊपर लिखी हुई कसरत बहुत ही लाभ देनेवाली है; और नाड़ीजाल को ताज़ा और शक्तिमान् बना देती है, और सारे शरीर में विश्राम का भाव फैला देती है। यह उस जगह बहुत ही गुणकारी प्रतीत होता है, जहाँ मनुष्य थका है या शक्ति की कमी समझता है।

रुधिर-सचालन का परिवर्तन करना

लेटकर या सीधे बैठे हुए तालयुक्त श्वास लो, और प्रश्वास छोड़ते समय जिस भाग में चाहो, उसी भाग में रुधिर-संचार को प्रेरित होने की आकाक्षा करो, अधूरे रुधिर-सचार के कारण कोई दु ख भोग रहा हो। यह क्रिया ठडे पैर और सिर की पीड़ा की दशा में बहुत लाभ दायक होती है, दोनों दशाओं में रुधिर नीचे की ओर सचालित किया जाता है, पहली दशा में तो पैर को गरम करने के लिये और दूसरी दशा में सिर के दबाव को हलका करने के लिये। ज्यों-ज्यों रुधिर का सचार नीचे आवेगा, त्यों-त्यों टाँगों में तुम गर्मी मालूम करने लगोगे। रुधिर-सचार अधिकारा आकांक्षा के अधिकार में होता है और ताल युक्त श्वास काय को और भी आसान कर देती है।

फिर प्राण भरना

यदि तुम्हें मालूम हो कि तुम्हारी जीवट-शक्ति क्षीण होती जाती

है और तुम्हें शीघ्र जीवट-शक्ति का सञ्चय कर लेना आवश्यक है, तो सर्वोत्तम उपाय यह है कि दोनों पैरों को इकट्ठा कर लो (एक दूसरे के बग़ल में) और दोनों हाथों की अँगुलियों को जैसे चाहो वैसे एक हाथ की अँगुलियों को दूसरे हाथ की अँगुलियों से ग्रंथि रूप में बाँध लो। इससे मण्डल बन्द हो जाता है, और छोरों से प्राण का निकलना रुकता है। तब कई बार तालयुक्त श्वास लो और फिर प्राण से भर जाने का प्रभाव तुम्हें मालूम होने लगेगा।

मस्तिष्क को उत्तेजित करना

नीचे लिखी हुई कसरत को, योगियों ने मस्तिष्क की क्रिया को उत्तजित करने में, कि सोचना और विचारना स्पष्टता के साथ हुआ करे, बहुत लाभदायक पाया है। यह मस्तिष्क और नाड़ी-जाल के साफ़ करने में आश्चर्यजनक प्रभाव रखती है; और जिन्हें मानसिक काम करना पड़ता है, वे इसे बहुत गुणकारी पायेंगे, जिसके द्वारा मेहतर मानसिक क्रिया भी होगी और कठिन मानसिक परिश्रम के बाद इसके द्वारा मन ताज़ा और स्वच्छ हो जायगा।

सीधे बैठो, रीढ़ की हड्डी को सीधा रक्खो, आँखों को ठीक सामने रक्खो, हाथ टाँगों के उपरी भाग पर पड़े रहें। तालयुक्त श्वास लो परंतु दोनों नथनों द्वारा श्वास लेने के स्थान पर, जैसा सामान्य श्वास में किया करते हो, बाएँ नथने को अँगूठे से बन्द कर लो और केवल दहने नथने से श्वास भीतर खींचो। तब अँगूठा हटा लो और दहने नथने को अँगुली से बंद करो और तब बाएँ नथने से प्रश्वास बाहर निकाल दो। तब बिना अँगुलियों के बदले हुए बाएँ नथने से श्वास खींचो, और अँगुली बदलकर दहने से प्रश्वास छोड़ो। तब दहने से श्वास लो और बाएँ से श्वास छोड़ो, और इसी तरह से ऊपर लिखी हुई रीति से नथनों को बदलते जाओ, उपयुक्त नथने को अँगूठे या अँगुली से बंद किए

रहो। यह योगियों का सबसे पुराना तरीक़ा श्वास का है, और यह मुख्य और लाभदायक तरीक़ा ग्रहण ही करने के योग्य है। परंतु पश्चिमी लोग इसी को योगियों की सारी योग शिक्षा समझते हैं। इसे जानकर योगियों को हँसी आ जाती है। पश्चिमी लोगों को योगियों की श्वासक्रिया की यही भावना होती है कि एक हिंदू सीधे बैठा है और श्वास लेने में कभी इस नथने से और कभी उस नथने से श्वास ले रहा है। "केवल इतना ही और बस।" हम आशा करते हैं कि इस किताब से पश्चिमी दुनिया की आँखें खुल जावेंगी और योगी के श्वास क्रिया के महत्त्व और इसके प्रयोग के अनेक तरीक़ों को लोग समझ जायँगे।

योगियों की महती मानसिक श्वास क्रिया

योगियों को एक प्रिय श्वासक्रिया मालूम है, जिसका वे कभी-कभी अभ्यास करते हैं, जिसका नाम एक संस्कृत शब्द है, जिसका ऊपर दिया हुआ अर्थ है। हमने इसको अंत में दिया है, क्योंकि इसमें शिष्यों की ओर से ऐसे अभ्यास की आवश्यकता है कि जिसमें ताल युक्त श्वास और मानसिक कल्पना दोनों हों और जिसे वह पहले वर्णन की हुई कसरतों के द्वारा अब प्राप्त कर लिया होगा। इस महाश्वास के मूल-तत्त्व को हम इस पुरानी हिंदू कहावत द्वारा थोड़े में कह देते हैं कि "धन्य वह योगी है, जो अपनी हड्डियों द्वारा श्वास लेता है।" इस कसरत से सारा शरीर-यंत्र प्राण से भर जायगा और शिष्य इस कसरत को जब समाप्त करेगा, तो उसकी प्रत्येक हड्डी, मांसपेशी, नाड़ी, देहाणु, रेशा, अवयव और भाग शक्तिसंपन्न और प्राण तथा श्वास के ताल के लय में मग्न होकर निकलेंगे। यह शरीर-यंत्र को साफ़ कर देनेवाली कसरत है और जो शिष्य इसका सावधानी से अभ्यास करता है, उसको मालूम होगा कि मानो उसको नया शरीर मिल गया है, जो सिर से लेकर पैर के अँगूठे

तक ताज़ा ताज़ा बना हुआ है। हम आगे उस कसरत को लिखते हैं।

(१) शरीर को शिथिल करके बिलकुल आराम से पड़ जाओ।

(२) तालयुक्त श्वास लो, जब तक ताल ठीक न हो जाय।

(३) श्वास खींचते और प्रश्वास छोड़ते समय यह कल्पना करो कि श्वास टाँगों की हड्डियों से आ रही है और उन्हीं में होकर निकल रही है; तब भुजाओं की हड्डियों से, फिर आमाशय से, फिर जननेंद्रिय के स्थान से; तब मानो मेरुदंड से आ और जा रही है, तब मानो साँस चमड़े के प्रत्येक छिद्र से खींची और प्रवाहित की जा रही है और सारा शरीर मानो प्राण और जीवन से भर रहा है।

(४) तब तालयुक्त साँस लेते हुए प्राण की धार सातों मर्म स्थानों में बारी-बारी से भेजो, जैसा नीचे दिया जाता है, परन्तु ऊपर लिखी हुई मानसिक कल्पना बनी रहे।

(अ) ललाट प्रदेश में।

(ब) सिर के पिछले भाग में।

(स) मस्तिष्क के आधार में।

(द) सौर्यकेंद्र में।

(ई) पेट के नीचे के खोखले (गुदाचक्र) में।

(फ) नाभिप्रदेश में।

(ज) जननेंद्रिय प्रदेश में।

प्राण का प्रवाह सिर से पैर तक कई बार आगे-पीछे बहाकर समाप्त कर दो।

(५) सफ़ाईवाली क्रिया करके ख़तम कर दो।

बाईसवाँ अध्याय

शिथिलीकरण विज्ञान

शरीर के शिथिल करने का विज्ञान हठयोग शास्त्र का एक मुख्य अंग है और बहुत-से योगी इस विषय की इस शाखा में बहुत अधिक जी लगाते और सावधानी रखते हैं। पहली दृष्टि में तो सामान्य पाठक को इस शिक्षा की भावना कि शरीर कैसे शिथिल किया जाय, कैसे विश्राम किया जाय बड़ी हास्य-जनक होगी, क्योंकि उनके ख़याल से प्रत्येक मनुष्य इस सीधी बात को जानता है।

सामान्य मनुष्य कुछ-कुछ सही भी है। प्रकृति हमें शरीर को शिथिल करना और पूरा विश्राम करना सिखा देती है। इस विज्ञान में बचा आचार्य होता है। परन्तु ज्यों-ज्यों हम बड़े होते हैं, त्यों-त्यों कृत्रिम आदतें बहुत-सी धारण करते जाते हैं, और पहले की स्वाभाविक आदतों को लोप हो जाने देते हैं। इसलिये मनुष्यों को योगियों से इस विषय में शिक्षा प्राप्त करने की बहुत बड़ी आवश्यकता हो जाती है।

साधारण डॉक्टर भी मनुष्यों की इस विषय के मूल तत्त्वों की अनभिज्ञता की साक्षी दे सकते हैं। क्योंकि वे जानते हैं कि नाड़ी की बीमारियों में अधिकांश बीमारियाँ इस विश्राम करने के विषय की अनभिज्ञता के कारण हुआ करती हैं।

विश्राम और शरीर को शिथिल करना, ये बातें काहिली और सुस्ती से बहुत ही भिन्न हैं। सच बात तो यह है कि जिन लोगों ने शरीर को शिथिल कर देने के विज्ञान को साध लिया है, वे प्रायः अत्यंत क्रियाशील और शक्तिमान् मनुष्य हो गए

ही भाव उत्पन्न हुआ कि मारने की क्रिया को प्रारम्भिक गतियाँ शुरू हो गईं। परंतु मांसपेशियों की गति के स्पष्ट प्रकट होने के पहले दूसरा श्रेष्ठतर विचार पहली मारनेवाली क्रिया को रोकने का उत्पन्न हुआ (ये सब बातें एक क्षण में हो गईं) और अन्य मांसपेशियों ने पहली मांसपेशियों की गति को रोक लिया। दोहरी क्रिया आज्ञा देने और रोकने की, इतनी शीघ्रता से हो गई कि मन को इन सब गतियों का ज्ञान न हो सका, परंतु तो भी मांसपेशी मारने की इच्छा से काँपने लगी थी कि उसी अर्से में रोकने की प्रेरणा ने उसका विरोध किया और गति को रोक लिया।

यही मूलबात और अधिक सूक्ष्मरूप में अनवरुद्ध विचारों के अनुसरण में थोड़े प्राण की धार को मांसपेशी में भेजता है और मांसपेशी को आकुंचित करता है, जिससे प्राण का व्यर्थ व्यय और मांसपेशियों का व्यर्थ क्षोभन हुआ करती है। बहुत-से मनुष्य जो गरम मिज़ाज, चिड़चिड़े और ज़ोशीली आदत के होते हैं, वे सवदा अपनी नाड़ियों को काम में लगाए और अपनी मांसपेशियों को ताने हुए रहते हैं, क्योंकि उनकी मानसिक दशा अन-वरुद्ध और अनधिकृत रहती है। विचार ही क्रिया का रूप धारण करते हैं ; और ऊपर लिखे हुए मिज़ाज और आदत का मनुष्य लगातार अपने विचारों की धार को मांसपेशियों में भेजा करता है और फिर उसके उलटे विचार भेजकर पहले को रोका करता है। इसके विपरीत जिस मनुष्य ने स्वाभाविक रीति से या साधन करके शांत और गुणाश्रित मन प्राप्त किया है, उसकी वैसी प्रेरणाएँ न हुआ करेंगी, न उनके ऐसे प्रतिकूल ही होंगे। वह शांत धीर होकर रहता है और उसके विचार उसे न नहीं भागते। वह स्वामी है गुलाम नहीं है।

इन आवेशीले स्वभावात के क्रियारूप में परिणत होने और फिर

उन्हें रोकने के प्रयत्न का रिवाज अक्सर आदत बन जाता है—पुरानी आदत हो जाता है—और ऐसे मनुष्यों की नाड़ियाँ और मांसपेशियाँ सर्वदा तनाव में रहती हैं, जिसका परिणाम यह होता है कि जाघट, प्राण और सारे शरीर की लगातार छीजन हुआ करती है। ऐसे मनुष्यों की बहुत-सी मांसपेशियाँ सर्वदा तनी हुई दशा में रहती हैं, जिसका यह मतलब है कि लगातार प्राण का धार उस ओर बहा करती है और नाड़ियाँ सदा प्राण पहुँचाने के काम में लगी रहती हैं। हमको एक नक बुढ़िया की कथा याद है, जो रेल पर सवार किसी पास के नगर को जा रही थी। उसको वहाँ पहुँचने की इतनी ख़ुशी थी और इतनी आतुर हो गई थी कि वह अपनी बैठक पर स्थिर बैठ न सकती थी; इसके विपरीत वह बैठक के किनारे पर बैठी थी, और उसका शरीर आगे की ओर झुका हुआ था, यही दशा कुल १६ मील की यात्रा में रही उसका मन मानो ट्रेन को आगे बढ़ने के लिये उत्तेजित कर रहा था। इस बुड्ढी औरत के ख़्यालात यात्रा के अन्त के लिये इतने ज़ोर के थे कि ख़्यालात ने क्रिया का प्रत्यक्ष रूप धारण कर लिया था; और उसको जो शरीर को ढीला करके रखना था, उसके स्थान पर उसकी मांसपेशियाँ आकुंचित हो रही थीं। हम लोगों में से बहुत-से मनुष्य उसी बुढ़िया की भाँति के हैं; जब हम किसी चीज़ को देखने लगते हैं, तो आतुर होकर सारे शरीर पर तनाव डाल देते हैं; और एक-न-एक तरह से सर्वदा अपनी बहुत-सी मांसपेशियों पर तनाव डाले रहते हैं। हम ज़ोर से मुट्ठियाँ बाँधते हैं, नाक-भौं चढ़ाते हैं, कसकर अपने ओठों को बंद करते हैं, ओठों को दाँत से काटते हैं, या अपने दाँतों को पीसते हैं या ऐसी ही अन्य बातें करते हैं, जिससे मानसिक दशा क्रियारूपों में प्रकट होती है। यह सब प्राण का व्यर्थ व्यय करना है। इसी तरह की बुरी वे आदतें भी हैं, जिनसे मनुष्य झूठे ही ढोलकी बजाने का हाथ

फेरा करता है, अँगूठा घुमाया करता है, अँगुलियाँ मचाया करता है, पैर की अँगुलियों से ज़मीन ठोंका करता है, मुँह चबाया करता है, तिनके तोड़ा करता है, दाँत से पेंसिल काटा करता है, अन्य शरीर के किसी अवयव को हिलाया करता है और भूमा करता है। ये बातें और ऐसी ही अनेक बातें प्राण का व्यर्थ व्यय करने वाली हैं।

अब मांसपेशियों के आकुंचन के विषय में हम कुछ-कुछ समझने लगे हैं, इसलिये अब फिर शरीर के शिथिल करने के विषय पर चलिए।

शिथिल किए हुए अंग में प्राण की धार का प्रवाह नहीं होता। बहुत थोड़ा-थोड़ा प्राण शरीर के भिन्न भिन्न अंगों में स्वास्थ्य की दशा में सचार करता है कि जिससे स्वाभाविक स्थिति बनी रहे, परंतु यह धार उस धार की अपेक्षा जो आकुंचन में प्रवाहित की जाती है, बहुत हीन हुआ करती है। शिथिल होने में मांसपेशियाँ और नाड़ियाँ विश्राम की दशा में रहती हैं; और प्राण, व्यर्थ खर्च होने के स्थान पर संचित हुआ करता है। यह शिथिलीकरण बच्चों और जानवरों में गौर से देखा जा सकता है। कुछ युवा लोगों में भी पाया जाता है; आप ख्याल करेंगे कि ऐसे युवा धैर्य, शक्ति, बल और वीर्य में अन्यों की अपेक्षा अधिक हुआ करते हैं। काहिल आदमी शिथिलीकरण का उदाहरण नहीं है। शिथिलीकरण और काहिली में बड़ा फ़र्क है। शिथिलीकरण उद्यम के साथ में विश्राम है, जिसका परिणाम यह होता है कि बेहतर काम और थोड़े प्रयत्न से होता है। काहिली उद्यम से जी चुराना है और इस प्रयत्न का परिणाम अकर्मण्यता होती है।

जो मनुष्य शिथिलीकरण अर्थात् शक्तिसंचय को समझता और व्यवहार में लाता है, वह सचार अवस्था का करता है। वह एक सेर

प्रयत्न से एक सेर का काम लेता है, और वह अपनी शक्ति बर्बाद नहीं करता, न बिगाड़ता और न उसे बहाया करता है। सामान्य मनुष्य, जो इस नियम को नहीं समझता, तिगुनी से लेकर पचीसगुनी तक आवश्यकता से अधिक शक्ति उस काम में ख़र्च कर देता है, चाहे वह काम शारीरिक हो या मानसिक। यदि आपको इस बात में संदेह हो, तो जिनसे आपकी संगति हो जाय, उन्हें ग़ौर से देखिए कि वे कितनी व्यर्थ गतियाँ करते हैं। मानसिक भावों में वे अपने आपे नहीं रहतीं, जिसका परिणाम शारीरिक अतिव्यय होता है।

योग के गुरु लोग अपने शिष्यों को भारतवर्ष में किताब द्वारा शिक्षा नहीं देते, किंतु, वाणी द्वारा शिक्षा देते हैं। वे प्रकृति और उदाहरण से बहुत-सा वस्तुपाठ पढ़ाते हैं, जिससे शिष्य के हृदय में ठीक भाव बैठ जाय। हठयोग के गुरु जब शिथिलीकरण का पाठ पढ़ाने लगते हैं, तो वे अपने शिष्यों के ध्यान को बिल्ली या उसी की जाति के तेंदुआ, चीता आदि की ओर आकर्षित करते हैं, क्योंकि ये जानवर वहाँ के जंगलों में अधिकता से पाए जाते हैं।

आपने कभी बिल्ली को विश्राम करते देखा है? कभी उसे चूहे के बिल के पास छुपके हुए देखा है? पिछली सूरत में आपने ग़ौर किया है कि कैसे आराम से सुंदर स्थिति में वह छुपकी रहती है—न तो मांसपेशियों का आकुंचन है न तनाव है—अत्यंत शक्ति विश्राम कर रही है, परंतु तुरंत हमला करने के लिये तैयार है। स्थिर और गतिहीन वह पड़ी रहती है; प्रगट वह सोई हुई या मरी नज़र आती है। परंतु देखते रहिए, जब समय आता है, वह बिजली के समान झपटती है। बिल्ली का विश्राम यद्यपि गति और मांसपेशियों के तनाव से विहीन था, पर तो भी वह जीवित विश्राम था—काहिली से बिलकुल ही भिन्न बात थी। परंतु काँपती हुई मांसपेशियों, तनी हुई नाड़ियों और पसीने के बूँदों के अभाव को

स्मरण कर लो। क्रिया के यंत्र प्रतीक्षा ही में नहीं ताने गए हैं। व्यर्थ की हरकत और तनाव नहीं है; सब चीज़ें तैयार हैं, और ज्यों ही क्रिया का अवसर उपस्थित होता है, त्यों ही प्राण ताज़ी मांसपेशियों और विश्रांत नाड़ियों में भेज दिए जाते हैं, और इसके साथ ही-साथ बिजली की कल की चिनगारियों की भाँति क्रिया प्रकट हो जाती है।

हठयोगी, जो सौंदर्य, जीवट और विश्राम में बिल्लियों का उदाहरण देते हैं, वह बहुत ही अच्छा उदाहरण है।

वास्तव में, जब तक शिथिल करने की योग्यता न होगी, तब तक तेज़ी की और ख़ूब प्रभाव की क्रिया न होगी। वे मनुष्य जो चपल रहा करते हैं, कनमनाया करते हैं और जोश में रहते हैं, और नीचे-ऊँचे पैर पटका करते हैं, सर्वोत्तम काम करनेवाले नहीं होते, वे क्रिया का समय आने के पहले ही अपने को थका देते हैं। जिस मनुष्य का भरोसा किया जा सकता है, वह वह मनुष्य है, जो शांति, शिथिलीकरण की योग्यता और विश्राम रखता है। परंतु चंचल मनुष्य को निराश न होना चाहिए। शिथिलीकरण और विश्राम उसी प्रकार प्राप्त किए जा सकते हैं, जैसे अन्य गुण प्राप्त हुआ करते हैं।

अगले अध्याय में हम कुछ सरल शिक्षाएँ उन लोगों के लिये देंगे, जो शिथिलीकरण विज्ञान का क्रियात्मक ज्ञान चाहते हैं।

शिथिलीकरण के नियम

विचार क्रिया में प्रगट होते हैं, और क्रियाओं का प्रभाव मानस पर पड़ता है। ये दोनों सच बातें साथ ही रहती हैं। इसमें का एक बात उतनी ही सच्ची है, जितनी दूसरी। हम लोगों ने मन का प्रभाव शरीर पर पड़ने के विषय में बहुत कुछ सुना है, परंतु हमें यह न भूलना चाहिए कि शरीर, अथवा उसकी स्थिति और विकृति का

प्रभाव मन और मानसिक दशाओं पर भी पड़ता है। शिथिलीकरण के प्रश्न पर विचार करने में इन दोनों तथ्यों को स्मरण रखना चाहिए।

मांसपेशियों के आकुंचन का अनेकों हानिकारी और मूर्खता की क्रियाएँ और आदतें इस कारण से होती हैं कि मानसिक दशाएँ शारीरिक क्रिया का रूप धारण किया करती हैं। और इसके विपरीत, हमारी बहुत-सी मानसिक दशाएँ हमारी शारीरिक असावधानियों आदि के कारण उत्पन्न हो जाती हैं। जब हम क्रुद्ध होते हैं तो यह जोश बँधी हुई मुट्ठियों के शारीरिक रूप में प्रकट होता है। और इसके विपरीत यदि हम मुट्ठियाँ बाँधने, नाक-भौं सिकोड़ने ओठ काटने आदि की आदतें पैदा कर, तो हम अपने मानस को भी ऐसी दशा में ला देंगे कि तनिक-सा कारण पाने पर भी वह क्रोध के आवेग में पड़ जायगा। आप लोग जानते है कि आँखों और ओठों पर मुस्किराहट की क्रिया लाकर उसे थोड़ी देर तक क़ायम रखने से आपको सचमुच मुस्किराहट आ जाती है।

मांसपेशियों के आकुंचन ऐसी हानिकारी क्रिया और उससे व्यर्थ प्राण के व्यय और नाड़ियों का छीजन रोकने के लिये पहला यत्न यह है कि शांति और विश्राम को मानसिक स्थिति पैदा की जाय। यह पैदा का जा सकती है, पर पहले यह बड़ा कठिन काम होगा। परंतु यदि आप इसमें लग जायँगे, तो अपने परिश्रम का पूरा सुफल पा जायँगे। क्रोध और चिड़चिड़ापन को दूर करने से मानसिक साम्य और विश्राम पैदा हो सकते हैं। चिड़चिड़ापन और क्रोध का मूल कारण भय हुआ करता है, परंतु चूँकि हम भय और चिड़चिड़ापन ही को प्रारंभिक मानसिक दशा मानने के आदी हैं, इसलिये हम इन्हें ऐसा ही समझकर बर्ताव करेंगे। योगी बचपन ही से क्रोध और चिड़चिड़ापन दूर करने का

अभ्यास करता है, और परिणाम यह होता है कि जब उसको कुछ शक्तियाँ जग जाती हैं, तब भी वह नितांत क्षोभहीन और शांत बना रहता है और शक्ति तथा बल का रूप दिखाई देता है। वह वैसा ही भाव उत्पन्न करता है, जैसा पर्वत समुद्र आदि से युत शक्ति के भाव उदय हुआ करते हैं। उसके निकट आने पर मालूम होता है कि यहाँ बहुत शक्ति और बल पूर्ण विश्राम में हैं। योगी क्रोध को बहुत नीच मनोविकार समझता है, जो नीच जंतुओं और वहशी मनुष्यों में पाया जाता है, परंतु विकसित मनुष्य के तो अत्यंत प्रतिकूल है। वह इसे तत्कालीन उन्माद समझता है, और उस मनुष्य पर रहम खाता है, जो अपने मन शासन को खोकर क्रोध के आवेग में आ जाता है। वह जानता है कि इससे कुछ भी काम नहीं निकलता और यह शक्ति की व्यर्थ बर्बादी और मस्तिष्क तथा नाड़ी-यंत्र के लिये प्रत्यक्ष हानिकारक है इस बात के कहने की आवश्यकता ही नहीं है कि यह धार्मिक प्रकृति और आध्यात्मिक उन्नति को निर्बल करनेवाला तो है हा। इससे यह न समझना चाहिए कि योगी भीरु मनुष्य और बिना वीरता के होता है। इसके विपरीत वह तो भय को कुछ समझता ही नहीं है; उसकी शांति शक्ति की द्योतक है न कि निर्बलता की। आपने कभी गौर किया है कि बड़े बलवाले मनुष्य घमंड और धमकियों से परे रहते हैं, इन्हें वे उन लोगों के लिये छोड़ देते हैं, जो निर्बल तो हैं, पर बातों मे अपने को बलवान् दिखाना चाहते हैं। योगी अपनी मानसिक स्थिति से चिड़चिड़ापन को भी निर्मूल करता है। वह समझ गया है कि यह शक्ति के नाश करने की मूर्खता है, जो कभी लाभ नहीं करती और सर्वदा हानि पहुँचाती है। जब किसी विचार योग्य बात पर विचार करना या कठिनाई का दमन करना होता है, तब तो वह गंभीर विचार में लग जाता है परंतु चिड़चिड़ापन में कभी नहीं गिरता। वह झुँझलाहट का शक्ति

और गति की बर्बादी समझता है, और इसे विकसित मनुष्य के अयोग्य समझता है। वह अपनी प्रकृति और शक्तियों को इतना समझता है कि वह झुँझलाहट में नहीं पड़ता। उसने शनै-शनै अपने को इस बला से बचा लिया है, और अपने शिष्यों को यह उपदेश देता है कि क्रोध और झुँझलाहट से छुटकारा पाना असली योग का प्रथम चरण है।

नीच वृत्तियों और मनोविकारों का दमन करना यद्यपि योगशास्त्र की दूसरी शाखाओं का काम है, पर इसका सीधा संबंध शिथिलीकरण के प्रश्न से है, क्योंकि यह स्पष्ट बात है कि जो मनुष्य क्रोध और झुँझलाहट से पृथक् रहने का अभ्यस्त है, वह अनिच्छापूर्व मांस पेशियों के आकुंचन और नाड़ी की बर्बादी से परे है। क्रोध के आवेग में आए हुए मनुष्य की मांसपेशियाँ मस्तिष्क से निकली हुई अनिच्छापूर्व जोश प्रेरणाओं के कारण तनाव पर होती हैं। जो मनुष्य सर्वदा झुँझलाहट या ज़्यादा ओढ़े रहता है, वह लगातार नाड़ियों के तनाव और मांसपेशियों के आकुंचन में रहता है। इसलिये यह तुरंत देखने में आवेगा कि जब कोई इन निर्बलकारी मनोविकारों से छुटकारा पाता है, तब वह मांसपेशियों के आकुंचन से भी अधिकांश छुटकारा पा जाता है, जिसका ऊपर वर्णन हो चुका है। यदि आप इस बर्बादी की हानि से छुटकारा चाहते हैं, तो उन नीच मनोविकारों से दूर हूजिए, जिनसे यह उत्पन्न हुई है।

इसके विपरीत शिथिलीकरण के अभ्यास से, मांसपेशियों की तनाव की दशा के निवारण करने से इसका प्रभाव मन पर भी पड़ेगा और यह मन को स्वाभाविक साम्य और विश्राम में रक्खेगा। यह ऐसा नियम, जो दोनों ओर काम करता है।

शरीर के शिथिल करने की पहली शिक्षा जो योगी लोग अपने शिष्यों को देते हैं, आगे लिखी जाती है। उसके प्रारंभ करने के पहले

हम अपने शिष्यों के मन पर यह बात अंकित कर दिया चाहते हैं कि "ढील दो" यही शिथिलीकरण का मूल मंत्र है। यदि आप इन दोनों शब्दों के अर्थ को समझ जायँगे और इनका अभ्यास करेंगे, तो आपको इस शिथिलीकरण के विषय में योगियों के प्रचार और अभ्यास का गूढ़ तत्त्व अच्छी तरह से ग्रहण में आ जायगा।

शरीर के शिथिल करने में नीचे लिखा हुआ अभ्यास योगियों को बहुत प्यारा है। चित पड़ जाओ, पूरी तरह से शिथिल करो, प्रत्येक अवयवों को ढील दो। इसी प्रकार ढीले रहने पर अपने मन को सारे शरीर से सिर से पैर की अँगुलियों तक घूमने दो। ऐसा करने में आपको मालूम होगा कि कहीं-कहीं कुछ मांसपेशियाँ अब भी तनी हुई हैं, उन्हें भी ढील दो।

यदि आप इसको अच्छी तरह से करेंगे (अभ्यास से दिन-पर-दिन उन्नति होती जायगी) तो अंत में आपके शरीर की सब मांसपेशियाँ पूरी तरह से शिथिल हो जावेंगी और नाड़ियाँ पूरे विश्राम में हो जावेंगी। कुछ गहरी साँसें लो, और सब तरह शांत और पूरी तरह से शिथिल पड़े रहो। एक बगल में घूम जाओ और फिर अच्छी तरह ढीले हो जाओ। फिर दूसरे बगल में घूमो पर शिथिल अच्छी तरह बने रहो। जैसा पढ़ने में यह आसान जान पड़ता है, वैसा करने में नहीं है, जैसा परीक्षा से आपको मालूम होगा। परन्तु इससे अधीर मत होना। इसमें प्रयत्न करते जाओ और अंत में सफल हो जाओगे। जब शिथिल होकर पड़े रहो, तब यह कल्पना करो कि तुम नरम मुलायम गद्दे पर पड़े हो और तुम्हारे शरीर और अवयव सीसा की भाँति भारी हैं। मन में इन शब्दों को ध्यानपूर्वक जपते जाओ कि "सीसे की भाँति भारी, सीसे की भाँति भारी", साथ ही-साथ भुजाओं को उठाकर उनमें से तनाव निकालकर प्राण खींच लो कि जिससे वे अपने ही भार से बगल में गिर पड़ें। पहले यह बात बहुत मनुष्यों के लिये बड़ी

कठिन होती है। वे अपनी भुजाओं को उन्हीं के भार से नहीं गिरने दे सकते, क्योंकि मांसपेशियों के अनिच्छापूर्व आकुंचन की आदत उनमें जकड़ सी गई रहती है। जब भुजाओं पर अधिकार हो जाय, तब टाँगों पर पहले एक-एक करके फिर साथ ही-साथ दोनों टाँगों पर प्रयोग करो। इन्हें भी अपने ही भार से गिर जाने दो और पूरा शिथिल रहने दो। प्रयोगों के बीच में विश्राम कर लो, और इस कसरत के करते समय उद्योगी मत बनो, क्योंकि भावना तो विश्राम देने और साथ ही-साथ मांसपेशी पर अधिकार करने की है। तब सिर को उठाओ और उसे भी अपने ही भार से गिर जाने दो। तब फिर पड़े पड़े यह कल्पना करो कि शरीर का सारा भार चारपाई या भूमि सहन कर रही है। इस बात पर तुम हँसोगे कि जब तुम लेटे हो, तो शरीर के सारे भार को चारपाई या भूमि तो सहन ही कर रही है, पर तुम ग़लती में हो। तुम्हें मालूम होगा कि तुम अपने शरीर के कुछ भार को किसी किसी मांसपेशी को तानकर, तुम आप सहन करने के यत्न में हो—तुम अपने को ऊपर उठाए रहने के यत्न में हो। इसको बंद करो और भार सहन करने के कार्य को चारपाई को करने दो। तुम भी उतने ही मूर्ख हो, जितना वह बूढ़ी औरत थी, जो गाड़ी में अपने बैठके के छोर पर बैठी थी और गाड़ी को आगे बढ़ने में उसे बना देने के प्रयत्न में थी। अपने आदर्श के लिये सोते हुए बच्चे को देखो। वह अपने सारे भार को चारपाई पर पड़ा रहने देता है। इसमें यदि तुम्हें संदेह हो, तो जहाँ बच्चा सोता रहा हो, वहाँ बिस्तरे को देखो, वहाँ बच्चे के शरीर के दबाव के चिह्न मालूम देंगे—उसके नन्हे शरीर के दबाव। यदि इस पूरे शिथिलीकरण के भाव को न ग्रहण कर सको तो, इस बात से तुम्हें सहायता मिलेगी कि कल्पना करो कि तुम भीगे कपड़े की भाँति ढीले हो गए हो—सिर से पैर तक ढीले हो गए हो—और बिना तनिक तनाव या कड़ाई के पड़े हो। थोड़े ही

अभ्यास से तुम्हें बहुत जल्द आश्चर्य मालूम होगा और तुम इस विश्राम की कसरत से बहुत ताज़ा होकर उठोगे और अपने कामों को अच्छी तरह से करने की सामर्थ्य तुममें प्रतीत होगी।

शिथिलीकरण के विषय में और भी अनेक कसरतें हैं, जिन्हें हठयोगी अभ्यास करते और शिष्यों को सिखलाते हैं; नीचे लिखी हुई कसरतें उनमें सबसे अच्छी हैं—

(१) हाथ में से सब प्राण खींच लो, मांसपेशियों को ढीला छोड़ दो, जिससे हाथ ढीले पड़कर निर्जीव की भाँति कलाई से झूलने लगें। कलाई से इसे आगे पीछे हिलाओ। तब दूसरे हाथ पर उसी तरह प्रयोग करो। फिर दोनों हाथों पर साथ ही प्रयोग करो। थोड़े अभ्यास से ठीक भावना मिल जायगी।

(२) यह पहली की अपेक्षा अधिक कठिन है। इसमें अँगुलियों को शिथिल और ढीला करना होता है और इन्हें गाँठों से हिलाना होता है, पहले एक हाथ की अँगुलियों पर परीक्षा करो, तब दूसरे हाथ की और फिर दोनों हाथों की।

(३) भुजाओं में से सब प्राण खींच लो और उन्हें बाजुओं में ढीला लटकने दो। सब शरीर को एक बाज़ू से दूसरी बाज़ू को झुलाओ जिससे भुजाएँ भी अँगरखे की खाली बाहों की तरह केवल शरीर की गति के कारण झूलें; भुजाओं में तनिक भी बल न लगाया जाय। पहले एक भुजा तब दूसरी और फिर दोनों। इस कसरत को शरीर को अनेकों रीति से घुमा घुमाकर कर सकते हैं कि जिसमें भुजाएँ ढीली लटकती रहें। यदि आप अँगरखे की खाली बाहों पर ध्यान करेंगे, तो आपको इसकी भावना हो जायगी।

(४) कलाई को ढीला करो और इसे केहुनी से ढीला लटकाओ। इसमें सुस्ती से गति दो, पर कलाई की मांसपेशियों

के आकुंचन को रोको। कलाई को ढीला करके झुलाओ। पहले एक को, तब दूसरी को और फिर दोनों को।

(५) पैर को पूरी तरह से ढीला करके घुट्टी से झुलाओ। इसमें थोड़े अभ्यास की आवश्यकता पड़ेगी, क्योंकि पैर को हिलानेवाली मासपेशियाँ थोड़ी बहुत आकुंचित रहती हैं। परंतु बच्चे का पैर, जब उसका वह व्यवहार नहीं करता रहता है, तब अच्छी तरह ढीला रहता है। पहले एक पैर, तब दूसरा और फिर दोनों।

(६) टाँग को, उसमें का सब प्राण खींचकर, ढीला करो और उसे घुटनों से लटकने दो। तब उसे झुलाओ और हिलाओ। पहले एक टाँग तब दूसरी।

(७) किसी गद्दे, तिपाई या बड़ी किताब पर खड़े हो, और एक टाँग को ढीला कर जाँघ से लटकने और झूलने दो। पहले एक टाँग और तब दूसरी।

(८) भुजाओं को सीधा सिर के ऊपर उठाओ और तब उनमें से सब प्राण खींचकर उन्हें अपने ही भार से बगलों में गिर जाने दो।

(९) घुटने को अपने आगे जहाँ तक ऊँचा उठा सकते हो, उठाओ और तब उसमें के कुछ प्राण को खींचकर उसे अपने ही भार से गिर जाने दो।

(१०) सिर को ढीला करो और उसे आगे गिर जाने दो और तब शरीर में गति देकर उसे झुलाओ तब एक कुर्सी पर पीछे लटककर बैठो, सिर को ढीला करो और उसे पीछे लटक जाने दो। ज्यों ही उसमें का प्राण खींच लोगे, त्यों ही वह किसी ओर लटक जायगा। इसकी सही भावना प्राप्त करने के लिये किसी ऊँघते हुए मनुष्य का ख्याल करो, जो कि ज्यों ही निद्रा के वशीभूत हो जाता है और ढीला

पड़ जाता है तथा गर्दन के आकुंचन को बंद कर देता है, त्यां ही अपने सिर को आगे गिर जाने देता है।

(११) कंधों और छाती की मांसपेशियों को ढीली कर दो, जिस से कि छाती का ऊपरी भाग ढीला होकर आगे की ओर गिर जाय।

(१२) कुर्सी पर बैठकर कमर की मांसपेशिया को ढीला करो, जिससे शरीर का ऊपरी भाग आगे को उस प्रकार गिर जायगा, जैसे उस लड़के का शरीर गिर जाता है, जो कुर्सी ही पर बैठे-बैठे सो गया हो।

(१३) जो मनुष्य इन कसरतों को यहाँ तक सिद्ध कर ले, वह यदि चाहे, तो अपने सारे शरीर को गर्दन से लेकर घुटनों तक ढीला कर सकता है; तब वह भूमि पर ढेर सा गिर जायगा। यह एक बड़ा भारी गुण, अकस्मात् गिर जाने की दशा में है। इस सारे शरीर को ढीला कर देने का अभ्यास मनुष्य को चोट से बचाने में बड़ा काम देगा। तुम ख्याल करोगे कि जब छोटा बच्चा गिरता है, तो वह इसी प्रकार ढील देता है, जिससे उसे बड़े मनुष्यों की अपेक्षा, जिनको मोच आ जाती है या जिनके अवयव टूट जाते हैं, बहुत ही कम चोट आती है। यही दृश्य नशे में मतवाले हुए मनुष्यों में देखने में आता है, जिनका वश मांसपेशियों पर नहीं रहता, इसलिये मांस पेशियाँ ढीली हो जाया करती हैं। जब ये गिरते हैं, तब मांस की ढेरी-सा गिर पड़ते हैं और बहुत कम चोट खाते हैं।

इन कसरतों के अभ्यास में प्रत्येक को कई बार कर लो, तब दूसरी को शुरू करो। ये कसरतें बहुत बढ़ाई जा सकती हैं और कई प्रकार की तथा शिष्य की बुद्धि के अनुसार भी बनाई जा सकती हैं। अगर चाहो तो तुम्हीं अपनी नई कसरत रच लो, पर ऊपर दी हुई बातों का ध्यान रखना।

शिथिलीकरण के अभ्यास करने से शरीर को अधिकार में लाने

और विश्राम करने का अनुभव होता है जो एक बड़ा लाभदायक बात है। जब योगियों के शिथिलीकरण विचार का ख्याल करने लगो, तब 'विश्राम में शक्ति" की भावना किए रहो। यह अत्यंत थकी हुई नाड़ियों को बहुत लाभ पहुँचाता है, यह शरीर की उस जकड़न को छुड़ाने का उपाय है जो एक ही समुदाय की मांसपेशियों को अपनी जीविका के लिये काम में लाते रहने से पैदा हो जाती है और इच्छानुसार विश्राम करने के द्वारा थोड़े ही अर्से में जीवट-लाभ करने का सरल उपाय है। पूर्वीय लोग इस शिथिलीकरण के विज्ञान को प्राय जानते हैं और इसका व्यवहार प्रतिदिन के जीवन में करते हैं। वे ऐसी ऐसी यात्रा पर चल खड़े होते हैं, जिनसे पश्चिमी लोग भयभीत हो जावेंगे। ये लोग बहुत मील चलकर एक जगह ठहर जाते हैं, वहाँ ये लेट जाते हैं, प्रत्येक मासपेशी को ढीला कर देते हैं और सब इच्छानुवर्ती मांसपेशिया से प्राण खींच लेते हैं जिससे सिर से पैर तक शरीर ढीला और प्रकट निर्जीव सा हो जाता है। यदि सभव होता है, तो थोड़ी नींद भी ले लेते हैं, यदि नहीं तो जागते ही रहते हैं, पर मांसपेशियों को ऊपर लिखे अनुसार बना लेते हैं। इस प्रकार का एक घटे का विश्राम सामान्य मनुष्यों के एक रात्रि के विश्राम के बराबर या उससे अधिक होता है। वे फिर ताज़े होकर नए जीवन और नई शक्ति के साथ अपनी यात्रा शुरू करते हैं। तमाम घूमनेवाले फ़िर्क़े और जातियाँ इस ज्ञान को प्राप्त किए होती हैं। यह स्वाभाविक रीति से अमेरिकन, इंडियन, अरब आफ्रिका के वहशी और सारे ससार के वहशियों में पाया जाता है। सभ्य मनुष्य ने इस गुण को लुप्त हो जाने दिया है क्योंकि अब यह पैदल लबी यात्रा नहीं करता, परतु यदि सभ्य मनुष्य इस गुण को फिर भी प्राप्त कर लेता, तो इसके काम के जीवन की थकावट दूर होने में बहुत कुछ सहायता मिल जाती।

अँगराई लेना

अँगराई लेना विश्राम करने का दूसरा तरीक़ा है, जिसे योगी लोग काम में लाते हैं। पहली दृष्टि में तो यह शिथिलीकरण का उलटा मालूम देता है; परन्तु वास्तव में यह भी उसी का भाई है, क्योंकि यह उन मांसपेशियों से तनाव खींच लेता है, जो आदत ही से आकुंचित रहा करती हैं, और उनके द्वारा शरीर-यंत्र के सब भागों में प्राण भेजकर प्राणसाम्य कर देता है, जिससे सारे शरीर को लाभ पहुँचता है। प्रकृति हमें जमुहाई और अँगराई लेने को उस समय विवश कर देती है, जब हम थक जाते हैं। हमको प्रकृति की किताब से पाठ सीखना चाहिए। हमको इच्छापूर्वक और अनिच्छापूर्व अँगराई लेना सीखना चाहिए। आप जितना आसान इसे ख़याल करते हैं, उतना आसान यह नहीं है; इससे पूरा लाभ उठाने के पहले आपको इसका अभ्यास करना होगा।

शिथिलीकरण की कसरतों को उसी क्रम से कीजिए, जिस क्रम से इस किताब में दी गई हैं परंतु प्रत्येक भाग को ढीला करने के स्थान पर उसे तान दो। पाँव से शुरू करो और टाँगों तक बढ़ जाओ, और फिर भुजाओं और सिर तक करो। अनेक रीतियों से तानो या फैलाओ, अपनी टाँगों, पैरों, भुजाओं, हाथों, सिर और शरीर को इस प्रकार तानो और मड़ोरो जैसे तानने और फैलाने में पूरा फैलाव प्राप्त होने की तुम्हें आशा हो। जमुहाई लेने से भी नस हरा, यह भी एक प्रकार का तनाव ही है। तानने में तुम्हें मांसपेशियों को फैलाना और आकुंचन करना होगा; परंतु विश्राम और सुख बाद के खिंचाव में आवेगा। अपने मन में 'ढील दन" की भावना को रक्खे रहो, न कि मांसपेशियों के प्रयत्न, का ख़याल करो। हम तनाव या प्रसारण की कसरतें नहीं दे सकते क्योंकि प्रसारण की इतनी रीतियाँ उसके सामने हैं कि उसके उदाहरण दिए जाने

की आवश्यकता ही नहीं है। उसे ठीक विश्रामदायक प्रसारण की भावना को राह देने दो और प्रकृति उसे बतला देगी कि क्या करना होगा। तो भी यहाँ एक साधारण शिक्षा बतला दी जाती है। भूमि पर खड़े हो, अपनी टाँगों को दूर दूर फैलाए रहो और अपनी भुजाओं को, अपने सिर के ऊपर, फैलाकर सीधी रक्खो। तब पैर की उँगलियों पर उठो और अपने शरीर को शनै-शनै इस प्रकार तानो कि मानो छत को छूना चाहते हो। यह बहुत ही सरल कसरत है, पर आश्चर्यजनक रीति से ताज़गी देने वाली है।

प्रसारण या तनाव का एक भेद इस प्रकार से भी प्राप्त हो सकता है कि अपने शरीर को ढीला करके चारो ओर से ख़ूब हिला दो, शरीर के इतने अधिक भाग हिलें, जितने तुम हिला सकते हो। न्यूफ़ाउंडलैंड कुत्ता जब पानी में से बाहर निकलता है, तो जिस तरह पानी झाड़ने के लिये अपने बदन को हिलाता है, उसे देखकर समझ जाइए कि हमारा क्या अभिप्राय है।

शिथिल करने की ये सब तरकीबें, यदि उचित रीति से शुरू और समाप्त की जावें, तो अभ्यास करनेवाले को नई शक्ति दे देंगी और अपने काम को करने के लिये वह फिर उतारू हो जायगा। उसको वैसा ही मालूम होगा, जैसा थकावट के बाद भरनींद सोने और उठकर मल-मलकर स्नान करने से मालूम होता है।

मन के शिथिल करने का अभ्यास

इस अध्याय को समाप्त करने के पहले मन के शिथिल करने की कसरत दे देना भी अच्छा होगा। शरीर के शिथिल करने का प्रभाव मन पर पड़ता है और उसे विश्राम देता है परंतु मन के शिथिल करने का भी प्रभाव शरीर पर पड़ता है और उसे विश्राम देता है। इसलिये यह अभ्यास उस मनुष्य की आवश्यकता को पूरी कर सकता

है, जिसको इस अभ्यास में पहले लिखी हुई बातों से विश्राम में मज़ा न मिला हो।

चुपचाप शरीर को ढीला करके सुखासन में बैठ जाओ और अपने मन को बाहरी चीज़ों और ख़्यालात से हटा लो; क्योंकि इसमें भी मानसिक बल व्यय होता रहता है। अपने ध्यान को भीतर असली आत्मा पर लगा दो। ऐसा ख़्याल करो कि तुम शरीर से बिलकुल परे हो और इसे, बिना अपना व्यक्तित्व क्षीण किए हुए छोड़ सकते हो। तुम्हें एक आनंदमय विश्राम और शांति तथा संतोष का अनुभव होगा। ध्यान को पार्थिव शरीर से हटाकर ऊँचे "अहम्" में, जो असली तुम हो, जमाना आवश्यक है। अपने चारों ओर जो विस्तृत सृष्टि है, करोड़ों सूर्य अपने पृथ्वी के मानिंद ग्रहों से घिरे हुए हैं, और कहीं-कहीं जो इससे भी बहुत बड़े हैं, उनका ध्यान करो। देश और काल के विस्तार की ओर मन की भावना फैलाओ, जीवन को इन सारी दुनियाओं में फैला हुआ देखो, और तब इस पृथ्वी और अपनी स्थिति पर विचार करो कि यह कैसा धूलि-कण के ऊपर एक कीट की भाँति है। तब अपने विचार ही में और ऊपर उठो और समझो कि यद्यपि तुम उस महत् का एक कण हो, तो भी तुम उस जीवन का एक अंग हो और उस आत्मा की एक किरण हो जो सबमें व्याप रहा है सोचो कि तुम अमर, नित्य और अविनाशी हो, उस संपूर्ण का एक आवश्यक अंग हो, और एक ऐसा अंग हो कि जिसके बिना संपूर्ण रह ही नहीं सकता, संपूर्ण की बनावट का पूरा करनेवाला अंग तुम्हीं हो। ऐसा अनुभव करो कि तुम उस महत् जीवन के सबसे लगाव रखते हो, संपूर्ण का जीवन तुममें स्फुरण कर रहा है। महत् जीवन का सारा महासागर तुमको अपने हृदय पर हलराय रहा है। और तब जागकर अपने पार्थिव जीवन में आओ, तब तुम्हें मालूम होगा कि तुम्हारा शरीर ताज़ा हो गया है, तुम्हारा मन शांत

और बलवान् हो गया है ; और तब तुम उस काम में चिपट जाओगे, जिसको बहुत दिन से टालते चले आते हो। तुम मानस के ऊपरी लोकों में भ्रमण करने से लाभ उठाए और बलवान् हो गए हो।

क्षण-भर का विश्राम

काम करते करते क्षण भर का विश्राम पा जाने की तरकीब, उड़ते-उड़ते विश्राम पा जाने की तरकीब, जैसा कि हमारे नवयुवक मित्र शिष्यों में से एक ने इसे कहा है—नीचे लिखी जाती है—

सीधे खड़े हो, सिर ऊँचा और कंधे पीछे को दबे हों, तुम्हारी भुजाएँ बग़ल में ढीली लटकती हों। तब अपनी एड़ियों को धीरे-धीरे भूमि से उठाओ, शनै-शनै अपने भार को पैर के पंजा पर रखते जाओ, और साथ ही-साथ अपनी भुजाओं को बग़ल से ऊपर उठाते जाओ तब तक कि वे गिद्ध के फैले हुए पखने की भाँति न हो जायँ। ज्यों-ज्यों भार पंजों पर पड़ता जाय और भुजाएँ फैलती जायँ, त्यों-त्यों श्वास भीतर खींचते जाओ और तुम्हें उड़ने की भाँति मालूम होने लगेगा। तब धीरे धीरे श्वास छोड़ते जाओ और शरीर का भार फिर एड़ियों पर लाते जाओ और भुजाओं को नीचे बग़लों में लाते जाओ। यदि ऐसा करना तुम्हें अच्छा लगे, तो इसे कई बार करो। जों पर उठने और भुजाओं को फैलाने से एक प्रकार के हलकेपन और स्वतंत्रता का अनुभव होगा, जिसको समझने के लिये इसका अभ्यास ही करना पड़ेगा।

तेईसवाँ अध्याय

शारीरिक व्यायाम का लाभ

मनुष्य को प्रारम्भिक दशा में शारीरिक व्यायाम की शिक्षा की आवश्यकता न थी—लड़की और नवयुवकों को, जो स्वाभाविक रुचि के हैं, अब भी आवश्यकता नहीं है। मनुष्य के जीवन की प्रारम्भिक दशा उसको अनेक प्रकार की पुष्कल क्रियाओं में व्यस्त रखती थी, उसे बाहर काम करना पड़ता था, और व्यायाम की उत्तम-से उत्तम दशाएँ प्राप्त हो जाती थीं। उसे अपने लिये भोजन ढूँढ़ना, उसे तैयार करना, अपनी फ़सिल उत्पन्न करना, अपना घर बनाना, ईंधन जुटाना और सहस्रों ऐसे काम करने पड़ते थे, जो उसके सादे जीवन के सुख के लिये आवश्यक थे। परंतु मनुष्य ज्यों ज्यों सभ्य होने लगा, त्यों-त्यों अपने कामों के भाग दूसरों के हवाले करने लगा, और स्वयं किसी दूसरे प्रकार के काम में लग गया। अब में अब ऐसा हो गया है कि हममें से बहुत लोग वास्तव में कुछ भी शारीरिक काम नहीं करते और कुछ लोगों को एक ही प्रकार का कठिन परिश्रम करना पड़ता है। दोनों को अस्वाभाविक जीवन व्यतीत करना होता है।

शारीरिक परिश्रम, बिना मानसिक क्रियाओं के मनुष्य के जीवन को ठुठना कर देता है। वैसे ही बिना शारीरिक परिश्रम के केवल मानसिक क्रियाएँ भी उसे ठुठना बना देती हैं। प्रकृति समता चाहती है—सुन्दर मध्यवर्ती पथ चाहती है। स्वाभाविक साधारण जीवन के लिये मनुष्य की शारीरिक और मानसिक सब शक्तियों का व्यवहार में आ जाना बहुत आवश्यक है। और यह जो अपने जीवन को इस प्रकार से नियमित करता है कि

शारीरिक और मानसिक दोनों प्रकार के परिश्रम हुआ करते हैं, वही सबसे अधिक स्वस्थ और सुखी होता है।

लड़कों को आवश्यक व्यायाम उनके खेलों में मिल जाता है, और उनकी स्वाभाविक प्रवृत्ति उन्हें खेल कूद में लग जाने की प्रेरणा करती है। चतुर मनुष्य अपने मानसिक परिश्रम के बाद खेल कूद भी अच्छी तरह कर लिया करते हैं। नए नए खेल जो अब धीरे धीरे प्रचार पा रहे हैं, उनसे विदित होता है कि मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति अभी मरी नहीं है।

योगियों का यह विश्वास है कि खेल की प्रवृत्ति—यह वेदना कि कसरत चाहिए—वही प्रवृत्ति है, जो मनुष्य से रुचिकर जीविका के लिये—परिश्रम कराती है—यह क्रिया के लिये—भिन्न भिन्न क्रियाओं के लिये—प्रवृत्ति की प्रेरणा है। स्वाभाविक स्वस्थ शरीर वही है, जो अपने सब अंगों में समान पुष्टि पाए हुए है, और कोई अंग उचित पोषण नहीं पाता, जब तक उस अंग द्वारा समुचित परिश्रम न किया जाय। जिस अवयव से कम काम लिया जाता है, वह साधारण पोषण की अपेक्षा कम पोषण पाता है, और समय पाकर निर्बल हो जाता है। प्रकृति ने मनुष्य के शरीर के प्रत्येक अंग और भाग के लिये स्वाभाविक उद्यमों और खेलों के द्वारा व्यायाम नियत किया है। स्वाभाविक उद्यम से हमारा अभिप्राय उस उद्यम से नहीं है, जो शरीर के केवल किसी विशेष अंग से लिया जाता है; क्योंकि जो मनुष्य केवल एक ही प्रकार का काय करता है, वह केवल थोड़ी-सी मासपेशियों से अधिक काम लेता है और उसकी अन्य मांसपेशियाँ जकड़ जाती हैं; उसे भी व्यायाम की उतनी ही आवश्यकता है जितनी मेज़ के पास बैठकर दिन भर काम करनेवाले को होती है; अंतर इतना है कि पहले को दूसरे की अपेक्षा बाहर काम करने से लाभ होता है।

हम वर्तमान शारीरिक शिक्षा को खुले मैदान के उद्यम और खेल के स्थान पर बहुत ही हीन स्थानापन्न समझते हैं। इनमें कोई मनोरंजकता नहीं होती और जिस प्रकार उद्यम और खेल में मन प्रसन्नता पूर्वक लगकर काम करता है, वैसा इसमें नहीं करता। परंतु किसी प्रकार का व्यायाम उसके अभाव की अपेक्षा अच्छा है। परंतु हम उस व्यायाम के बिलकुल ही विरोधी हैं, जिससे कुछ ही मांसपेशियों की वृद्धि होती है और पहलवानी के खेल किए जाते हैं। यह सब अस्वाभाविक बात है। शारीरिक शिक्षा की पूर्ण पूण पद्धति वह है, जो सारे शरीर का यथोचित विकास करती है, सब मांसपेशियों से काम लेती है—सब *भागों को पुष्ट करती है, जो व्यायाम में यथासाध्य अधिक से अधिक* मन लगाव उत्पन्न करे और जो अपने शिष्यों को खुले मैदान में रक्खे।

योगी लोग अपने प्रतिदिन के जीवन में अपने कामों को आप करते हैं और इस तरह बहुत सा व्यायाम पा जाते हैं। ये जंगलों में बहुत दूर तक घूम फिर भी आते हैं (य लोग जंगल व पहाड़ों को मैदान और बड़े-बड़े शहरों की अपेक्षा अधिक पसंद करते हैं)। अपने ध्यान और अध्ययन के बीच-बीच में ये अनेक प्रकार के हलके व्यायाम भी कर लिया करते हैं। इनके व्यायाम में कोई नूतन बात नहीं है। इनके व्यायाम में मूल और प्रधान अंतर अन्य व्यायामों से यह है कि *ये शरीर की गतियों के साथ मन का भी प्रयोग करते हैं।* जिस प्रकार उद्यम और खेल में जी लगने से मन का प्रयोग होता है, उसी तरह योगी अपने व्यायाम में भी मन लगाता है। वह अपने व्यायाम में जी लगाता है और अपनी आकांक्षा के प्रयत्न से संचालित भाग में प्राण की अधिक मात्रा भेजता है। इस तरह उसे कई गुना अधिक लाभ होता है, और कतिपय मिनटों ही के व्यायाम से उसे उस व्यायाम का दशगुना लाभ होता है, जो यों ही लापरवाही से *बिना जी लगाए किया जाता है।*

इच्छित भाग में जी लगाने की क्रिया आसानी से साधी जा सकती है। केवल इतना ही आवश्यक है कि इस बात पर पक्का विश्वास कर लिया जाय कि यह हो जायगा; इस तरह सदेह के कारण जो भीतरी बाधाएँ पड़ती हैं, वे न पड़ेंगी। तब केवल मन को आज्ञा दो कि उस भाग में प्राण भेजे और रुधिर-सचार को बढ़ावे। मन इसको अनिच्छापूर्वक तो कुछ-न-कुछ करता ही है, जब शरीर के किसी भाग पर ध्यान आकर्षित होता है; परतु आकांक्षा का प्रयोग करने से प्रभाव और भी अधिक बढ़ जाता है। अब आकांक्षा के प्रयोग करने में भी यह आवश्यक नहीं है कि भौंहें सिकोड़ी जायँ, मुट्ठी बाँधी जायँ, और प्रबल शारीरिक प्रयत्न किया जाय। बहुत सरल उपाय अभीष्ट फल को प्राप्त करने का यह है कि जिस बात को हम चाहते हैं, उसके लिये पूरी आशा और भरोसा करें कि वह अवश्य हो जाय। यही पूरी आशा और भरोसा आकांक्षा की प्रभावशाली आज्ञा है—इसका प्रयोग कीजिए और बात सिद्ध है।

उदाहरण के लिये यदि आप अपनी कलाई में अधिक प्राण भेजा चाहते हैं और वहाँ का रुधिर-संचार बढ़ाया चाहते हैं और इसके द्वारा उसकी पुष्टि की उन्नति किया चाहते हैं, तो केवल भुजा को बटोर लीजिए और तब शनै-शनै उसे फैलाने लगिए, अपनी दृष्टि या अपने ध्यान को कलाई पर जमाए रहिए और अपने अभीष्ट का ध्यान किए रहिए। इसको कई बार कीजिए, तो आपको मालूम होगा कि आपने कलाई की कोई अच्छी कसरत भली भाँति कर ली है, यद्यपि आपने उससे कोई भी प्रबल गति नहीं कराई और न किसी कसरत के औज़ार आदि का व्यवहार किया। इस तरकीब का प्रयोग शरीर के कई अगों पर कीजिए उन अंगों से कोई भी गति कराते रहिए, जिसमें आपका ध्यान वहीं लगा रहे तो आपको बहुत जल्द कुंजी मालूम हो जायगी और जब कभी आप किसी

साधारण सरल व्यायाम को करने लगेंगे, तो यह बात स्वयं आप-ही आप होने लगेगी। संक्षेप यह है कि जब आप कोई व्यायाम करने लगें, तो इन बातों पर ध्यान जमाए रहें कि आप क्या और किसलिये कर रहे हैं; तब आपको पूरा फल बहुत जल्द मिल जायगा। अपने व्यायाम को जीवित और मनोरंजक बनाए रहिए; और लापरवाही से बिना मन लगाए अंगों को कसरत करने से बाज़ आइए। व्यायाम में कोई मन लगाव की बात मिला दीजिए और तब उसका उपयोग कीजिए। इस प्रकार मन और शरीर दोनों लाभ उठाते हैं। व्यायाम समाप्त होने पर आपको ऐसी तमतमाहट और प्रसन्नता मालूम होगी, जैसी बहुत दिनों से न मालूम हुई होगी।

अगले अध्याय में हम थोड़ी साधारण कसरतें देते हैं, जो, यदि उनका अभ्यास किया जाय तो, शरीर के अंगों के लिए सब आवश्यक गतियों को देंगी, प्रत्येक भाग काम करेगा, प्रत्येक अवयव शक्ति ग्रहण करेगा, और आप केवल अच्छी तरह से विकास ही न पावेंगे, किंतु सिपाही की भाँति सीधे खड़े हो जावेंगे और पहलवान की भाँति चुस्त और फुर्तीले बन जायेंगे। इन कसरतों के कुछ भाग तो योगियों के आसन और मुद्राओं से लिए गए हैं और कुछ भाग योरप और अमेरिका की शारीरिक शिक्षा से लिए गए हैं, जो वहाँ की पलटनों में व्यवहृत होते हैं। ये पलटनों की शारीरिक शिक्षावाले पूर्वीय कसरतों का भी अध्ययन किए हुए हैं और उनमें से ऐसे भाग ले लिए हैं जो उनके उद्देश्य के अनुकूल हैं; और इन लोगों ने कसरतों की एक ऐसी माला बना ली है, जो करने में तो बहुत सादी और सरल है, परंतु परिणाम में बहुत आश्चर्यजनक प्रभाव उत्पन्न करनेवाली है। इस पद्धति की सादगी और सरलता के कारण आप इसका निरादर न करें। इसी की आपको आव

श्यकता थी; इसके अनावश्यक अंग निकाल डाले गए हैं। इनके विषय में अपने मन को स्थिर करने के पहले इनकी परीक्षा तो कर लीजिए। ये आपको शरीर से नया बना देंगी, यदि आप उचित समय और उचित श्रद्धा इनके अभ्यास में लगावेंगे।

साधारण सरल व्यायाम को करने लगेंगे, तो यह बात स्वयं आप ही आप होने लगेगी। सक्षेप यह है कि जब आप कोई व्यायाम करने लगें, तो इन बातों पर ध्यान जमाए रहें कि आप क्या और किसलिये कर रहे हैं; तब आपको पूरा फल बहुत जल्द मिल जायगा। अपने व्यायाम को जीवित और मनोरंजक बनाए रहिए; और लापरवाही से बिना मन लगाए अंगों को कसरत करने से बाज़ आइए। व्यायाम में कोई मन-लगाव की बात मिला दीजिए और तब उसका उपयोग कीजिए। इस प्रकार मन और शरीर दोनों लाभ उठाते हैं। व्यायाम समाप्त होने पर आपको ऐसी तमतमाहट और प्रसन्नता मालूम होगी, जैसी बहुत दिनों से न मालूम हुई होगी।

अगले अध्याय में हम थोड़ी साधारण कसरतें देते हैं, जो, यदि उनका अभ्यास किया जाय तो, शरीर के अंगों के लिये सब आवश्यक गतियों को देंगी, प्रत्येक भाग काम करेगा, प्रत्येक अवयव शक्ति ग्रहण करेगा; और आप केवल अच्छी तरह से विकाश ही न पावेंगे, किंतु सिपाही की भाँति सीधे खड़े हो जावेंगे और पहलवान की भाँति चुस्त और फुर्तीले बन जावेंगे। इन कसरतों के कुछ भाग तो योगियों के आसन और मुद्राओं से लिए गए हैं और कुछ भाग योरप और अमेरिका की शारीरिक शिक्षा से लिए गए हैं, जो वहाँ की पलटनों में व्यवहृत होते हैं। ये पलटनों का शारीरिक शिक्षावाले पूर्वीय कसरतों का भी अध्ययन किए हुए हैं और उनमें से ऐसे भाग ले लिए हैं जो उनके उद्देश्य के अनुकूल हैं; और इन लोगों ने कसरतों की एक ऐसी माला बना ली है, जो करने में तो बहुत सादी और सरल है, परंतु परिणाम में बहुत आश्चर्यजनक प्रभाव उत्पन्न करनेवाली है। इस पद्धति की सादगी और सरलता के कारण आप इसका निरादर न करें। इसी की आपको आव

श्यकता थी; इनके अनावश्यक अंग निकाल डाले गए हैं। इनके विषय में अपने मन को स्थिर करने के पहले इनकी परीक्षा तो कर लीजिए। ये आपको शरीर से नया बना देंगी, यदि आप उचित समय और उचित श्रद्धा इनके अभ्यास में लगावेंगे।

चौबीसवाँ अध्याय

योगियों के कुछ व्यायाम

इन कसरतों को आपको बतलाने के पहले हम फिर आपके मन पर इस बात को अंकित करना चाहते हैं कि बिना जी लगाए कसरत अपना फल नहीं देती। आपको अपनी कसरत में जी लगाने का प्रबंध करना होगा कि उसमें कुछ मन भी लगा रहे। आपको उस कसरत को पसंद करना पड़ेगा और इस बात पर ख़याल करना पड़ेगा कि इसका मतलब क्या है। इस सलाह का अनुसरण करने से आपको इस काम में कई गुना अधिक लाभ होगा।

खड़े होने की स्थिति

प्रत्येक कसरत को स्वाभाविक रीति से खड़े होकर तुम्हें शुरू करना चाहिए अर्थात् तुम्हारी एड़ियाँ एकत्र रहें, सिर ऊँचा, आँखें सामने, कंधे पीछे, छाती फैली, पेट थोड़ा भीतर खिंचा और भुजाएँ बग़ल पर लटकती हों।

(१) अभ्यास

(१) भुजाओं को अपने सामने सीधा फैलाओ, ऊँचाई कंधों के समान रहे, हाथों की हथेलियाँ एक दूसरी को छूती रहें। (२) हाथों को झोंका देकर पीछे फेंको जब तक हाथ कंधों से सीधे बग़लों के सामने, या उससे भी कुछ पीछे, यदि आसानी से जा सकें, न चले जायँ; तेज़ी से पहली स्थिति में आओ, और इसे कई बार करो। भुजाओं को बड़ी तेज़ी से झोंका देना चाहिए और चैतन्यता और ओीवट के साथ अनमने होकर काम मत करो, किंतु जी लगाकर करना। यह कसरत छाती, कंधा की मांसपेशियाँ

आदि के विकाश करने में बड़ी लाभदायक है। हाथों को झोंका देकर पीछे ले जाने में यदि तुम पैर के पंजों पर हो जाओ और आगे लाने में फिर एड़ियों पर आ जाओ तो और भी अच्छा होगा। बार-बार की आगे पीछेवाली गति तेज़ पेंडुलम की भाँति तालयुक्त होनी चाहिए।

(२) अभ्यास

(१) भुजाओं को कंधों से सीधा बगल की ओर फैलाओ, हाथ खुले रहें, भुजाओं को इसी तरह फैलाए ही हुए एक वृत्त में (जो बहुत बड़ा न हो) घुमाओ, भुजाओं को जहाँ तक भव हो पीछे ही की ओर दबाए रहो और हाथ वृत्ताकार घूमते समय छाती की लाइन के सामने न आने पावें। वृत्त बनाना जारी रखो जब तक मान लो कि १२ न हो जायँ। यदि योगियों के तरीक़े से पूरी साँस ले लोगे और बहुत से वृत्तों तक उसे रोक रक्खोगे तो और भी अच्छा होगा। इस कसरत से छाती, कंधे और पीठ विकसित होते हैं।

(३) अभ्यास

(१) भुजाओं को अपने सामने सीधा फैलाओ, प्रत्येक हाथ की कनिष्ठिका अँगुलियाँ एक दूसरी को छूती रहें, हथेलियाँ ऊपर की ओर हों। (२) तब छोटी अँगुलियों को छूते ही रहे हुए हाथों को टेढ़ा वृत्ताकार गति से सीधा ऊपर जाओ, जब तक दोनों हाथों की अँगुलियों के छोर सिर के ऊपरी भाग को ललाट के पिछवाड़े न छुएँ, अँगुलियों की पीठ छूती रहें, ज्यों ज्यों गति हो त्यों-त्यों कुहनियाँ बाहर की ओर होती जायँ (जब अँगुलियाँ सिर को छुएँ, अँगूठे पीछे की ओर इंगित करते रहें), और अंत में बग़लों की ओर हो जावें। (३) अँगुलियों को क्षण भर सिर का पीछा छुए रहने दो और तब कुहनियों को पीछे खींचकर (जिससे कंधे भी पीछे को दब जाते हैं)

भुजाओं को टेढ़ी गति से पीछे की ओर दबाओ जब तक वे पूरी लम्बी होकर खड़े होने की स्थिति में बगलों में न आ जायँ।

(४) अभ्यास

(१) भुजाओं को कंधे से बगलों की ओर सीधा फैलाओ। (२) तब मुट्ठियों को उसी स्थिति में फैलाए हुए भुजाओं को कुहनियों पर टेढ़ा करो और कलाइयों को वृत्ताकार गति से ऊपर लाओ जब तक फैली हुई अँगुलियों के छोर कंधों के ऊपरी भाग को छू न लें। (३) अँगुलियों को इसी अन्तिम स्थिति में रखते हुए कुहनियों को झोंका देकर सामने की ओर लाओ कि वे एक दूसरी को छू लें या छूने के निकट हो जायँ (थोड़े अभ्यास से वे छूने लगेंगी)। (४) तब अँगुलियों को उसी स्थिति में रखते हुए कुहनियों को इतना पीछे ले जाओ जितना ले जा सको। (थोड़े अभ्यास से ये बहुत पीछे जाने लगेंगी) (५) कुहनियों को कई बार आगे पीछे ले जाओ।

(५) अभ्यास

(१) हाथों को नितंब पर रक्खो, अँगूठे पीछे की ओर, कुहनियाँ पीछे को दबी हों। (२) शरीर को नितंब से आगे की ओर टेढ़ा करो जहाँ तक तुम टेढ़ा कर सको, पर छाती को चौड़ा किए और कंधों को पीछे ही दबाए रहो। (३) शरीर को पहली खड़े होने की स्थिति में लाओ। हाथ नितंब ही पर रहे, और तब पीछे झुको। इन गतियों में घुटनों को टेढ़ा न करना चाहिए, और गति धीरे धीरे करनी चाहिए। (४) तब हाथ नितंबों ही पर रखकर दाहनी ओर धीरे धीरे झुको, एड़ियाँ भूमि पर दृढ़ बनी रहें, घुटने टेढ़े न होने पावें, और शरीर ऐंठने न पावे। (५) पहली स्थिति पर आओ और तब शरीर को धीरे धीरे बाईं ओर झुकाओ, पिछली गति में दी हुई सूचनाओं का अनुसरण किए रहो। यह कसरत कुछ थकावट लाने वाली है, और पहले इसमें अतिशय मत करना धीरे धीरे आगे

बढ़ना। (६) हाथ उसी तरह नितम्बों ही पर रक्खे हुए शरीर के ऊपरी भाग को, कमर से ऊपर चारों ओर वृत्ताकार घुमाओ, जिसमें सिर सबसे बड़ा वृत्त बनावे। पर खिसकने और घुटने टेढ़े न होने पावें।

(६) अभ्यास

(१) सीधे खड़े होकर, भुजाओं को सीधा सिर के ऊपर उठाओ, हाथ खुले रहें और जब भुजाएँ सिर के ठीक ऊपर चली जायँ तब अँगूठे एक दूसरे को छूते रहें, हथेलियाँ आगे की ओर रहें। (२) तब बिना घुटनों को टेढ़ा किए, शरीर को कमर से नीचे झुकाओ और फैली हुई अँगुलियों के छोरों से भूमि को छूने का यत्न करो यदि तुम पहले इसे न कर सको तो जहाँ तक बन सके यत्न करो और शीघ्र तुम इसे ठीक करने लगोगे—परंतु स्मरण रहे कि न घुटने टेढ़े होने पावें और न भुजाएँ। (३) उठो और इसे कई बार करो।

(७) अभ्यास

(१) सीधे खड़े होकर और हाथों को नितम्बों पर रक्खे हुए, अपने को पैर के पञ्जों पर कई बार उठाओ। जब पञ्जों पर उठ जाओ, तो क्षण भर ठहर जाओ, तब एड़ियों को फिर भूमि पर आ जाने दो, फिर ऊपर लिखे अनुसार ऊपर उठो। घुटनों को टेढ़ा न होने दो और एड़ियों को एकत्र रक्खो। यह कसरत टाँगों को पिछली मांस पेशियों (पींडी) को उन्नत करती है, और शुरू में वहाँ कुछ पीड़ा सी होने लगेगी। यदि आपकी वहाँ की मांसपेशियाँ विकसित न हों तो इस कसरत को कीजिए। (२) हाथों को नितम्बों ही पर रक्खे हुए अपने पैरों को दो फ़ीट के फ़ासले पर रखिए और तब शरीर को बैठने की स्थिति में लाइए; थोड़ा ठहरकर फिर पहली स्थिति में ले आइए। इसे कई बार कीजिए, पर पहले अतिशय न

(५) तीसरी स्थिति पर आओ, पीठ के बल, लवान भर, भुजा को सीधा ऊपर सिर की ओर उठाए हुए रहो और अँगुलियों। पीठें भूमि को छूती रहें। (६) तब धीरे धीरे शरीर को बैठन स्थिति में लाओ, भुजाएँ कंधों के सामने बाहर की ओर फै रहें। तब धीरे धीरे फिर पड़ जाने की स्थिति में जाओ और उठ और पड़ जाने की क्रिया कई बार करो। (७) तब फिर मुँह औ पेट के बल उलट जाओ और नीचे लिखी हुई स्थिति को धार करो; सिर से पैर तक शरीर को कड़ा करो, अपने शरीर उठाओ जब तक शरीर का कुल बोझ एक ओर तुम्हारी हथेलियों प (भुजाएँ आगे को ओर सीधी तनी रहें) और दूसरी ओर पैर अँगूठों और अँगुलियों पर न आ जाय। तब धीरे धीरे भुजाओं कुहनियों पर टेढ़ी करने लगो और छाती को भूमि पर आने दो तब अपनी भुजाओं को सीधी और कड़ी करने के द्वारा अपनी छाती और ऊपरी शरीर को ऊपर उठाओ, कुल भार भुजाओं पर रहे यह पिछली गति कठिन है और शुरू से इसमें अति न करनी चाहिए।

बढ़े पेट को पचकाने का अभ्यास

यह कसरत उन लोगों के लिये है, जिनका पेट बहुत बढ़ गया हो, जो अति अधिक चरबी वहाँ एकत्र हो जाने से होता है। इस कसरत को उचित रीति से करने से पेट बहुत छोटा हो सकता है—परन्तु सवदा स्मरण रहे कि सब बातों में मध्य वृत्ति रहनी चाहिए, और अति किसी बात में न करो, न शीघ्रता ही करो। कसरत यों है (१) सब हवा प्रश्वास द्वारा बाहर निकाल दो (बहुत ज़ोर मत लगाओ) और तब पेट को भीतर और ऊपर खींचो जहाँ तक तुम खींच सको तब क्षण-भर रोक रक्खो और फिर स्वाभाविक स्थिति में आने दो। कई बार इसे करो, तब एक दो साँस ले लो और थोड़ा विश्राम कर लो। फिर कई बार पेट को

वैसा ही भीतर खींचो और बाहर जाओ। इस थोडे अभ्यास से पेट की मांसपेशियों पर कितना अधिकार हो जाता है, यह बड़ी आश्चर्य जनक बात है। इस कसरत से केवल चर्बी ही की तहें नहीं घटेंगी, किंतु आमाशय की मांसपेशियाँ भी बड़ी बलवती हो जावेंगी। (२) पेट को अच्छी तरह मुलायमियत से मलो।

शरीर को कड़ा करने का अभ्यास

यह कसरत इसलिये है कि मनुष्य को सुंदर स्वाभाविक रीति से खड़े होने और चलने की प्राप्ति हो जाय, और उसकी ढाले-ढाले रहने और चलने की आदत छूट जाय। यदि अच्छी तरह से इसका अभ्यास किया जाय, तो इससे सीधी सुंदर गति (चाल) हो जावेगा। इसस आपकी चाल ऐसी हो जावेगी कि आपके प्रत्येक अवयव को काफ़ी अवकाश रहेगा और शरीर का प्रत्येक अग सुव्यव स्थित रहेगा। इस या इसी के समान किसी कसरत का अनुसरण बहुत-से देशों में सेना-नायकों द्वारा किया जाता है, जिसस नवयु वक अफ़सरों की चाल उचित और सुंदर हो जावे, परंतु सेनाओं में इस कसरत का बहुत अच्छा प्रभाव दूसरी जगी कसरतों से दब जाता है और शरीर में अधिक कड़ापन आ जाता है; परंतु इस कस रत को पृथक् करने से यह दोष नहीं आने पाता। कसरत नीचे लिखी जाता है, इसको सावधानी से समझिए—(१) सीधे खड़े हो, एड़ियाँ एकत्र और पैर के अँगूठे थोड़ा बाहर की ओर झुके हों। (२) भुजाओं को बग़ल से ऊपर की ओर वृत्ताकार गति में उठाओ कि हाथ सिर के ऊपर जाकर मिल जायँ, अँगूठे एक दूसरे को छू लें। (३) घुटनों को सख़्त और शरीर को कड़ा किए हुए कुहनियाँ टेढी न होने पावें (और कधे पीछे ही की ओर दबे रहें)। भुजाओं को वृत्ताकार गति में बाजों ही की सीध में नीचे लाओ जब तक छोटी अँगुलियाँ और हथेली के भीतरी किनारे जाँघों की

बग़लों को छू न लें, हथेलियों का मुँह सामने की ओर हो। इसे कई बार करो, स्मरण रहे, धीरे धीरे हाथों को अंतिम स्थिति में इस गति से लाए जाने पर कंधों को आगे की ओर टेढ़ा होना असम्भव हो जाता है। छाती थोड़ी उभड़ जाती है, सिर सीधा हो जाता है, पीठ सीधी और बीच में थोड़ी आगे की ओर झुकी हो जाती है (और यही उसकी स्वाभाविक स्थिति है); और घुटने सीधे रहते हैं। संक्षेप यह है कि आपका शरीर उत्तम, सीधी गठन का हो जाता है—अब इसी को सर्वदा क़ायम रखिए। इस स्थिति में खड़े होकर, कनिष्ठिका अँगुली को जाँघों के ठीक बग़ल में रख कर कमरे ही में घूम घूमकर टहलिए; और फिर इसी स्थिति से भस्त्रा कीजिए। इस प्रकार थोड़ा अभ्यास करने से आश्चर्यमय उन्नति होगी। परंतु इसमें अभ्यास और धैर्य की आवश्यकता है—इसी तरह सभी अच्छी बातों में अभ्यास और धैर्य की आवश्यकता हुआ करती है।

अब व्यायाम के विषय में जो हमें थोड़ा-सा कहना था, उसे हम कह चुके। बातें सीधी हैं, पर आश्चर्यमय उन्नति देनेवाली हैं। इनमे शरीर के प्रत्येक भाग को परिश्रम करना पड़ जाता है, यदि साव धानी से इनका अभ्यास किया जाय, तो ये आपके शरीर को नया बना देंगी। सावधानी से अभ्यास कीजिए और इनमें जी लगाइए। इनमें मनोयोग दीजिए और इस बात पर ध्यान रखिए कि किस अभिप्राय से आप इस क्रिया या खेल को कर रहे हैं। जब आप कसरत करने लगें, "बल और उन्नति" पर ध्यान रक्खें, तब आपको और भी बहुत अधिक लाभ होगा। भोजन के तुरत पश्चात् व्यायाम मत करो। किसी व्यायाम को थोड़े ही बार दुहराओ और तब धीरे-धीरे उसे बढ़ाने लगो। दिन में कई बार थोड़ा-थोड़ा व्यायाम करो, तो यह एक ही बार बहुत-सा करने से अच्छा होगा।

ऊपर लिखा हुआ व्यायाम आपको उतना लाभ पहुँचावेगा, जितना अन्य व्यायामों से कठिनता से प्राप्त होगा। ये कसरतें बहुत दिन की जाँच में ठीक सिद्ध होती आई हैं, और अब भी ठीक समयानुकूल हैं। जितनी ही ये गुणवर्धिनी हैं, उतनी ही ये सरल भी हैं। इनका प्रयोग कीजिए और बलवान् हो जाइए।

पच्चीसवाँ अध्याय

योगियों का स्नान

इस पुस्तक के एक अध्याय को स्नान की प्रधानता दिखलाने में लगाने की आवश्यकता न होती, परंतु इस बीसवीं शताब्दी में भी बहुत-से ऐसे मनुष्य हैं, जो इस विषय के संबंध में वस्तुतः कुछ नहीं जानते। कहीं-कहीं तो मनुष्य थोड़ा बहुत ऊपरी शरीर को धो डालते हैं, परंतु अधिकांश मनुष्य, जिनमें स्त्रियों की संख्या और भी अधिक होती है, स्नान पर ही ध्यान नहीं देते, वे यातो स्नान के नाम पर जल का स्पर्श कर लेते हैं या वह भी नहीं करते। इसलिये हम अपने पाठकों का ध्यान इस विषय की ओर आकर्षित करना अच्छा समझते हैं कि क्यों योगी लोग स्वच्छ शरीर रखने पर इतना ज़ोर देते हैं।

प्राकृतिक अवस्था में मनुष्य को स्नान करने की इतनी आवश्यकता न थी। क्योंकि उसका शरीर सब खुला रहता था, उस पर वृष्टि होती थी, झाड़ियाँ और वृक्ष उसके शरीर से रगड़ खाया करते थे, और शरीर पर जमा हुआ मैल, जिसे शरीर भीतर से निकाल निकालकर ऊपर छोड़ता जाता है, साफ़ हो जाया करता था। प्राकृतिक मनुष्य के समीप नदियाँ और झरने होते थे, एकाध बार स्वाभाविक प्रवृत्ति से प्रेरित होकर उसमें ग़ोते लगा लेता था। परंतु वस्त्र का व्यवहार करने से ये बातें बदल गईं, और आजकल के मनुष्यों का यद्यपि उनके चमड़े अब भी भीतर से मैल निकाल निकालकर ऊपर कर रहे हैं, अब पुरानी रीति से मैल साफ़ करना बहुत कठिन हो गया, और उसकी मैलें शरीर पर तह-पर-तह जमती

जाती है और अंत में शारीरिक असुख और रोग उत्पन्न हो जाता है। यद्यपि शरीर ख़ाली आँख से देखने में स्वच्छ देख पड़ता हो, पर वह वस्तुतः बहुत अधिक मैला प्रमाणित हो सकता है। यदि सूक्ष्म दर्शक यंत्र (ख़ुर्दबीन) से आप शरीर के चमड़े को देखें, तो मैल को देखकर आप घबरा जायँगे।

मनुष्य की सब जातियाँ, जो तनिक भी सभ्यता का अभिमान करती थीं, इस स्नान का अभ्यास करती आई हैं। सच बात तो यों है कि स्नान ही को हम एक ऐसी नाप मान सकते हैं, जिससे किसी जाति की सभ्यता नापी जा सकती है। जिस जाति में जितना ही अधिक स्नान किया जायगा, उसमें उतनी ही अधिक सभ्यता है और जिस जाति में स्नान की जितनी ही कमी है, उसमें उतनी ही असभ्यता है। पुराने मनुष्य इस स्नान में बढ़ते-बढ़ते अंत में अतिशय को पहुँच गए और प्रकृति के मार्ग से पृथक् हो गए; वे सुगंधियों से स्नान करने लगे। यूनानी और रोमन लोग स्नान को सभ्य जीवन की परम आवश्यक बात समझते थे, और बहुत-सी पुरानी जातियाँ इस विषय में आधुनिक जातियों से बहुत बढ़ी चढ़ी थीं। जापानी लोग आजकल इस स्नान के विषय में दुनियाँ के सब लोगों से आगे बढ़े हुए हैं। ग़रीब-से ग़रीब जापानी को चाहे भोजन न मिले, कुछ चिंता नहीं, पर विधिवत् स्नान अवश्य होना चाहिए। गरम दिनों में भी यदि आप जापानियों के झुरमुट में चले जायँ, तो तनिक भी दुर्गंधि आपको न मिलेगी। क्या अमेरिका और यूरोप में भी यह बात असंभव है? बहुत-सी जातियाँ स्नान को अपने मज़हब का एक अंग मानती थीं और अब भी मानती हैं, मज़हब के पुरोहित लोग स्नान की महिमा को समझते थे और उन्होंने इसे मज़हब में मिलाकर आवश्यक बना दिया। योगी लोग इसे मज़हब तो नहीं समझते, परंतु स्नान का व्यवहार ऐसा करते हैं, जो मज़हब से भी अधिक है।

अब देखना चाहिए कि स्नान करना क्यों आवश्यक है। इसमें से बहुत कम लोग इसकी पूरी महिमा समझते हैं। जो समझते हैं वे भी केवल इतना ही समझते हैं कि इससे मैल—प्रत्यक्ष मैल—साफ़ होता है। परन्तु स्वच्छता तो आवश्यक वस्तु है ही, इसमें तो संदेह ही नहीं है, परंतु स्वच्छता के अलावा भी इसमें बड़े-बड़े गुण हैं। पहले यह देखना चाहिए कि चमड़े को स्वच्छ करने की आवश्यकता क्यों है।

हमने एक अध्याय में आपको समझा दिया है कि साधारण रीति से पसीने के बह जाने की बड़ी आवश्यकता है; यदि चमड़े के छिद्र अवरुद्ध हो जायँ या बंद हो जायँ, तो शरीर अपनी रद्दियात को बाहर नहीं निकाल सकता। और वह बाहर कैसे निकाला करता है? चमड़ा, श्वास और गुर्दों के द्वारा। बहुत-से लोग गुर्दों का काम बढ़ा देते हैं। जिससे उन्हें अपना और चमड़े का, दोनों का काम करना पड़ जाता है क्योंकि प्रकृति एक अवयव से दूना काम लेगी, परंतु काम को बिना कराए न रहेगी। चमड़े का प्रत्येक छिद्र उस नाली का छोर है, जिसे चमड़े की नाली कहते हैं, और जो चमड़े के भीतर तक फैली रहती है। हमारे चमड़े के प्रत्येक वर्ग इंच में ऐसी ३००० छोटी नालियाँ होती हैं। ये लगातार एक द्रव बहाया करती हैं, जिसे पसीना और देह-वाष्प कहते हैं, जो ऐसा द्रव होता है, जो शरीर यंत्र के मैल और रद्दियात से भरे हुए रुधिर में से निकलता है। आपको स्मरण होगा कि शरीर क्षण क्षण में पुराने निकम्मे रेशों को पृथक् करता रहता है और इनके स्थान पर नए रेशों को स्थापित करता रहता है; और इन पुरानी रद्दियात का दूर होना वैसा ही आवश्यक है, जैसा घर के कूड़ा-करकट का दूर होना ज़रूरी है। चमड़ा एक साधन है, जिसके द्वारा यह दूर किया जाता है। यह मैल यदि शरीर ही में रहने दिया जाय, तो यह रोगों के कीटाणुओं का वृद्धिस्थान हो

जायगा; और इसीलिये प्रकृति इसे दूर बहाया चाहती है। चमड़े से एक रोग़नदार द्रव भी निकलता है, जो चमड़े को कोमल और चिकना बनाए रहता है।

स्वयम् चमड़ा भी अन्य अवयवों की भाँति अपनी बनावट में बड़ा परिवर्तन पाया करता है। बाहरी चमड़ा ऐसे देहाणुओं से बना है, जो बहुत अल्पायु हुआ करते हैं, और लगातार केंचुल की भाँति छूटा करते हैं और उनके स्थान को पूरा करने के लिये नए देहाणु नीचे से ऊपर आया करते हैं। ये निकम्मे और व्यक्त देहाणु चमड़े के ऊपर रद्दी पदार्थों की एक प्रकार की तह बना देते हैं, यदि मल-मलकर धो न डाले जायँ, इसमें संदेह नहीं कि उनमें से अनेकों तो कपड़े की रगड़ खा-खाकर गिर जाते और छूट जाते हैं परंतु बहुत बड़ा भाग रह जाता है; और उनके दूर करने के लिये नहाने धोने की आवश्यकता पड़ती है।

पानी के द्वारा शरीर के भीतरी अंगों की सिंचाई के अध्याय में हमने चमड़े के इन छिद्रों को खुले रखने की आवश्यकता दिखला दी है; और यह भी बतला दिया है कि यदि वे बंद कर दिए जायँ, तो मनुष्य शीघ्र ही मर जाय, जैसा कि पूर्वकाल की परीक्षाओं और घटनाओं से प्रमाणित होता है। यदि शरीर को धोकर साफ़ न किया जाय, तो इन निकम्मे देहाणुओं, रोगन और पसीने से चमड़ों के छिद्र थोड़े बहुत बंद हो जायँ और फिर चमड़े की सतह पर यह मैलापन रोगों के कीटाणुओं को निमंत्रण देने लगे कि वे यहाँ आकर अपना घर बनावें और वृद्धि करें। स्नान न करके क्या आप इन कीटाणुओं को न्योता दे रहे हैं? हम ऊपर से आए हुए गर्दगुबार का वर्णन नहीं कर रहे हैं—हम जानते हैं कि उसको आप न लपेटे रहेंगे—परंतु आपने कभी भी अपने ही शरीर से निकले हुए इस मैल पर ध्यान दिया है? जो वैसा ही मैल है, जैसा ऊपरी मैल है और कभी-कभी उससे भी अधिक बुरा फल पैदा कर देता है।

प्रत्येक मनुष्य को कम से-कम दिन में एक बार अपने सारे शरीर को धो डालना चाहिए। स्नान के लिये बहुत उपयुक्त समय सुबह सोकर उठने का है। भोजन करने के ठीक पहले या परचात् कभी स्नान न करो। शाम का स्नान करना भी अच्छी बात है। स्नान करते समय मोटे कपड़े से शरीर को खूब रगड़ो, जिनसे मुर्दा चमड़ा छूट जाया करेगा और रुधिरसंचार भी उत्तेजित होगा। जब शरीर ठंढा हो, उस समय ठंढे पानी से कभी भी स्नान न करो। ठंढे पानी से स्नान करने के पहले कुछ कसरत करके अपने शरीर को गरम कर लो, तब स्नान करो। डुबकी मारकर स्नान करने में पहले सिर को भिगोकर तब छाती भिगाओ और तब डुबकी लगाओ।

ठंढे पानी से स्नान करने के पश्चात् योगियों की रीति है कि शरीर को हाथों से कपड़े के स्थान पर खूब मलें और तब भीगे ही शरीर से सूखे कपड़े पहन लें। इससे जाड़ा अधिक मालूम होने के स्थान पर, जैसा कि कोई कोई ख्याल करते हैं, उसके विपरीत गरमाहट मालूम होती है, और यदि थोड़ी-सी हलकी कसरत कर लें, तो *यह गरमाहट और भी बढ़ जाती है। योगी लोग स्नान* के पश्चात् प्रायः व्यायाम किया करते हैं। यह व्यायाम बहुत कड़ा नहीं होता, और ज्यों ही सारे शरीर में पूरी तमतमाहट आ गई कि बंद कर दिया जाता है।

योगियों का प्यारा स्नान ठंढे पानी से होता है। वे सारे शरीर को हाथ से खूब मलते हैं, या पहले कपड़े से रगड़कर पीछे हाथ से मलते हैं, और साथ ही-साथ पूरी साँस लेने की क्रिया करते जाते हैं। सो कर उठने पर ये स्नान करते हैं और स्नान करने पर हल्की कसरत कर लेते हैं। जब बड़ी सर्दी पड़ती हो, तब ये डुबकी लगाकर स्नान नहीं करते, परंतु कपड़े से पानी को शरीर पर लगा लेते हैं तब हाथ से खूब मलते हैं। ठंढे पानी से स्नान करने पर आश्चर्यजनक

गर्मी आती है और ज्यों-ज्यों कपड़ा पहना जाता है, त्यों त्यों औजस समतमाहट मालूम होती है। इस योगियों की रीति से स्नान करने का यह परिणाम होता है कि शरीर बलवान् और हट्टा कट्टा हो जाता है, उसका मांस दृढ़, बलवान् और घना हो जाता है और ज़ुकाम तो प्राय योगियों को अज्ञात ही हो जाता है। इस स्नान का अभ्यास करनेवाला मनुष्य उस मज़बूत और हट्टे-कट्टे वृक्ष के समान हो जाता है, जो अनेक प्रकार की गर्मी-सर्दी के मौसिम को सहने में समर्थ होता है।

हम अपने शिष्यों को शुरू ही में अत्यत ठढे पानी से स्नान करने में सावधान किए देते हैं। यदि तुम्हारे शरीर में जीवट की कमी हो, तब तो कदापि ऐसा मत करो। पहले सुखकर शीतलता के पानी से शुरू करो, तब दिनों के बीतने से ज्यों-ज्यों शरीर का जीवट बढ़ता जाय, त्यों-त्यों अधिक ठढे पानी से स्नान किया करो। एक प्रकार की शीतलता या ताप का जल तुम्हें अत्यत सुखकर प्रतीत होगा, बस उसी को याद कर लो और वैसे ही जल से स्नान किया करो। सबेरे के ठढे पानी से स्नान करना तुम्हें सुखकर होना चाहिए, न कि प्रायश्चित्त की भाँति दु खकर। जब आपको एक बार उसका मज़ा मालूम हो जायगा, फिर आप उसको न छोड़ेंगे। इससे आप दिन भर अच्छी तरह रहेंगे। पहले ठढा जल शरीर पर डालते बहुत सर्दी मालूम होती है, पर थोड़े ही अर्से में प्रतिक्रिया प्रारभ हो जाती है और गरमाहट मालूम होने लगती है। यदि आप टब में स्नान करते हों, तो एक मिनट से अधिक टब में कभी न ठहरें, और जब तक टब में रहें, शरीर को ख़ूब मलते रहें।

यदि आप सबेरे इस प्रकार स्नान करते रहेंगे, तो आपको बहुत से गरम स्नानों की आवश्यकता न होगी। कभी गरम पानी से स्नान कर लेना अच्छा होगा। गरम पानी से स्नान करने में बदन को ख़ूब

मलते रहिए और चमड़े को कपड़े से खूब सुखाकर तब कपड़े पहनिए।

वे मनुष्य जिन्हें दिन को बहुत चलना या खड़े रहना पड़ा हो, उन्हें रात को सोने के पहले पैरों को धो डालने से अच्छा सुख मिलेगा और रात को खूब नींद आवेगी।

अब ज्यों ही आप इस अध्याय को पढ़ जायँ, त्यों ही भुलवा न दें। परंतु जो तरकीबें इसमें बताई गई हैं, उनकी परीक्षा कीजिए और देखिए कि उनसे कितना लाभ होता है। जब थोड़े दिन आप इनकी परीक्षा कर लेंगे, फिर इन्हें कभी न छोड़ेंगे।

योगियों का सबेरे का स्नान

सबेरे के स्नान से सर्वोत्तम लाभ उठाने की भावना आपको नीचे लिखी हुई तरकीब से होगी। यह बहुत बल देनेवाली, शक्ति बढ़ानेवाली तरकीब है, जिससे आप दिन भर सुखी रहेंगे।

पहले इसमें थोड़ी कसरत कर लनी होती है, जिससे रुधिरसंचार अच्छा होने लगता है और रात के सोने के बाद प्राय अच्छी तरह से शरीर में वितरित हो जाता है, जिससे शरीर स्नान करने के और उसके लाभों को पूरी तरह से उठाने के योग्य बन जाता है।

प्रारंभिक व्यायाम—(१) सीधे उसी स्थिति में खड़े हो, सिर ऊँचा, आँखें सामने, कंधे पीछे और हाथ बग़लों में हों। (२) शरीर को धीरे धीरे पैर की अँगुलियों पर उठाओ, साथ ही साथ धीरे धीरे पूरी साँस खींचते जाओ। (३) साँस को भीतर हो कुछ क्षण तक रोक रक्खो और शरीर को उतने समय तक उसी स्थिति में रक्खो। (४) धीरे धीरे पहली स्थिति में आओ और साथ ही साथ नाक द्वारा हवा को भी धीरे धीरे निकालते जाओ। (५) साफ़ करनेवाली क्रिया कर डालो। (६) इसे कई बार करो, एक बार एक टाँग से तब दूसरी से।

सब पहली कही हुई तरकीब से स्नान करो। यदि तुम कपड़े के द्वारा स्नान किया चाहते हो, तो एक बर्तन में शीतल जल ले लो। (जो बहुत सर्द न हो, परंतु सुखकर और उतना ही शीतल हो कि प्रतिक्रिया जा सके।) एक मोटा कपड़ा या तौलिया लो, उसे पानी में भिगोओ और तब उसका आधा पानी निचोड़ डालो। पहले छाती और कंधे से शुरू करके पीठ, पेट, जाँघ, निचली टाँगें और तब पैरों को ख़ूब ज़ोर से रगड़ो। शरीर को चारों ओर से रगड़ने में कपड़े को कई बार पानी में डुबो-डुबोकर आधा निचोड़ लिया करो, जिससे सारे शरीर को ताज़ा ठंडा पानी मिल जाया करे। क्षणभर ठहर जाओ और पूरी-पूरी दो-एक साँसें ले लो, फिर मलने लगो। बहुत जल्दी मत करो, किंतु शांति से स्नान करो। पहले दो-एक बार ठंडे पानी से शरीर थोड़ा डरेगा परंतु बहुत शीघ्र आदत पड़ जायगी; और तुम्हें अच्छा मालूम होने लगेगा। बहुत ठंडे पानी से स्नान प्रारंभ करने की ग़लती मत करो। परंतु धीरे धीरे शीतलता कई दिनों में बढ़ाओ। यदि कपड़े से स्नान करने के स्थान पर टब में स्नान करना पसंद करते हो, तो वैसे ही पानी से टब को आधा भर लो और जब तक शरीर को मलते रहो, घुटनों के बल उसमें बैठे रहो, तब क्षणभर सारे शरीर को उसमें डुबोए रहो और तब एकदम बाहर आ जाओ।

चाहे कपड़े से स्नान करते हो चाहे टब में, शरीर को कई बार बहुत अच्छी तरह से हाथों से मलो। मनुष्य के हाथों में कुछ ऐसी शक्ति है, जिसका काम कपड़े से नहीं निकल सकता। एक बार परीक्षा कर लीजिए। शरीर थोड़ा-थोड़ा भीगा ही रहे, तभी कपड़े पहन लो, तब जो विचित्र सुख मिलेगा, उसका अनुभव करके तुम्हें बड़ा आश्चर्य होगा। पानी से सर्दी मालूम पड़ने के स्थान पर सारे शरीर में कपड़ों के नीचे गर्मी आ जायगी। स्नान के पश्चात् नीचे लिखी हुई कसरत कर डालो।

(१) सीधे खड़े हो, अपनी भुजाओं को अपने सामने सीधे फैलाओ और उन्हें कधों की उँचाइ पर रक्खो, मुट्ठियाँ बँधी और एक दूसरों को छूती हों; मुट्ठियों को ज़ोर से झोका देकर पीछे बाज़ों की सीध में या उससे भी तनिक पीछे लाओ, इससे छाती का ऊपरी भाग फैलता है, इसे कई बार करके क्षणभर विश्राम कर लो। (२) पहली स्थिति की अंतिम दशा में आ जाओ, अर्थात् भुजाएँ बग़ालों की ओर कधों से सीधी फैली रहें; अब मुट्ठियों को एक वृत्त में घुमाओ, आगे से पीछे को, तब पीछे से आगे को; तब बारी-बारी से दोनों मुट्ठियों को वायु चक्की की भुजाओं की भाँति घुमाओ; इसे कई बार करो। (३) सीधे खड़े हो और हाथों को सिर के ऊपर ले जाओ, हाथ खुले रहें, अँगूठे एक दूसरे को छूते रहें, तब बिना घुटनों को टेढ़ा किए भूमि को अँगुलियों के छोरों से स्पर्श करने का यत्न करो—यदि तुम न छू सको, तो बस तो पूरा करो, पहली स्थिति में आ जाओ। (४) अपने को पैरों के पंजों पर ऊपर उठाओ, इसे कई बार करो। (५) खड़े होकर अपने पैरों को दो फ़ीट के फासिले पर रक्खो, तब धीरे धीरे बैठने की स्थिति में नीचे दबो और फिर पहली स्थिति में आ जाओ। इसे कई बार करो। (६) पहली कसरत को कई बार करो। (७) साफ करनेवाली क्रिया करके ख़तम कर डालो।

यह कसरत उतनी टेढ़ी नहीं है, जितनी पहले पाठ में मालूम देती है। यह ५ कसरतों का पचमेल है, जो बहुत सादा और सरल है। इसके एक-एक खंड को समझकर अभ्यास कीजिए और एक-एक को सिद्ध कर लीजिए; तब सबको मिला दीजिए। तब यह घड़ी की भाँति चलने लगेगी और थोड़े ही क्षणों में पूरी कसरत हो जावेगी। यह बहुत बल बढ़ानेवाली है, इससे सारा शरीर काम में आ जाता है, और यदि स्नान के ठीक बाद इस

कसरत को आप करते रहेंगे, तो नया शरीर मिल जाने का सुख भोगेंगे।

शरीर के ऊपरी भाग को खूब मल मलकर धो डालने से दिन भर शक्ति और जीवट बने रहते हैं; रात को कमर से नीचे पैर तक मल-मलकर धो डालने से रात को नींद खूब आती है और शरीर ताज़ा हो जाता है।

छब्बीसवाँ अध्याय

सूर्य की शक्ति

हमारे शिष्य लोग कुछ-न-कुछ ज्योतिष के प्रारंभिक वैज्ञानिक मूलतत्त्वों से परिचित होंगे। अर्थात् सृष्टि के उस अत्यंत छोटे भाग का कुछ ज्ञान पाए होंगे, जिसका हम अपनी आँखों से उत्तम-से-उत्तम दूरबीन यंत्र के द्वारा, ज्ञान प्राप्त करते हैं, और जिसमें करोड़ों स्थिर तारे हैं—जो सब-के-सब सूर्य हैं; जो हमारे सूर्य के बराबर और कोई-कोई तो इससे बहुत बड़े हैं। प्रत्येक सूर्य अपने सम्प्रदाय भर के ग्रहों, उपग्रहों आदि का शक्ति का केंद्र है। हमारे ग्रह-सम्प्रदाय के लिये शक्ति देनेवाला बड़ा केंद्र हमारा सूर्य है। हमारे ग्रह सम्प्रदाय में बहुत-से तो जाने हुए ग्रह हैं और बहुत-से ऐसे भी ग्रह हैं जिनका ज्योतिषियों को पता भी नहीं है। यह भूमि, जिस पर हम स्थित हैं, हमारे सूर्य के अनेक ग्रहों में से एक ग्रह है।

हमारा सूर्य अन्य सूर्यों की भाँति आकाश में लगातार शक्ति छोड़ रहा है यही शक्ति ग्रहों को जीवट देती है और उन पर जीवन सम्भव कर देती है। सूर्य की किरणों के बिना भूमि पर जीवन असंभव हो जाता—तुच्छातितुच्छ जीव भी न जी सकते। हम सब लोग जीवट—जीवनबल—के लिये सूर्य पर अवलंबित हैं। यह जीवट जीवनबल या शक्ति वही पदार्थ है, जिसे योगी लोग प्राण करके जानते हैं। इसमें संदेह नहीं कि प्राण सर्वव्यापक है; परंतु कुछ ऐसे केंद्र हुआ करते हैं, जो प्राण को खींचा और छोड़ा करते हैं—मानो एक स्थायी धारा बहाया करते हैं। विद्युत् शक्ति सर्वव्यापक है; परंतु डिनामो (dynamos) और ऐसे ही अन्य केंद्र आप

श्यक होते हैं कि उसे समह करें और घनीभूत बनाकर प्रवाहित करें। सूय और उसके ग्रहों के मध्य में प्राण की अनवरत धारा जारी रहती है।

यह बात मान ली गई है (आधुनिक विज्ञान भी इसमें प्रतिवाद नहीं करता) कि सूर्य जलती हुई आग की ढेरी है, एक प्रकार की जलती हुई भट्टी है, और जो रोशनी और गरमी हम प्राप्त करते हैं, वे इसी भट्टी की ज्योति हैं। परतु योगशास्त्रियों ने इसे भिन्न ही माना है। वे यह सिखाते हैं कि यद्यपि सूर्य का सगठन अथवा वहाँ की दशा हम लोगों की इस भूमि की दशा से इतनी भिन्न है कि मनुष्य का मन उस दशा की ठीक भावना भी नहीं कर सकता, तथापि सूर्य जलते हुए द्रव्य की वैसी ढरी नहीं है, जैसी जलते हुए कोयले या गले हुए लोहे की ढेरियाँ हुआ करती हैं। योगी आचार्य लोग इन भावनाओं को स्वीकार नहीं करते। इसके विपरीत उनकी यह धारणा है कि सूर्य अधिकाश उन द्रव्यों से बना है, जो हाल के आविष्कृत "रेडियम' के समान हैं। वे यह नहीं कहते कि सूर्य रेडियम ही से बना है, परतु वे शताब्दियों से यही समझते आते हैं कि वह अनेकों ऐसे द्रव्यों से बना है, जिसके विषय में पश्चिमी ससार इतना सोच-विचार कर रहा है, और जिसको उसके आविष्कारों ने रेडियम नाम दिया है। हम यहाँ रेडियम का वर्णन नहीं करना चाहते, परंतु केवल इतना ही कह देते हैं कि यह उन्हीं गुणों और शक्तियों से युक्त है, जिन गुणों और शक्तियों से सूर्य के बनानेवाले अवयव भी थोड़े बहुत युक्त हैं। यह बात बहुत सभव है कि सूय के बनानेवाले अन्य अवयव भी इस पृथ्वी पर पाए जायँ, जो रेडियम की समता रखते हों और कुछ कुछ अंशों में उससे भिन्न भी हों।

यह सौर्य द्रव्य गली हुई दशा में नहीं है, और न तो जलती हुई दशा में ही है, जैसा कि हम लोग अक्सर कहा करते हैं। परतु

यह सर्वदा अपने ग्रहों से प्राण की धार खींचा करता है, और उस प्राण को प्रकृति की किसी आश्चर्यमय प्रक्रिया में पकाकर फिर। ग्रहों पर वापसी धारा द्वारा भेजा करता है। जैसा कि हमारे शिष्य लोग जानते हैं, हवा ही मूल भंडार है, जहाँ से हम लोग प्राण खींचा करते है, परंतु यह हवा स्वयम् सूर्य से प्राण ग्रहण करती है। हम बतला आए हैं कि जिस भोजन को हम खाते हैं, वह कैसे प्राण से भरपूर रहता है, जिसे हम लेकर अपने काम में लाते हैं; परंतु पौधे अपना प्राण सूर्य से ग्रहण करते हैं। इस सूर्यमंडल या सूर्य सम्प्रदाय के लिये सूर्य ही प्राण का महाभंडार है, जो एक वृहद् डिनामो की भाँति अपनी धाराओं को इस सूर्यसम्प्रदाय के प्रत्येक छोरों तक सर्वदा भेजा करता है और जीवन को, शारीरिक जीवन को, संभव बनाए है।

यह किताब वह स्थान नहीं है, जहाँ सूर्य की क्रियाओं की आश्चर्यजनक बातों का वर्णन किया जाय। योगी लोग इन बातों को अच्छी तरह जानते हैं। हम यहाँ पर अपने शिष्यों को केवल इतना ही बतला दिया चाहते हैं कि वे समझ जायँ कि सूर्य ही प्राण का आदि भंडार है और वही सब प्राणियों के जीवन का मूल है। इस अध्याय का मुख्य उद्देश यही है कि आपके चित्त पर बिठाल दिया जाय कि सूर्य की किरणें शक्ति और जीवन से भरी हुई रहती हैं, जिन्हें हम अपने जीवन के प्रत्येक क्षण काम में लाया करते हैं, परंतु हम उतना काम में नहीं लाते, जितना ला सकते थे। आजकल के सभ्य मनुष्य सूर्य से भय खाते हुए मालूम देते हैं। वे अपने कमरों को अँधेरा बना देते हैं, अपने शरीर पर अनेक कपड़े पहन लेते हैं कि जिसमें सूर्य की किरणों से बचे रहें। वे सूर्य की किरणों से दूर भागते हैं। ठीक यहीं ही स्मरण रखिए कि जब हम सूर्य की किरणों की बात कर रहे हैं, तो सूर्य की गर्मी से हमारा मतलब नहीं

है। गर्मी तो सूर्य की किरणों को पृथ्वी के पदार्थों के सम्पर्क में आने से उत्पन्न होती है पृथ्वी के वायुमंडल के बाहर ग्रहों के बीच का जो आकाश है, वहाँ बहुत कड़ी सर्दी पड़ती है, क्योंकि वहाँ सूर्य की किरणों को अवरोध देनेवाला कोई पदार्थ ही नहीं है। इसलिये जब हम कहते हैं कि सूर्य की किरणों का लाभ उठाइए, तो हमारा मतलब यह नहीं है कि जेठ की दुपहरी में आप बाहर बैठिए।

सूर्य की किरणों से दूर भागने की आदत छोड़िए। अपनी कोठरियों में धूप आने दीजिए। अपने वस्त्रों और बिछौनों से इतना मत डरिए। अपने उत्तम दालान को सर्वदा बंद मत रखिए। आप अपनी कोठरी को ऐसा तहख़ाना नहीं बनाना चाहते कि जिसमें सूर्य की धूप ही न जाय, हम ऐसा ही ख़याल करते हैं। सुबह होते ही अपनी खिड़कियों को खोल दीजिए कि धूप सीधे या परावर्तित होकर कोठरी में आ जाय, तो आपको ऐसा वायुमंडल मिल जाया करेगा कि शनैः-शनैः आपके घर में स्वास्थ्य, बल और जीवट भर जायँगे और रोग, निर्बलता और निर्जीवता भाग जायगी—ईश्वर का प्रवेश होगा और दरिद्र निकल भागेगा।

थोड़े-थोड़े समय पर धूप खा लिया कीजिए। सड़क की धूपवाली बग़ल को मत छोड़िए। हाँ, जब बहुत ही ज़्यादा गरम मौसिम हो या दुपहरी हो उस वक़्त आप धूपवाली बग़ल से बचने का यत्न कर सकते हैं। कभी कभी घाम से स्नान किया कीजिए। सूर्योदय से पहले ही जग जाइए और धूप में खड़े हो, बैठ या लेट जाइए कि आपका सारा शरीर खुला हो जाय। यदि आपको अवसर मिले, तो आप शरीर के सब वस्त्रों को उतारकर बिना वस्त्र की बाधा के घाम खा लिया कीजिए। यदि आपने इसकी परीक्षा कभी नहीं की है, तो आप कैसे विश्वास करेंगे कि घाम खाने में कितना गुण है और घाम खाने के पश्चात् कितना भला मालूम देने लगता

है ? इस विषय को बिना विचारे मत छोड़ जाइए। सूर्य की किरणों की थोड़ी परीक्षा कर लीजिए और सूर्य से निःसृत निर्बाध प्राण की धार का कुछ लाभ उठा लिया कीजिए। यदि शरीर के किसी भाग में कोई विशेष निर्बलता हो, तो उस भाग पर सीधी धूप लगने से आपको बहुत लाभ प्रतीत होगा।

प्रातःकाल की सूर्य की किरणें अत्यंत लाभदायक होती हैं; और जिनकी आदत सवेरे जगने और इन किरणों से लाभ उठाने की पड़ गई है, उन्हें बड़भागी समझना चाहिए और वे बधाई के योग्य हैं। पाँच घंटा दिन चढ़ जाने के बाद किरणों की प्राणदायिनी शक्ति घटने लगती है और शाम तक क्रमशः घटती ही जाती है। आप ख़्याल करेंगे कि फूल की वे क्यारियाँ या गमले, जिन्हें प्रातःकाल की धूप मिलती है उनकी अपेक्षा जिन्हें दोपहर के बाद की धूप मिलती है, अधिक हरे भरे और सुखी रहते हैं। फूल के सब प्रेमी इस बात को समझते हैं कि सूर्य की धूप पौधों के लिये उतनी ही आवश्यक है, जितना पानी, हवा और अच्छी मिट्टी आवश्यक हैं। थोड़ा पौधों का अध्ययन कीजिए—प्रकृति के मार्ग पर आ जाइए और वहाँ अपना सबक़ पढ़िए, धूप और हवा पुष्टि की आश्चर्यजनक औषधि हैं—आप क्यों और अधिक स्वच्छंदता से इनका व्यवहार नहीं करते ?

इस किताब में अन्यत्र हमने हवा, भोजन, पानी आदि से अधिक प्राण ग्रहण करनेवाली मन की शक्ति के विषय में बहुत कुछ कहा है। वही बात सूर्य की किरणों से भी प्राण ग्रहण करने में लगती है। आप उचित मानसिक स्थिति द्वारा लाभ को अधिक बढ़ा सकते हैं। सवेरे की धूप में बाहर निकल जाइए—सिर को ऊँचा कर लीजिए, कंधों को पीछे खींच लीजिए, और उस हवा की पूरी साँस लीजिए, जो सूर्य की किरणों द्वारा प्राण से भरी जा रही है। अपने शरीर पर

धूप पड़ने दीजिए और तब लिखे हुए मंत्र या ऐसे ही अन्य मंत्र को जपते हुए मंत्र में कही बातों की मानसिक कल्पना करते जाइए। मंत्र यह है—"मैं प्रकृति की सुंदर धूप का स्नान कर रहा हूँ—मैं उसमें से जीवन, स्वास्थ्य, बल और ओज ग्रहण कर रहा हूँ। वह मुझे बलवान् और शक्तिमान् बना रही है। मैं प्राण की अंतर्गामी धार का अनुभव कर रहा हूँ—मैं अनुभव करता हूँ कि वह धार हमारे शरीर में सिर से पैर तक सर्वत्र दौड़ रही है और सारे शरीर को बलवान् बना रही है। मैं सूर्य की धूप को चाहता हूँ और उसके सब लाभों को ग्रहण करता हूँ।"

जब-जब आपको अवसर मिले, इसका अभ्यास कर लिया कीजिए और तब आपको क्रमशः मालूम होने लगेगा कि इतने दिनों तक आपने कैसी अच्छी चीज़ से लाभ उठाना छोड़ दिया था कि आप धूप से भागते थे। अनुचित रीति से दुपहरी की धूप गरम दिनों में मत खाओ। परन्तु चाहे जाड़ा हो या गरमी, सवेरे की धूप कुछ भी हानि न करेगी। सूर्य की धूप और उसके सब गुणों को प्रेम से चाहना करो।

सत्ताईसवाँ अध्याय

ताज़ी हवा

अब इस अध्याय को छोड़ मत जाइए कि इसमें वही साधारण विषय होगा। यदि आपकी इच्छा इसे छोड़ जाने की होती हो, तो आप ही वैसे मनुष्य हैं, जिनके लिये यह अध्याय अभीष्ट और अत्यंत आवश्यक है। जिन लोगों ने इस बात पर ग़ौर किया है और ताज़ी हवा के लाभ और आवश्यकता को कुछ-कुछ समझ लिया है, वे इस अध्याय को कभी न छोड़ जायँगे, वे उस अच्छी बात को फिर पढ़ना चाहेंगे। और यदि आप इस विषय को पसद नहीं करते और इसको छोड़जाना चाहते हैं, तब निश्चय आपको इसकी आवश्यकता है। इस किताब के अन्य अध्यायों में हमने साँस लेने की प्रधानता को—आभ्यतरिक और बाह्य दोनों पटलों में—दिखलाया है। इस अध्याय में साँस लेने का विषय फिर न उठाया जायगा, परतु ताज़ी हवा और पुष्कल हवा के विषय में थोड़ा उपदेश दे दिया जायगा। यह उपदेश हमारे देश के लिये अत्यंत आवश्यक है जहाँ अब यह कोठरियों और ऐसे घरों का रिवाज है, जिनमें पवन का भी प्रवेश न होने पावे। हमने आप लोगों को सही साँस लेने की प्रधानता को दिखा दिया है, परंतु यह पाठ आपको क्या लाभ पहुँचावेगा, जब साँस लेने के लिये अच्छी हवा ही न रहेगी।

बंद कोठरियों में जहाँ अच्छी तरह हवा का आवागमन नहीं है, बंद रहना अत्यत मूर्खता का ख़याल है। फेफड़ों की क्रियाओं और कर्तव्यों को जानकर भी मनुष्य बद घर की गदी हवा को शत्रु न समझे, यह बड़े आश्चर्य की बात है। इस विषय पर आइए थोड़ा साधारण सीधा विचार कर लें।

आपको स्मरण होगा कि फेफड़े सर्वदा शरीर-यन्त्र के रद्दियात और निकम्मे हानिकारक पदार्थों को फेंका करते हैं। साँस शरीर को साफ़ करनेवाली चीज़ है, जो निकम्मे द्रव्यों, रद्दी पदार्थों और मृत देह अणुओं को शरीर के प्रत्येक अंग से निकालकर फेंका करती है। फेफड़ों से निकाले हुए पदार्थ उतने ही गंदे होते हैं, जितना चमड़े के छिद्रों से निकाला हुआ पसीना, गुर्दों से निकाला हुआ मूत्र और मलाशय से निकाला हुआ मैला, गंदे हुआ करते हैं। सच बात तो यह है कि यदि शरीर-यन्त्र में पानी काफ़ी न पहुँचाया जाय, तो प्रकृति फेफड़ों से गुर्दों का काम लेती है और शरीर के विषैले निकम्मे पदार्थों को फेफड़ों द्वारा बाहर फेंकवाती है। यदि अँतड़ियाँ सिट्ठी और फ़ुज़लों को ठीक तरह से नहीं निकाल बाहर करतीं, तो मलाशय की बहुत सी चीज़ें शरीर में ऊपर चढ़ जाती हैं और बाहर निकलने की राह ढूँढ़ने लगती हैं कि फेफड़े उन्हें लेकर साँस द्वारा बाहर फेंक देते हैं। तनिक विचार तो कीजिए कि यदि आप बंद घर में अपने को बंद करके सोवेंगे, तो आप प्रत्येक घंटे में आठ गैलन कारबोनिक एसिड गैस और अन्य गंदे पदार्थ उस कोठरी के वायुमंडल में मिलाते रहेंगे। आठ घंटे में आप ६४ गैलन छोड़ेंगे। यदि उस कोठरी में दो आदमी सोते हों, तो गैलनों को दो से गुणा कर दीजिए। ज्यों-ज्यों कोठरी की हवा गंदी होती जाती है, त्यों-त्यों आप बार-बार उसी गंदी और विषैली हवा को साँस द्वारा खींचते जाते हैं और हवा का गुण प्रत्येक साँस में अधिक अधिक बिगड़ता जाता है। सबेरे जब कोई मनुष्य आपकी कोठरी में आता है, और उसे दुर्गंधि मालूम होती है, तो इसमें आश्चर्य ही क्या है, क्योंकि आप तो खिड़की भी बंद कर दिए थे। इस प्रकार के भ्रष्ट कमरे में रात भर सोने के पश्चात् यदि सबेरे आप उदास, चिड़-चिड़े, शक्तिहीन, झगड़ालू और हर तरह से निकम्मे मालूम हों, तो इसमें क्या आश्चर्य है।

आपने कभी सोचा भी है कि आप सोते किसलिये हैं? आप इसलिये सोते हैं कि प्रकृति को अवसर मिले कि दिन भर में जो कुछ शरीर-यन्त्र में छीजन हुई है, रात को उसकी मरम्मत हो जावे। आप उसकी शक्तियों का व्यवहार करना छोड़ देते हैं और उसे अवसर देते हैं कि वह आपके शरीर-यन्त्र की ऐसी मरम्मत कर दे और बना दे कि आप सबेरे फिर हर तरह से ठीक हो जायँ। इस काम को अच्छी तरह से करने के लिये उसे कम-से-कम मामूली भी दशा तो चाहिए। वह तो आशा करती है कि उसको ऐसी हवा मिलनी चाहिए, जिसमें आक्सीजन की उचित मात्रा हो—ऐसी हवा हो जो पिछले दिन धूप खाकर फिर प्राण से भरपूर हो गई हो। ऐसी हवा के स्थान में आप बहुत ही परिमित हवा देते हैं, जो आधी तो शरीर की भीतरी रद्दियात के मिलने से विषमय हो जाती है। ऐसी दशा में रात को सोने पर भी आपके शरीर यन्त्र की पूरी मरम्मत न हो सके, तो इसमें आश्चर्य ही क्या?

जिस कोठरी से वैसी दुर्गंध आती हो जैसी हवा के अच्छे आवागमन से ही न सोनेवाली कोठरी से आया करती है, वह कोठरी तब तक आपके सोने के योग्य नहीं है, जब तक उसकी सब हवा निकलकर उसके स्थान में स्वच्छ ताज़ी हवा न भर जाय। सोने के कमरे की हवा को उतना ही साफ़ और ताज़ी होना चाहिए, जितना बाहर मैदान की हवा स्वच्छ और ताज़ी हुआ करती है। सर्दी लग जाने का भय न कीजिए। स्मरण रखिए कि क्षयी रोग के लिए अत्यंत अर्वाचीन वैज्ञानिक ओषधि यह निश्चित हुई है कि रात को रोगी ताज़ी हवा में रक्खा जाय, इस बात की कुछ परवाह नहीं कि सर्दी कितनी है। ख़ूब ओढ़न रखिए; और जब आपको आदत पड़ जायगी, तो सर्दी मालूम भी न पड़ेगी। प्रकृति के मार्ग पर वापस

आइए। ताज़ी हवा का यह मतलब नहीं है कि आप आँधी या हवा के झोंकों में सोते रहें।

जो बात सोने के कमरे के लिये ठीक बतलाई गई है, वही बात रहने और दफ़्तर के कमरों के लिये भी ठीक है। यह सच है कि जाड़ों में कोई बाहरी हवा को अंदर अधिक न जाने देगा, क्योंकि उससे कमरे की हवा अत्यधिक सर्द हो जावेगी, परंतु सर्द आबो हवा में भी हवा को स्वच्छ रखने के लिये बहुत उपाय हो सकते हैं। थोड़े-थोड़े अर्से पर खिड़की खोल दिया कीजिए कि हवा को अवसर मिल जाय कि वह अच्छी तरह आ जाय। रात में इस बात को न भूलिए कि लैंप और गैस की रोशनी भी आक्सीजन ख़र्च कर रहे हैं। इसलिये थोड़-थोड़े अर्से पर सब बातों को साफ़ा कर दिया कीजिए। बिहतर तो यह होगा कि हवा की सफ़ाई के बारे में कोई अच्छी किताब पढ़ डालिए; परंतु यदि यह न हो सके, तो जितना हम कह आए हैं, उतने ही का ख़ूब स्मरण रखिए, सो आपकी साधारण बुद्धि शेष सब कार्य कर देगी।

प्रतिदिन बाहर निकल जाया करो और ताज़ी हवा शरीर पर लगने दो। ताज़ी हवा जीवनदायक और स्वास्थ्यकर गुणों से भरी रहती है। इस बात को आप सब लोग जानते हैं और ज़िंदगी-भर जानते आए हैं। परंतु उस पर भी आप लोग घर के भीतर ही पड़े रहते हैं, जो बात प्रकृति के उद्देश के बिलकुल विपरीत है। यदि आप भले चंगे नहीं रहते, तो इसमें आश्चर्य ही क्या है? प्रकृति का नियम तोड़कर कोई दंड पाए बिना नहीं रह सकता। हवा से डरिए मत। प्रकृति का उद्देश है कि आप हवा का व्यवहार करें—यह आपकी प्रकृति और आवश्यकताओं के अनुकूल है। इसलिये उससे डरिए मत; किंतु उसको चाहना कीजिए। जब आप बाहर जायँ और ताज़ी हवा में टहलें, तो मन-ही-मन ऐसा कहें—"मैं प्रकृति

का बच्चा हूँ—उसने मुझे ऐसी पवित्र हवा काम में लाने के लिये दी है, जिससे मैं बलवान् और अच्छा हो जाऊँ और वैसा ही बना रहूँ। मैं साँस के द्वारा स्वास्थ्य, बल और शक्ति भीतर खींच रहा हूँ। मैं अपने शरीर पर लगती हुई हवा के सुख को भोग रहा हूँ और मैं उसके लाभकर फलों को अनुभव कर रहा हूँ। मैं प्रकृति का बच्चा हूँ और उसके दिए हुए पदार्थों में सुख भोगता हूँ।" हवा का सुख भोगना सीखिए, फिर आप सुखी हो जावेंगे।

अट्ठाईसवाँ अध्याय

निद्रा क्षति को स्वाभाविक पूरा करनेवाली है

प्रकृति को उन वृत्तियों में, जो मनुष्यों के जानने के योग्य हैं निद्रा ऐसी सहज और सरल वृत्ति मालूम होती है कि इसके लिये किसी शिक्षा या सलाह देने की आवश्यकता न होनी चाहती थी। बच्चे को निद्रा की प्रधानता और आवश्यकता जानने के लिये टीका टिप्पणी-सहित किसी किताब की आवश्यकता नहीं होती—वह सो ही जाता है, बस मामला ख़तम है। युवा मनुष्य की भी, यदि वह प्रकृति के पथ पर रहता, तो यही दशा होती। परंतु यह तो ऐसे बनावटी घिरावों से घिर गया है कि इसके लिये प्राकृतिक जीवन जीना असंभव सा हो गया है। परंतु यह भी अनहित घिरावों के होते हुए भी, पुनरपि प्राकृतिक मार्ग पर आ जाने में बहुत कुछ कर सकता है।

प्रकृति के विरुद्ध मूर्खता की आदतों में, इसके सोने और जागने की आदतें अत्यंत बुरी हो गई हैं। यह उन घड़ियों को, जिन्हें प्रकृति ने भली भाँति सोने के लिये दिया है, कोरा और सामाजिक आमोद प्रमोद में व्यर्थ खो देता है; और उन घड़ियों-पहरों में सोता है, जिन्हें प्रकृति ने उसे जीवट और शक्ति ग्रहण करने के लिये दिया था। उत्तम-से उत्तम निद्रा सूर्यास्त और आधी रात के बीच के समय में हुआ करती है; और उत्तम-से उत्तम समय, बाहरी काम करने और जीवट ग्रहण करने के लिये प्रातःकाल के कुछ घंटे हुआ करते हैं। इस प्रकार हम दोनों ओर खोते हैं और उस पर भी आश्चर्य करते हैं कि क्यों जवानी ही में या उससे भी पहले स्वास्थ्य बिगड़ गया।

नींद की दशा में प्रकृति मरम्मत का कार्य करती है और यह बात अत्यंत आवश्यक है कि इसके लिये उसे उचित अवसर दिया जाय। हम सोने के विषय में नियमावली बनाने की चेष्टा नहीं करेंगे, क्योंकि भिन्न भिन्न मनुष्यों की भिन्न भिन्न आवश्यकताएँ हुआ करती हैं; यह अध्याय कुछ थोड़ा सा दिग्दर्शन के लिये दे दिया गया है। साधारण रीति से प्रकृति ८ घंटा नींद के लिये चाहती है।

सर्वदा हवा के भली भाँति से आने जानेवाली खुली कोठरी में सोया कीजिए जैसा कि ताज़ी हवावाले अध्याय में वर्णन किया गया है। ओढ़न काफ़ी ओढ़ लीजिए कि जिसमें सुख रहे; परंतु बहुत ही भारी ओढ़नों के नीचे दफ़न मत हो जाइए, जैसा कि बहुतसे घरों में दस्तूर हुआ करता है। यह अधिकतर आदत डालने का मामला है। आप जितने भारी भारी ओढ़न ओढ़ते हैं, उनकी अपेक्षा हलके ओढ़नों से भी अच्छी तरह काम चलता हुआ देखकर आप आश्चर्य में आ जायँगे। जिन कपड़ों को आप दिन में पहने थे, उन्हीं को पहने हुए रात को कभी मत जाइए—यह आदत न तो स्वास्थ्य दायक है और न सफ़ाई ही की है। सिर के नीचे बहुत सी तकियाओं का व्यवहार मत कीजिए—एक हलकी-सी छोटी तकिया काफ़ी है। शरीर की प्रत्येक मांसपेशी को ढीला कर दीजिए और प्रत्येक नाड़ी में से तनाव खींच लीजिए और ज्यों ही ओढ़न ओढ़िए, सब तनावों और खिचावों से हटकर निष्क्रिय होकर पड़ जाइए। लेटने पर दिन के कार्यों की आलोचना मत किया कीजिए। यदि आप इस नियम के अनुकूल चलेंगे, तो तंदुरुस्त बच्चे की भाँति झट सो जायँगे। सोते हुए बच्चों को ग़ौर से देखिए कि वह सोते समय कैसे सो जाता है और उसी का अनुकरण कीजिए। जब आप सोने जाइए, तो आप भी बच्चा हो जाइए और बचपन ही की वेदनाओं को धारण कर लीजिए, फिर आप भी बच्चे ही की भाँति सो जाया करेंगे। केवल

इतना ही उपदेश एक सुंदर जिल्दवाली किताब में छापने के योग्य है, क्योंकि यदि इस उपदेश का अनुसरण किया जाय, तो मानव समाज बहुत कुछ उन्नत हो जाय।

यदि किसी मनुष्य को मानव की वास्तविक प्रकृति का ज्ञान प्राप्त हो जाय और यह विदित हो जाय कि सृष्टि में उसका पद क्या है, तो वह बच्चे ही की भाँति विश्राम में निमग्न हो जाय। वह सृष्टि में अपने को निर्द्वंद्व समझता है और विश्व के शासन करनेवाली शक्ति में इतना विश्वास और भरोसा रखता है कि वह बच्चे की भाँति अपने शरीर को ढीला कर देता है और अपने मन पर से तनाव को खींच लेता है और क्रमश विश्राममय नींद में निमग्न हो जाता है।

उन मनुष्यों के लिये जो नींद न आने के कारण दुखी रहा करते हैं, नींद बुलाने के लिये हम कोई विशेष नियम न देंगे। हमारा विश्वास है कि यदि ये विचारयुक्त और प्राकृतिक जीवन की तरकीबों का अनुसरण करेंगे, तो ये बिना किसी ख़ास सलाह के पाए ही स्वभाव ही से आप-से आप सो जाया करेंगे। परंतु यहाँ पर उन लोगों के लिये, जो साधन कर रहे हैं, दो एक बातों का कह देना अच्छा ही होगा। सोने के पहले टाँगों और पैरों को ठंढे पानी से धो डालने से नींद आती है। मन को अपने चरणों पर एकाग्र करने से भी बहुतों को अच्छा लाभ होता है, क्योंकि रुधिर का प्रवाह चरणों ही की ओर अधिक झुक जाता है और मस्तिष्क को विश्राम मिल जाता है। सबके ऊपर यह बात है कि नींद बुलाने की कोशिश कभी मत कीजिए यह सोने की इच्छा रखनेवाले के लिये अत्यंत बुरी बात है, क्योंकि इसका विपरीत ही फल होता है। यदि आप इसका ख़याल ही करें, तो बेहतर तरकीब यह है कि आप ऐसी मानसिक स्थिति धारण कर लीजिए कि चाहे तुरंत सो जायँ या न सो जायँ,

इसकी कुछ चिंता ही नहीं; यह देखिए कि शरीर और मन सब प्रकार से बिना तनाव के ढीले तो हो गए हैं, और आप सब प्रकार से संतुष्ट तो हैं। अपने को थका हुआ बच्चा कल्पना कर लीजिए कि आधा ऊँघते हुए विश्राम कर रहे हैं, न तो पूरा सो ही गए हैं और न पूरा जागते ही हैं, बस ऐसा ही कीजिए। बहुत रात तक चिंता मत करते रहिए कि अब भी नींद नहीं आई, केवल वर्तमान दशा में संतुष्ट होकर निश्चिंत हो जाइए और निष्क्रियता का सुख भोगिए।

शिथिलीकरण के अभ्यास में जो कसरतें दी गई हैं, उनसे आप इच्छानुसार अपने को ढीला कर सकेंगे और जिनको नींद न आने का दुःख भोगना पड़ता है, उनको मालूम होगा कि उनकी सभी आदतें बदल गई हैं।

अब हम जानते हैं कि हम सभी शिष्यों से यह आशा नहीं कर सकते कि वे बच्चे की भाँति अथवा किसान की तरह सवेरे ही सो जायँगे और सवेरे ही जग उठेंगे। हमारी इच्छा तो यही है कि ऐसा ही होता; परंतु हम समझते हैं कि अर्वाचीन जीवन में विशेष करके बड़े-बड़े नगरों में कैसी-कैसी आवश्यकताएँ पड़ जाती हैं। इसलिये हम अपने शिष्यों से यही अनुरोध आग्रहपूर्वक करते हैं कि इस विषय में जहाँ तक हो सके, प्रकृति के निकट रहने का यत्न कीजिए। जहाँ तक हो सके अधिक रात तक जागना और अपने को जोश में रखना बंद कर दीजिए; और जब अवसर मिले, सवेरे सोइए और सवेरे ही जगिए। हम जानते हैं कि ऐसा करने से आपकी उस बात में बाधा पड़ेगी, जिसे आप आनंद समझे हुए हैं; परंतु हमारा यही निवेदन है कि इस "आनंद" में भी आप विश्राम कर लीजिए। देर या सवेर मानव जाति फिर सादे तरीकों से जीने की ओर वापस आवेगी; और अधिक रात तक डाँवाँडोल रहना वैसा ही गिना

जायगा, जैसा आज तक भले आदमियों में गाँजा, अफ़ीम आदि का व्यवहार और शराब पीकर मतवाला हो जाना आदि गिने जाते हैं। परंतु तब तक हम यही कह सकते हैं कि जहाँ तक करते बने, इस विषय में करते रहिए।

यदि आपको दिन की दोपहरी में कुछ समय मिल जाय, या अन्य ही किसी समय में, तो आपको मालूम हो जायगा कि आधे घंटे के शरीर के शिथिलीकरण अथवा निद्रा से आपके शरीर में ताज़गी आ जायगी और उठने पर आप बेहतर कार्य करने के योग्य हो जायँगे। बहुत-से लब्ध प्रतिफल कामकाजी और रोज़गारी मनुष्य इस गूढ़ भेद को जान गए हैं, और जब नौकर चाकर लोग मिलनेवालों से कहते हैं कि मालिक आध घंटे के लिये बहुत ही आवश्यक काम में फँसे हैं तो अक्सर यह बात रहती है कि वे चारपाई पर पड़े हुए अपने शरीर को ढीला किए हुए लंबी साँसें लेते रहते हैं, और प्रकृति को ऐसा अवसर देते रहते हैं कि वह ताज़गी दे दे। अपने काम के बीच बीच में थोड़ा-थोड़ा विश्राम देने से मनुष्य उतने काम का दूना काम कर सकता है, जितना बिना विश्राम किए करता था। हे परिश्रमी जनो, इस बात पर विचार करो और अपने परिश्रम के बीच-बीच में शिथिलीकरण और विश्राम के द्वारा तुम परिश्रम को और भी अधिक तेज़ और लाभदायक बना सकते हो। थोड़े-से शिथिलीकरण से नई ताज़गी आ जाती है और कठिन परिश्रम की योग्यता हो जाती है।

उनतीसवाँ अध्याय

नवजनन

इस अध्याय में हम आपके ध्यान को एक ऐसे विषय की ओर आकर्षित करेंगे, जो मानव जाति के लिये अत्यंत हितकर है, परंतु जिस पर विचार करने के लिये मानव जाति तैयार नहीं है। इस विषय पर सर्वसाधारण की मति की वर्तमान स्थिति के कारण इच्छानुकूल या आवश्यकतानुसार साफ़ साफ़ लिखना असमव है क्योंकि इस विषय के सभी लेख अश्लील और अपवित्र ख़याल किए जाते हैं, यद्यपि लेखक का उद्देश सर्वसाधारण की अश्लील और अपवित्र तथा अनुचित क्रियाओं का रोकना ही क्यों न हो। तथापि कुछ निर्भय लेखकों ने सर्वसाधारण को किसी-न-किसी प्रकार से इस नवजनन के विषय से ख़ासी तौर पर परिचित करा दिया है, जिससे हमारे पाठकों में से अधिकतर मनुष्य हमारे भाव को समझ जायँगे।

हम कामशास्त्र ऐसे प्रधान विषय को नहीं वर्णन किया चाहते, क्योंकि उसके वर्णन में तो अलग ही एक अच्छी किताब तैयार हो जायगी और इसके अलावे इस किताब में उस शास्त्र की सविस्तर व्याख्या करने की चेष्टा उचित भी नहीं है। हम कुछ बात नवजनन के विषय में करेंगे। मनुष्य लोग जो अधिक प्रसंग करते हैं और सहधर्मिणियों का अधिक प्रसंग के लिये विवश करते हैं, उसको योगी लोग बिलकुल प्रकृति के विरुद्ध समझते हैं। उनका यह विश्वास है कि रज और वीर्य ये इतने अनमोल पदार्थ हैं कि नष्ट करने के योग्य नहीं हैं, और जो मनुष्य ऐसा करता है, वह इस विषय में पशु से भी नीचे गिर जाता है। सिर्फ़ एक या दो को छोड़कर शेष सब नीचे जंतु केवल संतान

के लिये प्रसग करते हैं, और प्रसगाधिक्य तथा रज-वीर्य का नाश जितना मनुष्य करते हैं, वह नीच जतुओं को छू तक नहीं गया है।

ज्यों-ज्यों मानव जाति सच्चे जीवन में उन्नति करती जाती है, त्यों त्यों पति और पत्नी के मध्य में नए-नए कर्तव्य प्रकट होते हैं और उनमें परस्पर उच्च भावों का देना-लेना होने लगता है, जो पशुओं ही में नहीं होता और न जो पशुतुल्य भौतिक मनुष्यों ही में होता। यह बात उन्नतमना और आध्यात्मिक पुरुष और स्त्रियों के बाँटे की है। पति और पत्नी के मध्य में समुचित सबध रहने से उन्नति, शक्ति और सज्जनता प्राप्त होती है न कि क्षीणता, निर्बलता और दुर्जनता, जो कि केवल विलासिता से उत्पन्न हुआ करती है। यही कारण है कि पति पत्नी म यदि एक उच्च भाव और दूसरा नीच भाव का हुआ, तो दोनों एक सग गति नहीं कर सकते, एक आग बढ़ा चाहता है, तो दूसरा पीछे हटने का यत्न करता है और इसलिये वैमनस्य और विरोध हो जाया करता है। वे दोनों भिन्न भिन्न लोकों में रहने लगते हैं और वे परस्पर एक दूसरे में उस सुख को नहीं पाते, जिसकी उन्हें अभिलाषा होती है। बस हम इस विषय में केवल इतना ही कहा चाहते हैं। इस विषय पर बहुत अच्छी अच्छी किताबें लिखी गई हैं। जहाँ उच्च विचार के ग्रथ मिलते हों, वहाँ पता लगाने से इन किताबों का पता लग सकता है। अब आगे इस अध्याय में हम रज-वीर्य की रक्षा की महिमा के विषय में कहेंगे।

यद्यपि योगी लोग ब्रह्मचारी रहकर ऐसे जीवन में रहते हैं कि पति-पत्नी भाव या उनके प्रसग की बात ही नहीं रहती, तो भी योगी लोग जननेंद्रियों के बलवान् होने और उनका प्रभाव सारे शरीर पर पड़ने की महिमा को भली भाँति समझते हैं। इन इद्रियों के निर्बल हो जाने से सारा आधिभौतिक शरीर-यत्र निर्बल हो जाता है और

दुःख भोगता है। पूरी साँस लेने से (जिसका वर्णन पहले हो चुका है) एक ऐसा साज उत्पन्न होता है, जो इस मुख्य अंग को स्वाभाविक स्थिति में रखने के लिये स्वयं प्रकृति की आदि ही से रची हुई तरकीब है; इस पूरी साँसक्रिया द्वारा जनन-शक्ति सुदृढ़ और जीवटवाली हो जाती है और इस प्रकार सहानुभवी क्रिया द्वारा सारा शरीर बलवान् और सुदृढ़ हो जाता है। इस कथन का यह अर्थ नहीं है कि पूरी साँस की क्रिया से कामवृत्ति जगती है—किंतु इससे बिलकुल ही पृथक् योगी लोग ब्रह्मचर्य और काम-दमन के पक्षपाती होते हैं, वे वैवाहिक गँठजोड़े में और अन्यत्र भी सर्वत्र पवित्रता चाहते हैं। उन लोगों ने स्वयं काम को दमन करना सीखा है, और वे काम को इच्छा और मन का वशवर्ती बना डालते हैं। परंतु काम के दमन करने का अर्थ नपुंसकता नहीं है योगियों का यह शिक्षा है कि जिन पुरुष और स्त्रियों के जननावयव प्राकृतिक और सुदृढ़ हैं, उनका संकल्प ऐसा प्रबल होगा कि जिससे वह अपने को वश में रख सकेगा। योगियों का यह विश्वास है कि जननेंद्रियों की निर्बलता ही के कारण कामातुरता होती है।

योगी लोग यह भी जानते हैं कि कामशक्ति को परिवर्तित करके कैसे उसे शारीरिक और मानसिक विकाश में लगा सकते हैं कि जिसमें वह व्यर्थ न जाय, जैसा कि मूर्ख मनुष्यों में वह नष्ट हुआ करता है। आगे चलकर हम योगियों की एक ऐसी कसरत बतलाते हैं, जिससे काम-शक्ति मानसिक और शारीरिक बल में परिवर्तित हो जाती है। चाहे शिष्य योगी के इंद्रियशोध का पसंद करे या न करे, पर यह तो उसे मालूम हो ही जायगा कि पूरी साँस से इन अवयवों में इतनी शक्ति आयेगा, जितनी और किसी उपाय से नहीं आ सकती। स्मरण रखिए कि हम प्राकृतिक स्वस्थता का प्रतिपादन कर रहे हैं, न कि अस्वाभाविक वृद्धि का। भोगी कामी

को तो यह प्रतीत होगा कि प्राकृतिक का क्रम भोग की इच्छा का कम होना है, और निर्बल मनुष्य को यह मालूम होगा कि इसका अर्थ शरीर में शान चढ़ जाना और उस निर्बलता से छुटकारा पा जाना है, जो अब तक उसे मनहूस बनाए थी। हम यह नहीं चाहते कि यहाँ पर हमारी बातों को समझने में आपको भ्रम हो। योगी का आदर्श यह है कि शरीर अपने सब अवयवों से सुदृढ़ हो और अपनी प्रबल इच्छाशक्ति के आयत्त में उच्चभावों में जागृत होकर रहे।

योगी लोग पुरुषों और स्त्रियों के वीर्य और रज के सुव्यवहार तथा दुर्व्यवहार का बहुत बड़ा ज्ञान रखते हैं। इस विषय की कुछ बातें योगियों की मंडली से निकलकर कहीं-कहीं अन्य मनुष्यों में फैल गई हैं, और उन बातों को कुछ पश्चिमी मनुष्यों ने लिख डाला है और उनसे बहुत लाभ हुआ है। इस किताब में हम उस विषय के आंतरिक विचारों का वर्णन करेंगे, परंतु एक ऐसी तरकीब पर आपके ध्यान को आकर्षित करेंगे, जिससे शिष्य अपनी जननशक्ति को नष्ट करने के स्थान में उसे सारे शरीर के लिये जीवट रूप में परिवर्तित कर सकता है। जननशक्ति उत्पत्तिकारिणी शक्ति है, और सारे शरीर-यंत्र द्वारा ग्रहण करके बल और जीवट रूप में परिवर्तित हो सकती है, इस प्रकार जनन के स्थान में नवगठन कर सकती है। यदि हमारे नवयुवक लोग इन गूढ़ तत्त्वों को समझ जाते, तो वे आनेवाले अनेक विपत्तियों के समूह और दुःखों से छुटकारा पा जाते और मन, बुद्धि, धर्म और शरीर से सब प्रकार बलिष्ठ हो जाते।

जननशक्ति का यह परिवर्तन अभ्यासी को बहुत जीवट देता है। यह उन्हें उस ओजस से भर देता है, जो उनके शरीर में तेज और प्रताप रूप से झलकने लगता है। इस प्रकार से परिवर्तित

शक्ति दूसरे मार्गों में ले जाकर बड़े-बड़े कामों में लगाई जा सकती है। प्रकृति ने प्राण के एक अत्यंत शक्तिमान् रूपांतर को इस जनन शक्ति के रूप में एकत्रित कर दिया है। अधिक-से अधिक जीवन शक्ति बहुत थोड़े परिमाण में एकत्रित की गई है। जंतुओं के जीवन में जननावयव एक बड़े प्राणभंडार हैं, और उनकी शक्ति को ऊपर खींचकर चाहे उसे मानसिक, आध्यात्मिक और शारीरिक उन्नति में प्रयोग करें, चाहे जनन-कार्य में लगावें, अथवा भोग विलास में नष्ट कर डालें।

जननशक्ति को परिवर्तित करनेवाली योगियों की कसरत बहुत ही सरल है। यह तालयुक्त साँस के साथ और बहुत आसानी से की जाती है। इसका अभ्यास किसी समय में किया जा सकता है, परंतु उस समय इसको करने का हम आग्रह करेंगे जब कामेच्छा प्रबल हो उठी हो; उस समय में यह शक्ति प्रकट रहती है और आसानी से पुष्टिकर कार्यों में परिवर्तित की जा सकती है। हम आगे इसे देंगे। जिन पुरुष और स्त्रियों को मानसिक और शारीरिक उत्पादन कार्य करना पड़ता है, वे इस उत्पादिनी शक्ति को अपने व्यवसाय में प्रयोग कर सकते हैं और कसरत में प्रत्येक श्वास खींचने के साथ शक्ति को खींचकर श्वास छोड़ने के समय इसे अभीष्ट स्थान को भेज सकते हैं। शिष्यों को समझ लेना चाहिए कि वस्तुतः रज और वीर्य इस रीति से नहीं खींचे जाते, किंतु वह प्राणशक्ति खींची जाती है, जिससे यह कामशक्ति जागृत रहती है—मानो जननशक्ति का सत खिंच जाता है।

पुष्टि-विधायिनी कसरत

अपने मन को काम चिंतनाओं और काम-कल्पनाओं से हटाकर केवल शक्ति-मात्र पर एकाग्र कीजिए। यदि काम चिंतनाएँ मन में आ जायँ, तो इससे हिम्मत न हारिए; परंतु इसे उस शक्ति का

विकाश समझिए, जिसे आप शरीर और मन की पुष्टि करने में लगाया चाहते हैं। ढीले होकर पड़ जाइए या सीधे बैठ जाइए; और अपने मन को इस कल्पना में लगाइए कि मानो आप इस जननशक्ति को ऊपर खींचकर सौर्यकेंद्र में ला रहे हैं, जहाँ यह परिवर्तित होकर जीवट-शक्ति के रूप में सचित रहेगी। तब तालयुक्त श्वास लीजिए, और मन में यह कल्पना कीजिए कि प्रत्येक श्वास खींचने में आप कामशक्ति को ऊपर खींच रहे हैं। प्रत्येक श्वास खींचने में प्रबल आकांक्षा की आज्ञा दीजिए कि जननेंद्रियों से शक्ति खिचकर ऊपर सौर्यकेंद्र में आवे। यदि ताल ठीक रीति से निश्चित हो गया होगा और कल्पना स्पष्ट हो गई होगी, तो आपको शक्ति ऊपर चढ़ती प्रतीत होगी और आपको उसके उत्तेजक प्रभाव का बोध हो जायगा। यदि आप मानसिक बल की वृद्धि चाहते हैं, तो आप इसे सौर्यकेंद्र में खींचने के स्थान पर मस्तिष्क में खींच सकते हैं, यह कार्य मानसिक आज्ञा देने और मस्तिष्क में खींचने की कल्पना करने से हो सकता है। कसरत के इस अंतिम भाग में शक्ति का केवल उतना ही अंश मस्तिष्क में जायगा, जितने की वहाँ आवश्यकता होगी; शेष भाग सौर्यकेंद्र ही में सचित रह जायगा। इस परिवर्तिनी क्रिया में सिर को थोड़ा आगे सरलता और स्वाभाविक रीति से झुका रहना चाहिए।

यह नवजनन का विषय जाँच, अन्वेषण और अध्ययन के लिये एक वृहत् क्षेत्र उपस्थित कर देता है और किसी दिन इस विषय पर एक छोटी किताब लिख देना हितकर समझ सकते हैं कि यह किताब उन थोड़े-से मनुष्यों में घुमाई जाय जो इसके लिये तैयार हों और जो पवित्र भावना से इसके खोजी हों न कि काम-कल्पनाओं और काम-वृत्तियों से प्रेरित होकर इसे तलाश करते हों।

तीसवाँ अध्याय

मानसिक स्थिति

जिन लोगों ने प्रवृत्तिमानस और आधिभौतिक शरीर को स्वायत्त रखने के विषय में योगियों की शिक्षा का परिचय पा लिया है, और यह भी जान लिया है कि प्रबल आकांक्षा का कितना प्रभाव प्रवृत्तिमानस पर पड़ता है, वे बड़ी आसानी से देख सकते हैं कि किसी मनुष्य की मानसिक स्थिति का बड़ा भारी प्रभाव उसके स्वास्थ्य पर पड़ता है। जिस मनुष्य की मानसिक स्थिति उज्ज्वल, प्रसन्न और सुखी होती है, उसका भौतिक शरीर स्वाभाविक रीति से अपना काम करता है; परंतु विषादयुक्त मानसिक दशाएँ, चिंता, चिड़चिड़ापन, भय, ईर्षा, द्वेष और क्रोध ये शरीर पर अपना बुरा असर डालते हैं और शारीरिक गड़बड़ उत्पन्न कर देते हैं, जिसका परिणाम रोग होता है।

इस बात को हम सब लोग जानते हैं कि अच्छे समाचार और प्रसन्न सब स्वाभाविक भूख उत्पन्न करते हैं, परंतु बुरे समाचार मन इस संघ बगैर भूख को मंद कर देते हैं। किसी प्रिय भोजन का ज़िक आने पर मुँह में पानी भर आता है और किसी बुरी वस्तु के स्मरण से मतली आने लगती है।

हमारी मानसिक स्थितियाँ हमारे प्रवृत्तिमानस में प्रतिबिंबित रहती हैं; और चूँकि मन का यह अंश शरीर पर सीधा अधिकार रखता है, इसलिये यह बात झट समझ में आ सकती है कि मानसिक स्थिति कैसे शारीरिक कार्यों में अपना असर डाल देती है।

विषादयुक्त भावनाएँ रुधिरसंचार पर अपना असर डालती हैं,

और इससे शरीर के प्रत्येक भाग पर प्रभाव पड़ता है कि शरीर अपनी पुष्टि से वंचित रह जाता है। अनमेल ख़यालात भूख को मंद कर देते हैं, जिसका यह परिणाम होता है कि शरीर को उचित पोषण नहीं मिलता और रुधिर दरिद्र हो जाता है। इसके विपरीत प्रसन्न विचार और शुभ तथा मंगल भावनाएँ पाचन को बढ़ाती हैं, भूख को जगाती, रुधिर-संचार में सहायता देती और वस्तुतः सारे शरीर पर कायाकल्प का प्रभाव डालती हैं।

बहुत-से लोग यह ख़याल करते हैं कि मानसिक भावों का शरीर पर असर डालना यह योगियों और उन लोगों का भ्रम है, जो मन ही को प्रधानता देकर मानस ही द्वारा रोग चंगा करने में अपना स्वार्थ समझते हैं; परंतु आप वैज्ञानिक अन्वेषणकारियों के प्रामाणिक लेखों को देखिए, तो आपको मालूम हो जायगा कि ऐसा ख़याल सत्य घटनाओं के आधार पर है। बहुत बार परीक्षाएँ की गई हैं, जिनसे यह सिद्ध हुआ है कि शरीर मानसिक स्थिति और विश्वास को झट ग्रहण कर लेता है, बहुत-से मनुष्य स्वतः प्रवृत्त भावनाओं और दूसरों द्वारा प्रवर्तित की हुई भावनाओं से रोगी हो गए हैं और रोग से छुटकारा पा गए हैं। ये भावनाएँ मानसिक स्थितियाँ ही तो हैं?

क्रोध के आवेश में लार या थूक विष हो जाता है; यदि माता बहुत भयभीत या क्रुद्ध हो जाय, तो उसका दूध बच्चे के लिये विषैला हो जाता है। यदि मनुष्य विषादयुक्त या भयभीत हो जाय, तो उसके आमाशय से स्वच्छंदतापूर्वक द्रव नहीं स्रवता। ऐसे हज़ारों प्रमाण दिए जा सकते हैं।

क्या इसमें आपको संदेह है कि अयुक्त भावनाओं के कारण बीमारियाँ पैदा हो जाती हैं? तब कुछ पश्चिमी वैज्ञानिकों का प्रमाण सुन लीजिए—

"आफ़्रिका के किसी किसी भाग में अधिक क्रोध या रंज करने के पश्चात् अवश्य ज्वर आ जाता है।" सर सेमुयल बेकर।

"एकमारगी मन पर धक्का लगने से सख्त प्रमेह उत्पन्न होता है, जिसका कारण मानसिक उद्वेग है।" सर बी० डबल्यू० रिचार्डसन।

"बहुत-सी बीमारियों में देखने से मुझे ऐसे कारण मिले हैं, जिनसे विश्वास किया जा सकता है कि बहुत दिनों तक चिंता करने से विषैले फोड़े की उत्पत्ति हुई है।" सर जार्ज पेजेट।

"हम इस बात को देखकर बहुत आश्चर्यित हुए कि अक्सर फेफड़ों में विषैले फोड़ों के रोगी लगातार रंज के कारण इस रोग में पड़ गए। यह बात इतनी अधिक देखने में आती है कि इसे सिर्फ़ इत्तफ़ाक़ नहीं कह सकते।" मर्चिसन।

"विषैले फोड़ों की बीमारियाँ, ख़ासकर छाती की, मानसिक चिंता के कारण उत्पन्न होती हैं।" डॉक्टर स्नो।

इत्यादि, इत्यादि।

डॉक्टर हैक टयूक मानसिक बीमारियों की अपनी किताब में, जो पश्चिमी दुनिया में मानसिक औषधियों के प्रचार के बहुत पहले की है, लिखते हैं कि अनेकों बीमारियाँ भय से उत्पन्न होती हैं जैसे उन्माद, विक्षिप्तता, लकवा, पहले ही बाल पक जाना, गंजा सिर, दाँतों का बिगड़ना इत्यादि।

उन दिनों में जब सांपर्किक बीमारियाँ बवा की भाँति फैलती हैं, तो देखने में आता है कि बहुत-से मनुष्य भय ही के कारण बीमार पड़ जाते हैं अथवा बीमारी का तो हलका हमला हुआ, पर भय का इतना भारी हमला हुआ कि लोग मर जाते हैं। यह बात आसानी से तब समझ में आवेगी, जब हम ख़्याल करेंगे कि सांपर्किक बीमारियाँ कम जीवट के मनुष्यों ही पर अधिक आक्रमण करती हैं और भय और ऐसी वृत्तियाँ जीवट को कम कर ही देती हैं।

इस विषय में बहुत-सी अच्छी अच्छी किताबें लिखी हुई हैं, इस लिये इसके अधिक विस्तार करने की आवश्यकता नहीं प्रतीत होती।

परंतु इस विषय को छोड़ने के पहले हम अपने शिष्यों के मन पर इस बात को अंकित कर देना चाहते हैं कि "विचार क्रिया का रूप धारण करते हैं" और मानसिक दशाएँ शारीरिक क्रियाओं के रूप में प्रकट होती हैं।

योगशास्त्र अपने शिष्यो के मन में स्थिरता, शांति, शक्ति और निर्भयता उत्पन्न करना चाहता है, जो कि शरीर में आकर प्रतिबिंबित होते हैं। ऐसे मनुष्यों के मन में शांति और निर्भयता तो स्वाभाविक ही रीति से आती है और विशेष प्रयत्न की आवश्यकता नहीं पड़ती। परंतु उन लोगों के लिये, जो अभी तक मानसिक शांति नहीं प्राप्त किए हैं, इस बात से बहुत लाभ हो सकता है कि वे अपने मन को शांत रखने का ख़याल बनाए रहें और ऐसे मंत्रों को जपें, जिनसे शांत मन की कल्पना होती हो। हमारी राय है कि ये शब्द जपे जायँ कि "उज्ज्वल, प्रसन्न और सुखी" और इन शब्दों के अर्थ पर ध्यान रहे, इन शब्दों के भाव को अपनी शारीरिक क्रिया में विकसित कीजिए, तो आपको मानसिक और शारीरिक बहुत बड़ा लाभ होगा और आध्यात्मिक बातों के ग्रहण करने के योग्य आपका मन होता जायगा।

इकतीसवाँ अध्याय

आत्मा के अनुगामी बनो

यद्यपि यह किताब केवल भौतिक शरीर के कल्याण के अभिप्राय से लिखी गई है, और योगशास्त्र के उच्च अंश अन्य लेखों के लिये छोड़ दिए गए हैं, तथापि योगशास्त्र के मूल तत्त्व उसकी गौण शाखाओं से इस भाँति मिले जुले हैं, और योगी लोग अपनी साधारण क्रियाओं में भी उन मूल तत्त्वों पर इतनी दृष्टि रखते हैं कि इस योगशास्त्र की शिक्षा और शिष्यों पर न्याय की दृष्टि से देखते हुए उन गूढ़ तत्त्वों के विषय में बिना कुछ बातें कहे हम इस विषय को नहीं छोड़ सकते।

जैसा कि हमारे शिष्य लोग निस्सन्देह जानते हैं, यह योगशास्त्र ऐसा बतलाता है कि मनुष्य क्रमशः नीच रूपों से उच्च रूप में वृद्धि और विकाश पा रहा है और उससे भी ऊँचा आध्यात्मिक विकास इसका होनेवाला है। प्रत्येक मनुष्य में आत्मा है यद्यपि वह नीच प्रकृति के आवरणों से इतना घिरा हुआ है कि वह बड़ी कठिनता से जाना जाता है। आत्मा नीच जीवों में भी है, वह स्फुरण कर रहा है और सर्वदा उच्च उच्च रूप में विकसित होने की ओर उन्मुख रहता है। इस उन्नतिशील जीवन का भौतिक आवरण, जो धातुओं, पौधों, नीच जंतुओं और मनुष्यों का शरीर है, एसा औज़ार है कि जो उच्च और उच्च तत्त्वों के उत्तम-से उत्तम विकास के लिये काम आता है। परन्तु यद्यपि भौतिक शरीर का व्यवहार अल्प समय के लिये और अनित्य है, और यह शरीर केवल वस्त्र की भाँति पहनने और उतार देने के योग्य है, तो भी प्रकृति का यह सर्वदा उद्देश रहता है कि औज़ार जहाँ तक

हो सके, पूरा-से-पूरा बना रहे। प्रकृति यथासाध्य उत्तम-से-उत्तम शरीर देती है, और उचित जीवन की प्रेरणा करती रहती है, परंतु यदि ऐसे कारणों से, जिनका यहाँ वर्णन नहीं किया जाता, एक अपूर्ण शरीर जीव को मिल जाता है, तथापि उच्च भाव यह यत्न करते रहते हैं कि उसी देह के अनुकूल अपने को बनाकर उससे अच्छा-से अच्छा काम निकालें।

यह आत्म-रक्षा की प्रवृत्ति—यह जीवन की आंतरिक प्रेरणा—आत्मा का विकास है। यह प्रवृत्तिमानस के आदिम रूप से लेकर अनेक दर्जों में काम करती हुई मानसिक मूल तत्त्व के उच्चतम विकास तक पहुँचती है। यह बुद्धि में होकर भी प्रकट होती है, जिससे मनुष्य अपनी तर्कशक्तियों का व्यवहार करके अपनी शारीरिक पूर्णता और जीवन को क़ायम रखता है। परंतु शोक है कि बुद्धि अपने ही काम में नहीं लगी रहती, किंतु ज्यों ही वह अपने को कुछ समझने लगती है, त्यों ही वह प्रवृत्तिमानस को दबाकर आप जीवन की अनेक प्रकार की अस्वाभाविक कुरीतियों को शरीर पर ढकेल देती है और प्रकृति से इतनी दूर कर देने की चेष्टा करती है, जितना संभव हो सकता है। यह उस लड़के की भाँति है, जो माता पिता के शासन से स्वतन्त्र होकर माता पिता के आदर्श और उपदेश के यथासाध्य विपरीत चला जाता है—केवल इसी बात को दिखलाने के लिये कि मैं "स्वतन्त्र हूँ"। परंतु लड़का अपनी मूर्खता को किसी समय पर समझ जाता है और सुधर जाता है—उसी प्रकार बुद्धि भी कभी सुधर जायगी।

मनुष्य अब समझने लगा है कि उसके भीतर ऐसी कोई चीज़ है, जो उसकी आवश्यकताओं पर ध्यान रखती है, और वह अपने काम को उस मनुष्य की अपेक्षा अधिक समझती है। क्योंकि मनुष्य अपनी सारी बुद्धि रखते हुए भी प्रवृत्तिमानस के उन महत्कर्मों को

इकतीसवाँ अध्याय

आत्मा के अनुगामी बनो

यद्यपि यह किताब केवल भौतिक शरीर के कल्याण के अभिप्राय से लिखी गई है, और योगशास्त्र के उच्च अंश अन्य लेखों के लिये छोड़ दिए गए हैं, तथापि योगशास्त्र के मूल तत्त्व उसकी गौण शाखाओं से इस भाँति मिले जुले हैं, और योगी लोग अपनी साधारण क्रियाओं में भी उन मूल तत्त्वों पर इतनी दृष्टि रखते हैं कि इस योगशास्त्र की शिक्षा और शिष्यों पर न्याय की दृष्टि से देखते हुए उन गूढ़ तत्त्वों के विषय में बिना कुछ बातें कहे हम इस विषय को नहीं छोड़ सकते।

जैसा कि हमारे शिष्य लोग निस्संदेह जानते हैं, यह योगशास्त्र ऐसा बतलाता है कि मनुष्य क्रमशः नीच रूपों से उच्च रूप में वृद्धि और विकाश पा रहा है और उससे भी ऊँचा आध्यात्मिक विकास इसका होनेवाला है। प्रत्येक मनुष्य में आत्मा है यद्यपि वह नीच प्रकृति के आवरणों से इतना घिरा हुआ है कि वह बड़ी कठिनता से जाना जाता है। आत्मा नीच जीवों में भी है, वह स्फुरण कर रहा है और सवदा उच्च उच्च रूप में विकसित होने की ओर उन्मुख रहता है। इस उन्नतिशील जीवन का भौतिक आवरण, जो धातुओं, पौधों, नीच जंतुओं और मनुष्यों का शरीर है, ऐसा औज़ार है कि जो उच्च और उच्च तत्त्वों के उत्तम-से-उत्तम विकास के लिये काम आता है। परंतु यद्यपि भौतिक शरीर का व्यवहार अल्प समय के लिये और अनित्य है, और यह शरीर केवल वस्त्र की भाँति पहनने और उतार देने के योग्य है, तो भी प्रकृति का यह सर्वदा उद्देश रहता है कि औज़ार जहाँ तक

हो सके, पूरा-से-पूरा बना रहे। प्रकृति यथासाध्य उत्तम-से-उत्तम शरीर देती है, और उचित जीवन की प्रेरणा करती रहती है, परंतु यदि ऐसे कारणों से, जिनका यहाँ वर्णन नहीं किया जाता, एक अपूर्ण शरीर जीव को मिल जाता है, तथापि उच्च भाव यह यत्न करते रहते हैं कि उसी देह के अनुकूल अपने को बनाकर उससे अच्छा-से अच्छा काम निकालें।

यह आत्म-रक्षा की प्रवृत्ति—यह जीवन की आंतरिक प्रेरणा—आत्मा का विकास है। यह प्रवृत्तिमानस के आदिम रूप से लेकर अनेक दर्जों में काम करती हुई मानसिक मूल तत्व के उच्चतम विकास तक पहुँचती है। यह बुद्धि में होकर भी प्रकट होती है, जिससे मनुष्य अपनी तर्कशक्तियों का व्यवहार करके अपनी शारीरिक पूर्णता और जीवन को क़ायम रखता है। परंतु शोक है कि बुद्धि अपने ही काम में नहीं लगी रहती, किंतु ज्यों ही यह अपने को कुछ समझने लगती है, त्यों ही यह प्रवृत्तिमानस को दबाकर आप जीवन की अनेक प्रकार की अस्वाभाविक कुरीतियों को शरीर पर ढकेल देती है और प्रकृति से इतनी दूर कर देने की चेष्टा करती है, जितना संभव हो सकता है। यह उस लड़के की भाँति है, जो माता पिता के शासन से स्वतंत्र होकर माता पिता के आदर्श और उपदेश के यथासाध्य विपरीत चला जाता है—केवल इसी बात को दिखलाने के लिये कि मैं "स्वतंत्र हूँ"। परंतु लड़का अपनी मूर्खता को किसी समय पर समझ जाता है और सुधर जाता है—उसी प्रकार बुद्धि भी कभी सुधर जायगी।

मनुष्य अब समझने लगा है कि उसके भीतर ऐसी कोई चीज़ है, जो उसकी आवश्यकताओं पर ध्यान रखती है, और वह अपने काम को उस मनुष्य की अपेक्षा अधिक समझती है। क्योंकि मनुष्य अपनी सारी बुद्धि रखते हुए भी प्रवृत्तिमानस के उन महत्कर्मों को

नहीं कर सकता, जिन्हें वह पौधों, जन्तुओं और स्वयं उसी मनुष्य में कर डालता है। और वह इस मानस तत्त्व को मित्र समझकर उसका भरोसा करने लगा है और उसने उसे अपना काम करने की छुट्टी दे दी है। जीवन की वर्तमान रीतियों में, जिन्हें मनुष्य ने अपने विकास में धारण कर लिया है, परंतु जिनसे पृथक् होकर वह देर या सबेर अपनी प्राकृतिक अवस्था में वापस आवेगा, पूर्णतया प्राकृतिक जीवन जीना प्रायः असम्भव-सा हो गया है; जिसका परिणाम यह हुआ है कि भौतिक जीवन अवश्य कुछ-न-कुछ अनरीति का होगा। परन्तु प्रकृति की आत्मरक्षा और प्रतियोजना प्रवृत्ति बहुत प्रबल है, और वह बहुत अच्छी तरह से अपना काम निवाह लेती है, और अपने काम को उसकी अपेक्षा बेहतर करती है, जिसे सभ्य मनुष्य जीवन की अपनी ऊटपटाँग रीतियों के द्वारा करने की आशा कर सकता है। इस बात को कभी न भूलना चाहिए कि मनुष्य ज्यों-ज्यों आगे बढ़ता है और उसका आत्मा विकास पाने लगता है, त्यों-त्यों उसे ऐसी एक चीज़ प्राप्त होने लगती है, जो प्रवृत्ति के अनुरूप होती है, जिसे हम लोग प्रतिभा कहते हैं और यही प्रतिभा उसे प्रकृति के मार्ग पर वापस लाती है। हम इस उदय होती हुई चैतन्यता के देख सकते हैं कि प्राकृतिक जीवन और सादी ज़िंदगी की ओर कैसे लोगों का झुकाव हो रहा है और थोड़े दिनों से तो इसकी बहुत ही ज़्यादा तरक़्क़ी है। अब हम लोग अपनी इस चमकीली सभ्यता के रूपों, पुराने विश्वासों और रस्म रिवाजों पर हँसने लगे हैं और यदि हम इन्हें दूर न कर देंगे, तो ये उस सभ्यता को उसी के बढ़ते हुए बोझ के नीचे गिरा देंगे।

जिस पुरुष या स्त्री में अध्यात्म का विकास हो रहा है, वह कृत्रिम जीवन और दस्तूरों से असन्तुष्ट हो जावेगा और जीवन की सादी और अधिक प्राकृतिक रीतियों की ओर झुकेगा और कृत्रिम आचरणों तथा

बन्धनों से, जिनसे मनुष्य बहुत काल से घिरा चला आता है, ऊब जावेगा। उसको सर्वदा अपना वास्तविक घर स्मरण आने लगेगा—"बहुत दिनों के बाद हम घर लौट रहे हैं।" और बुद्धि भी अनुकूल हो जायगी, और उन मूर्खताओं को देखकर, जिनमें यह अब तक पड़ा था, यही चेष्टा करेगी कि सब मूर्खता छोड़कर आओ घर चलें; अपने कार्य को वह अच्छी तरह करने लगेगा और प्रवृत्तिमानस को अपना कार्य निर्बाध करने के लिये छुट्टी दे देगा।

हठयोगी के सब विचार और अभ्यास इसी घर लौट चलने के आधार पर अवलंबित हैं—इस विश्वास पर कि मनुष्य के प्रवृत्ति मानस में वह चीज़ है, जो साधारण दशा में उसके स्वास्थ्य को क़ायम रक्खेगी। इसी के अनुसार वे लोग, जो योग शिक्षा का अभ्यास करते हैं, पहले 'छोड़ना" सीखते हैं और तब प्रकृति के उतना निकटस्थ होना सीखते हैं, जितना इस कृत्रिमता के ज़माने में संभव हो सकता है। इस छोटी किताब में प्रकृति ही के पथ और तरीक़े बतलाए गए हैं, जिससे हम प्रकृति के पास लौट चलें। हमने नए मत का उपदेश नहीं किया है, परंतु सर्वदा आपसे यही आग्रह किया है कि हमारे साथ पुराने अच्छे उस पथ पर आ जाइए, जिसे छोड़कर हम लोग भूले हुए हैं।

हम इस बात को मानते हैं कि आजकल के पुरुष और स्त्रियों को प्राकृतिक जीवन स्वीकार कर लेना बहुत कठिन हो गया है, क्योंकि उनका सब उन्हें विपरीत ही मार्ग ग्रहण करने के लिये प्रेरणा कर रहा है; परंतु प्रत्येक मनुष्य प्रतिदिन अपने लिये और अपनी जाति के लिये इस पथ पर अवश्य थोड़ा बहुत कुछ कर सकता है, और शनैः-शनैः उसकी पुरानी कृत्रिम आदतें सब एक-एक करके छूट जायँगी।

इस अंतिम अध्याय में हम आपके मन पर यह अंकित किया चाहते हैं कि मनुष्य भौतिक और आध्यात्मिक दोनों जीवन में आत्मा

का अनुगामी हो सकता है। मनुष्य आत्मा का पूरा भरोसा कर सकता है कि वह प्रतिदिन के जीवन तथा और टेढ़ेमेढ़े पेचीदा कामों में उसे सच्चे ही मार्ग पर ले जावेगा। यदि मनुष्य आत्मा का भरोसा करेगा, तो उसकी पुरानी कामनाएँ उससे झड़ पड़ेंगी—उसकी अस्वाभाविक रुचियाँ लुप्त हो जावेंगी—और उसका उस सादे जीवन में वह सुख और आनंद मालूम होगा कि जिससे जीवन प्रथम की अपेक्षा अब भिन्न ही वस्तु प्रतीत होने लगेगा।

मनुष्य को यह विश्वास कभी न त्यागना चाहिए कि आत्मा पार्थिव शरीर के कार्यों में भी अगुआ रहता है; क्योंकि आत्मा सर्व व्यापक है और पार्थिव तथा उच्च मानसिक दशाओं दोनों में विद्यमान पाया है। मनुष्य जिस प्रकार आत्मा के साथ-साथ सोच विचार कर सकता है, वैसे ही उसके साथ-साथ भोजन कर सकता है, पानी पी सकता है। इस बात से काम नहीं चलेगा कि अमुक आध्यात्मिक वस्तु है और अमुक वस्तु आध्यात्मिक नहीं है। क्योंकि उच्च भावना में सभी वस्तुएँ आध्यात्मिक हैं।

अब अंत में यह कहना है कि जो मनुष्य अपने भौतिक शरीर को उत्तम-से-उत्तम किया चाहता है—आत्मा के विकास के लिए अच्छा-से अच्छा औज़ार चाहता है—उसको अपने जीवन को सर्वदा आत्मा का भरोसा रखते हुए जीना चाहिए। उसको समझ लेना चाहिए कि उसके भीतर जो आत्मा है, वह परमात्मा की चिनगारी है—परमात्म-समुद्र का एक बिंदु है—परमात्म सूर्य की एक किरण है। उसे समझ लेना चाहिए कि उसकी सत्ता नित्य है, जो सदा बढ़ रही, विकसित हो रही और प्रफुल्लित हो रही है, सर्वदा उस महत् लक्ष्य की ओर जा रही है, जिसके वास्तविक भाव को मनुष्य अपनी इस वर्तमान दशा में अपनी अपूर्ण मानसिक दृष्टि से ग्रहण करने के अयोग्य है, प्रेरणा सर्वदा आगे और ऊपर के लिये है।

हम सब लोग उस महत् जीवन के अंश हैं, जो अनंत रूपों और कायाओं में विकसित हो रहा है। हम सब लोग उसके अंश हैं। इसके अर्थ को यदि हम तनिक भी समझ जायँ, तो हमारा द्वार उस जीवन और जीवट के लिये खुल जाय कि हमारा शरीर बिलकुल ही नया हो जाय और पूरा-पूरा खिल उठे। आइए हम सब लोग पूर्ण शरीर का ध्यान करें और इस प्रकार की रहन रहने की चेष्टा करें कि उस पूर्ण शरीर के भौतिक रूप में मिल जाय—इस बात को हम लोग कर सकते हैं।

हमने भौतिक शरीर के नियमों को आप लोगों को बतलाया है कि आप लोग जहाँ तक हो सके, उनका अनुसरण करें; और उस महत् जीवन और महती शक्ति के प्रवाह में, जो सर्वदा हममें होकर बहने को उत्सुक है, जहाँ तक हो सके बाधा न पहुँचावें। हम लोगों को प्रकृति में लौट चलना चाहिए। हे मेरे प्यारे शिष्यो, इस महत् जीवन को अपने में होकर स्वच्छंदतापूर्वक प्रवाहित होने दो, तो सब कल्याण ही-कल्याण होगा। कुल बातों को हम ही करें, ऐसा ख़्याल छोड़ दो—सब चीज़ें अपना काम अपने आप हमारे लिये करें। वे चाहती हैं कि हम उनका विश्वास करें और उनके कार्यों में बाधा न डालें—आइए हम लोग भी उन्हें अवसर दें। इति शम्।